'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ०/3/5/

कार्यालय
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-2

भाग 115 संख्या 3
सं० 2034 विक्र०
मार्च 1978

विषय सूची

लेखमाला–४

पहला जीव कैसे बना ?

● डॉ० चन्द्र विजय चतुर्वेदी

जीव जगत का पहला प्राणी कोशिका है। इसके बनने में सजीव जगत के कार्बनिक यौगिक सहायक होते हैं। ये कार्बनिक यौगिक वे बहुलक हैं जिनकी जानकारी हमें हो गई है। ये सब पदार्थ प्रकृति में बन तो गये। अब प्रश्न यह उठता है कि ये सारे पदार्थ एक स्थान पर कैसे इकट्ठा हुए ? कैसे कोशिका का निर्माण हुआ ? कोशिका की रचना तो बड़ी ही जटिल है। अनेक प्रकार के अकार्बनिक और कार्बनिक यौगिक मिलकर इसे बनाते हैं। लगभग 20,000 किस्म के अणुओं से इसकी रचना पूरी होती है। प्रकृति में बने ये बीस हजार अणु किस प्रकार एक स्थान पर इकट्ठा हुए ? वह कौन सी क्रिया हुई जिससे कोशिका का एक व्यवस्थित स्वरूप छोटे से रूप में बन गया ? इन बीस हजार यौगिकों को यदि एक स्थान पर रख दिया जाय तो क्या एक कोशिका बन जायेगी ? उत्तर में नहीं ही कहा जायेगा। कोशिका की रचना तो किले जैसी है। इसके भीतर सुदृढ़ व्यवस्था में यौगिकों के अणु सजाये गये हैं जैसे एक कुशल कारीगर महल बनाता है। पृथ्वी पर पानी बनने के लगभग 1 अरब वर्ष के बाद एक कोशिका वाला छोटा जीव बना। इन बीस हजार यौगिकों से कोशिका-जैसी व्यवस्था बनने में लाखों वर्ष लगे होंगे। इन यौगिकों में पर्याप्त मात्रा में ऐसे यौगिक भी हैं जो भूमि में पाये जाने वाले खनिज पदार्थों से संयोग करके बदल जाते हैं। लाखों वर्ष तक इन यौगिकों ने कैसे इन्तजार किया होगा कि सेल बने और वे सेल किसी स्थान पर विराजमान हो। यह सम्भव नहीं लगता कि लाखों वर्ष तक यौगिक बिना स्थल के सम्पर्क में आये सेल बनने का इन्तजार करते रहे।

कितनी आश्चर्यजनक बात है कि ईंट, चूना, बालू, सीमेण्ट, लोहा आदि को एक जगह इकटठा करके रख दीजिए, एक सुन्दर महल की कल्पना करते हुए बैठ जाइये। आपसे आप ईंटें उठेंगी, एक पर एक बैठने लगेंगी और देखते ही देखते महल बन कर तैयार हो जायेगा। न एक कारीगर की जरूरत होगी न मजदूर चाहिए। कोई बता सकता है कि अपने आप इस प्रकार से महल बनने में कितना समय लगेगा ? तो क्या किसी कारीगर ने 20 हजार यौगिकों को धीरे-धीरे सँजो कर सेल के रूप में व्यवस्थित कर दिया ? अथवा यह चान्स की बात है कि लाखों वर्ष में बीस हजार यौगिक जुड़ते, टूटते, एक ऐसी व्यवस्था के रूप में आ गये जिसे हम कोशिका कहते हैं ? चक्कर में डाल देने वाले ये सवाल हैं।

कोशिका एक सुन्दर रचना है। इसका रूप बहुत सूक्ष्म है। फिर भी यह स्पष्ट है। कुछ नियमों के अन्तर्गत यह कार्य करता है। ऐसी सुन्दर रचना महज चान्स से बन जायेगी, इस बात पर विश्वास नहीं होता। जरा देखें यह चान्स क्या है ? संसार के जैसे बहुत से नियम हैं उन्हीं नियमों में चान्स (संयोग) का होना भी किसी नियम के अन्तर्गत है। इस बात के आधार के लिए कुछ भी नहीं मिलता। संयोग को विधि का विधान (नियम) मानना इसलिए सम्भव नहीं है क्योंकि इसके साथ जुड़े हुए अनिश्चय का कोई मापदण्ड नहीं हैं। संयोग (चान्स) का कोई भविष्य नहीं होता। फिर संयोग से कैसे इस प्रकार की चीज बन सकेगी जिसके साथ उसका भविष्य जुड़ा हुआ है। सेल के अन्दर ही उसका भविष्य है।

हम जितनी कल्पना कर सकते हैं, संयोग इससे छोटा ही होता है। अतः इन यौगिकों से सेल के बनने के पीछे अवश्य ही कोई व्यवस्था होगी। यह किसी खुली आँखों द्वारा बना है। अंधे संयोग के लुकाछिपी खेल से सेल की रचना नहीं हुई है।

प्रकृति का संचालन खुली आँखों की व्यवस्था द्वारा होता है। ये खुली आँखें हैं भौतिकी एवं रसायन के निश्चित नियम। प्रकृति में होने वाली घटनायें इन नियमों के अन्तर्गत होती हैं। हाइड्रोजन और आक्सीजन के परमाणु आपस में संयोग करके जिस जल अणु का निर्माण करते हैं, वह H_2O है। इसमें हाइड्रोजन और आक्सीजन एक निश्चित अनुपात में हैं—एक निश्चित नियम के अनुसार जुड़े हुये। यह एक 'चान्स' की बात नहीं है कि हाइड्रोजन और आक्सीजन के परमाणु 2 और 1 के अनुपात में संयोग करके पानी बनाते हैं। इसी प्रकार लाखों परमाणुओं की एक व्यवस्था से न्यूक्लियो-प्रोटीन के एक अणु का बनना एक व्यवस्था के अनुसार हुआ होगा।

आदिकालिक समुद्र में साधारण पदार्थ अमोनिया कार्बन डाई आक्साइड, मीथेन, आदि सूर्य के प्रकाश से या बिजली की चमक से ऊर्जा प्राप्त करके जटिल पदार्थ बना देते हैं। ये जटिल पदार्थ ऐमीनो एसिड, प्यूरिन, पिरीमिडिन, पेन्टोज जैसे यौगिक हैं। ये कार्बनिक यौगिक एक निश्चित संरचना वाले हैं। जैसे-जैसे समय बीतता गया समुद्र में इनकी सान्द्रता बढ़ती गई और 'सूप' जैसा कलिल विलयन बन गया। ये कलिल विलयन आपस में टकराते रहे। इस टकराहट में एक यौगिक के अणु दूसरे यौगिक के अणु से जुड़ते हैं। इनका जुड़ना चान्स की बात नहीं है। छोटे अणुओं का आपस में जुड़कर बड़े अणु बनाना नियमों के अनुसार होता है। उदाहरण के लिए प्युरीन अथवा पिरीमिडिन, पेन्टोज और फास्फेट के साथ जुड़ते हैं। इससे न्यूक्लियोटाइड बनता है। इन यौगिकों से न्यूक्लियोटाइड का बनना छः अथवा आठ तरीकों से ही सम्भव है। न्यूक्लियोटाइड एक दूसरे के साथ तीन तरीकों से ही जुड़कर द्विक यौगिक बनाते हैं। दो सामान्य ऐमीनो एसिड इसी प्रकार दो तरीकों से जुड़ते हैं और द्विक यौगिक पेप्टाइड बनाते हैं।

जल समुद्र का मुख्य भाग है। यह बहुत बढ़िया विलायक है तथा एक अच्छा माध्यम है। इस विलायक में जब जटिल कार्बनिक पदार्थ मिलते हैं तो तीन बातों की सम्भावना है—(1) कार्बनिक पदार्थ पानी में घुल जायेंगे। (2) कार्बनिक पदार्थ पानी के माध्यम में प्रकीर्ण (डिसपर्स्ड) होंगे। (3) कार्बनिक पदार्थ पानी के माध्यम में निलम्बन की स्थिति में होंगे। दूसरी सम्भावना सबसे अधिक है। इससे कलिल विलयन बना। यह इन पदार्थों की विलेयता के कारण हुआ। कलिल विलयन में कण ब्राउनियन गति में रहते हैं। अस्तु इनका टकराना एक नियम में है। अणुओं के टकराने में इनके आपस में जुड़ने की सम्भावना बढ़ जाती है। यदि टकराने वाले अणु जुड़ने के लिए उत्सुक हों तो छोटे-छोटे अणुओं से बड़े-बड़े अणुओं वाले यौगिकों का बनना सरल हो जाता है।

अतः प्रकृति में होने वाली ये रासायनिक अभिक्रियायें अकस्मात नहीं हो गई। ये भौतिकी और रसायन के नियमों को मानते हुए होती रहीं। उदाहरण के लिए जीवित ऊतकों (टिस्सूज) के बड़े अणु जल विश्लेषण (हाइड्रोलिसिस) से छोटे अणुओं में विभाजित हो जाते हैं। छोटे अणुओं की ये इकाइयाँ संघनन (कण्डन्सेशन) के अन्तर्गत जल अणु को निष्कासित करके पुनः संगठित हो सकते हैं। इस प्रकार उचित दशा में बड़े-बड़े अणुओं का जल विश्लेषित होकर छोटी-छोटी इकाइयों में टूटना तथा छोटी-छोटी इकाइयों को संघनन के द्वारा बड़ी इकाइयों में बदल जाना एक व्यवस्था है। इस व्यवस्था को नियंत्रित किया जा सकता है। नियंत्रण के फलस्वरूप छोटी इकाइयों का संघनन ही सम्भव है। चान्स के साथ इस प्रकार का नियन्त्रण सम्भव नहीं है।

वाइरस के न्यूक्लियोप्रोटीन का जल विश्लेषण दो भागों में होता है। एक प्रोटीन भाग, दूसरा न्यूक्लीइक

एसिड भाग। ये भाग न तो सजीव इकाइयाँ हैं और न ही मौलिक वाइरस के कोई लक्षण ही इसमें मिलते हैं। इन दोनों भागों को यदि मिला दिया जाय तो कुछ भाग पुनः संयुक्त हो जाता है। फिर से मिलने के सम्भावित तरीके यद्यपि बहुत ही कम हैं पर ऐसा होता है और न्यूक्लियोप्रोटीन के मिलने के साथ ही साथ मौलिक वाइरस अपने सम्पूर्ण लक्षणों के साथ प्राप्त होता है।

बड़ी सीधी सी बात है। साधारण यौगिक जल, कार्बन डाइ आक्साइड, अमोनिया एक ऐसी बड़ी इकाई बनाते हैं जिसे न्यूक्लियोप्रोटीन कहा गया। इसके जल विश्लेषण से निम्नलिखित सामान्य इकाइयाँ प्राप्त हुईं—

जल विश्लेषण

न्यूक्लियो प्रोटीन
- न्यूक्लीइक अम्ल
  - फास्फेट
  - पेण्टोज
  - प्यूरीन
  - पिरीमिडिन
- प्रोटीन—लगभग बीस प्रकार के

इन यौगिकों में से फास्फेट समुद्र में काफी मात्रा में प्राप्त होता है। यह एक अकार्बनिक समूह है। शेष साधारण जटिल यौगिक हैं। इनके एक अणु में दस से तीस परमाणु हैं। ये समुद्र में सामान्य यौगिकों से संश्लेषित होते हैं। ये यौगिक प्रोटीन और न्यूक्लीइक अम्ल जैसे बहुत बड़े अणु वाले यौगिक बनाते हैं। प्रोटीन और न्यूक्लीइक अम्ल मिलने पर न्यूक्लियोप्रोटीन देते हैं। इस प्रकार यौगिकों का विकास लगातार होता रहता है। परमाणु से साधारण अणु बनता है। साधारण अणु से जटिल अणु। जटिल अणु से बहुलक और बहुलक से जीव। विकास की यह गति एक क्षण के लिए भी रुकती नहीं। न्यूक्लियोप्रोटीन बनकर पड़ा रहे तो उसका जल विश्लेषण हो जायेगा और फिर साधारण इकाइयाँ बन जायेंगी। ये यौगिक कोशिका बनाने के लिए आगे बढ़ते हैं।

यह सही बात है कि विकास की एक सीढ़ी के बाद दूसरी सीढ़ी तक पहुँचने में काफी समय लग जाता है। लाखों साल। इतने समय तक बना पदार्थ कैसे सुरक्षित रहता है? कैसे टिका रहता है? क्या वह दूसरी सीढ़ी तक पहुँचने की इन्तजारी करता रहता है? आज कोई भी ऐसा यौगिक जिसमें पर्याप्त ऊर्जा हो बहुत शीघ्र ही सूक्ष्मजीवाणुओं द्वारा नष्ट हो जाता है या उपचयन (आक्सीडेशन) द्वारा नष्ट हो जाता है। पृथ्वी के उस युग में जब जीव बने ही नहीं थे तो जीवाणुओं के उपस्थित होने का सवाल नहीं होता। जीव बनने से पूर्व वायुमण्डल में आक्सीजन नहीं था जिससे उपचयन द्वारा कार्बनिक यौगिक नष्ट होने से बचे रहे।

आज के वायुमण्डल में जितनी आक्सीजन है वह स्वतः जनन के लिए भयंकर सिद्ध होगी। आक्सीजन तो जीव के बनने के बाद वायुमण्डल में एकत्रित हुई। सूर्य से पृथ्वी के अलग होने के समय जितनी आक्सीजन थी वह सबकी सब यौगिकों के रूप में आ गयी। आणविक आक्सीजन पृथ्वी पर जीव की उत्पत्ति के समय नहीं थी। इस युग में यदि जीव की उत्पत्ति की क्रिया चालू हो तो रासायनिक यौगिकों का विकास आक्सीजन की भूख के कारण न हो सकेगी। यह संयोग या चान्स की बात नहीं है कि उस युग में जब रासायनिक विकास हो रहा था तो आणविक आक्सीजन नहीं थी। यह भी संयोग की बात नहीं है कि रासायनिक विकास के शुरू होने पर परमाणु से अणु बनने की किसी क्रिया में आणविक आक्सीजन मुक्त नहीं हुई। अणु से बहुलक बनने में और बहुलक से कोशिका बनने की क्रिया में भी आणविक आक्सीजन युक्त नहीं हुई। रासायनिक अभिक्रियायें नियमों के अन्तर्गत होती रहीं। इस नियम में आक्सीजन का युक्त होना नहीं था।

आज पृथ्वी पर जो जीव उपलब्ध हैं, उन्हें दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक आक्सीजन में साँस लेने वाला प्राणी। दूसरा प्रकाश संश्लेषित वनस्पतियाँ। प्राणी अंधेरे में भी रह सकता है किन्तु उसे साँस लेने के लिए आक्सीजन चाहिए। यह आक्सीजन खुली हवा में

हो या पानी में घुली हुई हो। वनस्पतियों को इस तरह से आक्सीजन नहीं चाहिये। सूर्य के प्रकाश में वनस्पतियाँ तो अक्सीजन उत्पन्न करती हैं। इन दो अलग-अलग गुणों वाले जीव में से कौन पहले पैदा हुआ? या इनसे भिन्न किसी जीव से दोनों पैदा हुए? जीव के इतिहास के खोजबीन करने तथा जन्तुओं और वनस्पतियों की सेलीय शरीर रचना और उपापचय (मेटाबालिज्म) से ज्ञात होता है कि किसी जन्तु-पादप जीव की ये दोनों अलग अलग स्वभाव वाली सन्तानें हैं। यह आदि पुरखा कौन है जिसका परिवार इतना विशाल है? इसे तो काफी भारी भरकम होना चाहिये। वैज्ञानिक कहते हैं कि वह पुरखा तो बैक्टीरिया की भाँति रहा होगा जिसमें जन्तु और पादप दोनों की बुनियादी आदतें शामिल थीं। इस बैक्टीरिया में यह शक्ति रही होगी जिससे यह उपचयक और भासंश्लेषक एजेन्ट की भाँति कार्य कर सकता!

इस प्रकार पहला जीव जो बना वह बिना आक्सीजन वाला जीव था। इसे अनॉक्सी (एनीरोबिक) जीव कहते हैं। इस प्रकार के बिना आक्सीजन वाले जीव में उपापचय की प्रक्रिया बजाय उपचयन के किण्वन से होती है।

अतः संयोग (चान्स) की लुका छिपी का यह खेल नहीं है कि बीस हजार यौगिकों से पहला जीवित सेल बन गया। जैव रसायन के संस्थापकों में से गोडलैन्ड हापकिन्स का कहना है कि जीव की उत्पत्ति ब्रह्मांड के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण और विचारातीत घटना है। द्रव्यों के संगठन के सम्बन्ध में इन्होंने बताया कि द्रव्यों में संगठित होने की अपार क्षमता उनकी आन्तर प्रवृत्ति (इनट्रिंसिक टेन्डेन्सी) के कारण है। तत्वों के ढेर से परमाणु एक दूसरे के साथ गुंथे रहते हैं। यह गुंथना अन्तरापरमाणुक बन्धन से होता है। इसी प्रकार यौगिकों के अणु भी अन्तराअणुक बन्धनों से जुड़े रहते हैं। ये बन्धन द्रव्यों की अन्तर प्रवृत्ति है।

अन्त में कार्बनिक यौगिकों के विकास से यह सम्भव हुआ कि निश्चित संरचना वाली जटिल इकाई बनी जो कोशिका है। यह पहला जीव कोई एक ही न उत्पन्न हुआ होगा। बहुत से स्थानों पर, बहुत सी कोशिकायें बनी होगी। अब प्रश्न यह उठता है कि इस विशाल पृथ्वी पर इन कोशिकाओं के जीवित रहने की क्या सम्भावना है? यह तो मानना पड़ेगा कि इन कोशिकाओं में से कुछ उचित स्थिति प्राप्त न होने से मर भी गई होंगी, परन्तु कुछ अवश्य ही जीवित रह गयी होंगी जिनसे हमारी पृथ्वी के जीव बने।

जीव क्या है?

मास्को में हुए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन (1958) में होराविच नामक वैज्ञानिक ने जीव की परिभाषा बतायी—एक अणु वाला एक ऐसा तन्त्र जो अनेक अणु वाले वातावरण में गुणित होने के साथ ही साथ वातावरण में परिवर्तन होने पर अपने आकार में हुए परिवर्तन का भी गुणन कर सके। कुछ वैज्ञानिकों ने इस परिभाषा का विरोध किया। संसार भर के वैज्ञानिक जब एक निश्चित परिभाषा दे सकने में समर्थ न हो सके तो गोष्ठी के अध्यक्ष पालिवन ने कहा कि हमें बिना जीव की परिभाषा दिए हुए ही जीव का अध्ययन करना चहिये। इसी से यह अन्दाज लगाया जा सकता है कि जीव के बनने की प्रक्रिया कितनी कठिन रही होगी।

किसी एक वाक्य में जीव की परिभाषा नहीं बताई जा सकती परन्तु इतना तो सम्भव है ही कि उन बुनियादी गुणों को बताया जा सके जिसके रहने पर कोई वस्तु जीवित कही जाती है। जीवित वस्तु रासायनिक पदार्थों की एक व्यवस्था है। इस व्यवस्था में यदि तीन गुण हों तो उसे जीवित कहा जायेगा। ये गुण हैं—(1) बढने का इस गुण मे व्यवस्था भीतर से बाहर की ओर बढ़ती है। व्यवस्था जिसे तन्त्र भी कहते हैं छोटे आकार से बड़े आकार की हो जायेगी। बढ़ने की यह प्रक्रिया वही रासायनिक पदार्थ करते हैं जो व्यवस्था को बनाते हैं। (2) व्यवस्था के गुणन का। गुणन का तात्पर्य प्रजनन से है। इस गुणन में एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था जन्म लेती है। (3) उपापचयी गुण या मेटाबोली क्रिया। (क्रमश.)

हीरा

● दुर्गापद कुइति

हीरा एक उत्कृष्ट रत्न होने के कारण इसके नाम से सभी परिचित होंगे। ऐसा अनुमान है कि ईसा के जन्म से 800 वर्ष पूर्व भारत में पहला हीरा प्राप्त किया गया था। वर्तमान युग के विकास के साथ-साथ कृत्रिम हीरा ने भी अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। शुक्र ग्रह के लिए धारण किया जाने वाला यह हीरा रत्नों में सर्वोच्च है। हीरा अपने अद्वितीय गुण जैसे द्युति, चिरस्थायित्व एवं वर्ण-विलास इत्यादि गुणों के कारण मूल्यवान एवं महत्वपूर्ण है। यह साधारणतः रंगहीन होता है किन्तु अल्प मात्रा में विभिन्न आक्साइडों के उपस्थित रहने से इसका रंग हल्का नीला, पीला या काला हो जाता है। हरे रंग का हीरा अल्प मात्रा में पाया जाता है लेकिन लाल एवं नीले

कलिनन हीरा कोहिनूर हीरा

रंग का हीरा दुष्प्राप्य है। हीरा में मुख्य रूप से क्रोमाइट इल्मेनाइट, मेग्नेटाइट किमोनाइट, पाइराइट, गारनेट एवं ग्रेफाइट खनिज अभिव्याप्ति के रूप में पाये जाते हैं। घनीय समुदाय में क्रिस्टलित होने वाले इस रत्न की उत्पत्ति अत्यल्पसिलिक वितलीय आग्नेय, शैल, किम्बरलाइट में होती है। मैग्मा से खनिजों का किस्टलन 'बावन' के सिद्धान्तों के अनुसार होता है। हीरा का रासायनिक संगठन कार्बन है एवं इसका क्रिस्टलन अन्य सिलिकेट खनिजों के पूर्व होता है। यद्यपि इसकी उत्पत्ति के विषय में वैज्ञानिकों में मतभेद है फिर भी अधिकांशतः इस बात से सहमत हैं। मैग्माकक्ष में क्रिस्टलन के बाद वे क्रिस्टल मैग्मा के साथ ऊपर आ जाते हैं। सामान्यतः ज्वालामुखी नाल के रूप में पाया जाने वाला यह किम्बरलाइट शैल इसका मुख्य स्रोत है।

रत्न तथा औद्योगिक, दोनों प्रकार के हीरे कांगो, घाना एवं दक्षिण अफ्रीका गणराज्य में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। सबसे बड़ा हीरा 1905 में अफ्रीका के प्रीटोरिया के समीप प्रीमियार खान से प्राप्त हुआ था, जिसका वजन 3,025 केरेट अर्थात 1.3 पौंड से भी अधिक था। इस हीरे को कुल्लिबान या 'स्टार आफ अफ्रीका' के नाम से जाना जाता है। इस रत्न के उत्पादन में भारत का स्थान महत्वपूर्ण था। भूतकाल में भारत के कई एक क्षेत्रों में जैसे आन्ध्र प्रदेश के अनन्तपुर, गुंटूर, कृष्णा एवं कुर्नूल जिलों के ग्रेवेलों में, उड़ीसा के सम्बलपुर जिले में महानदी के अलुमिनियम में, महाराष्ट्र के चाँदा जिले के लेटेराइटी ग्रिट में, बिहार के पालामू जिले की कोयल नदी की रेत में हीरे की प्राप्ति होती थी। अब केवल मुख्य रूप से मध्य प्रदेश के पन्ना क्षेत्र में इसकी प्राप्ति होती है। अभी हाल में पन्ना के छीला खदान से उज्ज्वल अष्टांग किस्म का हीरा जिसका वजन 21 कैरेट 67 सेन्ट है, प्राप्त हुआ है। पन्ना क्षेत्र में विन्ध्याचल समूह के कैमूर श्रेणी एवं रीवां श्रेणी एवं भांडेर श्रेणी के विषम विन्यास में पाया जाने वाला संगुटिकाश्म हीरामय है।

इस समय यह सभी क्षेत्र राष्ट्रीय खनिज विकास निगम के पर्यवेक्षण में है।

भारत के हीरा उत्पादन के कुछ आँकड़े इस प्रकार हैं :

1950	2,769 कैरेट	मूल्य 4,17,857 रुपये
1960	1,159 कैरेट	मूल्य 5,29,000 रुपये
1970	20,325 कैरेट	मूल्य 6,942,000 रुपये

भारत को अनेक विश्व प्रसिद्ध हीरे जैसे कोहिनूर, ताज-ए-माह, पोलर स्टार, निजाम, रीजेन्ट सेन्सी, शाह के उत्पादन का गौरव प्राप्त है।

पंकीय निक्षेप एवं किम्ब्ररलाइट नाल में से हीरा के करीब घनत्व वाले सभी को भिन्न-भिन्न ढंग से अलग कर लिया जाता है। अब इसमें से फिर हीरा को हाथ से ग्रेज टेबुल द्वारा, स्थिरंतड़ित द्वारा, क्षार के साथ फूजेन के द्वारा, तल तनाव आदि के द्वारा अलग कर लिया जाता है।

हीरे की चमक एवं वर्ण विलास उसके ठीक ढंग से काटने एवं पालिश करने पर निर्भर करती है। कटिंग के ढंगों को भिन्न-भिन्न ढंगों से जाना जाता है जैसे काबोचान कट, रोज कट, ब्रिलियन्ट कट आदि जिसमें काबोचान कट सबसे पुराना है।

भारत में उत्पन्न हीरों की विदेशों में अच्छी माँग है। इसके मुख्य खरीददार हैं बेल्जीयम, हांगकांग, संयुक्त राज्य, जापान, गणराज्य। भारत विदेशों से अपरिष्कृत हीरों का आयात करता है एवं काटने और पालिश करने के बाद फिर उसे निर्यात कर देता है। भारत में हीरा उत्पादन का एक अच्छा प्रतिशत का उपयोग भारत की 'डायमण्ड ड्रिल विट्स' बनाने वाली कम्पनियाँ करती हैं।

सम्भवतः 1955 में कृत्रिम हीरा बनाने की सफलता मिली। यह कई प्रकार से बनाया जाता है जैसे धातु या धातुओं के मिश्रण से क्रिस्टलाइज्ड करके अथवा उच्च दाब एवं उच्च ताप की उपस्थिति में ग्रेफाइट से कृत्रिम हीरा प्राप्त किया जाता है। कृत्रिम हीरा एवं प्राकृतिक हीरों के मौलिक गुण एक होते हैं लेकिन इन दोनों हीरों के गुणों में अन्तर उसके बनाने की विधि, अशुद्धता, आकार इत्यादि पर निर्भर करती है। कृत्रिम हीरा जो सर्वाधिक उपयोगी है उसकी माप करीब 0.1 मिलिमिटर होती है। इससे बड़ा भी बनाना सम्भव है किन्तु उसका मूल्य प्राकृतिक हीरे के मूल्य से कहीं अधिक होगा।

अत्यधिक मूल्यवान होने के कारण इस रत्न के क्रय के समय अच्छी तरह से जाँच आवश्यक है। यह अत्यधिक कठोर होता है एवं इसका आपेक्षिक घनत्व 3.5 है। इसकी जाँच सूक्ष्मदर्शी के द्वारा इसके गुणों का अध्ययन करके की जा सकती है।

अनेक तकनीकी विनियोगों के कारण उद्योगों में हीरे का स्थान सर्वोपरि है। सर्वेक्षण के कार्य एवं तेल की प्राप्ति के लिए गहन बंधन कार्यक्रम अनिवार्य सा हो गया है। प्राचीन काल की तरह अब हीरों का उपयोग आभूषण बनाने एवं संचित सम्पदा के रूप में नहीं किया जाता है। आधुनिक काल में हीरा अपघर्षण के रूप में, बंधन यन्त्रों के निर्माण में, मैजिक किरणों के उत्पादन में, विद्युत उद्योगों में ट्रांसडयूसर के रूप में, चिकित्सा क्षेत्र में तापमापक यन्त्र के रूप में, प्रतिरक्षा उद्योगों में, धातुओं को काटने इत्यादि कामों में लाया जाता है। औद्योगिक हीरे बोर्ट-कुहीर तथा कार्बोनाडों है जिसमें कार्बोनाडों सबसे अधिक कठोर है। कृत्रिम हीरा मशीनों के लिए एक वरदान है एवं यह प्राकृतिक हीरा से अधिक उपयुक्त है।

दो विज्ञान कविताएँ

नरेश चन्द्र पुष्प

1. विष विज्ञानी

एक दिन
एक विष-वैज्ञानिक
पत्नी के व्यवहार से
हो गया क्षुब्ध
पी लिया टॉक्सिन
हृदय विदारक घटना देख
पत्नी बहुत घबराई
अपने कृत्य पर
बहुत रोई-पछताई
पति के चरणों को पकड़ कर
अनुनय-विनय की
बहुत गिड़गिड़ाई
घर-गृहस्थी-वैभव व्यर्थ जाने
बच्चों का भविष्य अंधकार में
खो जाने
वैज्ञानिक पर कायरता का कलंक लग जाने
की बात
विधिवत समझाई बुझाई ।
वैज्ञानिक को बात
कुछ समझ में आई
खोली बोतल
पी लिया एण्टी-टॉक्सिन
क्षण भर बाद
हुआ अनोखा चमत्कार
वैज्ञानिक हुआ पूर्ण स्वस्थ्य
पाया पत्नी और बच्चों का प्यार ।
वैज्ञानिक के
टॉक्सिन, एण्टी-टॉक्सिन के कार्य पर
दुनियाँ थी विस्मित
दे दिया उसे नोबल पुरस्कार ।

2. विज्ञान और राजनीति

दो सगे भ्रात
परमाणु-शस्त्र विज्ञानी
एक देश में
एक विदेश में
सहस्रों मील दूर
पर रहे सदा बंधे
सहज स्नेहिल भ्रातृ प्रेम के
सशक्त अनुबंधन में ।
एक दिन
राजनीति बाजों की तालमेल न बैठी
परस्पर ईर्ष्या-द्वेष की आग भड़की
छिड़ गया युद्ध घमासान
परमाणु-शस्त्र आये काम
गिरे परमाणु बम तमाम
प्रचंड अग्नि ज्वाला में
पिघलना था जिन्हें वे तो पिघले ही
प्यार के गहन अनुबंधन में बंधे
भाइयों का भी
मिला न नामों-निशान ।

कहीं आप खिसारी तो नहीं खा रहे हैं ?

● राजकिशोर

भारतवर्ष में शाकाहारी भोजन करने वाले लोगों के भोजन में दालें प्रोटीन की अच्छी स्रोत हैं और इन खाद्यान्नों से उन्हें 20 से 30 प्रतिशत तक प्रोटीन प्राप्त हो जाती है जो अन्य अनाजों (सोयाबीन को छोड़कर) में पाए जाने वाली प्रोटीन मात्रा से 3-4 गुनी अधिक है। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न वर्ग तो प्रायः अरहर, चना, मटर, मूंग, मसूर आदि दालों का ही उपभोग करता है लेकिन निम्न आय वर्ग के लोग एवं गरीबी की सीमा से नीचे रहने वाले वे लोग जिनमें इन दालों को खरीद सकने की सामर्थ्य नहीं होती है, खिसारी की दाल का उपभोग, सस्ती एवं सुलभ होने के कारण बहुतायत से करते हैं। भोजन में खिसारी दाल का अधिक प्रयोग पक्षाघात (या लकवा रोग) को जन्म देता है।

खिसारी दाल को वैज्ञानिक शब्दावली में **लेथाइरस सेटाइवस** कहते हैं और यह लेग्यूमिनोसी कुल में आती है। इसी के नाम के आधार पर इसके खाने से पंगु बनाने वाले रोग को 'लेथोरिज्म' कहते हैं। खेसारी दाल को विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है। बिहार एवं मध्य प्रदेश में इसे 'खेसारी' ही कहते हैं। उत्तर प्रदेश के पूर्वी क्षेत्रों, बिहार एवं उड़िया में इसे 'खेसारि' एवं 'लतरी' दोनों ही कहते हैं। बंगला में इसे 'खिसारी', 'कालाय', अथवा 'खेसारि' कहते हैं। दरभंगा में खिसारी नाम ही प्रचलित है। नेपाली में भी 'खसारि' कहते हैं। कहीं-कहीं इसे 'कस्सार' भी कहते हैं। मराठी में इसे 'लाँग', या 'लाक' कहते हैं। तेलगु में भी 'लाक' है। कहीं-कहीं इसे 'तिपर्ती' और 'तेवड़ा' भी कहते हैं जो संस्कृत के त्रिपुट नाम से सम्बन्धित है। इसका त्रिपुट नाम कदाचित इसलिए है कि यह दलहन तीन ओर से चिपटी होती है।

रोग से प्रभावित क्षेत्र

खिसारी दाल के उपभोग से उत्पन्न कुप्रभावों को उन क्षेत्रों में सुगमतापूर्वक देखा जा सकता है जहाँ इसका उत्पादन एवं उपभोग पर्याप्त मात्रा में किया जाता है। इन प्रभावित क्षेत्रों में मध्य प्रदेश, पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार आदि आते हैं। मध्य प्रदेश में आप रीवां, सतना, सागर आदि कहीं भी जाइये आपको अनेक बच्चे, युवा एवं प्रौढ़ व्यक्ति दिखाई पड़ेंगे जिनकी टाँगों को पक्षाघात (लकवा) मार गया है। ये सभी लाठी के सहारे चलते हैं।

इतना अभिशप्त होते हुए भी इसकी खेती किये जाने का मुख्य कारण है इसका ऊबड़-खाबड़ मिट्टी में सूखा एवं विपरीत मौसम में भी आसानी से पैदा हो जाना। खेसारी रबी की फसल है अतः इसकी खेती पछेती धान काटने के बाद बिना सिंचाई किये सफलतापूर्वक की जा सकती है। नदियों के कछारों, झीलों और बड़े तालाबों के आस-पास जाड़ों में जब पानी देर से सूखता है तो किसान उस भूमि में खेसारी छिटक कर सरलता से एक फसल ले लेते हैं। इस प्रकार उन्हें कम मेहनत और कम लागत में अच्छी फसल मिल जाती है। खिसारी दाल का उपभोग इसे उपजाने वाले किसान स्वयं तो बहुत कम करते हैं लेकिन मजदूरी के रूप में वे इसे अपने मजदूरों को देते हैं। गाँवों के गरीब लोग सस्ती मिलने के कारण भी इसके कुप्रभावों को जानते हुए भी पेट की आग बुझाने के लिए खाने पर मजबूर हो जाते हैं। अन्य दलहनों से काफी

सस्ती होने के कारण अनाज इत्यादि के व्यापारी अधिक लाभ कमाने के लिए अन्य दलहनों में इसकी मिलावट कर देते हैं।

भारतीय चिकित्सा ग्रन्थों में खिसारी

खिसारी दाल को चरक संहिता (400-500 ईसा से पूर्व) में 'खंडित' कहा गया है और इसे कलाय, मटर हरेणु के वर्ग की दाल बताया गया है। कलाय को अत्यन्त वात-कर कहा गया है—'कलायी वातल: पर:', चरक सूत्रस्थान (27/27 28)। चरक में खिसारी से उत्पन्न रोग को अर्दित कहा गया है और अर्दित के लक्षण इस प्रकार से वर्णित हैं : 'अत्यन्त प्रवृद्ध वायु जब एक ओर के आधे देह को आक्रान्त करता है तब उस ओर रक्त बाहु, पैर को सुखाकर संकुचित कर देता है।'

आयुर्वेद ग्रन्थों में खिसारी से उत्पन्न रोग को वात रोग कहा जाता है। आयुर्वेद के अनुसार यह रोग एकाएक आक्रमण करता है जिसके फलस्वरूप पीठ में तीव्र पीड़ा, कूल्हों के आस-पास दर्द तथा टांगों में जकड़न और तनाव अनुभव होता है। परन्तु चरक संहिता वाति व्याधि चिकित्सा अध्याय में कुपित वायु के लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं—संकोच, पर्वस्तम्भ, हड्डियों और पर्वों में भेदनवत पीड़ा, लोमांच, प्रलाप, पैर व पीठ का वायु से जकड़ा जाना, खंजता (एक पैर से लंगड़ापन) पांगुल्य (दोनों पैरों से लंगड़ापन), अंगों का सूखना, अनिद्रा, स्पन्दन (कांपना), देह व अग का सुन्न होना, जत्रु संधि व गर्दन का टेढ़ा होना तथा आक्षेप (अध्याय 28/19, 20, 21)।

सुश्रुत संहिता में खिसारी को 'त्रपुट' कहा गया है और इसे 'सतीन' (छोटी मटर) हरेणु (मटर का एक भेद) के साथ लिखा गया है। इन्हें मरुतकर (वायु उत्पन्न करने वाला) तथा मल-मूत्र को बाँधने वाला कहा गया है। ये वेदल अथवा द्विदल, स्वाद में कसैले और प्रचुर अनिलकारक हैं—'कषायमधुरा:, शीता: कटुपाका मरुत-तकरा:, बदमूत्र पुरोषाश्च पित्तश्लेष्महरास्तथा।' सूत्रस्थ 46/7 कुधान्यवर्ग। इस प्रकार कलायवर्ग कुधान्य (कुत्सित धान्यों) में से एक है।

रोग के लक्षण

खिसारी के दानों का प्रयोग दाल तथा रोटी (दानों को पीसकर) दोनों ही रूपों में किया जाता है। चूंकि अन्न की मँहगाई में मजदूरों एवं निर्धन वर्ग के लोगों का यह एकमात्र अवलम्ब है अत: यह इनके भोजन का प्रमुख भाग हो जाती है और भोजन में खेसारी दाल की यह प्रमुखता ही पक्षपात का कारण बनती है। खेसारी दाल का सेवन करने वालों में पक्षापात की शुरुआत इस प्रकार से होती है—प्रथम अवस्था में कमर के नीचे वाले भागों की मांसपेशियों, घुटनों और पाँवों के टखनों के जोड़ों में दर्द उत्पन्न होता है और इन्हें हिलाने-डुलाने में कठिनाई अनुभव होती है। दूसरी अवस्था में घुटनों को मोड़ना अधिक कठिन हो जाता है तथा रोगी भूमि पर पंजों के बल किसी लाठी इत्यादि के सहारे ही चल पाता है। तीसरी अवस्था में घुटने अचल होकर सीधे हो जाते हैं और चल पाना पूरी तरह असम्भव हो जाता है। जांघों और पाँवों की मांसपेशियाँ तन जाती हैं और रोगी व्यक्ति हाथों के सहारे घुटनों के बल चलता है। कभी-कभी चलने के लिए दो लाठियों का सहारा लेना पड़ता है। इस रोग के आक्रमण के बाद भी शरीर का शेष भाग (कमर से ऊपर) पूर्णतया स्वस्थ दिखाई पड़ता है परन्तु टाँगों द्वारा शरीर का बोझ न संभाला जा सकने के कारण रोगी जीवनपर्यन्त के लिये अपाहिज हो जाता है। ये अपाहिज परिश्रम करने में असमर्थ हो जाते हैं। इनमें से अधिकांश व्यक्ति भिक्षावृत्ति द्वारा अपना भरण-पोषण करने पर विवश हो जाते हैं।

विषैले तत्व तथा उनको दूर करने के उपाय

इंडियन इंस्टीट्यूट आफ साइंस, बंगलौर में किये गये आधुनिक वैज्ञानिक शोधों के आधार पर खिसारी दाल में निम्न एमीनो एसिड पाये जाते हैं, जिन्हें क्रमश: 'बीटा ऑक्सैलिक एमीनो एलानिन' एवं 'लीवो होमो आर्जनोन'

कहते हैं। ये तत्व ही खेसारी को पक्षाघात के विकार से मुक्त करते हैं।

खिसारी दाल में निहित विषैले तत्वों को दूर करने के लिए राष्ट्रीय पोषण संस्थान, हैदराबाद ने निम्न उपायों को प्रयोग करने के सुझाव दिये हैं—

(1) पानी को 60 डिग्री सेन्टीग्रेड तापमान तक खौला लें, पानी उबल जाने पर बर्तन ईंधन पर से हटा दें। अब पानी में खिसारी डाल दें। इसे पानी से लगभग एक घण्टे के बाद निकाल कर धूप में सुखाकर उपयोग में लाएँ। इस प्रकार विषैले पदार्थ पानी में घुलकर दाल से अलग हो जाते हैं और हानिकर अंश बहुत कम रह जाता है। इस विधि से खिसारी दाल लगभग 90% तक शुद्ध हो जाती है। इस विधि में ईंधन की अधिक आवश्यकता होती है। अतः खेसारी के हानिकारक पदार्थों को इस विधि से दूर करने के लिए सरकारी तौर पर प्रबन्ध होना आवश्यक है जिससे उपभोक्ता इसके हानिकारक प्रभाव से बच सकें।

(2) इस विधि में अधूरे खौलाने (पारब्याएल) करने की प्रक्रिया अपनाई जाती है। जिन चावल मिलों में सेला चावल तैयार करने के यन्त्र लगे हुए हैं, वहाँ खिसारी को अहानिकर बनाने का यह कार्य सफलतापूर्वक किया जा सकता है। ईंटों के बने हौजों के गर्म पानी में पहले खिसारी डाल दी जाती है। फिर कुछ समय पश्चात् इसे निकालकर वाष्पयुक्त डिब्बों में डाल दिया जाता है। यहाँ दाल को 15 मिनट तक भाप देने के पश्चात् धूप में सुखा लिया जाता है।

(3) खिसारी दाल के दानों को अंकुरित होने तक पानी में भिगोकर रखा जाता है। फिर पानी निथारकर अलग कर लिया जाता है अंकुरित दाल को पीस कर खमीर उठा लेने से हानिकारक तत्व बहुत कम मात्रा में रह जाते हैं।

(4) यदि उपरोक्त विधियों से खेसारी को शुद्ध करने के पश्चात् इसे गेहूँ, ज्वार, बाजरा आदि किसी भी अनाज के साथ मिलाकर पिसाया जाय और ऐसे मिले-जुले आटे की रोटियाँ बनाकर खाई जायें तो कुप्रभाव से बचाव हो सकता है। लेकिन प्रभावित क्षेत्रों में दूसरे अनाज यदि सुलभता से उपलब्ध हो जाएँ तो खेसारी के उपभोग की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी।

(5) उपरोक्त विधियों से खेसारी को हानिकारक बनाने के पश्चात् यदि उसके साथ हरी पत्तियों वाली सब्जियों का उपभोग किया जाये तो कुप्रभाव से कुछ सीमा तक बचा जा सकता है।

सावधानी की आवश्यकता

उपरोक्त विवरण एवं विवेचन से यह स्पष्ट है कि खिसारी दाल के उपभोग में सतर्कता बरतनी चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो इसका उपभोग ही नहीं किया जाय। मध्य प्रदेश, पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार तथा अन्य प्रभावित क्षेत्रों में पंगु व्यक्तियों की दयनीय स्थिति एवं संख्या को देखते हुए यह अनुमान करना सहज है कि वहाँ पाई जाने वाली खिसारी दाल की किस्म में निश्चय ही विषाक्त तत्व अधिक मात्रा में हैं।

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान द्वारा किए गए अनुसंधान कार्यों से पता चला है कि खेसारी दाल की कुछ ऐसी किस्में भी हैं जिनमें बिषैले तत्व अपेक्षाकृत कम मात्रा में होते हैं। अतः हमारे कृषि वैज्ञानिकों और शोधकर्ताओं को खेसारी की ऐसी किस्मों का विकास करना चाहिए जिनका प्रयोग निरापद रूप में किया जा सके। क्योंकि खेसारी दाल से प्राप्त होने वाली प्रोटीन की

मानव शरीर के लिए उपयोगिता का प्रतिशत यद्यपि अन्य दालों की अपेक्षा अधिक नहीं है लेकिन विषरहित किस्मों के विकास में सस्ते और सरलता से सुलभ पौष्टिक आहार की व्यवस्था की जा सकेगी।

खेसारी दाल को अन्य दालों यथा अरहर, मटर आदि के साथ मिलाकर भी बेचना कानूनन अपराध है। फिर भी खेसारी दाल चूंकि अन्य दालों की अपेक्षा सस्ती होती है अतः व्यापारी वर्ग अधिक मुनाफा कमाने के लिए इसे अन्य दालों के साथ मिलाकर भी बेचते हैं। यहाँ इस तथ्य का उल्लेख करना उचित होगा कि खेसारी दाल अन्य दालों की तुलना में छोटी होती है और कुछ चपटी होती है। अतः उपभोक्ता को दालें खरीदते समय स्वयं ही इस बात की जाँच कर लेनी चाहिए कि उसमें खेसारी की मिलावट तो नहीं है।

प्रादेशिक और केन्द्रीय सरकार का भी यह कर्तव्य है कि यह गरीबों के इस भोजन पर समुचित ध्यान दे और इससे बचाव के अपेक्षाकृत लाभ वाले विकल्पों की खोज कराए अन्यथा पंगु व्यक्तियों एवं भिखमंगों की संख्या दिनों-दिन बढ़ती जायगी। फलस्वरूप राष्ट्र पर रोगी व्यक्तियों का भार भी बढ़ता जायगा। खेसारी दाल की खेती पर रोक लगाये जाने की भी बात उठती है लेकिन प्रत्यक्ष रूप से यह असम्भव ही दिखता है। इसके बजाय समाज की शिक्षण संस्थाओं, खाद्य एवं औषधि नियन्त्रण संस्थाओं एवं विभिन्न समाज सेवी संस्थाओं तथा समाज के प्रत्येक जागरूक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह जनसाधारण एवं अशिक्षित निर्धन वर्ग को खेसारी से होने वाली हानियों के बारे में समुचित जानकारी दें जिससे भविष्य में वे पक्षाघात जैसी घातक बीमारी के प्रकोप से बच सकें।

(शेष पृष्ठ 16 का)

प्रति सप्ताह पत्तियों पर छिड़कें। नवम्बर से जनवरी तक फोलियेर स्प्रे प्रति सप्ताह करती रहें। फरवरी तथा मार्च में फोलियर स्प्रे न करें।

गुलाब पर कीड़ों से उत्पन्न रोग : गुलाब पर विभिन्न जातियों के कीड़े कई प्रकार के रोग फैलाते हैं। फरवरी में शेफर बीटल, एफिड्स, थ्रिप्स आदि कीड़े पौधों को रोग ग्रसित करते हैं। इनके उपचार के लिये बी० एच० सी० पाउडर, डी० डी० टी० पाउडर को 1:1 अनुपात में मिला कर पौधों पर भुरकाने से पौधे रोग मुक्त हो जाते हैं। इसी एफिड से ग्रसित कलियों पर मैलथियन, बासूडिक, फोलोडोल, पैराथियन आदि कीटनाशक दवायें इनका नाश करती हैं। थ्रिप्स से ग्रसित गुलाब पर भी इन्हीं दवाओं को भुरकावें।

गुलाब पर फफूंद से उत्पन्न रोग : गुलाब प्रायः तीन प्रकार के फफूंद रोग से ग्रसित रहते हैं—(1) पाउडरी मिलड्यू (पत्तियों और कलियों के नीचे सफेद पाऊडर की परत का जमना) (2) काले धब्बे का रोग (पत्तियों पर काले धब्बों का उत्पन्न होना) (3) रस्ट (लाल भूरे रंग के खसरा के समान दानों का उत्पन्न होना। पाउडरी मिलड्यू तथा रस्ट से ग्रसित गुलाब पर मोरेस्टन तथा फौलीडोल का छिड़काव करें तथा रस्ट ग्रसित गुलाब पर कैप्टन नामक दवा का छिड़काव श्रेयस्कर रहता है।

आशा है अब आप अवश्य ही गुलाब को अपनी गृह-वाटिका में लगा कर घर की शोभा में अभिवृद्धि करेंगे।

● महिलाओं के लिये

गुलाब का गुलाबी परिचय

● डा० श्याम सुन्दर पुरोहित

फूलों के राजा गुलाब को वैज्ञानिक रोजा के नाम से वर्णित करते हैं। मुगल बादशाह बाबर ने सन् 1526 में गुलाब का परिचय भारतवासियों को करवाया था। नूरजहाँ की माता सुल्ताना को भी गुलाब की भीनी भीनी खुशबू बेहद पसन्द थी। चाचा नेहरू भी अपनी शेरवानी पर गुलाब लगाना नहीं भूलते थे। गुलाब को हर सुन्दरता का प्रेमी चाहता है। बाग के वातावरण को रमणीक, स्निग्ध एवं आकर्षक बनाने के लिये गुलाब पूर्ण रूप से अपना योगदान देते हैं। गुलाब-रहित पुष्पोद्यान अपूर्ण से प्रतीत होते हैं। पूजा-अर्चना में गुलाब के फूलों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। धार्मिक संस्कारों में रोली, चन्दन और अक्षत के साथ गुलाब का नाम भी लिया जाता है। गृहणियों की केश-सज्जा में गुलाब के बिना पूर्णता आ ही नहीं सकती। डाईनिंग टेबल पर सजा गुलाब, फूलदान में अपना एक विशेष आकर्षण रखता है। आजकल गृहणियाँ अपने बाग में गुलाब की विभिन्न रंग-रंगीली जातियों को करीने से सजाने में अपना गौरव समझती हैं। जब प्रकृति-प्रदत्त यह अमूल्य रत्न आपके जीवन को मधुर एवं सुखद बनाता है तो क्यों न आज ही इसे अपने छोटे से गृह उद्यान में उग रहे विभिन्न फूलों में सम्मिलित कर घर की शोभा बढ़ावें। गृहणियाँ अपने खाली समय में इसे सरलता से उगा सकती हैं क्योंकि इसे उगाने का तरीका अत्यन्त ही सरल है।

गुलाब कब लगायें : भारत के समस्त मैदानों में गुलाब दिसम्बर से मार्च तक खिलते हैं। अतः गुलाब को 15 अक्टूबर से 15 दिसम्बर या दिसम्बर के अन्त तक लगाना उचित रहता है।

गुलाब का चुनाव : बड़े आकार वाले गुलाब को एच० टी० (H. T.) कहते हैं। छोटे एवं गुच्छों में खिलने वाले गुलाब को क्रमशः फ्लोरिबंडा तथा मिनिएचर कहते हैं। वनस्पतिविदों एवं उद्यान-कृषकों ने अब तक गुलाब की लगभग 250 से भी अधिक नई किस्में तैयार कर ली हैं। गुलाब भिन्न-भिन्न रंगों में मिलते हैं उदाहरणार्थ-

गुलाब (रॉयल हरहाईनेस)

सफेद, (किस्में-एवरेस्ट, माउन्ट, शास्टा, आइग-बर्ग), पीला (किस्में-पूसा सोनिया, आर्थर बेल, वैस्टर्न सन), नारंगी (किस्में-कापर-पोट, वैस्टर्न लेन्ड, पीटर फ्रेन्कन), रक्त-लाल (किस्में-क्रिस्चन, डायर, फ्यूजेलियर), रक्त-लाल-काला (किस्में-ग्रूब-एन-बैरन, स्कार्लेट नाइट, टाटाजाना), बैंगनी-आसमानी (किस्में-न्यूज, अफ्रीका-स्टार, वारलेट डाट) दुरंगे एवं तिरंगे गुलाब (किस्में-कवर गर्ल, पिकासो, ब्राजील), धारीदार गुलाब (किस्में-केयरलेस लव, ऐनविन स्पार्क, मैडम-ड्रोट), गाढ़ा काला (किस्में-नाइग्रेटी)। हाल ही में गुलाब की कुछ अत्यन्त आकर्षित किस्मों का निर्माण किया गया है जिनमें से ऐल्कजेन्डर, अनीता, मिलन,

लोलीटा, टाईफन आदि मुख्य हैं। यदि आप गुलाब की मिनिएचर (बटन गुलाब) अपने उद्यान में लगाना चाहें तो यलो डाल, टिंकर बैल, वरटेंग उपयुक्त रहती हैं। खिलता हुआ आरोही (Climber) गुलाब भी घर के पोर्च के सहारे सुन्दर दिखता है जैसे-हैन्डल, रेड-फ्लेम, स्वान लेक, लालकिला आदि।

स्थान का चुनाव : गुलाब को गृह-वाटिका में कहाँ लगाया जावे इस प्रश्न का उत्तर देना कठिनप्राय है। वैसे अपनी सुविधानुसार एवं इच्छानुसार उपयुक्त स्थान चयन कर लें। प्रायः गुलाब को लान के चारों ओर या लान के केन्द्र स्थान में लगाया जाता है। पोर्च तथा घर के बरामदे में भी गुलाब के गमले काफी सुन्दर लगते हैं। आप स्थान चयन करने में केवल एक बात का ध्यान अवश्य रखें कि उस स्थान पर दिन में भली भाँति धूप एवं पिलाई की पूर्ण सुविधा हो।

मिट्टी : अधिक नर्म दुमट या बुलई दुमट या भुरभूरी तथा खाद एवं अन्य पोषक पदार्थों युक्त मिट्टी गुलाब की वृद्धि के लिये उत्तम होती है। यदि आपकी वाटिका में बालू मिट्टी अधिक मात्रा में है तो उसमें उपयुक्त मात्रा में चिकनी मिट्टी अवश्य मिला दें। चिकनी मिट्टी आप गर्मी के मौसम में किसी सूखे तालाब या झील की सतह से प्राप्त कर सकती हैं। यदि मिट्टी कुछ अम्लीय स्वभाव की हो (मिट्टी का घोल बना कर उसमें लिटमस पेपर डुबो कर देखें यदि लाल होता है तो मिट्टी अम्लीय स्वभाव की है) उसमें अल्प मात्रा में चूना मिला दें जिससे मिट्टी की अम्लीयता नष्ट हो जायगी। वैसे चूना गुलाब की वृद्धि के लिये भी उत्तम रहता है। बजरी युक्त मिट्टी गुलाब की वृद्धि का संमंदन करती है।

अब आप निर्णय करें कि गुलाब को क्यारी में लगायेंगी या गमले में—वैसे नीचे दोनों को तैयार करने की विधि दी जा रही है।

क्यारी तैयार करने की विधि : जिस स्थान पर क्यारी बनानी हो वहाँ थोड़ा सा पानी डाल थोड़े समय के लिये छोड़ दें जिससे पानी मिट्टी में समा जाय। बाद में मिट्टी को $2\frac{1}{2}$ से 3 फिट गहरी खोद कर क्यारी के चारों ओर होल बना लें तथा डौल की मिट्टी को दो-तीन दिनों तक धूप में खुली छोड दें। डौल वाली मिट्टी को खुदी खाली क्यारी में डालने के पूर्व उसमें 7 इन्च गहरी गाय के गोबर या कम्पोस्ट खाद की परत बिछा दें तथा अन्त में डौल की मिट्टी को खुरपी से मिला कर क्यारी में भर दें। क्यारी की मिट्टी को समतल अवश्य बना दें अन्यथा पानी देने पर वह एक या दो स्थानों पर भर जायेगा। लीजिये अब क्यारी तैयार है।

गमलों को तैयार करने की विधि : गुलाब की कुछ एक किस्में (ड्राफ पोली एन्चम, लेडी हिलिन डोन तथा अन्य मिनिएचर किस्में) गमलों में लगाने में सरलता रहती है। इसके लिये आप 10 से 12 इन्च व्यास वाले अच्छे मिट्टी या सिमेन्ट के गमलों का चुनाव कर लें। गमले की सतह में एक छिद्र होता है अतः इसे इस प्रकार किसी टेढ़े-मेढ़े टूटे खपरेल या टूटे हुए गमले के टुकड़े से इस प्रकार से ढक दें कि छिद्र पूर्ण रूप से बन्द न हो। अब गमले में

3से० मी० की ऊंचाई की कंकड़ों की तह बिछा दें। इस तह के ऊपर क्रमशः थोड़ी सी सूखी पत्तियाँ, तथा कम्पोस्ट मिट्टी। मिट्टी, या गाय के गोबर की खाद, बालू, मिट्टी, छनी हुई राख, कोयले एवं कंकड़ों के टुकड़ों का मिश्रण की तह बिछा दें। गमले की मिट्टी को अच्छी तरह से तर कर उसे छांयादार स्थान के नीचे सुरक्षित रख दें।

पौधे का लगाना : गुलाब का प्रसारण प्रयः कलमों द्वारा होता है। यदि आप कलमों को किसी अन्य शहर या विदेश से मंगवाती हैं तो पार्सल को सदैव ठंडे एवं
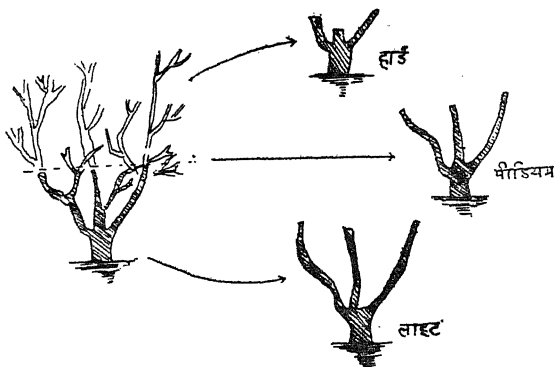
छायादार स्थान में खोलें तथा बाद में कलमों को 24 घन्टों तक स्वच्छ पानी में डुबोयें रखें। यदि कलमें स्थानान्तरण के दौरान अधिक सूख गई हों तो उन्हें 2 या 3 दिनों तक पानी में रखें।

कलम कैसी हो : कलमें लम्बाई में अधिक मोटी नहीं होनी चाहिये। प्रायः 15 से 23 से० मी० वाली कलमें उपयुक्त होती हैं। घर में उग रहे गुलाब से भी कलमें बनाई जा सकती हैं। इसके लिये गुलाब की स्वस्थ शाखा को छोटे छोटे भागों में, ऊपर से तिरछा एवं नीचे से सीधा काट लें कलम के ऊपरी भाग पर दो या चार पक्तियां होनी आवश्यक हैं।

कलम लगाने का तरीका : कलम क्यारी में लगाने के पूर्व उसके कटे सिरों पर मिट्टी का लेप लगा दें, ऐसा करने से मिट्टी पूर्ण रूप से कलम से चिपक जायेगी। इस तरीके को आप गमलों के लिये भी प्रयोग में ला सकती हैं। अब आप कलम को मिट्टी से थोड़ा हटा कर जमीन में डाल दें। कुछ दिनों बाद आप देखेंगी कि कलम के जड़ें निकल आई हैं।

लेयरिंग विधि : कभी कभी गुलाब की कलमें जड़ों का स्फुटन नहीं करती हैं ऐसी स्थिति में गुलाब की प्ररोही जातियों का उपयोग करना उचित रहता है क्योंकि सरलता से लेयरिंग (Layering) किया जा सकता है। लेयरिंग प्रायः वसन्त या वर्षा ऋतु में की जानी श्रेयस्कर रहती है। गुलाब की जिस शाखा की लेयरिंग करनी हो आप उसे झुका कर बीच वाले भाग को मिट्टी में दबा कर उसे पानी से तर कर दें। कुछ दिनों पश्चात् जब दबाई गई शाखा से जड़ें निकल आवे तो उसे मुख्य तने से विलग कर तैयार की गई क्यारी या गमलों में सावधानी से स्थानान्तरित कर दें। ध्यान रहे क्यारी का गमला छायादार स्थान पर हो। जब पौधा पूर्ण परिपक्व हो जावे तो उसे धूप में रख दें।

गुलाब के पौधे की देखभाल कैसे की जाय ?

खाद कैसे और कितनी दें : लोगों के मन में ऐसी धारणा घर कर चुकी है कि अधिक खाद देने से पौधा अधिक फलता फूलता है जब कि वास्तविकता यह है कि पौधे को जब खाद की वास्तविक आवश्यकता हो तब ही दी जाये। गुलाब का पुष्पन अक्टूबर में आरम्भ होता है अतः इस माह में क्यारी को पूर्ण रूप से साफ कर तथा पौधों की कटाई छंटाई करके नीम, सरसों या मूँगफली की खली तथा एक टोकरी गोबर की पुरानी सड़ी खाद का मिश्रण आवश्यकतानुसार पौधे के आस पास बिछा दें। अगले माह अर्थात् नवम्बर के दूसरे या तीसरे सप्ताह पुनः रासयनिक खाद (जैसे राज मिक्स, टापरोज) प्रति क्यारी एक बड़े चाय के चम्मच की मात्रा में भुरका दें।

जनवरी में गुलाब फूल देना बन्द कर देता है अतः पौधों में फिर से जान डालने के लिये क्यारी में सड़ी

गली गोबर की खाद की एक इंच मोटी परत पूरी क्यारी में बिछा दें फरवरी में गुलाब पुनः पुष्पन आरम्भ कर देता है। इसलिये मिट्टी को फिर से खाद की आवश्यकता पड़ती है। इस समय यदि आप क्यारी या गमलों में तरल-खाद का उपयोग करें तो श्रेयस्कर रहता है। तरल-खाद के लिये आप एक मुट्ठी नीम या सरसों की खली, एक छोटी मुट्ठी यूरिया व दो बड़ी मुट्ठी गोबर की खाद को मिश्रित करें तथा इस मिश्रण को फिर एक बाल्टी में उपयुक्त मात्रा के पानी में घोल कर एक सप्ताह के लिये छोड़ दें। प्रायः एक किलो मिश्रण के लिये आठ लीटर पानी पर्याप्त रहता है। प्रत्येक पौधे को अब अन्दाज से एक लीटर मिश्रित तरल खाद दें। गमलों में उग रहे गुलाब के लिये तरल खाद अच्छे पोषक पदार्थ का कार्य करती है। मार्च माह में यदि कुछ मात्रा में रासायनिक खाद दे सकें तो उचित रहता है। अप्रैल से सितम्बर तक क्यारी या गमलों में किसी प्रकार की खाद न दें। अक्टूबर माह में गुलाब के पुष्पन का मौसम फिर आरम्भ होता है अतः बताये गये क्रम में खाद दें।

पानी कब और कितना दें : आम तौर पर लोग जैसे ही क्यारी की मिट्टी की ऊपरी परत को सूखी देखते हैं, पानी देने की उत्सुकता प्रकट करते हैं लेकिन ऐसा करने से पेड़ का विकास अवरुद्ध हो जाता है। इसकी जाँच आप क्यारी की मिट्टी को 2 से 3 इन्च तक खोद कर कर सकती हैं। आप देखें कि मिट्टी में नमी है अथवा नहीं ? यदि इस सतह की मिट्टी पूर्ण रूप से गीली हो तो पानी कभी नहीं दें।

अक्टूबर से फरवरी तक के समय में क्यारियों की 12 से 15 दिनों के अन्तराल से पिलाई करनी चाहिये। पिलाई के दिनों पश्चात् मिट्टी को 2 से 3 इन्च तक खोद कर दो तीन दिनों तक धूप एवं हवा में खुला छोड़ देना (निलाई) चाहिये। लेकिन ध्यान रहे कि पौधों की जड़ों को किसी भी प्रकार का घाव या नुकसान न पहुंचे। गमलों में पानी 3 से 4 दिनों के समयान्तर में देना उचित रहता है। गमले की मिट्टी की भी पिलाई के चौथे या पांचवे रोज निलाई करनी श्रेयस्कर रहती है। मानसून अर्थात् बारिश में क्यारी की पिलाई न करें। मानसून में कटाई छंटाई के बाद एक माह क्यारी में बिल्कुल पानी न दें।

गर्मी के मौसम में प्रतिदिन क्यारी पर फव्वारे से पानी की हल्की बौछार देना पत्तियों व पौधों के स्वास्थ्य के लिए लाभदायक रहता है। पानी की हल्की बौछार से वह जमीन की भीतरी सतह तक नहीं पहुंच पाता है जिससे जड़ें सरलता से अपना जीवन निर्वाह कर सकती हैं।

पौधे को धूप कितनी और कब दें : धूप पौधे के के भोजन निर्माण का प्रमुख स्रोत है। कलम लगाने के पश्चात् क्यारी को धूप से बचाना चाहिये। यदि कलम को गमले में स्थानान्तरित किया है तो उसे भी छायादार पेड़ के नीचे रख दें। अप्रैल मई की गर्मी एवं लू से गमलों को अवश्य बचावें। अतः ऐसी स्थिति में गमलों को पोर्च या छायादार पेड़ के नीचे रख दें।

पौधों की कृन्तन या छंटाई : अधिक पुष्पन के लिये पौधों की शाखाओं एवं जड़ों की छंटाई को कृन्तन या प्रूनिंग कहते हैं। बरसात ऋतु में पौधे अधिक शाखित हो जाते हैं फलतः मुख्य तने की वृद्धि प्रायः समाप्त हो जाती है। इस कुप्रभाव को रोकने के लिये कमजोर एवं सूखी शाखाओं की कटाई छंटाई करना आवश्यक होता है। प्रूनिंग से पौधे सुन्दर एवं सुडौल होते हैं। प्रूनिंग प्रायः 10 से 15 अक्टूबर के मध्य की जाती है। बरसात के मौसम में क्यारी में उगने वाले अनचाहे पौधों की भी जड़-सहित कटाई कर देनी चाहिये।

फोलियर स्प्रे : गुलाब की कलियाँ न निकलने के पूर्व फोलियर स्प्रे कर देना चाहिये। यह स्प्रे फोलियर फीड, जो कि बाजार में बना बनाया मिलता है, से किया जाता है। यदि फीड बाजार में उपलब्ध न हो तो आप स्वयं 5 लीटर पानी में प्रत्येक 0.5 ग्राम यूरिया एवं पोटेशियम डाइहाइड्रोजिन फास्फेट को मिलाकर घोल तैयार कर

(शेष पृष्ठ 12 पर)

लेसर और नाभिक संलयन

● शैलेन्द्र नाथ भटनागर

प्रकाश और ऊर्जा का अन्तिम स्रोत सूर्य को माना जाता है। यदि सूर्य से ऊर्जा एवं प्रकाश का विकीर्णन बन्द हो जाए तो इस धरा की गति क्या होगी अकल्पनीय है। लेसर भी प्रकाश का ही एक स्वरूप है पर उससे लाखों गुना दैदीप्यमान, लाखों गुना ऊर्जा युक्त। अपनी इस खूबी के कारण लेसर का नाम सारे संसार में चमक गया। आखिर जिसमें चमक है, वही तो चमकेगा।

लेसर (LASER—Light Amplification by Simulated Emmission of Radiation) अर्थात् विकिरणों के संप्रेरित उत्सर्जन द्वारा प्रकाश प्रवर्धन, एक विशिष्ठ प्रकार का प्रकाश विकिरण है जो साधारण प्रकाश विकिरण की तुलना में कहीं अधिक प्रबल, तीव्र, प्रभावशाली एवं सक्रिय होता है।

लेसर पिछले दशक के सर्वाधिक महत्वपूर्ण आविष्कारों में से एक है। उद्दीपित उत्सर्जन की महत्ता के विषय में सन् 1917 में ही युग प्रवर्तक गणितज्ञ सर अलबर्ट आइन्सटाइन ने भविष्यवाणी कर दी थी परन्तु उसके महत्व की वास्तविक गरिमा पिछले ही कुछ वर्षों में स्थापित हो सकी। लेसर के सिद्धान्त के सर्वप्रथम प्रतिपादन का श्रेय दो अमरीकी वैज्ञानिकों शैलो एवं टाउन्स को सन् 1958 में प्राप्त हुआ। शीघ्र ही—सन् 1960 में अमरीकी वैज्ञानिक मैमेन ने इसे व्यावहारिक स्वरूप भी प्रदान कर दिया। तब से अब तक लेसर के सम्बन्ध में विस्तृत शोधकार्य होता रहा है जिससे औद्योगिक, वैज्ञानिक, चिकित्सीय और मुख्यतः सामरिक अनुसन्धानों में लेसर का व्यापक उपयोग होने लगा है।

आज लेसर टेक्नालॉजी के विकास के साथ ही सूर्य से 10 करोड़ गुना अधिक दैदीप्यमान लेसर पुंजों का उत्सर्जन सम्भव हो गया है। शक्कर के मणिभ से भी सूक्ष्म पृष्ठ पर बिना फोकस किए गए लेसर के द्वारा 7500 अरब वाट ऊर्जा केन्द्रित की जा सकती है। इस तथ्य ने नाभिकीय ऊर्जा के दोहन में लेसर की उपयोगिता का मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

नाभिकीय ऊर्जा के दोहन के दो मार्ग हैं—नाभिक विखंडन एवं नाभिक संलयन। परन्तु नाभिकीय ईंधन भंडारों के सीमित होने के कारण नाभिक संलयन की प्रक्रिया स्वयंमेव महत्वपूर्ण हो गई है। किन्तु नाभिक संलयन की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है। दो नाभिकों के संलयन के लिये करोड़ों डिग्री ताप की आवश्यकता होती है। अतएव आज संलयन हेतु मुख्यतः दो विधियों-चुम्बकीय संलयन एवं लेसर संलयन-पर जोर दिया जा रहा है।

चुम्बकीय संलयन में द्रव्य की प्लाज्मा अवस्था का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसी प्लाज्मा की अस्थिरता, अत्यल्प घनत्व एवं लम्बे बंदीकाल के कारण चुम्बकीय संलयन अत्यन्त जटिल हो जाता है। इस दृष्टि से लेसर संलयन अत्यन्त महत्वपूर्ण साबित हुआ है। लेसर हेतु समय के बन्धन की कोई आवश्यकता नहीं है। सैद्धान्तिकतः यह सम्भव है कि जमे हुए ड्यूटीरियम पर लघु लेसर स्पन्दों के द्वारा इतनी अधिक गर्मी उत्पन्न की जा सकती है कि वह अत्युच्च दाब युक्त प्लाज्मा में परिवर्तित हो जाए और इससे पहले कि

प्लाज्मा के विस्तारण से उसका क्षय हो वह ट्रीटियम में परिवर्तित हो जाए। शक्तिशाली कार्बन डाई ऑक्साइड लेसर इसके लिये उपयुक्त सिद्ध हुए हैं। ओकरिज नेशनल लैबोरेटरी, अमेरिका ने लेसर के प्लाज्मा तापन की दिशा में कुछ सुझाव प्रस्तुत किये हैं जो कि इन अनुसन्धानों में क्रान्तिकारी सिद्ध हो सकते हैं। उनके अनुसार ठोस ड्यूटीरियम के स्थान पर पिघले हुये लीथियम के भंवर कुण्ड अथवा भ्रमण कुन्ड में जमे हुये ड्यूटीरियम एवं ट्रीटियम का मिश्रण अधिक कारगर सिद्ध हो सकता है। अब रासायनिक लेसर का भी विकास हो चुका है। पहले केवल विद्युत शक्ति से ही लेसर पुंज उत्पादित किये जाते थे जिनमें विपुल विद्युत शक्ति की आश्यकता होती थी। अब हाइड्रोजन एवं क्लोरीन जैसी गैसों के मिश्रण से भी लेसर का उत्पादन होने लगा है। ये इतनी प्रचण्ड एवं विनाशक होती हैं कि एक सेकन्ड के 20 अरबवें हिस्से में 200 अरब वाट के स्पन्दन उत्पन्न कर सकती हैं।

लेसर संलयन अब महज एक काल्पनिक सिद्धान्त नहीं रह गया है। वास्तव में यह अमेरिका, सोवियत रूस तथा अन्य अनेक सम्पन्न राष्ट्रों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण शोध का विषय बन चुका है। अमरीका की लॉरेन्स लिवरमूर लैबोरेटरी, कैलीफोर्निया के एक शोध समूह ने एक महत्वाकांक्षी योजना प्रस्तुत की है। इसके अनुसार सूच्याकार ड्यूटीरियम एवं ट्रीटियम के ईंधन पैलेट को कई दर्जन शक्तिशाली लेसर पुंजों से युगपत रूप से विकिरणित किया जायेगा। यह पैलेट विशाल निर्वात चैम्बर में त्रिज्यावत दूरियों पर रखे अनेक पैलेटों के मध्य में होगा। लेसर से एक निश्चित समयान्तराल के प्रकाश स्पन्दों के रूप में ऊर्जा का उत्सर्जन होगा। यह लेसर ईंधन पैलेट की बाह्य सतह का बाष्पन कर देगा। इससे एक शक्ति तरंग पैदा होगी जो कि त्रिज्यावत रखे पैलेटों पर अत्यधिक दबाव डालकर उनमें विस्फोट पैदा कर देगी। इस विस्फोट से प्रस्फुटित ऊष्मा एवं आयनों के द्वारा नाभिक संलयन सुगमतापूर्वक सम्पन्न हो जायेगा।

इस प्रकार अत्यधिक सुगमता से संलयन की सम्भावनाओं ने वैज्ञानिकों में खलबली मचा दी है। कारण स्पष्ट है। इस तकनीक के विकास से एक अदना सा राष्ट्र भी प्रलयंकारी हाइड्रोजन बमों का अति न्यून खर्च में निर्माण कर सकता है। लेसर आर्थिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से अधिकांश देशों की सामर्थ्य में है; उनका वे आसानी से सूक्ष्म रूपों में निर्माण कर सकते हैं और लेसर के सम्बन्ध में हुये अब तक के सभी अनुसन्धानों के परिणाम विश्व के सभी वैज्ञानिकों को ज्ञात हैं। यही कारण है कि अमरीकी परमाणु शक्ति आयोग ने हाइड्रोजन बम से सम्बन्धित लेसर के प्रयोगों को गोपनीय घोषित कर दिया।

लेसर से नाभिक संलयन की सम्भावना एक महत्वपूर्ण कदम साबित हो सकती है, यदि इसे सामरिक महत्व न प्रदान किया जाये। समुद्रों से प्राप्त विपुल ड्यूटीरिम भंडार के संलयन से मनुष्य हमेशा के लिये संलयन से प्राप्त ऊर्जा के भरोसे रह सकता है—यदि वह इससे पूर्व ही हाइड्रोजन बमों की विभीषिका में न विलुप्त हो जायें।

भविष्य की दुनिया

● श्याम लाल काकानी

शीर्षक देखकर चौंकिए मत ! मानव सदैव से ही भविष्य जानने के लिए लालायित रहता है। आज यदि 18 वीं शताब्दी में कब्र में सोया हुआ मानव किसी भी प्रकार से जिन्दा होकर उठ सके तो वह अपने आपको एक अजीब दुनिया में पायेगा। उसे यह कतई विश्वास नहीं होगा कि वह उसी दुनिया में लौटा है जिसमें वह पहले रह चुका है। उसे यह कतई विश्वास नहीं होगा कि मानव चन्द्रमा पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् अब मंगल एवं शुक्र ग्रहों पर विजय प्राप्त करने जा रहा है। अब कल्पना कीजिये कि आज के पचास वर्षो पश्चात् हमारी इस दुनिया का स्वरूप क्या होगा ? आइये हम 21 वीं शताब्दी की दुनिया का स्वरूप निर्धारण करने का प्रयास करें।

यदि हम गंभीरता से विचार करें तो आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुंच सकेंगे कि 21 वीं शताब्दी की दुनिया के स्वरूप को निर्धारित करने वाली मुख्य बातें होंगी : जनसंख्या विस्फोट, ऊर्जा संकट, न्यूक्लीय प्रक्षेपास्त्रों के भंडार, अंतरिक्ष अन्वेषण, विज्ञान एवं तकनीकी की प्रगति। अब हम इन्हीं संदर्भों में दुनिया की 50 वर्ष पश्चात् की स्थिति को आंकने का प्रयत्न करेंगे एवं वही हमारी दुनिया का 21 शताब्दी का स्वरूप होगा।

जनसंख्या वृद्धि : विश्व की जनसंख्या अत्यधिक तेजी से बढ़ रही है एवं ऐसा अनुमान है कि जिस रफ्तार से वर्तमान में जनसंख्या वृद्धि हो रही है यदि यही रफ्तार रही तो इस शताब्दी के अन्त तक विश्व की जनसंख्या लगभग 6 अरब एवं 21 वीं शताब्दी के प्रारंभ के कुछ ही वर्षों में यह बढ़कर लगभग 7 अरब हो जायगी। वर्तमान में ही विश्व खाद्य संकट से गुजर रहा है, ऐसी स्थिति में तो भविष्य में खाद्य संकट और भी भयंकर हो जायेगा। जमीन की उर्वरा शक्ति भी कम होती जा रही है। यही नहीं यदि सभी प्राणी उस समय पृथ्वी पर ही रहे तो संभवतया हमें खेती योग्य जमीन बहुत कम ही उपलब्ध हो पायेगी, उस समय अधिकांश प्राणी मांसाहारी ही होंगे। मकानों की छतों पर भी खेती करना अनिवार्य हो जायगा। यद्यपि जनसंख्या विस्फोट की दर भविष्य की दुनिया के बारे में एक निराशाजनक स्वरूप उभारने की कोशिश करती है लेकिन अंतरिक्ष अनुसंधान में हो रही तीव्र प्रगति एवं मानव की चन्द्र पर विजय यह आशा बंधाती है कि कुछ ही वर्षों में चन्द्र एवं मंगल के वातावरण को मानव के रहने के लिए अनुकूल बनाया जा सकेगा जिससे पृथ्वी से अतिरिक्त जनसंख्या को वहां स्थानान्तरित कर दिया जायगा। यदि ऐसा हो गया, जिसकी पूर्ण आशा है, तो हमारी दुनिया की सीमाएँ ही परिवर्तित हो जायँगी।

ऊर्जा संकट : पिछले अरब-इजरायल युद्ध के पश्चात् तो विश्व ऊर्जा संकट के दौर से ही गुजर रहा है। ऊर्जा के परंपरागत स्रोत (पृथ्वी के भूगर्भ से प्राप्त) कोयला, पेट्रोलियम एवं गैस के भंडार तेजी से समाप्त होते जा रहे हैं एवं अधिक से अधिक इन ऊर्जा स्रोतों के वर्तमान ज्ञात भंडार अधिक से अधिक एक शताब्दी और चल पायेंगे। न्यूक्लीय विखंडन के उपयोग से अवश्य ही ऊर्जा स्रोतों में आंकने योग्य वृद्धि हुई है लेकिन यूरेनियम, थोरियम इत्यादि के ज्ञात भंडार भी सीमित ही हैं। वर्तमान सर्वेक्षण के अनुसार न्यूक्लीय ईंधन के ज्ञात भंडार भी सीमित ही है। ऐसा अनुमान है कि यदि वर्तमान दर से ही इनकी

खपत होती रही तो ये भंडार केवल 1000 से 2000 वर्षों तक के लिए ही पर्याप्त होंगें। आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक मंहगे होने के कारण और अधिक शक्ति रिएक्टरों की स्थापना की संभावना भी प्रतीत नहीं होती है। यही नहीं शक्ति रिएक्टरों की मुख्य समस्या है उनसे निकल रहे बहुत बड़ी मात्रा में **रेडियोऐक्टिव अवशिष्ट** पदार्थों की समुचित व्यवस्था करने की। विश्व की रेडियोऐक्टिवता में तेजी से वृद्धि होती जा रही है। अतः इस दिशा में समुचित प्रयास न करना समस्त मानव जाति के लिए ही खतरा उत्पन्न कर सकता है। रेडियो-ऐक्टिव अवशिष्ट पदार्थों की समुचित व्यवस्था करने के लिए वैज्ञानिक प्रयत्नशील हैं एवं ऐसी आशा की जाती है कि 21 वीं शताब्दी में ऐसी कोई समस्या नहीं रहेगी। यह भी आशा की जाती है कि 21 वीं शताब्दी के मानव के सामने ऊर्जा स्रोतों की कोई समस्या नहीं होगी। समस्त समुद्र का पानी उनके लिए ईंधन का कार्य करेगा एवं ताप न्यूक्लीय संलयन शक्ति संयंत्र एक वास्तविकता होगा। भविष्य का मानव अपनी ऊर्जा-आवश्यकता की अधिकांश पूर्ति सौर ऊर्जा के समुचित उपयोग से ही कर लेगा। ऐसी संभावना है कि भविष्य का मानव कृत्रिम उपग्रहों पर ही सौर शक्ति केन्द्रों एवं तापन्यूक्लीय शक्ति संयंत्रों की स्थापना करेगा और वहीं से ऊर्जा का समुचित वितरण करेगा। भविष्य के मानव के लिए ऐसा करना इसलिए भी आवश्यक हो जायेगा कि पृथ्वी के ताप में अनुचित वृद्धि नहीं होने पाये (पृथ्वी के ताप में अप्रत्याशित वृद्धि से यहां का जीवन ही खतरे में पड़ सकता है, 75 डिग्री सेन्टीग्रेड ताप से अधिक ताप पर जीवन असंभव हो जाता है)। ऐसी भी कल्पना की जा सकती है कि 21 शताब्दी का मानव बड़े-बड़े उद्योग धन्धों की स्थापना कृत्रिम उपग्रहों पर ही करेगा क्योंकि औद्योगिक विकास की वर्तमान दर को देखते हुए आने वाले 15-20 वर्षों में ही पृथ्वी पर आगे और उद्योग धंधों की स्थापना करना पर्यावरण को दूषित होने से बचाने की दृष्टि से असंभव सा ही हो जायेगा। यह तो निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि यदि पर्यावरण इसी प्रकार से दूषित होता रहा तो आने वाले ही वर्षों में पृथ्वी पर जीवन संकट में पड़ सकता है। वह कभी नहीं चाहेगा कि उसका अस्तित्व ही संकट में पड़ जाय। पर्यावरण को दूषित होने से बचाने के लिए सर्वोत्तम तरीका यही होगा कि अंतरिक्ष में उपग्रहीय औद्योगिक नगरों की स्थापना की जाय एवं चन्द्रमा और मंगल को मानव के रहने के लिए उपयुक्त बनाया जाय। 21वीं शताब्दी में उपग्रहीय नगर एवं चन्द्रमा पर मानव निवास एक वास्तविकता होगी। 21 वीं शताब्दी में कृत्रिम उपग्रहों में निर्वात धातु कारखाने, गरम घर रहेंगे। रूसी न्यूक्लीय भौतिकविद एवं सन् 1975 के नोबल-शांति पुरस्कार विजेता आंद्रेई सखारोव के अनुसार 21 वी शताब्दी में पृथ्वी पर भी दो प्रकार के क्षेत्र विकसित हो जायेंगें :

(i) **संरक्षण भूमि** : जहाँ मानव अपना संतुलन बनाये रखने हेतु विराम का समय गुजारेगा।

(ii) **कार्य भूमि** : सघन औद्योगिक बस्ती जहाँ मानव अपना अधिकांश समय व्यतीत करेगा। कार्य भूमि में मानव प्रकृति को पूर्ण रूप से अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ढाल देगा। इसी में मानव स्वचालित यंत्रों से खेती भी करेगा। अति विशाल एवं स्वयंचालित फैक्टरियाँ भी यहीं होंगी। प्रायः सम्पूर्ण मानव जाति इन्हीं सूपरसिटीज़ में निवास करेगी। इन सूपरसिटीज़ में भवन गगनचुम्बी होंगे जिनमें हवा, ताप, रोशनी इत्यादि सभी की व्यवस्था कृत्रिम रूप से नियंत्रित होगी। इन सूपरसिटीज़ से कई सौ मील दूर इनके उपनगर होंगे जो वर्तमान में संपन्न राष्ट्रों के उपनगरों जैसे होंगे एवं जिनमें आधुनिक जीवन की समस्त सुख-सुविधाएं उपलब्ध होंगी। सखारोव के अनुसार **संरक्षण-भूमि का क्षेत्रफल** लगभग 8 वर्ग किलो मीटर एवं **कार्यभूमि** का कुल क्षेत्रफल लगभग 3 करोड़ वर्ग किलोमीटर होगा।

न्यूक्लीय प्रक्षेपास्त्र : यदि वर्तमान में मानव को अपने अस्तित्व का सबसे अधिक खतरा है तो वह स्वयं द्वारा निर्मित न्यूक्लीय प्रक्षेपास्त्रों से ही है। आज विकसित राष्ट्रों में अधिक से अधिक शक्तिशाली, स्वयंचालित एवं

अधिक दूरी पर मार करने वाले न्यूक्लीय प्रक्षेपास्त्रों के निर्माण के लिए होड़ लगी हुई है। लेकिन यह भी सत्य है कि यही न्यूक्लीय प्रक्षेपास्त्र (अणु आयुध) तृतीय विश्व युद्ध को भी रोके हुए है। मानव इस सत्य से पूर्णतया परिचित है कि यदि तीसरा विश्व युद्ध हुआ तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। यही कारण है कि आज अणु आयुधों के आगे और विस्तार को रोकने की दिशा में प्रयास किये जा रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ को मजबूत बनाया जा रहा है। राष्ट्रों में परस्पर अविश्वास की भावना में कमी हो रही है एवं कई क्षेत्रों में सहयोग भी प्रारंभ हो गया है। हम यह आशा करते हैं राष्ट्रों में परस्पर सहयोग की भावना में आगे और वृद्धि होगी एवं अणु आयुधों का विस्तार रुक जायेगा। 21 वीं शताब्दी में विश्व सरकार की कल्पना करना बेबुनियाद नहीं होगा। यदि अणु आयुधों का प्रसार रुक गया एवं विश्व सरकार की स्थापना हो गई तो निःसंदेह मानव के लिए अपने अस्तित्व की रक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण उपलब्धि होगी।

अन्तरिक्ष अन्वेषण : जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि 21 वीं शताब्दीं में कृत्रिम उपग्रह उड़ते हुए औद्योगिक उपनगरों का कार्य करेंगे एवं चन्द्रमा और मंगल पृथ्वी की ही कोलोनियों के रूप में विकसित हो जायेंगे कृत्रिम उपग्रह आकाशीय प्लेटफार्म का भी कार्य करेंगें एवं यहीं से अन्य ग्रहों के लिए उड़ानें भरी जायेंगी। प्रकाश के वेग से गतिमान अंतरिक्ष यानों का निर्माण हो जायेगा। सभी ज्ञात तरंग दैर्घ्यों पर ब्रह्मांड में अन्य ग्रहों से आने वाले संकेतों एवं पृथ्वी से अन्यत्र ऐसे संकेतों के पारेषण किये जायेंगे। रेडियो टेलिस्कोप का स्थान X-किरण टेलिस्कोप एवं अंतरिक्ष किरण (कॉस्मिक) टेलिस्कोप ले लेंगे। अल्फा सेन्टौरी (पृथ्वी से लगभग 4.3 प्रकाश वर्ष दूर) एवं अन्य समीप नक्षत्रों एवं ग्रहों का भ्रमण एक खेल बन जायेगा। ब्रह्मांड में अन्यत्र सभ्यताओं की खोज अंतरिक्ष अन्वेषण का एक चित्ताकर्षक एवं महत्वपूर्ण पहलू होगा। यदि ऐसी सभ्यताओं की खोज संभव हो गई तो यह विज्ञान एवं उद्योग को ही नहीं परन्तु मानव जीवन के समस्त पहलुओं को अत्यधिक प्रभावित करेगी। उस दिन की कल्पनामात्र से ही हम आत्मविभोर हो उठते हैं जब अंतरिक्ष में अन्य सभ्यताओं के साथ हमारा आदान-प्रदान हो जायेगा।

अंतरिक्ष अनुसंधान में तीव्रता के साथ पृथ्वी पर जीवन भी अत्यधिक प्रभावित होगा। विश्वव्यापी वीडियो फोन श्रृंखला स्थापित हो जायेगी। कृत्रिम उपग्रह संचार एवं लेसर या प्रकाशिक संचार व्यवस्थायें स्थापित हो जायेंगी। मानव विश्व के एक कोने में बैठकर दूसरे कोने में बैठे अपने साथी से निर्बाध रूप में बात कर सकेगा। अंतरिक्ष अनुसंधानों के परिणामस्वरूप पृथ्वी पर भवन निर्माण कला में परिवर्तन आयेगा। मानव कारों के स्थान पर यांत्रिक पैरों वाले बैटरी चालित यानों का उपयोग करने लगेगा। परमाणु शक्ति द्वारा चालित भूगर्भ रेलों का उपयोग माल ढुलाई में होने लग जायगा। ये रेलें एक पटरी पर ही चलेंगी।

अंतरिक्ष अनुसंधान का महत्वपूर्ण प्रभाव कम्प्यूटरों के के विकास पर भी पड़ेगा। 21वीं शताब्दी में ऐसे कम्प्यूटरों का निर्माण हो जायगा जिनकी स्मृति अति विशाल एवं गति अति तीव्र होगी। ये कम्प्यूटर सैद्धांतिक व्याख्याओं की सत्यता की जांच में महत्वपूर्ण योगदान तो देंगें ही परन्तु विज्ञान के कई क्षेत्रों में जैसे मौसम की भविष्यवाणी, ब्रह्मांडीय गणनायें, मूलभूत कणों के गुणों का निर्धारण इत्यादि में भी उल्लेखनीय योगदान करेंगें।

अंतरिक्ष अनुसंधान का एक महत्वपूर्ण प्रभाव होगा **कृत्रिम एमिनो अम्लों** का निर्माण। वृहद पैमाने पर एमिनों अम्लों के निर्माण से 21वीं शताब्दी का इंसान प्रोटीन की कमी से पीड़ित नहीं रहेगा। ऐसी आशा की जाती है कि कृत्रिम ऐमिनों अम्लों का निर्माण मुख्यतः वनस्पतियों के समुद्रीकरण से होगा।

विज्ञान एवं तकनीकी प्रगति : 21वीं शताब्दी में विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रांति होगी। आइंस्टाइन की तरह ही कोई नया सैद्धांतिक वैज्ञानिक

पैदा होगा जो देश-काल के संबंध में सर्वथा नवीन अवधारणाओं को प्रतिपादित करेगा। मूल कण भौतिकी में शोध क्षेत्र के विस्तार के साथ नये सत्य सामने आयेंगे। हृदय प्रतिरोपण एवं टेस्ट ट्यूब बेबी एक निरापद सत्य होगा। लेसर किरणों के उपयोग से चिकित्साशास्त्र में अभूतपूर्व प्रगति होगी। जैव भौतिकी में शोध विस्तार से सर्वथा अप्रत्याशित बातें प्रकाश में आयेंगी। 21वीं शताब्दी की औरतों को बच्चे उत्पन्न करने हेतु गर्भ धारण नहीं करने पड़ेगें। इच्छित लक्षणों वाले बच्चे पैदा करना एक वास्तविकता होगी।

21 वीं शताब्दी में ऐसे पदार्थों की खोज हो जायगी जो कमरे के ताप पर अतिचालकता (कुछ पदार्थों का परम शून्य ताप के ताप सीमांतर में दिष्ट धारा के लिए प्रतिरोध एकाएक शून्य होता है, इस घटना को अतिचालकता एवं ऐसे पदार्थों को अतिचालक पदार्थ कहते हैं) प्रदर्शित करेंगे (वर्तमान में नायोबियम एवं टिन का मिश्रधातु 18.4 डिग्री केल्विन ताप पर अतिचालकता के गुण को प्रदर्शित करता है)। ऐसे पदार्थों की खोज से रेफरीजरेटर में बिजली का खर्चा न्यूनतम हो जायेगा। विशाल चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न किये जा सकेंगे। अतिचालक पदार्थों का उपयोग इलेक्ट्रॉनिकी एवं कई उद्योग तंत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन लायेगा। यह कल्पना करना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि 21 वीं शताब्दी में रेलें अतिचालक पटरियों पर चुम्बकीय गद्दियों पर तीव्र गति से दौड़ेंगी एवं इन रेलों के डिब्बे अतिचालक पदार्थों से निर्मित रनरों से युक्त होंगें।

अति शक्तिशाली स्पन्द लेसर (विकिरणों के संप्रेरित उत्सर्जन से प्रवर्धित प्रकाश, जो एकवर्णी, कला संबंद्ध, एवं ससक्त होता है, लेसर प्रकाश कहते हैं) X-किरण लेसर इत्यादि एक वास्तविकता होगा। 21वीं शताब्दी में तापन्यूक्लीय शक्ति संयंत्र भी लेसरों से ही चालित होंगे। 21वीं शताब्दी में अंधा आदमी अंधा न रहकर लेसर बैटरियों की सहायता से देख सकेगा।

वर्तमान प्रगति की रफ्तार को देखते हुए हम नि:संकोच यह कह सकते हैं कि 21 वीं शताब्दी की दुनिया एक भव्य दुनिया होगी जिसमें पृथ्वी की सभ्यता चन्द्रमा एवं मंगल तक फैली होगी, ऊर्जा संकट जैसी कोई समस्या नहीं होगी, एव अन्य सभ्यताओं के साथ हमारा आदान-प्रदान होने लग जायेगा।

बीमारियाँ और उनकी रोकथाम

● श्री कृष्ण पालीवाल, भीलवाड़ा

कोशिका मानव शरीर की इकाई है। समान कार्य करने वाली कोशिकाएं मिलकर ऊतक का निर्माण करती हैं। ऊतकों से अंग और अंगों से संस्थान बनते हैं, जो मिलजुल कर पूरे शरीर की गतिविधियों का संचालन करते हैं। शरीर के किसी भी अंग अथवा संस्थान के कार्य में शिथिलता आ जाने पर इनका असर अन्य संस्थानों पर भी पड़ जाता है। शरीर की इस अवस्था को हम रुग्णावस्था अथवा बीमारी कहते हैं।

बीमारियों को हम स्थूल रूप से दो भागों में बाँट सकते हैं :—

1. वे बीमारियाँ जो जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न होती हैं।

2. वे बीमारियाँ जो बिना जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न होती हैं।

जीवाणुओं द्वारा

मानव शरीर में अधिकांश बीमारियाँ जीवाणुओं या विषाणुओं द्वारा होती हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार जीवाणु शरीर में प्रवेश कर भिन्न-भिन्न रोग फैलाते हैं। इन जीवाणुओं को शारीरिक आकार के आधार पर निम्न वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :—

(a) **गोलाणु :** ये गोल आकृति के होते हैं जैसे स्ट्रप्टोकोकस, न्युमोनिया, मेनिनजाइटिस आदि रोगों के जीवाणु।

(b) **दण्डाणु :** ये लम्बे एवं छड़ की आकृति के होते हैं जैसे डिप्थेरिया, तपेदिक, टाइफाइड आदि के रोगाणु।

(c) **कुन्तलाणु :** ये सर्पिल आकार के होते हैं जैसे ट्रेन्चमाउथ, हैजा, मस्तिष्क रोग आदि के जीवाणु।

(d) **पुच्छ बिन्दु :** ये हिन्दी के अर्द्धविराम (,) की आकृति के होते हैं जैसे अमीबिक डिसेन्ट्री, अफ्रीकी सोने का रोग आदि के जीवाणु।

ये जीवाणु स्वस्थ्य मनुष्य के शरीर में भिन्न-भिन्न साधनों या विधियों द्वारा पहुँच जाते हैं, उनमें से कुछ प्रमुख साधन इस प्रकार हैं :

(i) **हवा द्वारा :** अस्वस्थ मनुष्य जब छींकते या खांसते हैं तो असंख्य मात्रा में जीवाणु बाहर निकलते हैं। यही जीवाणु श्वसन द्वारा स्वस्थ मनुष्यों के शरीर में भी पहुँच जाते हैं।

(ii) **स्पर्श द्वारा :** चेचक, खुजली आदि संक्रामक रोगों के जीवाणु स्पर्श से भी एक शरीर से दूसरे शरीर में पहुँच जाते हैं।

(iii) **जल द्वारा :** आंत्र ज्वर, हैजा, पेचिस आदि के जीवाणु पेय जल के साथ स्वस्थ मानव शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।

(iv) **दूध एवं खाद्य पदार्थों द्वारा :** कुछ दुधारू पशु क्षय रोग से पीड़ित होते हैं। उनके दूध का सेवन करने पर स्वस्थ व्यक्ति भी क्षय रोग से पीड़ित हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य दूषित खाद्य सामग्री पर भी जीवाणु पनप जाते हैं, जिनके सेवन से मनुष्य बीमार या रोगग्रस्त हो जाता है। इस प्रकार दूध एवं अन्य खाद्य पदार्थ भी जीवाणुओं को मानव शरीर तक ले जाने में सहायक होते हैं।

(v) **पशुओं द्वारा :** कुछ जीवाणु ऐसे होते हैं, जो विभिन्न पशुओं के शरीर में अपना जीवन काल सम्पन्न करते हैं। ये जन्तु जब मनुष्यों को काटते हैं तो जीवाणु मनुष्य के शरीर में पहुँच जाते हैं और बीमारी उत्पन्न कर देते हैं। उदाहरणार्थ प्लेग रोग।

(vi) **कीटों द्वारा :** मक्खी जीवाणुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में पूर्ण सहायक है। मच्छर मलेरिया रोग के जीवाणु मानव शरीर तक पहुँचा देते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कीट भी जीवाणुओं को मनुष्य के शरीर तक ले जाने में सहायक होते हैं।

बिना जीवाणुओं द्वारा

कुछ बीमारियाँ ऐसी होती हैं जो बिना ही जीवाणुओं के हो जाती हैं। इन बीमारियों के कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :—

(i) **दोषयुक्त भोजन द्वारा :** असन्तुलित भोजन से शरीर दुर्बल हो जाता है और अनेक बीमारियों की सम्भावना बन जाती है। यथा लोहे और ताँबे के आवश्यक यौगिकों के अभाव से एनीमिया हो जाता है। विटामिनों के अभाव में रतौंधी, स्कर्वी, बेरी-बेरी आदि रोग हो जाते हैं।

(ii) **असामान्य वृद्धि से उत्पन्न रोग :** कैन्सर असामान्य वृद्धि का एक उदाहरण है। अन्य रूपों में भी शरीर में असामान्य वृद्धि होती है। कैन्सर के सम्बन्ध में एक मत यह है कि यदि शरीर के किन्हीं भागों में किन्हीं कारणों से क्षोभण (Irritation) हो तो उनमें कैन्सर होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। अत्यधिक धूम्रपान, पान में अधिक चूना खाना, अत्यधिक मिर्च मसाला खाना आदि कैन्सर के उत्पन्न होने के कारण होते हैं।

(iii) **शरीर के अवयवों का समुचित रूप से कार्य न करने के कारण उत्पन्न रोग :** कई रोग जैसे कि उच्च रक्त चाप, हृदय के रोग आदि इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं। कुछ रोग नि:स्रोत ग्रन्थियों के समुचित रूप में कार्य न करने के कारण भी उत्पन्न होते हैं। जैसे डायबिटीज का रोग। पेनक्रियास की ग्रन्थियों के समुचित रूप में कार्य नहीं करने पर भी अनेक प्रकार की बीमारियों की सम्भावना रहती है।

बीमारियों की रोकथाम

उपरोक्त विभिन्न बीमारियों से बचने हेतु निम्नांकित तीन प्रमुख विधियाँ हैं :—

1. **प्राकृतिक प्रतिरोध की क्षमता को पुष्ट करना :** शरीर में रोगों का प्रतिरोध करने की क्षमता शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर निर्भर करती है। अत: यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में सन्तुलित भोजन, शारीरिक व्यायाम एवं विश्राम को नियमित स्थान दे। मानसिक स्वास्थ्य दैनिक कार्यों एवं मनोरंजन पर निर्भर करता है, फलत: काम और मनोरंजन के बीच सन्तुलन बनाये रखना आवश्यक है।

2. **रोग जीवाणुओं के संक्रान्त होने से बचना :** घाव लगने पर तत्काल उसकी प्राथमिक चिकित्सा की जाय ताकि जीवाणु घाव के सम्पर्क में ही न आ सके। रोगियों से बचकर रहें तथा उनकी सेवा सुश्रूषा के समय नाक एवं मुँह पर कपड़ा रखें। सेवा सुश्रूषा के पश्चात् अपने कपड़ों को उबाल कर अथवा अन्य कीटाणुनाशक से धोएं स्नान में कार्बोलिक साबुन का प्रयोग करना चाहिए। डिप्थेरिया, कुकुर खांसी, चेचक, टिटेनस आदि बीमारियों के लिये प्रतिरोधक टीके लगाये जा सकते हैं। इन प्रतिरोधक टीकों के फलत: यदि जीवाणु शरीर में चले भी जायेंगे तो भी वे नष्ट कर दिये जायेंगे।

3. **शरीर को रोगों पर काबू पाने में मदद करना :** उपरोक्त सभी साधनों या विधियों द्वारा यदि सफलता नहीं मिलती है और जीवाणु शरीर में अपना प्रभाव दिखा देते हैं तो विभिन्न साधनों द्वारा उन्हें नष्ट करना होगा जो मुख्यत: निम्नांकित हैं :—

(1) **शरीर की प्राकृतिक क्षमता बढ़ाकर :** यदि शरीर में प्रतिरोध की क्षमता बढ़ा देते हैं तो रोग हो जाने पर भी उसकी तीव्रता स्वत: कम हो जाती है।

(2) **शक्ति का संरक्षण करके :** रुग्णावस्था में पूर्ण शान्ति एवं विश्राम रखें ताकि उस संरक्षित शक्ति का उपयोग रोग निवारण में हो सके।

(3) **टीका या इन्जेक्शन लगाकर :** विकसित जीवाणुओं को भी टीके अथवा इन्जेक्शन के प्रतिरोधी पदार्थों द्वारा नष्ट किये जा सकते हैं।

(4) **दवा का उपयोग करके :** वर्तमान युग में विभिन्न प्रकार के रोगों पर नियन्त्रण पाने हेतु विज्ञान ने विभिन्न प्रकार की औषधियाँ प्रदान की है जो मानव स्वास्थ्य में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। उदाहरणार्थ पेनिसिलीन स्ट्रेप्टोमाइसीन, क्लोरोमाइसेटीन, सल्फा औषधियाँ आदि। भिन्न-भिन्न जीवाणुओं के नियन्त्रण हेतु भिन्न-भिन्न प्रकार की औषधियाँ प्रयुक्त की जाती हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बीमारियाँ शारीरिक अथवा मानसिक दुर्बलता या जीवाणुओं द्वारा होती है। उनकी रोकथाम हेतु सन्तुलित भोजन और स्वच्छता का पूर्ण ध्यान रखा जाय। यथासम्भव जीवाणुओं को शरीर में प्रवेश ही नहीं होने दिया जाय और यदि वे किसी भी प्रकार से शरीर में प्रवेश कर जावें तो उन्हें तत्काल नष्ट किया जाय।

(शेष पृष्ठ 26 का)

स्थिति में रखे रहते हैं। पनडुब्बी के खोल पर विद्युत-ग्राहक और परिदर्शी स्थापित होते हैं।

इस समय अमेरिका के पास 31 पोडिसन एवं 10 पोलारिस, रूस के पास 44, फ्रांस के पास 3 तथा ब्रिटेन के पास 4 परमाणु प्रक्षेपास्त्र पनडुब्बियाँ हैं। अमेरिका की पोलारिस पनडुब्बी 380 फुट लम्बी, 32 फुट चौड़ी और 32 फुट ऊँची होती है। उसका वजन करीब-करीब 7 हजार टन होता है। पोडिसन पनडुब्बा की लम्बाई 435 फुट और ऊँचाई 32 फुट होती है। आधुनिक डेल्टा नामक रूसी परमाणु पनडुब्बियां भी पोडिसन जितनी हो बड़ी होती है।

सन् 1979 तक अमेरिका ट्राईडन्ट नामक एक अन्य परमाणु प्रक्षेपास्त्र पनडुब्बी तैयार कर लेगा, जो 535 फुट लम्बी, 43 फुट ऊँची और 18000 टन भारी होगी। उसमें 24 प्रक्षेपास्त्र होंगे और प्रत्येक प्रक्षेपास्त्र 4,500 मील तक की मार कर सकेगा, जो भविष्य में 6,000 मील तक होने की सम्भावना है। इस विशाल पनडुब्बी की लागत करीब 1 अरब 80 करोड़ डालर होगी।

आधुनिक परमाणु पनडुब्बियाँ

● सोबरन सिंह

गत वर्ष 1 जुलाई को नार्वे को एक फैक्टरी का निजी जहाज बेरेन्ट्स सागर में मछली मार रहा था। जहाज की एक नौका 'लैब्राडोर' को लगा कि कुछ ही गहराई पर कोई भारी मछली है। बस, मछली को जकड़ लिया गया और ऊपर खींचा गया। देखकर सभी हैरान रह गये। वह मछली नहीं, बल्कि एक परमाणु पनडुब्बी थी। जहाज के एक कर्मचारी ने करीब 500 मीटर दूर से उसका एक फोटो भी खींच लिया और वह फोटो ओस्लो के एक समाचार पत्र 'बर्डेन्स गैग' ने छापा भी था। परन्तु बाद में पता चला कि वह परमाणु पनडुब्बी रूस की थी।

परमाणु-शक्ति के आविष्कार से पूर्व पनडुब्बियां प्रायः डीजल से चलती थीं। इनको चलाने के लिए वायु आवश्यक होती है इस कारण पनडुब्बी एक साथ कुछ ही घंटे पानी के अन्दर लगातार रह सकती थी।

अब परमाणु शक्ति से संचालित इंजन के प्रयोग से पनडुब्बी अनिश्चित काल तक समुद्र के जल में भ्रमण करती रह सकती है। उसमें लगा परमाणु-संयन्त्र समुद्र जल का विद्युत विच्छेदन कर आक्सीजन प्राप्त करने के लिए आवश्यक विद्युत उत्पन्न करता है। इसलिए जितने समय के लिए खाद्य सामग्री उसपर लादी जा सकती है, उतने दिन तक वह लगातार समुद्र के अन्दर रह सकती है। अमेरिका की पोडिसोन पनडुब्बी सामान्यतः लगातार दस सप्ताह तक 100-125 फुट की गहराई पर समुद्र में दौड़ती रह सकती है। समुद्र में पानी की ऊपरी सतह से सौ फुट की निचाई पर छिपकर लगातार चलने एवं पनडुब्बी को अपनी स्थिति की सही-सही जानकारी हर क्षण रखने के लिए इसे जड़त्वीय या अवस्थितीय निर्देशन (Inertial guidance system) की तकनीकी पर निर्भर रहना पड़ता ह। प्रायः रात को ये पनडुब्बियाँ पानी की सतह पर आकर उपग्रह अथवा समुद्र में स्थापित चिन्हों की स्थिति से अपनी स्थिति की जाँच करती हैं। परन्तु अधिकतया इन्हें अपनी ही अवस्थितीय निर्देश प्रणाली, पुराक्षिस्थापी और त्वरणमापी पर निर्भर रहना पड़ता है। जब पनडुब्बी चलती है, तो त्वरणमापी यन्त्र उसकी गति एवं दिशा को लगातार अंकित करते चलते हैं। फिर कम्प्यूटर हर क्षण पनडुब्बी की दिशा, गति एवं दूरी की गणना रखते हैं।

इन पनडुब्बियों की बनावट सिलिंडर के आकार की होती है। ये आगे से गोल और पीछे की ओर क्रमशः शुंडाकार होती जाती हैं क्योंकि समुद्र में सैकड़ों फुट गहराई पर पानी के दबाव को सहन करने के लिए गोल या सिलिंडर के आकार की वस्तु ही अधिक उपयुक्त रहती है। इनका रंग अधिक गहरा नीला अथवा काला होता है। एक पनडुब्बी में लगभग 140 आदमियों के लिए आवास कक्ष तथा विभिन्न कार्यों के लिए अलग-अलग कक्ष होते हैं। आगे का एक तिहाई भाग तो नैविगेशन, संचार-सोनार, तारपीडो, लांच-कंट्रोल, मिसाइल कंट्रोल एवं कमांड सेन्टर आदि घेर लेते हैं। पीछे के एक तिहाई भाग में इंजन कक्ष होता है, जिसमें परमाणु रीएक्टर भी होता है। मध्य के एक तिहाई भाग में प्रक्षेपास्त्र होते हैं। ये 8-8 की दो-दो पंक्तियों में नलियों में अन्दर अनुलम्ब

(शेष पृष्ठ 25 पर)

जीव जगत : जलचर

● मृदुला श्रीवास्तव
इलाहाबाद

जीवन विकास में सृष्टि के आदि जीवों के बारे में सभी ने पढ़ा है। अमीबा प्रोटोजोआ जल के प्रथम जीव हैं। जलचरों में मछलियों का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। मछलियों के अलावा कछुआ, सूंस, मगर, घड़ियाल आदि भी हैं। कुछ जल के जीव ऐसे भी हैं जिनमें से कुछ को देख तो सकते हैं, मगर उनके बारे में जानकारी नहीं है। इसके अलावा कुछ जीव सूक्ष्म संरचना के हैं।

समुद्र में लगभग 700 फीट से अधिक गहराई के पानी में आहार पर्याप्त मात्रा में नहीं होते। वहां तक सूर्य की रोशनी और गर्मी नहीं पहुंच पाती। पानी में खुली हवा भी नहीं मिलती कि साँस ली जा सके। समुद्र के अन्दर एक मील की गहराई में पानी का दबाव बहुत अधिक होता है। यदि दो इंच लम्बी और एक इंच चौड़ी मछली उस गहराई में जाए तो उसके शरीर पर लगभग चार सौ मन का दबाव होगा। अतः प्रकृति ने इसे छोटा और भार सहने योग्य बनाया है।

गहरे समुद्र के कुछ जीवों के शरीर अंधेरे में चमकते हैं। उस कारण वे जीव अंधेरे में सब कुछ देख सकते हैं। घोंघा, केकड़ा, आक्टोपस, फ्लोटिंग, फाट्रेस, सींगा, पनिहा साँप आदि विचित्र जलचर हैं। आक्टोपस तो बहुत बलवान और फुर्तीला होता है। इसको शिकार के लिए परेशान नहीं होना पड़ता। यह बड़ी-बड़ी मछलियों को भी मार डालता है। यह अपने शिकार के शरीर में एक प्रकार का जहर भरकर उसे बेहोश कर देता है और फिर निगल जाता है। पनिहा साँप जहरीला नहीं होता और बहुत सीधा होता है। मगर छेड़ने पर फुफकार मार कर जबान लपलपाता है। हाथ से उठाने पर यह हाथ को अपनी कुंडली में कस लेता है। इसकी मादा अंडे नहीं देती बल्कि बच्चे देती है।

मछलियों की खान तो बहुत विशाल है। रंगीन मछलियाँ विभिन्न प्रकार की होती है। ये बड़ी ही नाजुक और लुभावनी होती हैं। सबसे पहले चीन के लोगों ने इन्हें पालना शुरू किया था। धीरे-धीरे ये पूरे संसार में फैल गईं। पालने के लिए पानी के कुछ पौधे जार में उगा देते हैं। पौधों से मछलियों को साँस लेने के लिए आक्सीजन मिल जाती है। इन्हें दिन में एक बार इतना भोजन देते हैं जितना 5 मिनट में वे खा सकें।

इनमें सुनहरी मछली गोल्डफिश की अनेक उप-जातियां विशेष प्रचलित हैं। गौरैया, सुंभा, साही टेंगरा हिलसा, गेहूं, सींगी, लेगा मछली, फेडल आदि कुछ खाई भी जाती हैं। इसमें से टेंगरा मछली तो बहुत ही स्वादिष्ट होती है। हिलसा भी हमारे देश की प्रसिद्ध खाने योग्य मछली है। इसका निर्यात पर्याप्त मात्रा में होता है। रोहूं में काँटे कम होते हैं, यह भी खाई जाती है। सींगी को भी खाने के लिए लोग हौजों में पाल रखते हैं।

सकुची, फीता मछली, दंदानी हांगर, हथौड़ा, सिरी हांगर, आरा मछली, जेर मछली, धुआँ छोड़ने वाला स्क्विड उड़ाकू मछली, मडस्किपर मछली, सील आदि मछलियाँ भी विशेष महत्व रखती हैं।

इन मछलियों की लगभग पचास जाति की मछलियाँ अपने बचाव और आहार के लिए जलजीवों पर बिजली का झटका मारती हैं। ये झटके इतने भयंकर होते हैं कि जल के जीव या तो बेहोश हो जाते हैं या बिल्कुल ही मर

जाते हैं। इन मछलियों को विद्युत मछली कहते हैं। ईल कैट फिम, स्टारगेजर, टारपीडो रे आदि विशेष विद्युत मछलियाँ हैं।

ईल सबसे खतरनाक विद्युत मछली है, यह जब चाहती है तब अपने चारों ओर विद्युत क्षेत्र पैदा कर लेती है। इसके दुम में धन विद्युत और मुंह पर ऋण विद्युत होती है। इसके शरीर से लगभग 500 वोल्ट विद्युत पैदा होती है जोकि एक घोड़े तक को मार गिराने के लिए पर्याप्त है। टारपीडो तो बड़ी रोचक है। जब इनके बच्चे पेट में ही होते हैं तभी बिजली के झटके देने लगते हैं। बेथिस्फेयर, एंगलर, मेलेकोट्स वाइपर, स्टोमियस, बाग्रा आदि मछलियाँ सागर के दीप नाम से जानी जाती हैं, क्योंकि ये लुभावना प्रकाश फेंकती हैं।

गहरे जल में अत्यन्त कम जीव मिलते हैं। गहरे जल में पानी का दबाव भी बहुत कम है। ये ऊपर से आई सड़ी गली वस्तु या नीचे के ही अन्य जीवों को खाते हैं। वाइपर, ब्लैक स्वालोवर, सुईमुँही, सृम्प, घोड़ा मछली आदि गहरे जल के जीव हैं। घोड़ा मछली की नर जाति ही अंडों को लेती है।

ह्वेल मछली दुनिया का सबसे विशालकाय प्राणी है। इसे साँस लेने के लिए बार-बार समुद्र की सतह पर आना पड़ता है, अधिक देर तक यदि समुद्र की सतह पर न आ सके तो इनकी मृत्यु हो जाती है।

इसकी लम्बाई 125 फीट और वजन 4000 मन होता है। जब यह साँस निकालतीहै, तब एक फब्बारा सा छूटता है। इसकी बहुत सी बातें मछलियों से निराली हैं। मछलियाँ पानी में घुली हुई हवा में साँस ले लेती हैं जब कि ह्वेल प्रति दो घण्टे पर पानी के ऊपर आकर सांस लेती है। मछलियाँ अंडे देती हैं, मगर ह्वेल मछली बच्चे जनती है।

सूँस, मेढक, कछुआ, ऊदबिलाव, मगर, घड़ियाल, दरियाई घोड़ा आदि भी जीव जगत के ही जलचर हैं।

⊙⊙

सूचना
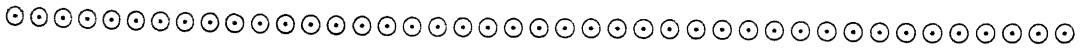
डा० गोरख प्रसाद पुरस्कार

विज्ञान के लेखकों को जानकर प्रसन्नता होगी कि १९७८ से प्रतिवर्ष विज्ञान परिषद् ने 'विज्ञान' में वर्ष भर में प्रकाशित उत्तम लेखों पर तीन पुरस्कार देने का निर्णय किया है। ये पुरस्कार 'डा० गोरख प्रसाद पुरस्कार' कहलावेंगे। पुरस्कारों की राशि निम्नप्रकार रखी गयी है :—

प्रथम	१२५ रु०
द्वितीय	७५ रु०
तृतीय	५० रु०

लेखकों को आमंत्रित किया जाता है कि वे विविध वैज्ञानिक विषयों पर उत्तमोत्तम लेख भेजकर पुरस्कार प्रतियोगिता में भाग लें।

शिवगोपाल मिश्र
प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

यह भी जानो

गोपेश चन्द
विज्ञान क्लब, नाथ द्वारा

बर्फ को गर्म कपड़े या बुरादे में लपेट कर रखते हैं : गर्म कपड़ा या बुरादा ताप का कुचालक होता है अतः वह गर्मी को बर्फ के पास जाने से रोकता है। इस प्रकार बर्फ पिघलने से बच जाती है।

शरद ऋतु में हम ऊनी अथवा रुई के कपड़े पहनते हैं : ऊन या रुई के कपड़े शरीर को गर्म बनाये रखने में समर्थ हैं। ऊन या रुई ताप के कुचालक होते हैं। शरद ऋतु में हमारे शरीर का ताप वायु के ताप से अधिक होता है। इसलिए शरीर से गर्मी निकलती रहती है। यह गर्मी कपड़े के उस धरातल पर पड़ती है जो शरीर को छूता है। गर्मी प्राप्त करके कपड़ों का भीतरी धरातल भी गर्म हो जाता है। ऊन व रुई ताप के कुचालक होते हैं अतः वह गर्मी संचालन द्वारा वापस नहीं आ पाती।

हम गर्मियों में सफेद कपड़ा पहनना पसन्द करते हैं : सफेद कपड़े ऊष्मा को परावर्तित कर देते हैं अतः जब सूर्य की गर्मी इनपर पड़ती है तो वह बहुत कम गर्मी शोषित करते हैं और इस प्रकार कपड़े पहनने वाले को गर्मी कम लगती है।

छतरी पर काला कपड़ा लगाते हैं : काली वस्तु ऊष्मा को भली-भाँति सोख लेती है। छतरी पर काला कपड़ा लगाने से वह सूर्य से आने वाली ऊष्मा को सोख लेती है जिससे हमें कुछ गर्मी महसूस नहीं होती हैं।

प्रायः नदी तथा झीलों के पेंदों से निकलने वाले बुल-बुले सतह पर आते-आते अधिक बड़े हो जाते हैं : चूंकि नदी के पेंदे में पानी का दाब प्रतिवर्ग इंच बहुत अधिक होता है तथा सतह पर कम। इसलिए अधिक दाब के कारण पेंदे में हवा के बुलबुले का आयतन कम होता है तथा सतह पर आते-आते उसका आयतन कम दाब के कारण बढ़ जाता है।

छुई-मुई या लाजवन्ती नामक पौधे को छूने से मुरझा जाती है किन्तु कुछ समय बाद पौधा फिर अपनी सामान्य स्थिति में आ जाता है : पौधों की कोशिका में पाया जाने वाला द्रव्य जब पर्याप्त मात्रा में होता है तो कोशिका की दिवाल को समुचित रूप से फैलाकर रखता है। कोशिका की इस स्थिति को 'टर्जीडिटी' कहते हैं। जल के, कोशिका के बाहर निकल जाने पर इस स्थिति में परिवर्तन हो जाता है। जीवन के आवश्यक कार्यों के लिए पौधों की कोशिकाओं का 'टर्जीडिटी' होना अत्यन्त आवश्यक होता है। इसके फलस्वरूप ही पौधे के अष्ठिय अकाष्ठिय उत्तक और अंग सँभल पाते हैं। आक्जेलिस, बीन और माइमोसा आदि के पौधों में रात के समय पत्तियों का मुड़ जाना जल की कमी से उत्पन्न टर्जीडिटी के अभाव से ही होता है। लाजवन्ती में पत्तियों के डंठल के आधार में विशेष प्रकार की कोशायें पायी जाती हैं जो स्पर्श, उष्मा, विद्युत या अन्य माध्यमों के प्रति संवेदनशील होती हैं। इन संवेदनाओं के मूल स्वरूप उपरोक्त विशेष कोशाओं से जल अचानक विसरित होकर बाहर आ जाता है। फलस्वरूप 'टर्जीडिटी' के अभाव में डंठल मुरझाकर झुक जाते हैं। कुछ समय बाद धीरे-धीरे फिर जल के डिफ्यूज होकर वापस आ जाने से पर्याप्त 'टर्जीडिटी' के कारण डंठल सामान्य स्थिति में आ जाता है। इस संवेदनशीलता के कारण इसे 'सेंसिटिव प्लांट या छुई-मुई' भी कहा जाता है।

खेतों में बीज अधिक गहराई में नहीं बोये जाते हैं : खेतों में बीज इसलिए अधिक गहराई में नहीं बोये जाते हैं क्योंकि अधिक गहराई में बीज को अंकुरित होने के लिए उचित ताप, प्रकाश व आक्सीजन नहीं मिल पाती।

गहरे समुद्र में डूबा हुआ जहाज क्या समुद्र की तली पर बैठ जाता है : जिस प्रकार हाइड्रोजन से भरा गुब्बारा वायुमण्डल में काफी ऊँचाई पर पहुँचकर सन्तुलित हो जाता है, उसी प्रकार से गहरे समुद्र में डूबा हुआ पानी का जहाज भी समुद्र की तली पर न बैठकर बीच में ही सन्तुलित हो जाता है तथा तली तक नहीं पहुँच पाता। इसका कारण इस प्रकार है—समुद्र में जैसे-जैसे हम नीचे की ओर जाते हैं, पानी का घनत्व निरन्तर बढ़ता चला जाता है। ऊपर का पानी नीचे के पानी पर दाब डालता है तथा दाब के बढ़ने से नीचे के पानी का सम्पीडन होता है तथा घनत्व अधिक हो जाता है। इस प्रकार समुद्र में गहराई के साथ-साथ पानी का घनत्व बढ़ता जाता है। अतः समुद्र में डूबा हुआ पानी का जहाज किसी निश्चित गहराई पर पहुँचकर अपने भार के तुल्य पानी को हटा देता है तथा उसी गहराई पर सन्तुलित ही अवस्था में अन्दर ही अन्दर तैरता रहता है।

वायु से भरे गुब्बारे को गर्म पानी में डालने से आकार बढ़ जाते हैं : वायु से भरे गुब्बारे को गर्म पानी में डालने पर गैस को ऊर्जा मिलती है। इस उष्मिक ऊर्जा से गैस के कणों की गति व गतिज ऊर्जा बढ़ती है। कणों की गतिज ऊर्जा बढ़ने से कणों के बीच की टक्कर दूरी भी बढ़ जाती है तथा इस प्रकार गैस का आयतन बढ़ता है। इस तरह गैस के बढ़ने से गुब्बारे का आयतन बढ़ता है।
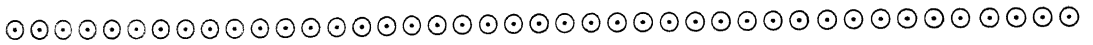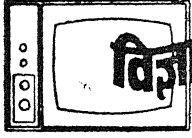
शुक्रग्रह के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण अनुसंधान

इस वर्ष, शुक्रग्रह के बारे में एक महत्वपूर्ण खोज हुई। उसके धरातल पर एक विशाल विवर और एक भ्रंश पर्वतमाला तथा अनेक शिखरों का पता लगा है। इनमें एक शिखर अत्यन्त विशाल है और ज्वालामुखी पर्वत सदृश्य प्रतीत होता है। इस कारण शुक्रग्रह का बादलों से घिरा धरातल भी उतना ही रहस्यपूर्ण प्रतीत होता है जितना रहस्यपूर्ण उसका गहन और गतिशील वायुमण्डल है।

खगोलवेत्ता रिचर्ड एम० गोल्डस्टेन और उनके सहयोगियों द्वारा पैसेडीना (कैलिफोर्निया) स्थित 'जैट प्रापल्सन लैबोरेटरी (जैपीएल) में उक्त खोज राडार की सहायता से की। शुक्र के इस विवर का आकार 1,400 किलोमीटर लम्बा और 150 किलोमीटर चौड़ा है।

भूगर्भशास्त्री मिचेल सी० मैलिन ने टैक्सास में खगोलशास्त्रियों की वार्षिक बैठक में उक्त अनुसन्धान पर प्रकाश डालते हुए बताया कि इस विवर की उपस्थिति—इसका निर्माण सम्भवतः भूपर्पटी के संकोचन के कारण हुआ है और यह एक घाटी के समान है—से ऐसा आभास होता है कि शुक्रग्रह में कुछ रचनात्मक प्रक्रियाएं गतिमान हैं। हमारी पृथ्वी पर महाद्वीपों का स्खलन और भूकम्पों का आगमन इन्हीं रचनात्मक प्रक्रियाओं से सम्भव होता है। उनके अनुसार यह विवर पूर्वी अफ्रीका की रिफ्ट घाटी और मंगलग्रह के मैरिनरिस नामक विशाल नदी-घाटी जैसा है।

ग्रहों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर, शुक्र और मंगल जैसे अन्य ग्रहों की गतिविधि भिन्न प्रकार की है। सक्रिय भूगर्भीय प्रक्रियाओं—यदि ऐसी प्रक्रियाएं शुक्र और मंगल पर विद्यमान हैं—का आधार पृथ्वी की भूगर्भीय प्रक्रियाएं हैं। जहाँ तक हमें ज्ञात है, सूर्यमण्डल के अन्तर्गत पृथ्वी ही ऐसा एकमात्र ग्रह है जिसके गर्भ में ताप के रूप में भूगर्भीय प्रक्रियाएं सक्रिय हैं।

अतः, क्रियाशील ज्वालामुखी प्रणाली और धरातल के कणकीय संचालन द्वारा ही भूगर्भशास्त्री विभिन्न वातावरण के अन्तर्गत किसी ग्रह के स्वरूप-निर्माण की विकासवादी प्रक्रिया का अध्ययन कर पाते हैं।

यही सिद्धान्त जीव विज्ञान के क्षेत्र में लागू होता है। हमारी जानकारी के अनुसार केवल पृथ्वी पर ही जीवन विद्यमान है। सभी प्रकार के जीवन—इनमें इसके सम्पूर्ण प्रभेद शामिल हैं—का निर्माण ज्ञात जीवरसायनों से होता है।

'नासा' के जीव वैज्ञानिक हैरोल्ड के अनुसार, कैला के 'डीएनए' और लंगूर के 'डीएनए', जीनों के, चार-पाँच मूलांश एकसमान हैं जबकि अन्य चार-पांच मूलांश भिन्न प्रकार के होते हैं। मनुष्य की जीवन-प्रक्रिया में 20 एमिनोएसिड सक्रिय रहते हैं। इसी प्रकार कैला और लंगूर तथा अन्य जीवाणुओं में भी 20 एमिनोएसिड ही क्रियाशील रहते हैं।

अतः, अन्य ग्रहों पर सक्रिय भूगर्भीय प्रक्रिया की खोज—मंगल आदि अन्य ग्रहों पर जीवन की खोज—

द्वारा हमारी जीवन-प्रक्रिया सम्बन्धी जानकारी में वृद्धि सम्भव हो सकेगी।

प्लूटो ग्रह की शीतल अवस्था

प्लूटो ग्रह का धरातल जमी हुई मेथेन गैस से निर्मित है। यह कथन हवाई विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक डैल पी० क्रुकशैंक, कार्ल बी० पिल्चर और डैविड मोरीसन का है, जो टक्सन (एरिजोना) स्थित 'किट पीक नेशनल आब्जर्वेटरी' की 4 मीटर व्यास की दूरबीन की सहायता से दूरस्थ ग्रहों (सूर्य से 4 से 7 अरब किलोमीटर दूर तक) का अध्ययन कर रहे हैं।

जहां समीपस्थ ग्रहों के अध्ययन में रुचि का कारण उनमें पृथ्वी जैसी समानताओं की विद्यमानता और प्लूटो जैसे दूरस्थ ग्रहों के अध्ययन में रुचि का कारण उनकी विपरीत परिस्थितियां हैं।

ये शीतल ग्रह (प्लूटो आदि) सूर्य से दूर होने के कारण, समीपस्थ ग्रहों की तुलना में अति धीमे हैं और इनकी परिस्थितियां प्रारम्भिक सूर्यमण्डल (4 अरब 60 करोड़ वर्ष पूर्व की) से अधिक भिन्न नहीं हैं। अधिकांश दूरस्थ ग्रह गैस और तल पदार्थ से निर्मित हैं।

मेथेन गैस बृहस्पति, शनि, यूरेनस और नैपच्यून ग्रहों तथा शनि के टिटान चन्द्रमा के वातावरण में विद्यमान है।

खगोलवेत्ताओं की बैठक में क्रुकशैंक ने बताया : 'इससे पूर्व कभी भी, किसी ग्रह अथवा उपग्रह के धरातल पर मैथेन गैस सघन अथवा बर्फ के रूप में नहीं पायी गई थी।'

यह अनुसन्धान खगोलवेत्ताओं को प्रारम्भिक सौर-नीहारिका के तापमानों के प्रति कुछ संकेत करता है—गैस और धूल के बादलों के आपस में टकराने से सूर्य और अन्य ग्रहों का निर्माण हुआ। प्लूटो का तापमान 225 डिग्री सेण्टीग्रेड नीचा गिरने पर ही वहां सघन मेथेन गैस बनी होगी। क्योंकि, प्लूटो ग्रह काफी दूर और ठण्डा है, अतः मेथेन वहां ज्यों की त्यों बनी रही होगी और सूर्य-मण्डल की सृष्टि के समय से ही जमी रही होगी। वस्तुतः यह तथ्य एक नया दृष्टिकोण प्रदान करता है।

इससे यह भी आभास होता है कि प्लूटो जितना समझा जाता है उससे कहीं अधिक लघु आकार का हो सकता है। मेथेन की बर्फ वाला उसका धरातल अत्यधिक प्रतिबिम्बित होने के कारण यथार्थ से अधिक बड़ा प्रतीत होता है। वैज्ञानिकों की धारणा है कि यह पृथ्वी के चन्द्रमा जितना लघु आकार का हो सकता है।

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ०/3/5/

भाग 115 संख्या 4-5
स० 2034 विक्र०
अप्रैल-मई 1978

विषय सूची

प्रतिक्रिया : एक साहित्यिक संदर्भ

● अनिल प्रकाश त्रिपाठी

संश्लेषण हो या विश्लेषण।
अनुसंधान हो या अन्वेषण ।
संप्रेषित हो या संप्रेषण ।
सारी प्रक्रियाएं हैं

वास्तविक तथा अन्तिम पठन के दौरान घटित ।
एक सिरे से दूसरे तक पहुँचने की ।

प्रश्न :—मनुष्य की महत्वाकांक्षा का
लक्ष्य : एक स्थिति से उबर कर दूसरी में पहुँचने का ।
भौगोलिक भाषागत विषमताओं के मध्य सम्पर्क स्थापित न कर पाने के कारण ।
अपने ही लोगों से अलग अलग
शेष दुनियाँ के लोगों से सम्पर्कित न हो पाने के
मानसिक असहायपने को
सहारा देती ये सारी प्रक्रियाएं
विज्ञान की ही देन हैं ।

कैलीफोर्निया हो या केनाडा
कुवैत हो या कलकत्ता
भौगोलक दूरियां कुछ भी हों
प्राकृतिक विषमताएं कैसी भी हों
परिभाषाएं एक हैं : निष्कर्ष एक है ।

नव जात शिशु का विकास कैसे?

□ प्रभाकर भट्ट तथा ओम प्रकाश

मातृ उदर में पूर्णतया सुरक्षित तथा निर्धारित जीवन का अनुभव प्राप्त करने के बाद जब बालक नये वातावरण तथा परिस्थितियों में पदार्पण करता है तो उसे नयी समस्याओं का सामना करना पड़ता है और वह नये अनुभव करता है। ये समस्यायें बच्चे की निजी क्षमता तथा नियमित एवं महत्वपूर्ण कार्य क्षमता, जैसे श्वसन अथवा आहार ग्रहण करने की क्षमता पर निर्भर करता हैं। प्रत्येक माता का यह कर्तव्य है कि वह अपने बच्चे को अच्छा, उचित एवं पौष्टिक आहार दे तथा बीमारियों से रक्षा करने में उसकी सहायता करे अर्थात् उसे बीमारियों के घेरे से दूर रखे। प्रारम्भिक काल के उपरान्त, जब बच्चा नये वातावरण तथा नयी परिस्थितियों से परिचित हो जाता है, उसका आहार जब समाधानपूर्ण होता है तब उसकी वृद्धि शुरू होती है, तब वह अच्छा एवं स्वस्थ बालक बन जाता है।

वृद्धि एवं विकास

जन्म काल में : वे बच्चे जिनका वजन 2.5 से 2.3 किलोग्राम तक होता है उनका सिर तथा चेहरा अपेक्षाकृत लम्बा तथा शरीर के अन्य अंग छोटे होते हैं। नवजात बालक लगभग 20 घंटे सोता है। इस प्रकार बच्चा दिन का अधिकतर समय सोने में गुजारता है; केवल दुग्ध-पान के लिए वह जगता है। बच्चे में बाहरी तापमान को सहने की क्षमता नहीं होती, अतः उसे नियन्त्रित ताप में रखना आवश्यक होता है। बच्चे को चुस्त कपड़े नहीं पहनाना चाहिए और गर्मी के मौसम में कृत्रिम धागे टेरिलिन, टेरीकाट के कपड़े नहीं पहनाये जाने चाहिए। बच्चे को स्वस्थ्य बनाये रखने के लिए पंखे की तेज हवा तथा हवा के झोकों से बचाना चाहिए। इस अवस्था में वह हवा से फैलने वाली बीमारियों का शिकार जल्दी हो जाता है। बच्चे की दूध की बोतल हमेशा साफ (निर्जर्मित) रहनी चाहिए। उचित समय पर उसे चेचक आदि के टीके लगवा देना चाहिए। बच्चे को प्रति दिन नहलाना चाहिए, परन्तु वे बच्चे जो समय से पहले पैदा हो गये हैं उनके लिए यह बात उचित नहीं है। अवधि पूर्ण होने से जन्मे हुए बच्चे को रोजाना पानी से नहलाना अनावश्यक है, तैल स्नान अथवा सिर के ऊपर से नहलाने के बारे में कोई खास नियम न बरतें। काजल तथा अन्य घरेलू प्रसाधनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि उनके द्वारा जन्तु बालक को नुकसान पँहुचा सकते हैं तथा बालक की कोमल त्वचा में जलन होने की सम्भावना रहती है। पूर्णतया सावधानी एवं आत्मविश्वास के साथ बालक की देखभाल डेढ़ या दो महीने तक करनी होगी।

बालक के जन्म से दो वर्ष तक उसकी शारीरिक, मानसिक एवं स्वाभाविक प्रगति की मंजिलों का ढाँचा नीचे अंकित है। हर माता के लिए इसे जानना परमावश्यक है। कम के कम उसे इतना ज्ञात तो होना ही चाहिए कि कहीं उसके बच्चे की प्रगति में कुछ बाधा तो नहीं आयी है। ऐसा ज्ञात होने पर शीघ्र ही डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए।

नवजात बालक : चूस सके, निगल सके। मुट्ठी से अच्छी तरह पकड़ सके। आवाजों को भलीभाँति सुने और उसकी प्रतिक्रिया करे। प्रकाश की तरफ देखे तथा इच्छा व्यक्त करे।

छह सप्ताह : उपर्युक्त गुणों के अलावा उसमें यह गुण आ जाना चाहिए कि यह प्रकाश की ओर नजर घुमाये तथा कुछ सेकन्ड के लिए उस पर अपना ध्यान लगाये।

एक से दो मास : अब तक बच्चे में मुस्कराने का गुण आ जाना चाहिए।

तीन से चार मासः अपना मुँह ऊपर उठाने लगे तथा पलंग के ऊपर ही पलटा होने की चेष्टा करे गर्दन पक्की हो जाती है। सहारा पाकर बैठ सकता है। हँसता है तथा मुँह से कुछ आवाज भी निकालने लगता है एवं माँ को पहचानता है।

छह मास : सहारा पाकर बैठता है। माँ को अच्छी तरह से पहचान लेता है एवं औरों को देखकर मुस्कराता है। अप्रिय घटना को रोकर व्यक्त करता है। साधारणत: चुस्त एवं चालाक दिखायी पड़ता है। दो ऊपर के तथा दो निचले जबड़े के दाँत दिखायी देने की सम्भावना होती है।

सात-आठ मास : अबतक बच्चा बिना सहारे बैठने लगता है। चीजें उठा लेता है परन्तु फेंकता नहीं। रेंगना सम्भव है। सहारा पाकर खड़ा रह सकता है। हर बात को सुनकर प्रतिक्रिया करता है। चीजें मुँह में डाले। ऊपर के दो दाँत भली-भाँति स्पष्ट नजर आने लगते हैं।

नौ-दस मास : रेंगना अच्छा है। आधार से अपने बल पर खड़ा हो सकता है तथा कुछ घरेलू चीजों की जानकारी भी रखने लगता है। माँ-बाप की ओर हाथ बढ़ाता है। मल-मूत्र विसर्जन के बारे में योग्य शिक्षा देने का यही समय है। चार दाँत दिखायी देने लगते हैं। एक्कड़ दुक्कड़ (एकाद) दूसरा शब्द उच्चारे एवं कम सोये।

ग्यारह-बारह मास : सहारा लेकर चले। बिना किसी सहारे के खड़ा होने लगे। घर के दरवाजे खोले तथा बन्द करे। कुछ अधिक शब्द सिखाये जाने चाहिए। अपरिचित लोगों से डरे। पहली डाढ़ आने लगती है।

एकसाल दो माह : अच्छी तरह चलने लगे तथा चम्मच से स्वयं ही खाये। आवाज की दिशा तथा सादे वाक्य जाने तथा अपनी इच्छा को योग्य शब्दों में व्यक्त करे।

एक साल छ मास : सहारा लेकर सीढ़ियाँ चढ़े। गिलास अथवा प्याली से पी सके। शब्द तथा संकेत द्वारा निदेश करे जब उसे मल-मूत्र विसर्जन करना हो।

आपको चाहिए कि इस समय उसका शब्द भंडार बढ़ायें। 12 से 14 दाँत निकले होंगे।

दो वर्ष: भागे तथा कूदने की कोशिश करे। वाक्यों में अपने विचार व्यक्त करे, प्रश्न पूछे। हर बात को सुनने की इच्छा रखें तथा कुछ छोटे गाने गाये। अपने कपड़े का चुनाव करके स्वयं पहने। खिलौने चुने, दूसरे बालकों के साथ खेले एवं जिद करे।

कोई भी दो बालक कभी पूर्णतया समान नहीं होते, हर माता का यह कर्तव्य है कि उसका बालक उसकी अपेक्षा के अनुसार हो या न हो तो उससे प्यार का व्यवहार बर्ते। बालक के प्रगति एवं विकास का यह काल माता के जीवन में इतना रोचक होता है कि शायद ही दूसरा ऐसा कोई काल हो। इसी काल में माता अपने बालक की खुशी में घुल-मिल जाती है।

भू-भौतिक सर्वेक्षण तकनीकें-खनिजों के लिए

□ मनीषी बरनवाल

भू-भौतिकी अर्थात् पृथ्वी का भौतिक विज्ञान, विज्ञान की वह शाखा है जो पृथ्वी के अन्दर और बाहर की भौतिक घटनाओं से सम्बन्ध रखती है। भूवैज्ञानिक सर्वेक्षणों द्वारा पृथ्वी की संरचना, एवं गर्भ में छिपे हुए खनिजों, हाइड्रोजन, भू-ऊष्मा, भूजल साधन, सिविल अभियान्त्रिकीय योजनाओं एवं मूलभूत भूगर्भीय अध्ययनों के विषय में पता लगाया जा सकता है। इस कार्य हेतु भू-वैज्ञानिक पृथ्वी के ऊपर दिखने वाली चट्टानों की संरचनाओं व भूतल पर पाई जाने वाली मिट्टी और चट्टानों इत्यादि के अध्ययन द्वारा पृथ्वी की निचली सतहों की संरचना एवं उनमें मिलने वाले खनिजों का अनुमान लगाता है, जिनके सत्यापन के लिए भू-भौतिकीय तकनीक का प्रयोग आवश्यक है।

प्राथमिक पदों पर एक क्षेत्र का मण्डलीय भूभौतिक सर्वेक्षण करते हैं, तत्पश्चात् उस क्षेत्र में प्राप्त रुचिकर भाग का विस्तृत अध्ययन भू-वैज्ञानिक सर्वेक्षणों द्वारा करते हैं। इस प्रकार सम्भावित त्रुटियों में कमी एवं आर्थिक दृष्टि से भंडार के विषय में अधिक ठोस आँकड़े प्राप्त होते हैं। विस्तृत सर्वेक्षण द्वारा प्राप्त रुचिकर क्षेत्र में कुएँ खोदकर एवं छिद्र करके उनमें भू-भौतिकीय सर्वेक्षणों द्वारा प्राप्त आँकड़ों के आधार पर पृथ्वी की संरचना, खनिज भंडार की विषमता एवं विस्तार आदि का पता लगाते हैं। पृथ्वी के निर्मायक पदार्थ कुछ भौतिक गुण रखते हैं जैसे घनत्व, चुम्बकीय ग्रहणशीलता, विद्युतीय चालकता, लचीलापन एवं रेडियोधर्मिता इत्यादि। अलग-अलग भौतिक गुणों के आधार पर अलग-अलग तकनीकों के प्रयोग द्वारा विभिन्न खनिजों, भू-ऊष्मिक भंडारों एवं भूगर्भीय संरचनाओं का पता लगाया जा सकता है। ये तकनीकें न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का नियम, ओम का नियम, स्नेल का आवर्तन का नियम और मैक्सवेल का विद्युत चुम्बकीय उद्गमन का नियम इत्यादि पर आधारित हैं।

भू-भौतिक सर्वेक्षण के तरीकों को विशेषतया दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम वे तरीके जो प्राकृतिक अथवा सशक्त क्षेत्र जैसे गुरुत्वीय, चुम्बकीय, रेडियोधार्मिक, स्वतः स्फूर्ति, पृथ्वी सम्बन्धी धाराओं पर आधारित हैं; एवं दूसरे तरीके वे हैं जो विद्युतीय एवं भूकम्प सम्बन्धी तरीकों अर्थात् कृत्रिम रूप से उत्पन्न क्षेत्र के तरीकों पर आधारित हैं। भू-भौतिक पर्यवेक्षण मैदानों में यन्त्रों को ले जाकर अथवा उन क्षेत्रों में जहाँ पर यन्त्रों को ले जाना असम्भव है, सर्वेक्षण वायुयान द्वारा करते हैं जिसे 'एयरबोर्न सर्वेक्षण' अर्थात् वायु वाहित भू-भौतिक सर्वेक्षण कहते हैं। इन तकनीकों के अलावा कुछ और तकनीकों का विकास किया गया है जिनसे खोदे गये कुओं अथवा छिद्रों में भू-भौतिक सर्वेक्षण किया जाता है। इन तकनीकों को 'वेल लॉगिंग तकनीक' कहते हैं। भू-भौतिक सर्वेक्षण करने के पश्चात् प्राप्त भौतिक पैरामीटर का परिमाण एवं नमूना उस क्षेत्र की भू-गर्भीय दशाओं पर निर्भर करता है। किन्हीं कारणोंवश यदि पृथ्वी में एकरूपता नहीं है जैसे कि खनिज पदार्थों की उपस्थिति के कारण, भू-जल या भू-उष्मिक भण्डार के कारण अथवा खारे पानी के बीच में मीठे जल के भण्डार के कारण, तब ये भौतिक पैरामीटर विकृत हो जाते हैं और इस विकृति की माप को हम 'विषमता' कहते हैं। इन विषमताओं की संगणना के आधार पर एक भू-भौतिक-शास्त्री भूगर्भ में स्थित ढाँचे का रूप बता सकता है। भू-भौतिकीय सर्वेक्षणों में सर्वाधिक प्रयोग में आने वाली तकनीकियों का संक्षिप्त विवरण आगे दिया गया है।

चुम्बकीय तकनीक

(1) पदार्थ की प्रवृत्ति (Susceptibility) **तकनीक** वह गुण जो बताता है कि पदार्थ कितना शीघ्र चुम्बक बनाया जा सकता है। चुम्वकीय सर्वेक्षण में एक चुम्बकत्व-मापी द्वारा पृथ्वी के चुम्वकीय-क्षेत्र की सम्पूर्ण तीव्रता और उसके क्षैतिज एवं ऊर्ध्वाधर घटकों की माप करते हैं। इन घटकों के कुल मान में परिवर्तन मुख्य रूप से खनिजों की उपस्थिति या विशेष ढाँचों के कारणों से होती है। इस गुण द्वारा प्राकृतिक तेल, लोहा, मैंगनीज, हीरा एवं भू-उष्मिक भंडारों का पता लगाना संभव है।

(2) 'गुरुत्व कर्षण शक्ति' तकनीक : इस तकनीक द्वारा पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के पार्श्व घटक में परिवर्तन को नापते हैं। यह परिवर्तन पृथ्वी की सतह के नीचे अथवा पास के घनत्व पर निर्भर करता है। भूगर्भीय ढाँचे, जिनमें कि तेल एवं खनिज का भंडार मिलते हैं, पृथ्वी के नियमित घनत्व के विभाजन को परिवर्तित कर देते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन गुरुत्वाकर्षण विषमताओं को जन्म देते हैं और इन विषमताओं का परिमाण भू-गर्भीय ढाँचों की उपस्थिति व उनका रूप पता लगाने में मदद करता है। गुरुत्वाकर्षण सर्वेक्षण में प्राप्त विषमता का मान पृथ्वी की कुल आकर्षण शक्ति के मान के दस लाखवें भाग के आसपास होती है। इसे नापने के लिए 'ग्रेवीमीटर' यन्त्र का उपयोग करते हैं। इस तकनीक का प्रयोग विशेषकर तेल क्षेत्रों एवं क्रोमाइट, मैंगनीज, वैराइट, गैलिना, लोहा, लिगनाइट जैसे खनिजों की खोज में किया जाता है। इसके अतिरिक्त इस तकनीक का प्रयोग भू-वैज्ञानिक ढाचों जैसे भूपरतों, भ्रंश भूभाग, डाइक एवं लावणिक गुम्वज आदि को पता लगाने में भी किया जाता है।

(3) भूकम्प सम्बन्धी तकनीक : भूकम्प सम्बन्धी तरीके प्रत्यास्थ तरंगों के प्रचारण एवं पदार्थ के लचीलेपन के नियम पर आधारित हैं। कृत्रिम उपायों द्वारा जैसे डाइनामाइट के विस्फोट द्वारा अथवा यांत्रिकीय तरीकों से जैसे हथौड़ा मारकर प्रत्यास्थ तरंगें पैदा की जाती हैं। इन प्रत्यास्थ तरंगों को धरती की निचली सतहों में भेजते हैं। पृथ्वी के नीचे की सतहों के दो तलों के सम्पर्क सतह से ये तरंगे परावर्तित और आवर्तित होने के पश्चात् सतह पर वापस आने पर ये तरंगे सूक्ष्मग्राही संसूचक यन्त्रों द्वारा, जिन्हें 'जियाफोन' कहते हैं, ग्रहण की जाती हैं। विस्फोट के समय से 'जियाफोन' तक आने में तरंगों द्वारा लिया गया समय नाप लिया जाता है। इस समय को रिकार्ड करने वाले यन्त्र को भूकम्प - लेख - यन्त्र कहते हैं। इस यन्त्र के द्वारा लिये गये भूकम्प अभिलेख की गणना करके पृथ्वी के नीचे की सतहों की प्रकृति अर्थात् उनमें अनुदैर्ध्य तरंगों की गति व अलग-अलग सतहों की गहराई का अनुमान लगाया जाता है। इस तकनीक का प्रयोग अधिकतर तेल की खोज के सम्बन्ध में भूवैज्ञानिक ढाँचों की रूपरेखा ज्ञात करने में, चट्टानों की निचली सतह के विन्यास एवं उस विन्यास की ऊपरी सतहों की प्रकृति को पता लगाने में, भू-जल खोज में, एवं सिविल अभियान्त्रिकीय योजनाओं में प्रत्यास्थ पैरामीटरों को निकालने में करते हैं। इस तकनीक का प्रयोग आर्थिक खनिजों की खोज में बहुत ही संकुचित है।

(4) विद्युत सम्बन्धी तरीके : इन तरीकों द्वारा पदार्थ के विद्युत गुणों, जैसे चालकता एवं प्रेरण प्रतिक्रिया, में विषमताओं की माप करते हैं। इस प्रकार के तरीके नीचे अलग-अलग वर्णित किये गये हैं।

(क) स्वतः विभव तकनीक (सेल्फ पोटेंशियल) : पृथ्वी में खनिज भंडार के ऊपरी हिस्सों का जल की उपस्थिति में आक्सीकरण होता रहता है। इस प्रकार आक्सीकरण के कारण खनिज भंडार के ऊपरी और निचली सतह के बीच एक विभव पैदा हो जाता है और विद्युत धारा प्रवाहित होने लगती है जैसे कि खनिज भंडार एक बैटरी हो। इस विद्युत धारा द्वारा पृथ्वी की सतह पर एक विभव पैदा हो जाता है जिसमें प्राप्त विषमता का परिमाण खनिज भंडार के विस्तार व उसकी स्थिति का ज्ञान कराता है। यह तरीका सल्फाइड खनिजों जैसे कि पाइराइट, पाइरोटाइट, चालकोपाइराइट, एवं ग्रैफाइट की

खोज करने के लिए उपयुक्त है परन्तु उन खनिज भण्डारों के लिए अनुपयुक्त है जिनमें भंडार अधिक गहराई में एवं छितरे हुए हैं।

(ख) प्रतिरोधकता तकनीक : प्रतिरोधकता तकनीक पदार्थ की अवरोधकता के गुण पर आधारित है। किसी पदार्थ अथवा चट्टान की अवरोधकता उसमें उपस्थित जन्मजात पानी छिद्रों एवं द्वारों की संख्या, या उनमें उपस्थित आयनों की संख्या पर निर्भर करती है। इस तकनीक द्वारा सर्वेक्षण में एक डी० सी० धारा को जमीन में दो धातु इलेक्ट्रोड द्वारा प्रवाहित करते हैं, और दो अन्य इलेक्ट्रोड द्वारा विभवान्तर माप लेते हैं। धारा और विभवान्तर के भौतिक परिमाण नापने के पश्चात् प्रतिरोधकता की गणना करते हैं। इस सर्वेक्षण में दो मुख्य तरीके प्रयोग में लाये जाते हैं प्रथम 'प्रोफाइलिंग' या 'ट्रैवरसिंग' कहलाता है, इसमें हम पृथ्वी की पार्श्व विषमताओं को मापते है। दूसरा तरीका 'साउनडिंग' या 'डेप्थ प्रोब' कहलाता है जिसके द्वारा पृथ्वी की ऊर्ध्वाधर दिशा में अलग-अलग स्तरों का पता लगाते हैं। दूसरे तरीके में विधुत इलेक्ट्रोड के कई विन्यास काम में लाए जाते हैं एवं सर्वेक्षण एक किलोमीटर की गहराई तक संभव है।

इस तकनीक का उपयोग धातुक और अधातुक खनिज भंडारों, भू-उष्मिक भण्डारों, सिविल अभियान्त्रिकीय योजनाओं में एवं भूजल की समस्याओं का समाधान करने में बड़ा लाभदायक है।

(ग) विद्युत-चुम्बकीय तकनीक : यह तकनीक विद्युत चुम्बकीय तरंगों में प्राप्त परिवर्तन पर आधारित है। एक स्रोत द्वारा ये तरंगे पैदा की जाती हैं। पृथ्वी की सतह के नीचे चालक की उपस्थिति के कारण इन तरंगों के विद्युत क्षेत्र की कुल शक्ति मूल क्षेत्र की दिशा में उसके लम्बवत दिशा में, बदल जाती है। इन दोनों घटकों के मान तरंगों की आवृत्ति व भंडार के विस्तार एवं स्थिति पर निर्भर हैं। इस प्रकार प्राप्त विषमताओं की माप द्वारा पृथ्वी की निचली सतहों की प्रतिरोधकता में परिवर्तन एवं विषमता वाले भंडारों की स्थिति का संकेत मिलता है। इस तकनीक द्वारा लगभग सौ मीटर की गहराई तक सर्वेक्षण संभव है। परन्तु कुछ नई तकनीकियों जैसे कि टैल्यूरिक, एफमैग, मैग्नीटो, इत्यादि जो प्राकृतिक विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र का प्रयोग करती हैं, उनके द्वारा कई किलोमीटर की गहराई तक सर्वेक्षण सम्भव है। इस तकनीक में प्रयोग किये गये तरीकों में क्षैतिज लूप तरीका और 'तूराम तरीका' अधिक प्रयोग में लाया जाता है। इस तकनीक से विद्युत चालक, भू-भ्रंश दरारों और विकृत मंडलों का पता लगाया जा सकता है, जिनसे खनिज व भूजल भण्डार, भू-उष्मिक क्षेत्रों, बेस मेटल और ग्रेफाइट भण्डार से सीधा सम्बन्ध है।

(घ) प्रेरित ध्रुवीकरण तकनीक (आई० पी० मेथड) : इस तकनीक का आधार यह है कि जब पृथ्वी में विद्युत धारा इलेक्ट्रोडों द्वारा प्रवाहित करते हैं तब धारा बन्द करने के पश्चात् उन्हीं इलेक्ट्रोडों में या उनके पास लगाये गये इलेक्ट्रोडों में एक विभव मापा जा सकता है। यह विभव धारा रुकने के पश्चात् कम होता जाता है। यह प्रभाव पृथ्वी में विद्युत रसायनिक प्रतिक्रियाओं के कारण होता है और प्रेरित ध्रुवीकरण के नाम से जाना जाता है।

प्रेरित ध्रुवीकरण सर्वेक्षण मुख्यतया दो तकनीकों के अन्तर्गत आते हैं। प्रथम 'टाइम डोमेन' जिसमें डी० सी० धारा का प्रवाह पृथ्वी में थोड़े समय करने के पश्चात् बन्द कर देते हैं और धारा बन्द होने के बाद के समय में प्रेरित विभव को माप लेते हैं। द्वितीय 'फ्रीक्वेन्सी डोमेन' जिसमें सतह की चालकता न्यून और विभिन्न आवृत्तियों पर माप लेते हैं। मूल रूप से दोनों तकनीकें एक ही तरह के पैरामीटर का मापन करती हैं और एक तकनीक की मापों को फूरियर ट्रान्सफार्म द्वारा दूसरी तकनीक की मापों में बदल सकते हैं। इस तकनीक का प्रयोग पायरोटाइड, गैलिना, मैगनेटाइट, पाइरोलूसाइट, ग्रैफाइट इत्यादि खनिजों की खोज में किया जा सकता है।

(5) रेडियो धार्मिक तकनीक : रेडियोधार्मिकता एक प्राकृतिक घटना है। यह गुण युरेनियम, थोरियम, पोटेशियम इत्यादि उच्च परमाणु भार वाले तत्वों की

विशेषता है। रेडियो धार्मिकता का अर्थ है एक परमाणु नाभिक का ऊर्जा और भार वाले कणों के उत्सर्जन द्वारा विघटन. एलफा, बीटा और गामा तीन प्रकार की विकिरण किरणें रेडियो धार्मिकता में अवलोकित की जाती हैं। इस विकरण की भौतिक खोज द्वारा रेडियो-धार्मिक खनिजों का अन्वेषण सम्भव है। सर्वाधिक प्रयोग में लाये जाने वाला 'गाइगर मूलर काउन्टर' और 'सिन्टलेशन काउन्टर' यन्त्र, इन विकरणों का पता लगाने में उपयुक्त हैं।

इस तकनीक द्वारा रेडियोधार्मिक खनिज व उनके साथ मिलने वाले खनिज, भूभ्रंश, पृथ्वी में दरारें, रचना व प्रस्तर विज्ञान सम्बन्धी हदों का चित्रण एवं तेल धारक बालू का ढूँढ़ना सम्भव है।

(6) वेल लागिंग तकनीक अर्थात् छिद्रों एवं कुओं में भू-भौतिक सर्वेक्षण : अभी तक वर्णित किये गये तरीके खनिजों के लिए किये गये छिद्र अथवा कुएँ खोदने के पहले प्रयोग में लाये जाते हैं, परन्तु यह तकनीक छिद्र या कुआँ खोदने के पश्चात् ही प्रयोग में लायी जा सकती है। इस सर्वेक्षण में प्रायः प्रयोग में आने वाली तकनीकें विद्युत अवरोधकता, स्वतः विभव, प्रत्यास्थ तरंग गति, चुम्बकीय, गामा-रे, न्यूट्रान और ऊष्मिक लागिंग तकनीक हैं। ऊपर लिखी गई सभी तकनीकों के मूल आधारों पर ये विभिन्न तकनीकें आधारित हैं। इनके प्रयोग द्वारा भूजल एवं खनिज पदार्थों का अन्वेषण, तेल, गैस एवं पानी वाले मंडल की एक चट्टान में स्थिति का पता लगाना, गति फलन (Velocity function) को परिभाषित करना, चट्टानों की प्रस्तर विज्ञान सम्बन्धी इकाइयों (Lithological units) का पता लगाना, प्राकृतिक भू-उष्मिक ग्रेडिएन्ट का मापना इत्यादि संभव है। ●

84/47, कटरा मकबूल गंज
लखनऊ—1

(शेषांश पृष्ठ 10 का)

श्वासक लगाकर प्राकृतिक रूप से अधिक समय तक लगातार कार्य संपादन संभव नहीं है।

उपयुक्त उपायों के बाद भी धूल की उत्पति अवश्य होती है और कार्य-संपादन वाले पर्यावरण में फैल जाती है, जिससे खनिक वर्ग प्रभावित होता रहता है। आज के इस वैज्ञानिक युग में यह धूल वैज्ञानिकों की दृष्टि से बच नहीं सकी है। धूलकण किसी भी प्रकार अन्तः श्वसन द्वारा भीतर फेफड़े में जाने से रोके जाँय, इस समस्या को हल करने के लिये कितने ही शोध-कार्य भारत एवं विदेशों में जारी हैं। शरीर क्रियाविज्ञान के विभिन्न पहलुओं पर आधारित जाँच समय-समय पर होती रहती है। खनिकों की जाँच में सम्भवतः आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों का ही प्रयोग किया जाता है। आशा है, भविष्य में कुछ निश्चित तथ्य इस दिशा में सामने आयेंगे जिससे अनेक मानव-जीवन की रक्षा हो सकेगी। ●

न्यूमोकोनियोसिस

□ जे० पी० गुप्ता

खनन-कार्य बहुत प्राचीन काल से ज्ञात है। मानव-सम्यता के विकास के साथ ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मनुष्य तरह-तरह का प्रयास करता रहा है। खनिजों के बारे में अधिकाधिक जानकारी की लिप्सा मनुष्य को आगे खोज करने की प्रेरणा देती रही है। आज संसार भर में अनेक प्रकार की योजनाएँ विभिन्न खनिजों के उपयोग से सफलता प्राप्त कर रही हैं जिससे संसार को आर्थिक लाभ के साथ ही अन्य क्षेत्रों में अग्रसर होने में सहायता मिलती है। अगर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो मालूम होगा कि समस्त उन्नति के तल में बहुत बड़ी मानव-शक्ति कार्यरत है। ये कार्यरत मानव जो अपनी जान पर खेलकर भी विभिन्न योजनाओं को सफल बनाने में सहायक हैं, खान-मजदूर या खनिक कहलाते हैं। इन्हें खानों में शरीर-क्रिया-विज्ञान के अनुसार बहुत ही विषम पर्यावरण में काम करना होता है। इस पर्यावरण का प्रभाव इनके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा होता है जो धीरे-धीरे इनकी जीवनी-शक्ति को क्षीण बना देता है।

साधारण रूप से अधिकांश रोगों की उत्पत्ति कीटाणुओं द्वारा होती है। लेकिन कुछ ऐसे भी रोग हैं जो कीटाणुओं से परे हैं-इनकी उत्पत्ति का कारण कुछ ऐसे तुच्छ पदार्थ हैं जिनकी ओर सहज ही ध्यान नहीं जाता। ऐसी ही एक औद्योगिक बीमारी है जिससे प्राय: खनिक वर्ग ग्रसित होता रहता है। इस रोग का नाम "न्यूमोकोनियोसिस" (Pneumoconiosis) या "वायुधात्विक रोग" है। इसे जेन्कर नाम के एक विदेशी रोगशास्त्री ने सर्वप्रथम 1866 ई. में "न्यूमोकोनियोसिस" नाम से खोजा था।

न्यूमोकोनियोसिस फेफड़े के उन रोगों का सामूहिक नाम है जो कई निश्चित पेशेवालों को धूल के अधिक परिमाण में अन्त:श्वसन से होता है। किसी भी खनिज की खान में काम करने वाले खनिक को धूलमय वातावरण में कार्य सम्पन्न करना होता है। स्वाभाविक रूप से वे खनिक धूलकण को अन्त:श्वसन द्वारा अपने फेंफड़े में जगह देते हैं। धीरे-धीरे फेफड़े का ग्रसित भाग धूलकण से छा जाता है और मजदूर को श्वासक्रिया में कठिनाई होने लगती है। वह दुर्बलता का शिकार हो जाता है एवं अधिक श्रम नहीं कर पाता है।

न्यूमोकोनियोसिस के अन्तर्गत कई उपशीर्षक आते हैं जैसे :

एन्थ्राकोसिस (Anthracosis) : जो कोयले के धूलकण के अन्त: श्वसन से होता है।

साइडरोसिस (Siderosis) : इसकी उत्पत्ति का कारण लौह-कण है जो अन्त:श्वसन से फेफड़े में एकत्र होता है।

सिलिकोसिस (Silicosis) : इसकी उत्पत्ति अग्नि-प्रस्तर (Silica) के धूलकणों से होती है।

एस्बेस्टोसिस (Asbestosis) : एस्बेस्टस के धूलकणों के अन्त:श्वसन का यह परिणाम है।

धूल का एक कण बहुत ही सूक्ष्म एवं ठोस होता है। अगर किसी ठोस पदार्थ के एक घन सेमी. आकार का चूर्ण कर दिया जाय तो उससे अरबों धूलकण की उत्पति होगी; जिसका औसत आकार 1 घन माइक्रॉन (1 माइक्रॉन =1 मिमी. का हजारवाँ अंश) होगा। यह धूलकण

बिखर कर 10,000 घन फीट आयतन वाले क्षेत्र में समा सकते हैं। औसतन 100 करोड धूलकण 1 घन फुट वायु में अपनी संपृक्तता दर्शा सकते हैं।

प्राय: बड़े आकार के धूलकण अन्त: श्वसन द्वारा फेफड़े में प्रवेश नहीं पा सकते हैं। अधिकांश कण नाक के भीतर नमीं में चिपक जाते हैं और कुछ श्वास-नली के लोमक (Cilia) में फँसकर रह जाते हैं। ये कण धीरे-धीरे लोमक के कम्पन से गले में चले आते हैं जो बाद में मुख द्वारा बाहर निकल जाते हैं। सूक्ष्म कण बिना किसी बाधा के फेफड़े तक पहुँच जाते हैं

कोयले की खान में काम करने वाले खनिकों के न्यूमोकोनियोसिस को "एन्थ्राकोसिस" कहा जाता है। रोग के इस नाम का प्रयोग सर्वप्रथम सन् 1837 ई० में उत्तरी सिल्ड के निवासी एक वैज्ञानिक चिकित्सक "थॉमस स्ट्रॉटन" ने किया। इस रोग के आरम्भ में खनिकों के दैनिक कार्य-क्रम में अन्तर नहीं होता है। धीरे-धीरे कोयले के धूलकण फेफडे में एकत्र होकर गाँठ सा बना लेते हैं और ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है रोगी को श्वास क्रिया में कठिनाई होती है, वह तंद्रा का अनुभव करता है। रोग की स्थिति और बिगड़ने पर खाँसी भी शुरू हो जाती है। फेफड़े का ग्रसित भाग काला पड़ जाता है। रोगी की कार्य क्षमता क्षीण हो जाती है। प्राय: ऐसा देखा गया है कि कोयले के धूल-कण के अन्त:श्वसन के उपरान्त यक्ष्मा का भय नहीं रहता है। इसकी पुष्टि एडिनबर्ग के प्रसिद्ध-शरीर-क्रिया विज्ञान शास्त्री जॉन स्कॉट हाल्डॉन ने 1923 ई० में यह कहकर की कि कोयले के धूल-कण फेफड़े में यक्ष्मा-निरोधक का कार्य करते हैं। वर्तमान समय में विदेशों की अपेक्षा भारत में यह रोग कम है। चिकित्सा विज्ञान में इस रोग की कोई भी विशिष्ट औषधि नहीं है। चूँकि इसकी उत्पत्ति विभिन्न धूलकणों से होती है, अत: यांत्रिक या अन्य विधियों से धूलकण को खान के पर्यावरण में बिखरने से रोकने का प्रयास जारी है। धूल-निरोधक जो उपाय खानों में प्रयोग में लाये जाते हैं वे हैं—

(1) **संवातन** (Ventilation):- जिसकी अधिकता खान में अनेक कार्यों से उत्पन्न धूलकणों को बाहर निकालने में सहायक होती है। इससे खान में धूलकण की संपृक्तता कम हो जाती है।

(2) **आर्द्र कटाई** (Wet cutting) कोयला काटने के यंत्र की शृंखला के सिरे पर दो सूक्ष्म जल-धार की व्यवस्था होती है जो कोयला काटते समय उसे गीला करके छोड़ देता है। प्राय: एक गज में पाँच गैलन पानी का व्यवहार किया जाता है। इससे धूलकण उड़ नहीं पाते हैं।

(3) **आर्द्र छेदन** (Wet-Drilling) : यह संदाबित वायु छेदक (Compressed air drills, द्वारा संचालित होता है। इसमें खोखला छेदक-लौह के भीतर-भीतर जल प्रवाहित होकर काटने वाले धार की ओर चला जाता है और धूल को हवा में बिखरने से रोकता है।

(4) **जलनिषेचन** (Water Infusion) : इस क्रिया में पानी को एक निश्चित दबाव पर (प्राय: 15 गैलन पानी को 100 पौंड दबाव पर) जगह-जगह छेद किये गये कोयले की चट्टानों में बलपूर्वक प्रवाहित किया जाता है। पानी भीतर-भीतर ही आस-पास फैलकर उडनशील धूलकणों को गीला कर देता है जो पतली परतों और जोड़ों में अवश्य उपस्थित होता है। इस प्रकार धूल-कण उड़कर फैल नहीं पाते हैं।

(5) **हस्त फुहारन** (Hand Spraying):- यह क्रिया कोयला निकालने के पहले वहाँ की धूल को जल के फुहार द्वारा बैठा देना है। यह क्रिया कोयले की लदाई और इधर-उधर ले जाने आदि के पहले भी सम्पन्न की जाती है।

(6) **धूल आवरण** (Dust-mass):- कुछ ऐसी भी खनन विधियाँ हैं जिनमें धूल की अधिक परिमाण में उत्पत्ति बादल सदृश रूप धारण कर लेती है, जैसे-शॉट फायरिंग (Shot firing) उस समय श्वासक (Respirator) का लगाना आवश्यक हो जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि

(शेष पृष्ठ 8 पर)

प्राचीन भारतीय विज्ञान एवं वैज्ञानिक

□ शैलेन्द्र नाथ भटनागर

अधिकांश भारतीयों की यह धारणा है कि विज्ञान, ज्योतिष एवं गणित इत्यादि सभी बुद्धि प्रदाय ज्ञान पश्चिमी देशों की देन हैं, किन्तु भारत के महान प्राचीन तथा अर्वाचीन वैज्ञानिकों ने इस धारण को निर्मूल साबित कर दिया है। भारतीय वैज्ञानिकों ने समय समय पर विज्ञान के क्षेत्रों में जो चमत्कार दिखाए, उन्हें सुनकर आज आश्चर्य होता है। प्लास्टिक सर्जरी को आधुनिक शल्य चिकित्सा की देन माना जाता है, लेकिन ईसा से भी काफी समय पूर्व भार-भारतीय सपूत सुश्रुत ने प्लास्टिक की शल्य चिकित्सा तथा दैहिकी में अपार विश्वख्याति अर्जित की थी। उन्होंने शल्य क्रिया के औजारों की सहायता से मस्तिष्क की शल्य क्रिया करने में भी सफलता अर्जित की थी। उनके द्वारा बताए गए चिकित्सालय निर्माण के नियमों की प्रारंभ में प्रखर आलोचनाएं हुईं परन्तु आज वैज्ञानिक एक के बाद एक उन्हें अनिवार्यता के रूप में स्वीकार कर रहे हैं। इसी प्रकार गणित विद्या में भी भारतीय इतिहास असाधारण रूप से गौरवशाली रहा है। आर्यभट्ट, भास्कराचार्य आदि प्रख्यात गणितज्ञों ने शून्य बिन्दु, दशमलव प्रणाली, संख्या लेखन प्रणाली आदि का प्रारम्भ किया। यदि भारतीय गणितज्ञों ने इनकी नींव न रखी होती तो आज की वैज्ञानिक प्रगति लगभग असंभव थी। भारतीय गणितज्ञों ने ही त्रिकोणमिति, रेखा-गणित, बीजगणित एवं पाटी गणित का आविष्कार किया। रसायन शास्त्र के इतिहास में प्राख्यात भारतीय रसायनज्ञ नागार्जुन का नाम सदैव अमर रहेगा। तिर्यक पालन प्रक्रिया द्वारा अनेक द्रवों के शुद्धिकरण, धातु की जारण मारण प्रक्रिया के द्वारा महौषध प्राप्त करने तथा प्राचीन रसायनज्ञों के चरम लक्ष्यहीन धातु को स्वर्ण में परिवर्तित करने में सक्षमता अर्जित करने के कारण उन्हें भारतीय रसायन का जन्मदाता माना जाता है। जो गणनाएं प्राचीन काल में भारतीय ज्योतिष शास्त्री कर गए हैं, उन्हें आज भी पूर्ण सत्य माना जाता है। प्राचीन ज्योतिषियों ने पृथ्वी, चन्द्र एवं सूर्य की स्थितियों के सम्बन्ध में घोषणाएं कीं, उन्हें आज भी पूर्ण सत्य माना जाता है।

प्रागैतिहासिक काल से अब तक इस सरल भूमि में कैसे कैसे वैज्ञानिक सपूत पैदा हुए उनकी एक झांकी प्रस्तुत करना ही हमारा ध्येय है।

प्राचीन काल में विकसित भारतीय सिन्धु घाटी की सभ्यता में रेखागणित का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इस समय के मकानों की लम्बवत दीवारें, समकोणिक मोड़, सड़कों के समकोणिक काट, नालियों के द्वारा समानान्तर निकाय व्यवस्था, स्नानागारों के तालाबों के तलों की समतलता सिन्धु घाटी वासियों के रेखागणित ज्ञान के परिचायक हैं।

इस सभ्यता के उदयास्त के पश्चात सम्पूर्ण देश के विभिन्न भागों में विभिन्न नवीन सभ्यताओं का आविर्भाव हुआ, साथ ही अनेक नवीन कलाओं का भी प्रादुर्भाव हुआ। इस काल का सर्वाधिक विकसित विज्ञान था ज्योतिष शास्त्र। इसके विशाल अनुसंधान भंडार ने एक सर्वथा नवीन विज्ञान को जन्म दिया—गणित विद्या।

प्रारंभ में वैदिक कार्यों को सुगमतापूर्वक पूर्ण करने के लिये ही ज्योतिष का जन्म हुआ था। आज ज्योतिष का सामान्य अर्थ फलित ज्योतिष से लिया जाता है पर प्राचीन ज्योतिष गणित ज्योतिष था। गणित ज्योतिष के सहारे ग्रहों

की स्थिति का अध्ययन किया जाता था। अध्ययनात्मक विधियों से उन्होंने ग्रहों की स्थितियों एवं मौसम के जो सरल नियम बताए, वे आज भी भारतीय ग्रामीण में बिखरे हैं। प्राचीन भारतीय गणितज्ञों ने सूर्य की वार्षिक गति, सूर्य के मार्ग में आने वाले तारा-समूहों तथा सूर्य ग्रहण एवं चन्द्र ग्रहण का वास्तविक कारण ज्ञात कर लिया था। उन्हें इस बात की जानकारी थी कि पृथ्वी निराधार है और वह अपनी धुरी पर कुछ झुककर सूर्य का भ्रमण करती है तथा सूर्य भी अस्थिर है और एक विशाल केन्द्र का भ्रमण करता है।

उन्होंने गणित ज्योतिष की सहायता से 27 नक्षत्रों, 7 ग्रहों, अंतरिक्ष की शून्यता का भी अन्वेषण किया। उन्होंने चन्द्रकलाओं के अनुसार समय का विभाजन किया। युग तथा कल्पों की भी कल्पना की। ईसा से 1600 वर्ष पूर्व ही 'वेदांग ज्योतिष' नामक ग्रन्थ की रचना की गई थी जिसमें महीनों, वर्षों, नक्षत्रों के उदयास्त, चन्द्रमा की विभिन्न कलाओं, दिन और रात होने के कारण, किसी स्थान की जलवायु और मौसम, जलवायु के वर्गीकरण, ऋतुओं की विशेषताओं आदि भौतिक स्थितियों का तर्क-संगत चित्रण है।

ज्योतिष के समान गणित के ज्ञान में भी 400 ई० से 1200 ई० तक अभूतपूर्व वृद्धि हुई। यह काल भारतीय विज्ञान का गौरवकाल कहलाता है। इस काल में पाटी गणित, बीज गणित, रेखा गणित, त्रिकोणमिति इत्यादि अनेक शाखाओं को पुष्पित पल्लवित करने में भारतीय गणितज्ञों, आर्य भट्ट, भास्कराचार्य, लल्ल आदि ने अपार गौरव अर्जित किया। इन्होंने ज्ञात किया कि पृथ्वी का व्यास 1600 योजन के लगभग है। पृथ्वी के भार, चन्द्रमा से दूरी, लम्बाई एवं समय की इकाइयां तय कीं। आर्यभट्ट ने संख्या लेखन प्रणाली, दाशमिक प्रणाली, और त्रिकोणमिति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उनके द्वारा पाई (π) का जो मान ज्ञात किया गया वह आज भी प्रामाणिक माना जाता है। भास्कराचार्य, लल्ल, ब्रह्मगुप्त तथा अनेक अन्य गणितज्ञों ने वृत्त, आयत और वर्ग के निर्माण नियम और ऋण संख्याओं का ज्ञान प्राप्त किया। चूंकि अरब की संख्या लेखन प्रणाली भारतीयों से विकसित थी अतएव वे इसे इल्म हिन्दूसा (भारत की देन) कहते हैं।

आर्यभट्ट ने ज्या और कोज्या (साइन एवं कोसाइन) का सही मान बताया। ब्रह्मगुप्त त्रिभुज का सूत्र सिद्ध कर चुके थे। महावीर ने समकोण त्रिभुजों की व्याख्या की। भास्कराचार्य ने न्यूटन से पूर्व ही पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण को सिद्ध किया था। भास्कराचार्य ने ही लघुगणक सारिणी का भी आविष्कार किया था। गणेश दैर्ध्य ने चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों की मध्यक स्थिति ज्ञात की।

इस प्रकार सैकड़ों वर्षों तक गणित में वृद्धि होती रही। लेकिन इस तीव्र प्रगति के बाद प्रगति पथ अवरुद्ध होने लगा। एक स्थिति आई जब गणित विद्या में अभिवृद्धि के स्थान पर अवनति होने लगी। पाखंडियों ने पृथ्वी के निराधार होने, परिक्रमा करने, चन्द्रमा के वायु शून्य होने तथा अंतरिक्ष की शून्यता का अंध विश्वासों के कारण बहिष्कार प्रारंभ कर दिया। गणितज्ञों को बाध्य किया जाने लगा कि वे अपने नियमों को असत्य करार दें। इसके पश्चात् गणित ज्योतिष को फलित ज्योतिष का स्वरूप प्रदान कर दिया गया। गणितज्ञों के अनादर के कारण विद्या का मार्ग अवरुद्ध होने लगा। इन विद्याओं का प्रसार विदेशों में वहाँ के भारत यात्रियों द्वारा होता रहता था अतएव जैसे जैसे भारत में इनका ह्रास होता गया, विदेशियों ने उनका स्वामित्व ग्रहण करना प्रारंभ कर दिया।

विज्ञान की दो प्रमुख शाखाओं गणित एवं विज्ञान के अलावा विज्ञान के अन्य अंगों में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई।

प्रसिद्ध रसायनज्ञ नागार्जुन ने जो कि चिकित्सा एवं धार्मिक क्षेत्र में भी अपार ख्यातिप्राप्त थे, भारतीय रसायन की नींव डाली। प्राचीन रसायनज्ञों का एक ही लक्ष्य होता था—हीन धातुओं जैसे लोहे को स्वर्ण में परिवर्तित करने की विधि ज्ञात करना। कहा जाता है कि नागार्जुन इसमें सफल हो गए थे एवं उन्होंने बौद्ध धर्म की

महायान नामक शाखा की स्थापना कर उसके प्रचार के लिये काफी सारे स्वर्ण का निर्माण किया। धातु की जारण-मारण प्रक्रिया से उन्होंने अनेक औषधियों का निर्माण कर चिकित्सा के क्षेत्र में भी ख्याति प्राप्त की। वे तिर्यक पालन प्रक्रिया द्वारा द्रवों के विशुद्ध शुद्धिकरण के आविष्कर्त्ता थे।

चिकित्सा विज्ञान में चरक, सुश्रुत, आत्रेय, मानक, चक्रपाणि, वाग्सेन, गायदास और नित्य नाथ प्रसिद्ध चिकित्सक थे। इन्हें मांस का स्थानान्तर, क्लोरोफार्म के समान एक अद्‌भुत निश्चेतक तथा शल्य चिकित्सक के सामान्य उपकरणों का पूर्ण ज्ञान था। सुश्रुत ने आदर्श चिकित्सालय निर्माण के जो नियम बताए थे वे अब पूर्ण मान्य होते जा रहे हैं। चरक ने टीके का भी आविष्कार कर लिया था।

विश्व का सर्व प्रथम जैव-वैज्ञानिक वर्गीकरण ईसा से 600 वर्ष पूर्व जैन एवं बौद्ध भिक्षुकों ने किया था। इस काल के प्रमुख जीवशास्त्री सुश्रुत, पातंजलि और शंकर थे। वनस्पति एवं कृषि शास्त्र में चरक, कौटिल्य एवं आत्रेय ने अति उल्लेखनीय उपलब्धियां अर्जित कीं।

भारत में भौतिक विज्ञान का इतिहास काफी पुराना है। सर्वश्रेष्ठ प्राचीन भौतिक शास्त्री कणाद ने अणुओं, परमाणुओं, पदार्थ के सामान्य भौतिक गुणों, परमाणुओं एवं अणुओं के संयोजन तथा परमाणुओं के आयतन के विषय में कई गवेषणाएं कीं। अन्य प्राचीन भौतिकशास्त्रियों ने समय के सूक्ष्मतम अंश के मापन, संगीत तान की सापेक्ष तानता, ग्रहों की तात्क्षणिक गतियां, द्रव्य की अविनाशिता के सिद्धान्त, द्रव्य के आयतन में कमी या वृद्धि के नियम तथा ध्वनि एवं यांत्रिकी के उल्लेखनीय निष्कर्षों की स्थापना की। लेकिन साधनों के अभाव में वे अधिक उन्नति न कर सके।

इस प्रकार यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि भारतीय विज्ञान प्राचीन विश्व का सर्वाधिक विकसित विज्ञान क्षेत्र रहा है। असंभव नहीं कि समय के साथ भारत पुनः अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा से विश्व को एक बार फिर स्तम्भित कर दे।

प्राचीन वैज्ञानिकों की कुछ प्रख्यात-पुस्तकें

बराह मिहिर : पंच सिद्धान्तिका
आर्यभट्ट : आर्य भट्टीय
आर्यभट्ट-द्वितीय : महा सिद्धान्त
ब्रह्मगुप्त : ब्रह्मस्वद सिद्धान्त
: खंड खाद्यक
ब्रह्मदेव : करण प्रकाश
भास्कर प्रथम : आर्य भट्टीय ग्रन्थ
लल्ल : शिष्य धी वृहित
महावीर : गणित सार
आचार्य सुमति : सुमति महातंत्र
: सुमति करण
मंजुल : लघु मानस
: ब्रह्ममानस
श्रीपति : सिद्धान्त-शेखर
: गणित तिलक
भास्कराचार्य : सिद्धान्त शिरोमणि
: करुण कौतुकल
वाग्भट : अष्टांग संग्रह
: अष्टांग हृदय संहिता
माधव : निदान
: रत्नमाला
सत्यानन्द : भासवतीकरण
मकरंद : मकरंद सारिणी
चरक : चरक संहिता
सुश्रुत : सुश्रुत
सारंगधर : सारंगधर संग्रह
नागार्जुन : रस रत्नाकर

धमतरी, म. प्र.

कला वस्तुओं की प्रामाणिकता सिद्धि और संरक्षण में विज्ञान का योगदान

● गणेश दत्त पाण्डेय

कला वस्तुओं की प्रामाणिकता सिद्ध करने में विज्ञान का प्रयोग सर्व-प्रथम सन् 1815 में एक अंग्रेज रसायन सर हम्फ्री डेवी ने किया। उन्होंने 'पम्पाई' नगर के ध्वंसावशेषों से प्राप्त एक कलाकृति के रंगों का रासायनिक विश्लेषण किया था तथा इसी छोटे से कार्य के उपरान्त, कलाकृतियों के वैज्ञानिक अध्ययन की नींव पड़ी। वर्तमान समय में विश्व के समस्त कला संग्रहालयों तथा पुरातत्व संग्रहालयों में अपनी विशेष प्रयोगशालाएं हैं जो कला वस्तुओं का परीक्षण कर उनकी सत्यता प्रमाणित करती हैं तथा साथ ही उनके संरक्षण का भी प्रयत्न करती हैं।

वैज्ञानिकों की उपादेयता, कलाकारों की दृष्टि में स्थापित करने में स्वर्गीय ए० पी० लारी का नाम उल्लेखनीय है। सर्वप्रथम लारी ने ही कला वस्तुओं जैसे, पेन्टिग आदि से सूक्ष्म नमूने लेकर उनकी विश्लेषण विधियों का विकास किया। हर्ष की बात यह है कि लारी के जीवन काल में ही, इग्लैण्ड के 'ब्रिटिश-संग्रहालय', नेशनल गैलरी', पेरिस के लूव्र, रूस के हैर्मिटेज़' तथा सं० रा० अ० के 'बोस्टन संग्रहालयों में इस प्रकार की प्रयोगशालाओं की स्थापना हो चुकी थी।

इस प्रकार की प्रयोगशालाओं के कामों को निम्न विभागों में बांटा जा सकता है :—

1. **सामाग्री तथा तकनीक के विकास से सम्बन्धित समस्याएं :** पेंटिंगों में प्रयुक्त रंग, वार्निश, तथा आधार, सोनारों के द्वारा प्रयुक्त धातुयें, बुनकर द्वारा प्रयुक्त तागे तथा रंजक पदार्थ, इन सभी का परीक्षण करके अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त की जाती हैं।

2. **संरक्षण तथा पुनरुद्धार सम्बन्धी कार्य :** विश्व के सभी कला संग्रहालयों में उपस्थित कला कृतियां, समय के साथ-साथ विरूपित हो जाने के ख़तरे का सामना कर रही हैं। उनके विरूपक कारक प्रमुखतया आर्द्रता, सूर्य का प्रकाश तथा औद्योगिक व्यर्थ दूषित गैसें, (SO_2) आदि हैं। इन कलाकृतियों के संरक्षण के लिए प्रयास करने से पूर्व यह ज्ञात होना अत्यावश्यक है कि कलाकृतियों में प्रयुक्त रसायनों की क्या प्रकृति है, जिसके ज्ञात हो जाने के बाद उनके बचाव के लिए तथा उनके सुधार के लिए आवश्यक उपाय करने में सुविधा हो जाती है।

3. **पुरातत्व तथा कला-इतिहास सम्बन्धी कार्य :** क्या प्राचीन काल के पीतल में उपस्थित सूक्ष्म अशुद्धियों से इसके उत्पत्ति स्थान का पता चल सकता है? चीन के 'ह्यार्न' वंश के समय के शीशे के बर्तनों में 'बेरियम' धातु की अधिक मात्रा क्यों है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर इन प्रयोगशालाओं में किए गए रासायनिक-विश्लेषण के द्वारा दे पाना सम्भव हो सका है।

4. **धोखेधड़ी व जालसाजी के मामले :** इस प्रकार के मामलों में अक्सर उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त होते हैं। अत: वैज्ञानिक विधियों का इस

प्रकार के मामलों में प्रयोग अत्यधिक हो रहा है। वस्तुतः कला कृतियों के विषय में जालसाजी क्या है ? यदि एक कलाकार किसी महान कलाकृति की नकल करता है तो यह जालसाज़ी नहीं है परन्तु यदि यह उस महान कलाकृति की नकल उसमें प्रयुक्त कागज़, रंग, आकार आदि तक में करता है, जिससे वह नवीन कलाकृति भी प्राचीन प्रतीत हो तो यह साफ़-साफ़ जालसाज़ी का मामला है।

इसी प्रकार यदि एक प्राचीन कलाकृति में आई खराबी को उसमें प्रयुक्त रंगों आदि के द्वारा ठीक किया जाय तो यह जालसाज़ी नहीं है। परन्तु यदि एक प्राचीन तथा सामान्य कलाकृति को प्राचीन व महत्वपूर्ण बनाने के लिए उस पर उस काल के किसी विशिष्ट कलाकार के हस्ताक्षर कर दिए जाएं तो यह जालसाज़ी का मामला है।

साधारणतया किसी महत्वपूर्ण चित्र कला की रचना की विश्वसनीयता की परख निम्नलिखित विधियों से की जाती है :—

1. **सामान्य चाक्षुष अध्ययन द्वारा :**

2. **सूक्ष्मदर्शी अध्ययन द्वारा :** इस विधि में प्राचीन कलाकृति को साधारण आवर्द्धन में देखकर उस पर पड़ी 'चटकनों' को चित्रित कर लिया जाता है। यह चटकने, कलाकृत के पेन्ट के सूखने पर, विभिन्न भौतिक कारणों से, जैसे, पेन्ट सतह व नीचे के आधार पदार्थ में विषम फैलाव-सिकुड़न के कारण पैदा हो जाती हैं। यदि कोई जालसाज़ किसी नवीन कलाकृति को प्राचीन कह कर बेचना चाहता है तो उसकी कलाकृति पर इन 'चटकनों' की उपस्थित-अनुपस्थिति के अनुसार, सत्यता का पता लगाया जा सकता है।

3. **एक्स-किरणों द्वारा परीक्षण करके :** कलाकृतियों के निर्माण में प्रयुक्त अत्यधिक सामग्री जैसे, कैनवास, लकड़ी, तेल, वार्निश तथा रंगक आदि एक्स किरणों के लिए पूर्णतया पारदर्शक ओते हैं, अतः ऐसे चित्रों में एक्स किरणों के प्रयोग में विशेष, लाभ नहीं होता। परन्तु ऐसे चित्र, जिनके निर्माण में प्लास्टर आफ़ पेरिस. लौह क्रोमियम, कोबाल्ट, तांबा आदि के रंगक आदि प्रयोग होते हैं उनके अध्ययन में एक्स किरणों के प्रयोग से आशातीत सफलता प्राप्त होती है।

4. **पराबैंगनी-किरणों (प्रकाश) के प्रयोग द्वारा :** कलाकृतियों के निर्माण में प्रयुक्त होने वाले पदार्थों में से अधिकतर, पराबैंगनी प्रकाश से प्रकाशित होने पर दृश्य-प्रतिदीप्ति देते हैं। इस प्रतिदीप्ति की तीव्रता का मापन किया जाता है। यह प्रतिदीप्ति पेन्ट के पुराने तथा नए होने के अनुसार ही वदलती है। इस विधि के द्वारा किसी कलाकृति पर किए गए हस्ताक्षर की विश्वसनीयता का परीक्षण किया जा सकता है। यदि हस्ताक्षर किए गए भाग तथा उसके समीपस्थ भागों से उत्सर्जित प्रतिदीप्ति की तीव्रता समान हो तो हस्ताक्षर भी उतना ही प्राचीन है जितनी कि कलाकृति, अन्यथा नहीं।

5. **अवरक्त प्रकाश में परीक्षण द्वारा :** यदि किसी कलाकृति की ऊपरी सतह धुंधली पड़ गई हो, तो अवरक्त प्रकाश में देखने पर उसका अधिक साफ़ रूप दिखता है क्योंकि यह प्रकाश ऊपरी सतह को आसानी से पार कर जाता है। यह विधि पुरानी कलाकृतियों के पुनरुद्धार में महत्वपूर्ण है क्योंकि ऊपरी पर्त को इस प्रकाश में देख कर, उपयुक्त विलायकों के द्वारा हटाया जा सकता है और पुनः नवीन पेन्ट किया जा सकता है।

6. **रासायनिक तथा सूक्ष्मरासायनिक परीक्षण द्वारा :** इस प्रकार के परीक्षणों में कलाकृति का एक अत्यन्त सूक्ष्म हिस्सा लेकर उसका विश्लेषण रासायनिक विधियों द्वारा करते हैं। लारी द्वारा प्रयुक्त विधि संक्षेप में निम्नलिखित है :—
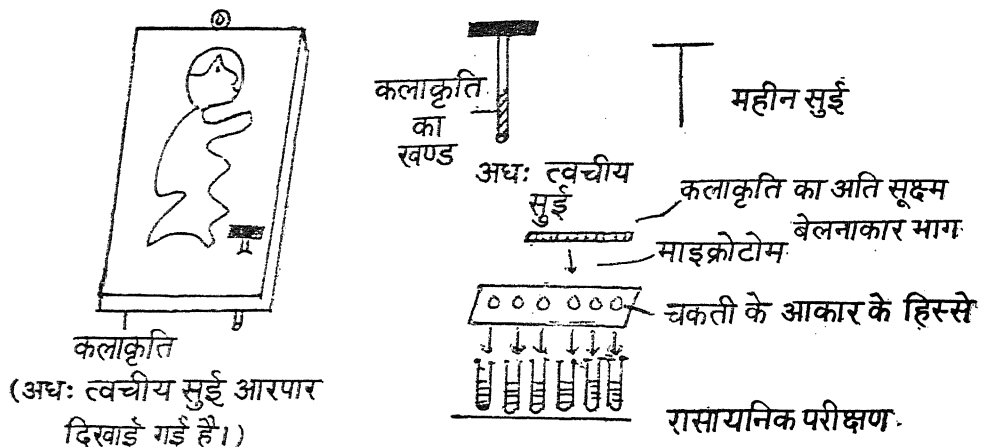
चित्र 1 : रासायनिक परीक्षण

एक सूक्ष्म अधः त्वचीय सुई को लेकर उसे कलाकृति के आर-पार (कार्क बोरर की तरह) घुसेड़ देते हैं। तत्पश्चात इस सुई के अन्दर आए कलाकृति के महीन बेलनाकार भाग को एक दूसरी महीन सुई से धक्का देकर एक कांच की पट्टिका पर रखते हैं। इस भाग को अब एक माइक्रोम द्वारा अनेक सूक्ष्म चकतियों के आकार का काट लेते हैं। प्रत्येक चकती का अलग-अलग रासायनिक परीक्षण करके उसमें उपस्थित पदार्थों का निर्धारण कर लिया जाता है। सम्पूर्ण क्रिया चित्र संख्या (1) से स्पष्ट है।

लगातार किए गए परीक्षणों तथा प्रयोगों के उपरान्त वैज्ञानिकों को एक ऐसी सारिणी या ग्राफ बनाने में सफलता मिली है जिसमें कलाकृतियों के निर्माण में प्रयुक्त विभिन्न रंगकों व प्रलेपों का काल निर्धारण किया गया है (चित्र सं० 2)। यह पाया गया है कि कुछ रंजक जैसे कार्बन ब्लैक तथा सफेदा शताब्दियों से प्रयोग किए जा रहे हैं, अतः किसी पेन्टिंग में इनकी उपस्थिति से उस कलाकृति का काल निर्धारण नहीं किया जा सकता। परन्तु कुछ रंगकों जैसे 'एजुराइट' व 'स्माल्ट' का प्रयोग सन् 1660 तथा सन् 1800 के करीब बन्द कर दिया गया था। अतः इन वर्षों के बाद की पेन्टिंगों में इन रंगकों के उपस्थिति की संभावना अति न्यून है। कुछ रंगकों की बिल्कुल निश्चित खोज किए जाने की तिथियां हैं, जैसे—शील का हरा (1778), इमराल्ड ग्रीन (1814) और मानेस्ट्रल नीला (1936) अतः यदि कोई व्यक्ति एक कलाकृति को सोलहवीं शती का बताता है और उसमें परीक्षण करने पर मानेस्ट्रल नीला पदार्थ पाया जाता है तो निश्चित ही दो बातों की संभावना हो सकती है। या तो वह एक जालसाज़ी का मामला है या वह पेन्टिंग वस्तुतः पुरानी है परन्तु उसे नवीन रूप देने के लिए उस पर बाद में भी पेन्टिंग की गई है।

कला दीर्घाओं तथा संग्रहालयों में वैज्ञानिक अध्ययन

इन दोनों ही स्थानों में वैज्ञानिक उपलब्धियों का प्रयोग प्रमुखतः कलाकृतियों के संरक्षण तथा पुनरुद्धार के लिए किया गया है। संग्रहालयों में नित्य प्रति नवीन आसंजक पदार्थों, तथा सफ़ाई करने की विधियों का विकास किया जा रहा है क्योंकि उत्खनन करने पर प्रमुखतः सिक्के, धातु के औज़ार तथा बर्तन ही मिलते हैं जो अक्सर खंडित अवस्था में होते हैं। संग्रहालयों में प्राचीन कपड़े तथा हाथी दांत व लकड़ी की कलाकृतियों को सुरक्षित रखने की समस्या भी होती है। इस दिशा में ब्रिटिश संग्रहालय की प्रयोगशाला, जो सन् 1920 में स्थापित की गई थी, अग्रणी है।

रंगक	काल
संश्लेषित अल्ट्रामेरिन	१८१०
संश्लेषित नील	१८१४
प्रूशियन ब्लू	१७००
ऑकर	
नेपल पीला	१७५८
क्रीम पीला	१७६८
कैडमियम पीला	१८१८
गोल्ड	१५५०
वर्मीलियन	
रेड लेक	१८१८
कैडमियम रेड	१६६०
मैलेकाइट	१६३०
वर्डीग्रिस	१८००
जिंक ग्रीन	१७८०
इमराल्ड ग्रीन	१८१४
कार्बन ब्लैक	

समय शताब्दियों में — १५०० १६०० १७०० १८०० १९००
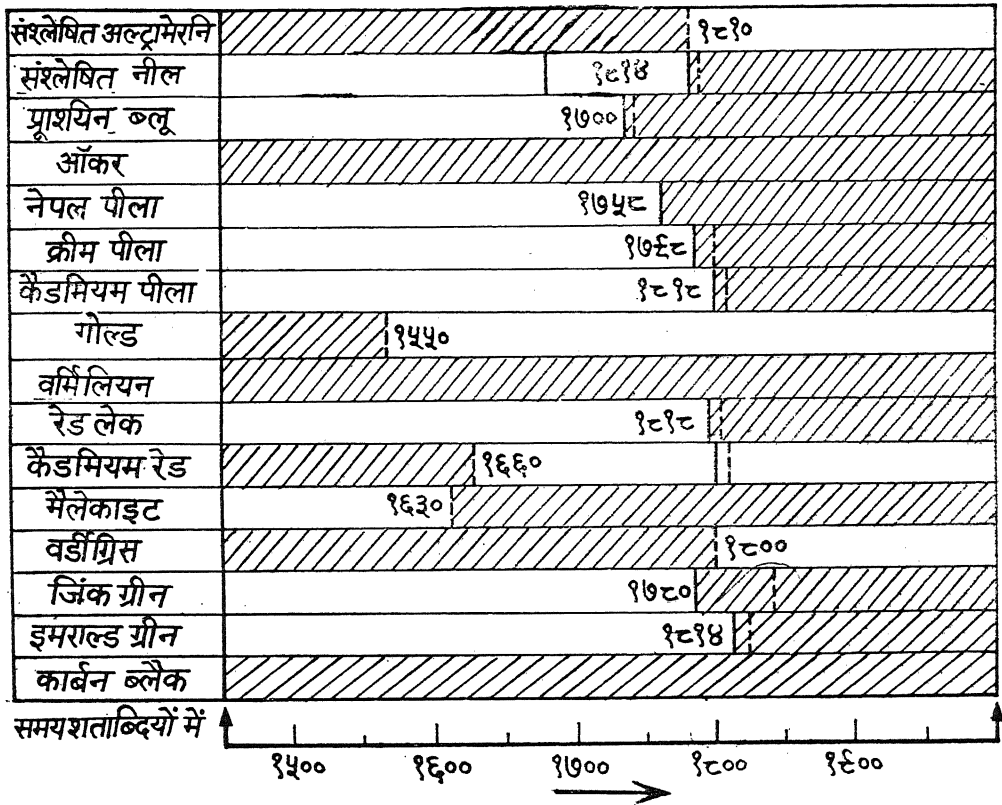
चित्र 2 : काल निर्धारण

चित्र संख्या 2—समय खण्ड दर्शाती हुई एक सारिणी जिसमें विभिन्न रंगकों के प्रयोग में लाए जाने वाले काल दिए गए हैं। छायादार भाग प्रयोग का समय दर्शाते हैं, यदि छायादार भागों का अन्त बिन्दुदार लाइन से है, यह अनुमानित समय दर्शाता है। छायादार भाग के अन्दर बिन्दुदार लाइन-कुछ वर्तमान रंगकों के निर्माण की प्रथम तिथि दर्शाती है।

वर्तमान समय में इन प्रयोगशालाओं में किसी भी कलाकृति का काल निर्धारण करने के लिए 14C विधि का प्रयोग किया जा रहा है। वस्तुतः प्राचीन कला धरोहरों को सुरक्षित रखने, तथा उनकी विश्वसनीयता को कायम रखने के लिए इस प्रकार की प्रयोगशालाओं का विकास किया जाना चाहिए जो भविष्य में और भी अधिक उन्नत विधियों का विकास कर सकें।

(रसा. विभाग इ. वि. वि.)

साक्षात्कार छुई-मुई से

● दीनानाथ श्रीवास्तव

"छुई-मुई होना" यानी बहुत ही नाजुक होना। इस कहावत से सभी लोग परिचित होंगे। अक्सर जब कोई लड़की ज्यादा शर्माती है तो, लोग उसे यही कहते हैं—तुम तो छुई-मुई सी शर्माती हो। आखिर है कौन यह छुई-मुई! क्या विशेषता है उसमें! क्या वास्तव में वह बहुत शर्माती है—किसी के सामने नहीं होती? बहुत दिनों से तमन्ना थी उसके बारे में जानने की। उस दिन तो मुझे बहुत ही आश्चर्य हुआ जब, मुझे मालूम हुआ कि, यह एक प्रकार का पौधा है। तो क्या एक पौधे में लड़कियों की तरह शर्माने की प्रवृत्ति होती है? क्या वास्तव में वह इतना नाजुक होता है कि उसकी उपमा ही दी जाने लगी। फिर तो मेरे मन में उससे मिलने की और दो-चार बातें करने की उत्कण्ठा और तीव्र हो उठी।

और एक दिन मैं उसके पास पहुँच ही गया—बड़ी गर्मजोशी से मैंने उसे नमस्कार किया और औपचारिकता-वश हाथ मिलाने के लिए जैसे ही हुआ—"अरे, यह क्या !! सारी पत्तियां व पूरा पौधा ही झुक गया"। बिलकुल जैसे कोई नई-नवेली स्पर्शमात्र से एकदम से शर्मा जाती है। मैं थोड़ी देर तक इस आशा में वहीं खड़ा रहा कि अभी वह शायद बात करने के लिए तैयार हो जाये। "आखिर कब तक यहाँ खड़े रहेंगे," एक मिला-जुला स्वर गूँजा।

"एं!" ये आवाज कहाँ से आयी, मैं इधर-उधर देखता हूँ। अगल-बगल के अन्य पौधे मुस्करा रहे थे। और फिर स्वतः बोले—"इस तरह तो आपका बहुत समय बर्बाद हो जायेगा—अब कल आइयेगा और दूर से ही धीरे-धीरे बात कीजिएगा। आज आप जिस गर्मजोशी से मिले वह एकदम से घबराकर लजा गयी है।" मैं थोड़ा झेंप सा गया, अपने कृत्य पर और उसके शर्मिलेपन पर सोचता हुआ लौट आया।

दूसरे दिन दूर से केवल नमस्कार ही किया और उसने बड़ी अदा से झुककर अभिवादन स्वीकार किया। फिर मैंने कहा—"वास्तव में बहुत दिन से मैं आपसे मिलना चाहता था। कल, जब मैं आया और आपसे मिलने के लिए हाथ बढ़ाया तो आप एकदम से लजा गयीं—कल मैं थोड़ा आप के ऊपर खीज भी गया था। मैं आपसे मिलने इतनी दूर से आया और आप थीं कि..."

इस पर वह थोड़ा झुक गयी जैसे खेद प्रकट कर रही हो। शिकायत के बाद मैंने उससे बातचीत शुरू की—

"हाँ तो छुई-मुई जी! सबसे पहले मैं आपके इस शर्माने के गुण ही जानना चाहूँगा—क्या यह गुण पर परि-स्थितिजन्य होता है या आनुवंशिक"?

"वैसे तो हर गुण या विशेषता पहले परिस्थितिजन्य होता है जो बाद में आनुवंशिक हो जाता है" उसने मुस्कराते हुए बड़ा ही सारगर्भित उत्तर दिया।

"अब आप अपने बारे में कुछ बताइये। मेरा मत-लब—अपने आकर-प्रकार, व वे परिस्थतियाँ जो आपके अनुकूल होती हैं"?

"मैं एक शाक पौधा हूँ। लम्बाई आम-तौर पर 50—90 सेमी. तना व शाखाएं छोटे परन्तु कड़े रोमों से ढकी होती हैं। पत्तियाँ-द्विपिच्छकी (बाइपिन्नेट), पच्छकों की

संख्या 2-4 तथा 10-20 जोड़े पत्रक होते हैं। फूल हल्के गुलाबी व साइमोजहेड वर्णक्रम में व्यवस्थित होते हैं, फल छोटे, चपटे, भूसे के रंग के व छोटे-छोटे रोमों से आच्छादित होते हैं । प्रत्येक फल में 3-5 बीज होते हैं।"

"अब मैं पुनः अपने पहले प्रश्न पर आना चाहूँगा। वे कौन से कारक हैं जिनसे आप एकदम से शर्मा जाती हैं, जहाँ तक मैंने परखा—छूने से आपकी पत्तियाँ एक-साथ मुड़ जाती हैं तथा पर्णवृन्त भी नीचे की ओर झुक जाते हैं, आप इसके बारे में कुछ प्रकाश डाल सकती हैं ? वैसे, यह प्रश्न वास्तव में बहुत ही जटिल हैं—विशेषतया आपके लिए—क्योंकि, आपको अपने गुण पर ही एक निर्भीक एवं तेज तर्रार जवाब देना है ?"

छुई-मुई-साधारण दशा में

स्पर्श के पश्चात्
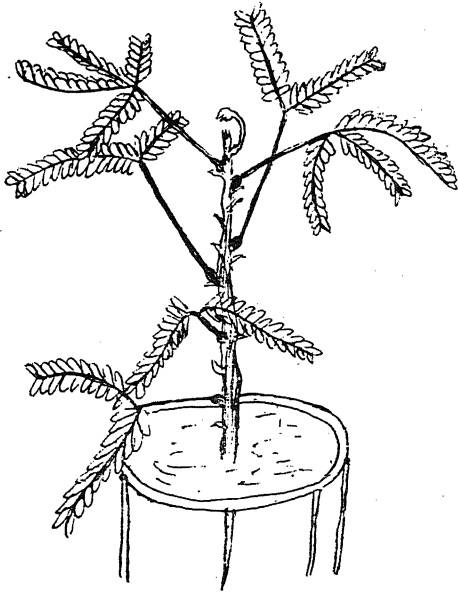
कुछ झिझकते हुए उसने कहना शुरू किया—"वास्तव में आपके इस प्रश्न पर मैं ऊहा-पोह की स्थिति में पड़ गयी हूँ लेकिन फिर भी—जहाँ तक कारकों का प्रश्न है—वे तो बहुत से हैं—जैसे—वर्षा की बूँदे, हवा का तेज झोंका, गर्मी आदि, वैसे मैं स्पर्श से अत्यधिक घबड़ाती हूँ।"
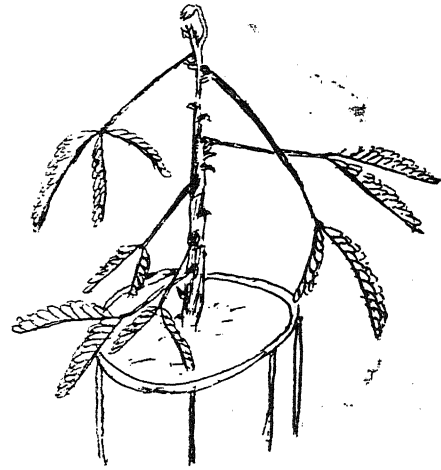
बरबस मुझे हंसी आ जाती है उसके भोलेपन पर फिर वो अपनी ही क्रिया-विधि पर प्रकाश डालती है—"जैसा कि, आप देख रहे होंगे—प्रत्येक पत्रक व पर्णिकाओं के आधार पर थोड़ा फूला हुआ चालक अंग व एक बड़ा चालक अंग, जिसे पलवाइनस कहते हैं, प्रत्येक पर्ण-वृन्त के रआधा पर होता है। पलवाइनस में नीचे का आधा भाग पतली भित्ति वाली कोशिकाओं का बना होता है व इनके बीच अन्तरकोशीय अवकाश भी बड़े होते हैं। ऊपर की आधे भाग की कोशिकाएं स्थूल भित्ति वाली व इनमें अन्तरकोशीय अवकाश भी कम होते हैं। उद्दीपन के फलस्वरूप पलवाइनस में नीचे की कोशिकाओं से जल निकल कर अन्तरकोशीय अवकाशों में पहुँच जाता है और इनकी स्फीति कम हो जाती है, परिणामस्वरूप पत्ती नीचे झुक जाती है। कुछ समय पश्चात् जल पुनः सोखकर कोशाएं स्फीत हो जाती हैं और पत्ती सीधी हो जाती है।

अब आप पूछेंगे—"स्फीत में परिवर्तन क्यों होता है ?" वास्तव में एक विद्युत-संवेग उद्दीपन स्थल से पलवाइनस तक प्रवाहित होता है जिससे पलवाइनस में नीचे की कोशाओं में परासरण के गुण में परिवर्तन हो जाता है, परिणामस्वरूप पोटैशियम आयन के वितरण में परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन पोटैशियम-हाइड्रोजन विनिमय पंप के कारण होता है। इस प्रकार आस्मोटिक दाब में परिवर्तन हो जाता है, जिससे जल बाहर निकल जाता है और पत्तियाँ झुक जाती हैं। कुछ समय पश्चात् पोटैशियम आयन, पलवाइनस की कोशाओं में, पुनः जमा हो जाते हैं और क्रमिक गति से जल के प्रवेश के कारण पलवाइनस की कोशाएं पुनः स्फीत हो जाती हैं और पत्तियाँ सीधी हो जाती हैं।"

"सचमुच आपने बहुत ही रोचक एवं वैज्ञानिक पहलू प्रस्तुत किया। इसके लिए आपको धन्यवाद देने से पहले मैं कुछ और सवाल पूछना चाहूँगा अगर इजाजत हो तो...।"

"पूछिये-पूछिये, मुझे भी बड़ा मजा आ रहा है आपसे बात करने में"।

"हाँ तो आपके बारे में इतना कुछ जान लेने के बाद, मैं यह भी जानना चाहूँगा कि, क्या आप केवल छुई-मुई नाम से जानी जाती हैं या...।"

"नही-नहीं छुई-मुई के अलावा मेरे अन्य भी कई क्षेत्रीय नाम हैं जैसे—हिन्दी—लाजवंती, बंगला—लज्जावती, मराठी—मजालू, कन्नड़—लज्जा, अंग्रेजी में सेन्सिटिव प्लाण्ट कहते हैं। इसके अतिरिक्त वनस्पतिशास्त्री मुझे माइमोसा-प्यूडिका कहते हैं।"

"आप के तो बहुत नाम हैं। इसका मतलब आप काफी विख्यात हैं।"

"और क्या" उसने कुछ चहकते हुए कहा।

"आपकी कितनी वेरायटीज हैं, अपने कुल व राष्ट्रीयता यानी कि अपने पैतृक स्थान के बारे में भी बतायेंगी ?"

"मेरी तीन वेरायटीज हैं—माइमोसा प्यूडिका हिस्पिडा, माइमोसा प्यूडिका टेट्रान्डा, और माइमोसा प्यूडिका यूनिज्यूगा। पादप-जगत में मेरे कुल का नाम लेग्यूमिनेसी व अनुकुल (सबफेमिली) माइमोसोआयडी है। वैसे, हम लोग ऊष्ण-अमेरिका के वासी हैं, परन्तु अब हम लोग विश्व में सारे उष्ण व अनुष्ण कटिबन्धों में पाये जाते हैं। भारत में भी केवल उष्ण एवं अनुष्ण कटि-बन्धों में।"
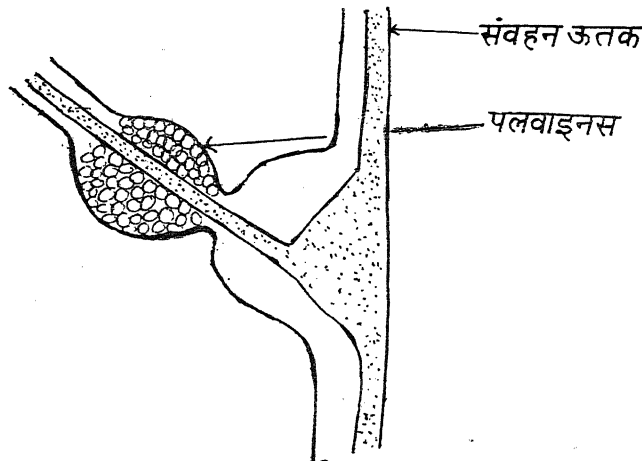
पलवाइनस-ऊर्ध्व काट

"छुई-मुई जी ! जैसा कि आपने थोड़ी देरपहले बताया था कि, आप स्पर्श से बहुत घबड़ाती हैं और नाजुक इतनी कि वर्षा की बूँदें भी घायल कर देती हैं फिर तो, आपको पशु आदि काफी परेशान करते होंगे, आप उनसे कैसे अपना बचाव करती हैं ?"

"मेरे सारे शरीर पर छोटी-छोटी कंटिकाएं होती हैं तथा पुराना होने पर कांटे उग आते हैं जिससे पशु दूर रहते हैं। इसके अलावा मेरी पत्तियों, तना तथा जड़ों में एक प्रकार का विषैला एल्कलायड माइमोसीन ($C_8H_{10}O_4N_2$) होता है। मेरी फलियों के खाने से पशुओं के पेट में जलन होती है। इससे भी पशु मुझसे दूर रहते हैं।"

"आपका बहुत-बहुत धन्यवाद और मैं आपका बहुत आभारी हूँ कि आपने मुझे बात करने का मौका दिया, और इतनी महत्वपूर्ण एवं रोचक बातें बतायीं"

यह कहते हुए जब मैं चलने लगा तो यह सोचकर कि, अब तो मुझसे काफी खुल गयी है—एक बार पुनः मैं उससे हाथ मिलाने की भूल कर बैठा और फिर वह एकबारगी शर्मा गयी।

इसके अलावा मैं यह बता दूँ कि लाजवन्ती एक महत्व-पूर्ण आर्थिक-महत्व का पौधा है—

1. पशुओं का चारा है, चिजी में चरागाहों में उगाया जाता है। इसके सेवन से पशुओं में कड़ा-मांस व दूध की मात्रा ज्यादा हो जाती है। श्री-लंका में भी चरागाह के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

2. इसकी लकड़ी का कोयला गन-पाउडर बनाने के काम में लाया जाता है।

3. जड़ से तैयार काढा पथरी तथा इसी प्रकार की मूत्राशय सम्बन्धी बीमारियों में लाभकारी होता है।

4. पत्तियों की पेस्ट सूजन आदि में लगायी जाती है। इसके अलावा पर्ण-अर्क नासूर व फोड़े-फुन्सियों की ड्रेसिंग में लाभकारी होता है।

5. इसके बीज से हरीतिमा-युक्त एक पीला पदार्थ प्राप्त होता है। जो सोयाबीन तेल से मिलता-जुलता है तथा उसी की तरह उपयोगी भी हो सकता है।

6. माइमोसा तेल कम लिनोलिनिक व अधिक लिनोलेइक एसिड के अनुपात के कारण, कोटिंग पदार्थ के रूप में उपयोग में लाया जाता है जैसे—नोरेलाक।

शोध छात्र
बनस्पति विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

शुक्र-ग्रह पर जीवन की सम्भावना ?

● अखिलेश चन्द्र राठौर

मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? कहाँ जाना है ? जीवन के सम्बन्ध में इस सहज जिज्ञासा की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में अति प्राचीन काल से ही होती चली आयी है। इसी जिज्ञासा को शान्त करने के लिये, आत्मा-परमात्मा आदि परिकल्पनाओं की भी रचना की गयी, जिनकी धर्म एवम् दर्शन-शास्त्र ने अपनी अपनी धारणाओं के अनुसार अनेक ढंग से व्याख्या की है।

विज्ञान ने भी इस दिशा में योगदान किया है, परन्तु अपनी वस्तु-निष्ठ विधि के अंकुश के कारण, वह निरीक्ष्य तथ्यों और प्रमाणों की सीमाओं से बाहर नहीं जा सकता है। विज्ञान की दृष्टि में जीवन का अर्थ है 'प्रोटोप्लाज्म' नामक रासायनिक यौगिक, जो अनेक प्रकार के प्रोटीन-यौगिकों का एक जटिल संगठन (जटिल यौगिक) है और इसके निर्माण के लिए अनिवार्य रूप से जिन तत्वों की आवश्यकता है, वे हैं—कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन और नाइट्रोजन। पृथ्वी के वातावरण में उपस्थित इन्हीं जड़-तत्वों पर सौर-विकिरण (सूर्य की किरणों) के प्रभाव से 'आदि-प्रोटोप्लाज्म' का निर्माण हुआ था और वहीं से पृथ्वी पर जीवन का उद्भव हुआ, जो निरन्तर बदलती परिस्थितियों के कारण अनेक रूपों में संगठित होता गया और पौधों तथा जन्तुओं के विविध-रूप विकसित होते गए।

अतएव, जब हम ब्रह्माण्ड के अन्य पिण्डों पर जीवन की सम्भावना पर विचार करते हैं, तो इन्हीं चारों तत्वों को उनके सहज यौगिकों में अथवा स्वतंत्र रूप में खोजते हैं। ब्रह्माण्डीय पिण्डों पर प्राप्त इन तत्वों के सहज यौगिक हैं—जल, कार्बन डाइ-आक्साइड, मीथेन और अमोनिया।

ब्रह्माण्ड (अन्तरिक्ष, आकाश) में पदार्थ अनेक रूपों में बिखरा पड़ा है—ठण्डी गैस और धूल के कण, अत्युष्ण तारे (3000 डिग्री से० से करोड़ों अंश से० तक) और कुछ तारों के चारों ओर घूमने वाले ठण्डे पिण्ड, जिन्हें आकार और भ्रमण-मार्गों की भिन्नताओं के आधार पर, ग्रह, उपग्रह, धूमकेतु और उल्कापिण्ड कहते हैं। धूल के विशाल पुञ्जों को नीहारिकाएं और तारों के विशाल समूहों को मन्दाकिनियां कहते हैं। तारों की जिस मन्दाकिनी में हम लोग हैं उसका नाम 'आकाश गंगा' है। आकाश गंगा में अरबों तारे हैं, जिसमें एक सामान्य प्रकार के तारे का नाम सूर्य है। 'आकाश गंगा' के ही समान अरबों मन्दाकिनियाँ ब्रह्माण्ड में हैं। सूर्य के चारों ओर नौ बड़े-बड़े ठण्डे पिन्ड (ग्रह) घूम रहे हैं, सूर्य से दूरी के आधार पर उनके नाम क्रमशः बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति शनि, वारुणी, वरुण और यम हैं। इन नव ग्रहों में पृथ्वी से सबसे निकट का ग्रह है, शुक्र।

तारे पृथ्वी से बहुत दूर हैं। पृथ्वी के सबसे निकट का तारा भी इतना दूर हैं कि उसके प्रकाश का पृथ्वी तक पहुँचने में लगभग सवा चार वर्ष लग जाते हैं जब कि प्रकाश की गति, प्रति सेकेण्ड तीन लाख किलोमीटर है। अतएव तारों की दूरी को पृथ्वी की दूरी नापने वाली इकाइयों में व्यक्त करना असुविधाजनक है और इस दूरी को हम प्रकाश वर्ष (प्रकाश पहुँचने के समय) से नापते हैं। इस प्रकार से सबसे निकट का तारा सवा चार प्रकाश वर्ष दूर है। अंतरिक्ष यानों की गति (11 किलो मीटर प्रति सेकेण्ड), तेज हवाई जहाजों की गति (0.37 कि० मि० प्रति सेकेण्ड) से काफी अधिक होने पर भी, प्रकाश की गति से बहुत पीछे है। अतः

किसी भी तारे तक यान भेजने की हजारों वर्ष की अवधि वाली योजना बनाने का मानव अभी साहस नहीं कर पा रहा है। सौर-मण्डल के अन्य ग्रह, पृथ्वी से तारों की अपेक्षा काफी निकट हैं, इसलिए मनुष्य ने इन ग्रहों तक ही अन्तरिक्ष यानों को भेज कर उनका अध्ययन करने की योजना बना रखी है। इन ग्रहों पर जीवन (प्रोटाप्लाज्म या उनके संगठित रूप-जन्तु पौधे) की खोज करना भी शामिल है। अभी हाल ही में अमरीका के 'अपोलो अन्तरिक्ष कार्यक्रम' से यह पता चल चुका है कि चन्द्रमा पर जीवन नहीं है। अमरीका के 'वाईकिंग' अन्तरिक्ष का कार्यक्रम के अन्तर्गत पिछले वर्ष ही मंगल के सम्बन्ध में सूचनाएं मिली हैं कि वहाँ पर जीवन के होने का या न होने का प्रश्न अभी अनिर्णीत ही रह गया है। परन्तु 'शुक्र' पर जीवन होने न होने के सम्बन्ध में अभी तक सामान्य पत्र-पत्रिकाओं में विशेष विवरण न आने के कारण सामान्य जन अनभिज्ञ ही हैं। पृथ्वी के सबसे निकट का और सर्वाधिक प्रकाशित ग्रह होने के कारण, इसमें विशेष रुचि होना स्वाभाविक है। परन्तु शुक्र के अति घने वायुमण्डल के बादलों द्वारा प्रकाश को परावर्तित कर देने के कारण, शुक्र के धरातल का चित्र लेना कठिन है और उसके वायुमण्डल का दबाव पृथ्वी के दबाव से सौ गुना होने से शुक्र पर उतारे जाने वाले खोजी-यन्त्र शुक्र के धरातल पर पहुँचने के पूर्व ही नष्ट हो जाते हैं, शुक्र के सम्बन्ध में विस्तृत आंकड़ों का अभाव है और इन्हीं कठिनाइयों के कारण आगे की खोजबीन का काम भी प्रगति नहीं कर पा रहा है। इन कठिनाइयों के बावजूद भी प्रकाशीय एवम् रेडियो दूरबीनों, अमरीका के मैरीनर यानों और रूस द्वारा शुक्र के धरातल पर उतारे जाने वाले अंशतः सफल खोजी-यंत्रों द्वारा अनेक उपयोगी सूचनाएं प्राप्त हुई हैं। इस निकटतस्थ और अति प्रकाशित ग्रह पर जीवन होने, न होने सम्बन्धी तथ्यों को खोजने में वैज्ञानिक प्रयत्नशील हैं।

किसी भी गृह पर जीवन की उत्पत्ति, विकास और स्थायित्व का अध्ययन करने के लिए पहले यह जानना जरूरी होगा कि किन आवश्यक परिस्थितियों में जीवन सम्भव हो सकता है।

जीवन के लिये आवश्यक परिस्थितियां

किसी भी ग्रह पर जीवन की उत्पत्ति, विकास और स्थायित्व के लिए सामान्यतः निम्नलिखित परिस्थितियाँ आवश्यक है :—

1. कार्बन-डाई-आक्साइड गैस
2. ऑक्सीजन गैस
3. नाइट्रोजन गैस
4. जल
5. उचित ताप

इन आवश्यक परिस्थितियों के मात्रात्मक अनुपातों में अन्तर हो सकता है लेकिन इनमें से एक के भी पूर्णतः न रहने की स्थिति में किसी भी ग्रह पर जीवन की सम्भावना क्षीण हो जाती है।

किसी भी ग्रह पर जीवन की खोज करने से पहले हमें पृथ्वी की प्रारम्भिक परिस्थितियाँ और उन परिस्थितियों में जीवन की उत्पत्ति और विकास किस विधि से हुआ यह जानना जरूरी है, ताकि तुलनात्मक रूप से हम यह अनुमान लगा सकें कि अन्य ग्रहों पर भी जीवन की उत्पत्ति किस प्रकार हुई होगी।

पृथ्वी की प्रारम्भिक परिस्थितियाँ

पृथ्वी तथा सूर्य साढ़े चार से पाँच अरब वर्ष प्राचीन समझे जाते हैं। पृथ्वी की उत्पत्ति गैस-धूल के पुञ्ज से हुई, जो उस समय ब्रह्माण्ड में तीव्र गति से चक्कर लगा रहा था। इस पुञ्ज के कई भागों में बँट जाने से ही ग्रहों की उत्पत्ति हुई और पृथ्वी भी उनमें से एक है। गुरुत्वाकर्षण के कारण प्रत्येक पिण्ड सिकुड़ कर घना होता गया और उसमें द्रव तथा ठोस भाग भी बन गये। सौर मण्डल के निर्माण की विशिष्ट प्रक्रिया के कारण सूर्य के निकटस्थ चार ग्रहों-बुध, शुक्र, पृथ्वी और मंगल का अधिकांश भाग ठोस हो गया और शेष ग्रह मुख्यतः गैसीय हो गये। संघनन के कारण इन पिण्डों का ताप भी काफी बढ़ गया था।

पृथ्वी की रचना और वायु मण्डल आज की तरह नहीं था। जीवन के उद्भव के कुछ पूर्व पृथ्वी के वायुमण्डल से मुख्यतय: कार्बन-डाई-आक्साइड, आक्सीजन, जल तथा नाइट्रोजन मौजूद थे। पृथ्वी का ताप अधिक होने से जल, वाष्प के रूप में, वायु मण्डल में ही था।
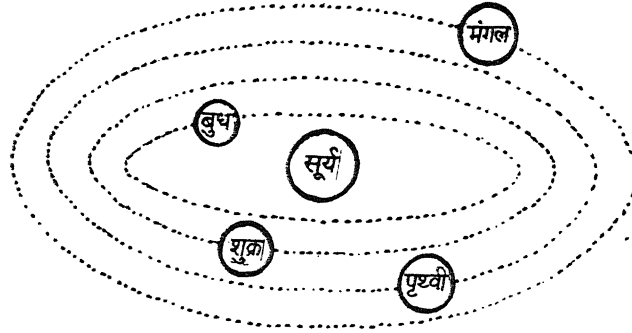
सौरमंडल के थलयुक्त ग्रह

शनै शनैः पृथ्वी ठण्डी होने लगी, परिणामस्वरूप वर्षा होने से और निचली भूमि के पूर्णतया जलमग्न हो जाने से समुद्र का निर्माण हुआ। समुद्र में ही प्रथम जीव की उत्पत्ति हुई, ऐसा वैज्ञानिकों का मत है।

यहां एक तथ्य विशेष ध्यान देने योग्य है कि पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति आक्सीजन रहित वायुमण्डल में हुई थी।

शुक्र पर जीवन के अनुकूल परिस्थितियाँ

पूर्व-लिखित विवरण के आधार पर यह स्पष्ट है कि शुक्र की अधिकांश परिस्थितियाँ पृथ्वी से मिलती हैं। शुक्र पर जीवन की सम्भावना बनाने वाले अनेक तथ्य हैं, जिनमें प्रधान यह है कि शुक्र के वायुमण्डल की रचना पृथ्वी से काफी मिलती है, यहाँ तक कि आदिकाल की पृथ्वी का वायुमण्डल तो शुक्र के वर्तमान वायुमण्डल के बिलकुल ही निकट है। तालिका क्रमांक 1 और 2 पर दृष्टिपात करने से अन्य समानताएं स्वतंत्र ही स्पष्ट हो जाती हैं।

पृथ्वी पर विभिन्न परिस्थितियों में जीवों की उपस्थिति एवम् उनके रहन-सहन का विस्तृत अध्ययन करने के उपरान्त यह पाया गया कि प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जीव अपना अस्तित्व बनाये रखने में सक्षम है। गर्म पानी के झरनों, (71, डिग्री सेन्टीग्रेड तक)[4], ध्रुवों पर (—48° से० तक) [4] तथा पूर्णतः शुष्क मरुस्थलों (सहारा, करा कुम) [4] में भी जीवों की उपस्थिति, जीवन की क्षमता के प्रवल प्रमाण हैं। इस आधार पर जीवन की खोज में रत वैज्ञानिकों के मन में यह धारणा बनी है कि जीवन एक जिद्दी वस्तु है, और यह अपने को प्रत्येक परिस्थिति के अनुकूल बनाने की सामर्थ्य रखता है। शुक्र पर जीवन की सम्भावना पर विचार के समय यही तर्क सामने आता है कि जब जीवन में इतनी प्रबल अनुकूलन क्षमता है तो पृथ्वी से उक्त समानताओं के बावजूद शुक्र पर भी जीवन क्यों नहीं सम्भव हो सकता है? पृथ्वी पर इन्हीं परिस्थितियों में जीवन की उत्पत्ति और विकास हुआ, तो इन्हीं समान परिस्थितियों में शुक्र पर भी जीवन की उत्पत्ति हो सकती है। यह अन्तर अवश्य हो सकता है कि, जब कि इस समय पृथ्वो पर जीव, विकास-क्रम के काफी आगे पहुँच चुके हैं, शुक्र पर वे प्रारम्भिक अवस्था में ही हो।

तालिका क्र० 1 (1,2,3,)

पृथ्वी और शुक्र की भौतिक राशियों का विवरण

ग्रह का नाम	सूर्य से दूरी (करोड़ मील)	व्यास (मील)	द्रव्यमान (कि० ग्रा०)	औसत आ० घनत्व	दाब	ताप (अधिकतम)
पृथ्वी	9.3	7927	6×10^{24} (लगभग)	5.51	1 (वायुमण्डल)	60° से०
शुक्र	6.7	7690	4.92×10^{24} (लगभग)	5.15	100 (वायुमण्डल)	500° से०

तालिका क्र० 2 (2, 3, 5)

पृथ्वी और शुक्र पर जीवनोपयोगी मुख्य पदार्थों का विवरण

ग्रह का नाम	जल	आवश्यक मुख्य गैसें		
		कार्बन-डाइ-आक्साइड	आक्सीजन	नाइट्रोजन
पृथ्वी (वर्तमान)	3-4 भाग	03—.5 प्र० श०	21 प्र० श०	78 प्र० श०
पृथ्वी (प्रारम्भिक)	0.2 प्र० श० (वाष्प)	91 प्र० श०	—	6.4 प्र० श०
शुक्र (वर्तमान)	1 प्र० श० (वाष्प)	76 प्र० श०	0.1 प्र० श०	2 प्र० श०

शुक्र पर जीवन के प्रतिकूल परिस्थितियां

शुक्र पर कुछ परिस्थितियां ऐसी भी हैं, जो यह सोचने पर विवश कर देती हैं कि शुक्र पर जीवन की सम्भावना व्यक्त करना एक कोरी कल्पना मात्र है। उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :—

1. अत्यधिक ताप (500° से०)[2]

2. द्रव-जल का अभाव

500° से० ऐसे उच्च ताप पर किसी प्रकार के जीवन की सम्भावना नहीं की जा सकती है। एक रिपोर्ट[6] ने पर्वत भी होने की सम्भावना व्यक्त की है, जहाँ का ताप-लगभग 100° से० है, परन्तु इस ताप पर भी जीवन सम्भव नहीं है।

दूसरी मुख्य समस्या द्रव-जल की है, क्योंकि, 100° से० ताप पर जल गैस में बदल जाता है। द्रव-जल, जीवन (प्रोटोप्लाज्म) की उत्पत्ति के अतरिक्त अन्य जैविक क्रियाओं के लिए भी आवश्यक है, जो कि शुक्र ग्रह के धरातल पर नहीं हो सकता। इस आधार पर शुक्र के धरातल पर जीवन का अस्तित्व असम्भव है।

निष्कर्ष

अब तक ज्ञात तथ्यों के आधार पर इस समय केवल यही कहा जा सकता है कि शुक्र के धरातल पर जीवन की उपस्थिति असम्भव है। पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति धरातल पर पानी में ही हो सकी थी, जो परिस्थिति शुक्र के धरातल पर इस समय नहीं है और भूतकाल में भी होने के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः शुक्र के इतिहास में किसी भी अवस्था में जीवन की की उत्पत्ति हुई हो, यह भी नहीं कहा जा सकता। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि शुक्र के वायुमण्डल में कुछ सूक्ष्मजीवाणु हो सकते हैं, जो अंतरिक्ष से उल्का-पिण्डों आदि के द्वारा कभी आये हों।

हाँ यदि पृथ्वी-ग्रह के वासी यहाँ से पर्याप्त संख्या में जीवाणु ले जाकर शुक्र के वायु मण्डल में छोड़ दें तो यह आशा की जा सकती है कि वे कार्बन-डाई-आक्साइड को तोड़ कर, वायुमण्डल में कार्बन-डाई-आक्साइड गैस की मात्रा को क्रमशः कम करने के साथ-साथ आक्सीजन की मात्रा बढ़ाते जायेंगे। कार्बन-डाइ-आक्साइड की मात्रा में कमी आने के साथ ही साथ शुक्र के धरातल का ताप भी क्रमशः घटता जायगा और कुछ समय पश्चात ऐसी अवस्था आ सकती है जबकि शुक्र के धरातल का ताप काफी कम हो जाय और पानी द्रव रूप में धरातल पर आ जाय, इस प्रकार शुक्र का धरातल जीवों के अस्तित्व के लिए अनुकूल हो जायगा। इसी बीच में वायुमण्डल में डाले गये जीवाणुओं में भी कुछ सीमा तक विकास हो जायगा।

......परन्तु इतने से काम में लाखों-करोड़ों वर्ष लग जायेंगे।

प्रस्तुत लेख में सहायक एवम् अतिरिक्त जानकारी की दृष्टि से उपयोगी, सम्बन्धित साहित्य का विवरण :—

1. "एस्ट्रोनोमी"—डी० एस० इवान्स, सेण्ट पाल हाउस, वारविकलेन, लन्दन (1973 संस्करण, पृष्ठ-62)।

2. "स्पेस कैमिस्ट्री"—एल० निकोलीव, मीर पब्लिसर्सश, मास्को (1976 संस्करण, पृष्ठ 66, 67, 68)।

3. "दि फैसिनेटिंग ऐस्ट्रोनोमी"—वी० कोमारांव, मीरपब्लिशर्स, मास्को (1976 संस्करण, पृष्ठ—103, 104, 105)।

4. "रीचिंग फार दि स्टार्स"—जी० तिखोव, फोरेन लैगवेज पब्लिशिंग हाउस मास्को (पृष्ठ—114 से 119)

5. "स्टडो आफ दि अर्थ"—जे० एफ० व्हाइट, प्रैन्टिस हाल आफ इण्डिया नई दिल्ली। (1968 संस्करण, पृष्ठ 374)

6. "साइंस रिपोर्टर"—सी० एस० आई० आर०, नई दिल्ली। (जनवरी 1976 पृष्ठ—30)

(टिप्पणी—प्रस्तुत लेख में कुछ शब्दों अथवा वाक्यों के अंत में, ऊपर की ओर, लिखी हुई संख्यायें, सन्दर्भ के लिये उपरिलिखित साहित्य के क्रमांकों को इंगित करती है.)

कोशिका का ऊर्जा उत्पादक स्थल माइटोकान्ड्रिया

● अजय शंकर

प्रत्येक जीवधारी का शरीर छोटी-छोटी इकाइयों का बना होता है। इन इकाइयों को वैज्ञानिक हुक ने सन् 1665 ई0 में कोशिका की संज्ञा दी थी। इन कोशिकाओं में एक प्रकार का जैविक पदार्थ भरा होता है। वैज्ञानिक परकिन्जे तथा वान मोल ने इसे प्रोटोप्लाज्म या जीवद्रव्य कहा। इस जीवद्रव्य के चारों ओर कला स्वरूप रचना होती है जिसे कोशिका कला कहते हैं। यह कला कोशिका को आस-पास की कोशिकाओं से अलग करती हैं। जीवद्रव्य के अन्दर केन्द्रक मिलता है। केन्द्रक कला तथा कोशिका कला के बीच भरे जीव द्रव्य को 1862 में कोल्लीकर ने साइटोप्लाज्म या कोशा द्रव्य की संज्ञा दी। इसी कोशाद्रव्य में विभिन्न प्रकार के अंगक मिलते हैं, जैसे लाईसोसोम, गाल्जीकाय, राइबोसोम, सेन्ट्रोसोम (केवल जन्तु कोशिका में), हरित लवक (पौधों की कोशिका में), माइटोकान्ड्रिया, अन्तःप्रद्रव्यी जालिका इत्यादि। इन रचनाओं में माइटोकान्ड्रिया कोशिका के ऊर्जा स्रोत की मुख्य इकाई है।

माइटोकान्ड्रिया को सर्वप्रथम आल्टमैन ने 1886 ई० में साधारण सूक्ष्मदर्शी के अध्ययन से कोशिका में देखा था और बताया कि कोशिकाद्रव्य में ये रचनायें इधर-उधर बहुत फैली रहती हैं। आल्टमैन द्वारा देखी गई इस रचना को 1889 ई० में बेन्डा ने ''माइटोकान्ड्रिया'' नाम दिया जिसकी उत्पत्ति ग्रीक भाषा के दो शब्दों के मिलने से हुई हैं—माइटो-धागा, कान्ड्स-गोलीकाएँ अर्थात् धागे की तरह गोलिकायें।

माइटोकान्ड्रिया की संख्या प्रत्येक कोशिकाओं में सामान्यतः क्रियाशीलता के आधार पर निश्चित होती है। जहाँ पर कोशिका की क्रियाशीलता अधिक होती है वहाँ इनकी संख्या अधिक होती है, जैसे पादप के विभाजक ऊतक में इनकी सख्या अधिक होती है क्योंकि कोशिकाओं के ये ऊतक निरन्तर विभाजन करते रहते हैं और ऊर्जा प्राप्ति का स्रोत माइटोकान्ड्रिया होने के कारण ही इनकी संख्या अधिक होती है। कुछ निम्न वर्ग के जीव जगत में इनकी संख्या बहुत ही कम मिलती है, जैसे मलेरिया के जनक की कोशिका में केवल एक माइटोकान्ड्रिया होता है। वैज्ञानिकों द्वारा इनकी संख्या 500,000 तक भी बताई गई है।

वाह्य रचना : वाह्य रचना की दृष्टि से माइटोकान्ड्रिया विभिन्न आकार के हो सकते हैं, जैसे गोलाकार, बेलनाकार ल्युईस तथा कैन्टी (1914) के अनुसार इनका आकार बदलता रहता है। परिमाण में ये ·0005 से ·001 मिमी० तक होते हैं। लम्बाई साधारणतया 5 से 0·5 म्यु (μ) तथा चौड़ाई ·2 से 2 म्यु तक होती है। वैज्ञानिकों द्वारा इधर 50 म्यु लम्बे माइटोकान्ड्रिया की उपस्थिति बताई गई है। वाह्य सतह चिकनी या कुछ खुरदुरी प्रतीत होती है।

अन्तः रचना : (चित्र 1 तथा चित्र 2) इसके लिये माइटोकान्ड्रिया के विभिन्न काटों का अध्ययन करना होगा। यह स्वयं दो परतों से निर्मित होता है। बाहरी कला को **वाह्य कला** तथा अन्दर वाली कला को **अन्तः कला** कहते हैं। प्रत्येक कला की रचना कोशिका कला के समान ही होती है अतः यह वसा तथा प्रोटीन युक्त होती है। ये कलाओं की मोटाई 70-140 एंगस्ट्राम होती हैं। इन कलाओं के बीच में लगभग 40-70 एंगस्ट्राम का रिक्त स्थान मिलता है। ए० एल० लीहनीनगेर (1969) के अनुसार माइटोकान्ड्रिया की कलाओं तथा इन कलाओं के बीच के रिक्त स्थान में

एंजाइम मिलते हैं। इनकी व्यवस्था इस प्रकार होती है।

वाह्य कला में कुल चार एंजाइम मिलते हैं—

(1) मोनोअमीन आक्सीडेस

(2) रोटीनोन-इन्सेन्सटीव, एन० ए० डी० एच०, साइटोक्रोम सी रिडकटेस

(3) मेन्युरिनिन हाइड्रोलेस

(4) फैटी एसिड कोऐलीगेस

अन्तः कला में पाँच एंजाइमों की उपस्थिति बताई गई हैं—

(1) श्वसनीय श्रंखला एंजाइम

(2) ए टी पी सिन्थीटेस

(3) सक्सीनेट डीहाइड्रोजनेस

(4) बीटा हाइड्राक्सी ब्युटरेट डीहाइड्रोजनेस

(5) कार्नीटीन फैटी एसिड ऐसेल ट्रान्सफरेस।

इसके अतिरिक्त एडीनीलेट काइनेस तथा न्युक्लोसाइड डाईफास्फोकाइनेस नामक एंजाइम कलाओं के बीच के रिक्त स्थान में मिलते हैं।

वाह्य कला विद्युत अपघट्यों, जल, सुक्रोस तथा कुछ पोलीसैकेराइडों के लिये मुक्त पारगम्य होती है परन्तु अन्तः कला आयनों तथा सुक्रोस के लिये अपारगम्य होती है।

अन्तः कला माइटोकान्ड्रियल गुहा में कई हिस्सों में मुड़ी होती है। इस प्रकार मुड़ी हुई रचना को **क्रिस्टी** कहते हैं। ये क्रिस्टी शाखायुक्त या शाखाहीन होती हैं। पैलेड के अनुसार क्रिस्टी की उत्पत्ति अन्तः कला के उभार के फलस्वरूप होती है। परन्तु जास्ट्रेन्ड के अनुसार क्रिस्टी, अन्तः-कला संलाग या चिपके होते हैं। क्रिस्टी प्रायः समान्तर, गोलाकार होती है, कभी-कभी क्रिस्टी अनुपस्थित होती है। प्लास्मोडियम में पाये जाने वाले माइटोकान्ड्रिया में नलिका सदृश क्रिस्टी मिलती है।

एच० एफ० मौरग ने बताया है कि इन कलाओं पर तथा क्रिस्टी पर कणयुक्त रचना मिलती है जिन्हें क्रमशः वाह्यकण तथा अन्तःकण कहा जाता है। ये हजारों की संख्या में मिलते हैं, ये कण आधारभूत वसा प्रोटीन से निर्मित होते हैं। वाह्य कण, गोलाकार होता है और त्रिज्या लगभग 80 एंगस्ट्राम होती है। यह आधार तथा डंठल विहीन होता है, दो पास के वाह्यकणों की अन्तस्थ दूरी लगभग 100 एंगस्ट्राम होती है। अन्तःकणों की रचना का गोलाकार भाग वाह्यकण के समान होता है परन्तु इसमें इस गोलाकार रचना से लगा शीर्ष तथा आधार शीर्ष होती है जो 160 एंगस्ट्राम लम्बा होता है। बीटान ने कुछ वर्षों पूर्व ही इसका नाम "आक्सीसोम" रखा।

माइटोकान्ड्रियल गुहा या मैट्रिक्स : यह माइटोकान्ड्रिया के अन्दर की खोखली रचना है जो रासायनिक अवयवों से भरपूर होती है। इस गुहा के द्रव्यों के रासायनिक संघटन की आंशिक उपस्थिति निम्नलिखित रूप में बताई है :—

(1) विलयशील प्रोटीन—70 प्रतिशत

(2) वसा 30 प्रतिशत (यह स्वयं 90 प्रतिशत, फास्फोलिपिड तथा 10 प्रतिशत, कैरोटीनाइड, क्लोरोस्टेराल, विटामिन ई से रचित है)।

(3) एंजाइम लीहनीनगेर (1969) के अनुसार इसमें कुल पाँच एंजाइम मिलते हैं। मालेट तथा आइसोसाइट्रेट डीहाइड्रोजनेस, फ्युमरेस तथा एकोनीटेस, साइट्रेट सिन्थीटेस, एल्फा-कीटो एसिड डीहाइड्रोजनेसस तथा बीटा-आक्सीडेसन।

इसके अतिरिक्त इसमें केन्द्रकीय अम्लों (डी० एन० ए० तथा आर० एन० ए०) की उपस्थिति भी बताई गई है।

क्रिया : माइटोकान्ड्रिया के अन्दर श्वसन क्रिया सम्बन्धित एंजाइम मिलते हैं अतः इसे श्वसन का मुख्य स्थल माना जाता है जिसके फलस्वरूप ऊर्जा का भी उत्पादन होता है। इस कारण इसे कोशिका का "शक्ति उत्पादक गृह" कहते हैं। इनकी सूक्ष्म रचनाओं में उपस्थित कणों के योग से पाइरुविक अम्ल का वायुजीवी आक्सीकरण की क्रिया होती है। क्रेब्स ने सन् 1937 ई० में बताया कि इस
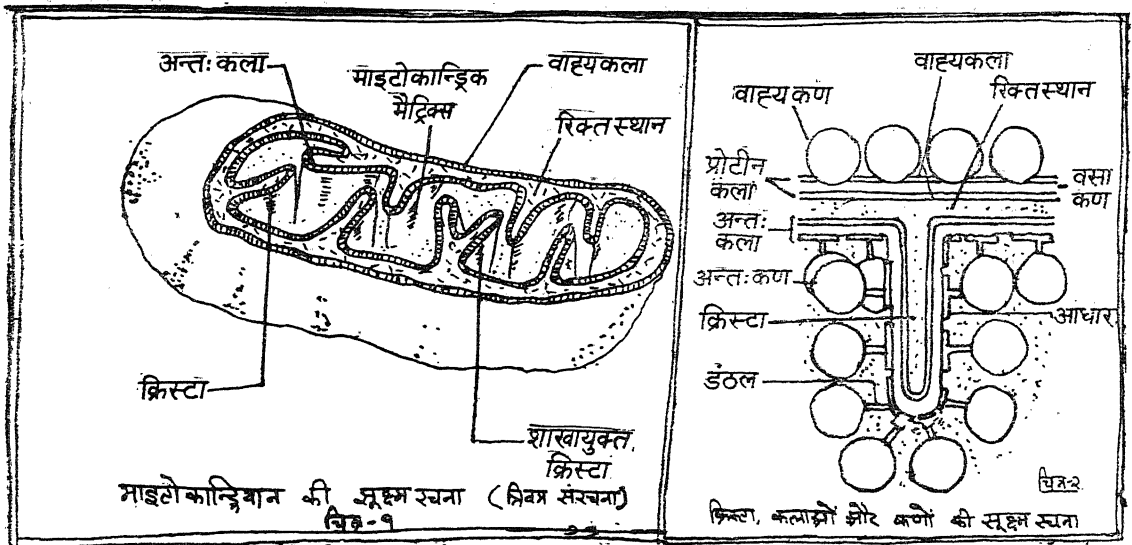
चित्र 1

चित्र 2

क्रिया में ग्लाइकोलिसिस (जो की कोशाद्रव्य में होती है) के द्वारा बने पाइरुविक अम्ल के अणु का आक्सीकरण कार्बन डाइ आक्साइड तथा पानी में होता है। ये आक्सीकरण अभिक्रियायें एक शृंखला के फलस्वरूप एक चक्र में पूरी होती हैं। इस चक्र को ''केब्स चक्र'' कहते हैं। इस चक्र के फलस्वरूप कार्बन परमाणु, कार्बन डाइ आक्साइड के रूप में उत्पन्न हो जाता है। एक केब्स चक्र में पाइरुविक अम्ल के एक अणु के पूर्ण आक्सीकरण द्वारा कार्बन डाइ आक्साइड के तीन अणु मिलते हैं क्योंकि ग्लुकोस के एक अणु से पाइरुविक अम्ल के दो अणु बनते हैं। अतः ग्लूकोस के एक अणु के आक्सीकरण से कार्बन डाइ आक्साइड के 6 अणु निकलते हैं और ATP के 38 अणु बनते हैं। अभिक्रिया इस प्रकार है :—

$$C_6H_{12}O_6 + 6\ O_2 \rightarrow 6\ CO_2 + 6\ H_2O + 38\ ATP$$
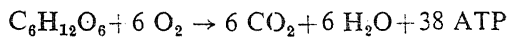
कोशिका को कार्य हेतु ऊर्जा की जरूरतों को माइटो कान्ड्रिया ही श्वसन क्रिया द्वारा पूरा करता है। यह उच्च ऊर्जा युक्त अणु ऐडिनोसिन ट्राइफास्फेट के रासायनिक बन्धों के टूटने से पैदा होती है। ये बन्ध जल की उपस्थिति में टूटते हैं। इस प्रक्रिया में जब एक ए. टी. पी. का शीर्ष फास्फेट बन्ध टूटता है तो लगभग 12000 कैलोरी ऊर्जा पैदा होती है। ग्लूकोस के अणु में लगभग 691000 कैलोरी ऊर्जा होती है अतः अभिक्रिया की दक्षता (691000/457000) अर्थात् लगभग 66 प्रतिशत होती है जो एक उच्च दर में होती है। इस प्रकार शरीर की पूर्ण जैविक क्रियाओं के निर्माण में माइटोकान्ड्रिया का विशेष महत्व होता है।

माइटोकान्ड्रियल डी० एन० ए०

डी० एन० ए० अर्थात् डीआक्सी राइबोस न्युक्लिक अम्ल जो कि आनुवंशिक पदार्थ होता है, की उपस्थिति भी माइटोकान्ड्रिया में बताई गयी है। माइटोकान्ड्रिल डी. एन. ए० का सफल अध्ययन, सैयूजेमा, बोनर, ब्रीडेन बैंक (1947) डा० एम० नास तथा एस० नास (1963) इत्यादि ने किया। माइटोकान्ड्रिया में एक या दो अणु डी० एन० ए० भी मिलते है परन्तु काफी लम्बे माइटोकान्ड्रिया में ये दो से अधिक संख्या में भी मिल सकते हैं। ट्रिपनोसोमा के शरीर में ब्लीफैरोप्लास्ट के पास की माइटोकान्ड्रिया में एक तश्तरी के सामन काइनोप्लास्ट मिलता है जो कि डी० एन० ए० का समूह होता है जिसकी शृंखलाएं आपस में गुँथी रहती

हैं। यह वहुत साफ दिखाई देता है। रचना की दृष्टि से यह केन्द्रीय डी० एन० ए० से भिन्न होता है परन्तु कुछ दृष्टि में समान भी होता है। माइटोकान्ड्रियल डी एन ए आधार-भूत संगठन में भिन्न होता है तथा क्रोमैटिन जटिलताओं में ग्वानीन, साइटोसीन क्षार उच्च होते हैं। केन्द्रकीय डी-एन ए के समान, माइटोकान्ड्रिया डी एन ए में एंजाइम मिलता है परन्तु माइटोकान्ड्रियल डी० एन ए० में माइटोकान्ड्रियल पालीमरेस एंजाइम मिलता है जब कि केन्द्रकीय डी एन ए में केन्द्रकीय डी० एन० ए०, पालीमरेस मिलता है। माइटोकान्ड्रियल डी० एन० ए० का संश्लेषण केन्द्रकीय डी० एन० ए०के पूर्व होता है। माइटोकान्ड्रियल के डी० एन० ए० में ट्रान्सक्रिप्सन की क्रिया होती है और माइटो-कान्ड्रियल आर० एन० ए० बनाने के बाद एक प्रकार का प्रोटीन का निर्माण करता है जिसे माइटोकान्ड्रियल प्रोटीन कहते हैं। माइटोकान्ड्रियल डी० एन० ए० वाइरस तथा बैक्टीरिया में गोल होते हैं। यह भी द्विकुण्डलित होता है। यह उच्च कोटि के पौधों में रेखांकित मिलते हैं। इस प्रकार माइटोकान्ड्रिया ऊर्जास्रोत तो है ही परन्तु कुछ अवश्य ही आनुवांशिक गुण भी है जिसका अध्ययन अभी भी वैज्ञानिकों द्वारा जारी है।

एम. एससी. पूर्वार्द्ध
बनस्पति विज्ञान विभाग
इ. वि. वि.

(शेष पृष्ठ 32 का)

उपयोग करने को कहा तो वे चिढ़कर बोले कि बार बार कहा गया तो सब पैसे बैंक से निकाल कर जला दूँगा। यह घटना वास्तव में चरम वैज्ञानिक मस्तिष्क का ही प्रतीक है।

एक बार उनका पुस्तकालय-कर्मचारी बीमार पड़ गया और डरते डरते उसने आर्थिक सहायता मांगी। कैवेन्डिश ने उसी समय उसे दस हजार पौण्ड का एक चेक दिया और उससे पूछा कि क्या तुम्हें दस हजार पौण्ड उपयुक्त होंगे? बेचारा 100 पौण्ड पाने वाला एवं अत्यंत कम आवश्यकता वाला कितना प्रसन्न हुआ होगा आप सोच लीजिए।

एक दिन केवेन्डिश रॉयल सोसायटी की सभा से थके-मांदे अपने घर आये। आते ही उन्होंने अपने पुस्तकालय सेवक को कुछ आदेश दिये कि उसकी मृत्यु के पश्चात् प्रयोग शाला का कार्य किस प्रकार चलेगा और कहा कि जब तक उसकी मृत्यु न हो जाय ये बातें गुप्त रखी जायँ। उसी दु:खद संध्या को वे दीवार की ओर मुंह करके बैठे ही रह गये। इस प्रकार विश्व के महान वैज्ञानिक केवेन्डिश का निधन अस्सी वर्ष की उम्र में सन् 1810 ई० में हुआ।

हेनरी कैवेन्डिश

● एस० एल० कौशल एवं डॉ विजयेन्द्र शास्त्री

सु-प्रसिद्ध वैज्ञानिक हनरी केवेन्डिश का जन्म एक धनी एवं शक्तिशाली परिवार में इंगलैण्ड के नीस नगर में सन् 1731 ई० में हुआ था । वे डेवोनशिर के ड्यूक के पौत्र थे । कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में उनका प्रशिक्षण हुआ था ।

वे धनी एवं शक्तिशाली परिवार के असंतृप्त बुद्धिमान एवं अत्यंत विक्षिप्त बालक थे ।

वे दुबले पतले, ठिगने, नाटी गर्दन और अत्यन्त सौन्दर्य वाले व्यक्ति थे । उनकी आवाज तीखी, पतली किन्तु ओज विहीन थी । फैशन से उन्हें कोई सरोकार नहीं था । उन्होंने कभी चित्रकारों को अपना चित्र बनाने का अवसर नहीं दिया । उनके एक मित्र ने उन्हे अपने यहां भोजन का निमंत्रण देकर धोके से भोजनरत केवेन्डिश का तेलचित्र उस समय के प्रसिद्ध चित्रकार द्वारा बनवा लिया था । वही पूर्वजों के बनवाये हुए कोट, कपड़े वास्केट और बेढंगा टोप-केवेन्डिश का यही एक मात्र था चित्र जिसकी मूल प्रति इंगलैण्ड के संग्रहालय में आज भी सुरक्षित है ।

वे भोजन करते समय निश्चित स्थान पर जूते उतारते थे, निश्चित कोण पर छडी रखते एवं निश्चित खूटी पर टोप उतारते थे ।

वैज्ञानिकों से भी वे केवल ज्ञान की चर्चा करते थे । एक बार ऑस्ट्रिया के विद्वान डाक्टर इनजैनहौंस उनसे मिलने आये, रास्ते में केवेन्डिश के एक मित्र ने उनसे साक्षात्कार करवाया। विद्वान ने अत्यंत कलात्मक ढंग एवं शिष्टाचारपूर्वक वार्तालाप का सिलसिला प्रारंभ किया। केवेन्डिश ध्यानपूर्वक चुपचाप सुनते रहे । कुछ ही क्षण बाद वे उस विद्वान और अपने मित्र को अनिश्चित करते हुए वार्तालाप को अधूरा छोडकर बिना उत्तर दिये नमस्कार करते हुए अपने घर की ओर जाने हेतु बस में तेंजी से दौड़कर चढ़ गये और पीछे मुड़कर भी नहीं देखा ।

नियमितता उनके जीवन में कूट कूट कर भरी थी । रॉयल सोसायटी की मीटिंग में कभी अनुपस्थित नहीं रहे, चाहे ग्रीष्म ऋतु हो चाहे वर्षा । वे कंजूस नहीं थे फिर भी अत्यधिक धनवान विद्वान थे ।

वे अत्यंत व्यवस्था प्रिय थे । अपने स्वयं के पुस्तकालय में से यदि आधे घण्टे के लिए भी पुस्तकें पढने को निकालते थे तो वे रजिस्टर में नियमानुसार अपना नाम लिखते थे, हस्ताक्षर करते थे, आलमारी में रखने के बाद पुस्तक जमा करते थे तथा नाम काट देते थे ।

अपने दैनिक नियमों में तनिक भी परिवर्तन उन्हें असह्य था, शायद ही कभी उनके दैनिक कार्यक्रम में अन्तर आता होगा ।

वे महान वैज्ञानिक थे ।

वे न केवल रसायन शास्त्री ही वरन भौतिक शास्त्री भी थे । ताप एवं विद्युत में उन्होंने कई मौलिक अनुसंधान किये । उन्होंने ही सर्वप्रथम लवण घोलों के वैद्युत तीव्रता एवं परिणाम में अन्तर स्पष्ट किया । उन्होंने विद्युत के प्रसिद्ध सिद्धान्त 'व्युत्क्रम वर्ग नियम' का सर्वप्रथम प्रयोगिक प्रमाण दिया कि रिक्त गोलीय परिचालक के भीतर विद्युत नहीं होती । उन्होंने गुप्त ताप और आपेक्षित ताप पर कई प्रयोग किये तथा ताप के वाह्य भौतिकवादी सिद्धान्त

को अस्वीकृत कर दिया। उन्होंने सर्वप्रथम विचार रखा कि ताप का परिचालन वस्तु के अणुओं की **गति** से सम्बद्ध है। सन् 1795 ई० में उन्होंने न्यूटन के प्रसिद्ध स्थिरांक का अवमूल्यन अपने विचित्र प्रयोग द्वारा सिद्ध किया। इसी प्रयोग के आधार पर उन्होंने पृथ्वी का घनत्व 5.448 ग्राम/घन से० मी० प्राप्त किया।

उन्होंने शीले के पूर्व ही 1764 ई० में आर्सेनिक अम्ल का आविष्कार कर लिया था लेकिन परिणामों को प्रकाशित नहीं किया। इन्हीं ने सर्वप्रथम टार्टर सत्व (KHydrogen-Tartarate) के गुण धर्मो का पता लगाया। उन्होंने नाइट्रिक अमल एवं जल के तुल्य भारी पर भी कई प्रयोग किये थे। उन्होंने हाइड्रोक्लोरिक अम्ल गैस की रचना भी कर ली थी लेकिन वह सर्वदा पानी में घुल जाती है। पानी प्रयोग नली में चढ़ जाता है, प्रीस्टले ने इन जानकारी का लाभ उठाकर पारद पर उसे एकत्र किया और आविष्कार के अधिकारी कहलाये। उन्होंने हाइड्रोजन एवं आक्सीजन को वैद्युत स्फुलिंगों से प्रभावित करते समय प्रीस्टले आदि के समान ही प्रेक्षण किया कि सर्वदा कुछ अम्लीय गैस निश्चित होती है। यह कुछ नहीं बल्कि NO गैस थी। उन्होंने इस पर और अधिक ध्यान दिया परिणामस्वरूप आज वायुमडंल की नाइट्रोजन बड़े परिमाण में अमोनिया, नाइट्रिक अम्ल आदि के निर्माण में काम आकर जन साधारण के उपयोगार्थ प्रवर्तित की जाती है।

इसी दौरान उन्होंने दूसरी महत्वपूर्ण वात यह बताई कि वायु में 1 प्रतिशत गैसें सर्वदा बच जाती है जो पूर्णतया क्रियाहीन है। उनके एक शताब्दी पश्चात् लार्ड रेले ने मालूम किया कि एक प्रतिशत हिस्सा और कुछ नहीं बल्कि वायुमंडल की निष्क्रिय गैसें (He, Ne, Ar, Kr, Ge, Rn) है।

उन्होंने अम्लों और धातुओं के कई प्रयोग किये। उन्होंने यह पाया कि ये निष्क्रिय गैस ओजोन गैस विद्युत स्फुलिंगों की उपस्थिति में विस्फोटक संयोग करती है (संयोग) के पश्चात् पानी उत्पन्न होता है। उन्होंने हाइड्रोजन के आविष्कारों के साथ ही यह बताया कि जल तत्व नहीं वरन यौगिक है। उन्होंने 500000 ग्रेन हाइड्रोजन से 1250000 ग्रेन वायु को मिश्रित कर पता चलाया कि इससे 135 ग्रेन पानी बनता है।

उन्होंने यह ज्ञात किया कि सम्पूर्ण वायु हाइड्रोजन से क्रिया नहीं करती बल्कि कुछ निष्क्रिय भाग बच जाता है उन्होंने इस मिश्रित हिस्से में नाइट्रोजन का प्रतिशत भी ज्ञात किया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि 2 भाग हाइड्रोजन 1 भाग आक्सीजन मिलकर सर्वदा एक भाग जल की वाष्प बनाते हैं।

केवेन्डिश ने ऐसे ही अनेकों प्रयोग किये हैं जो अन्धकार के गर्त में पडे हुए हैं। वे मौन साधक और औपचारिक थे परिमाणात्मक कार्यों, संचित तथा प्रत्यक्ष प्रयोगों पर वह विश्वास करते थे। वास्तव में लेवोजियर, प्रीस्टले आदि कई वैज्ञानिकों से प्रयोगों को वे एकांत में बिना प्रकाशन किये बहुत पहले कर चुके थे। उनकी शर्म, एकान्त प्रियता एवं मौन साधना ने उनकी कई खोजों का मूल अनुसंधानकर्ता नहीं कहलाने दिया। आशा के विपरीत साधारण जनजीवन से दूर वे केवल इनेगिने वैज्ञानिकों के सम्पर्क में ही रहते थे वे अपनी धुन, मानसिक लहरों और अपने पागलपन के लिये प्रसिद्ध थे।

वे अपनी लगन के पक्के थे। नियमितता उनके जीवन में कूट कूट कर भारी थी वे कजूंस नही थे भिर भी अत्यधिक विद्वान थे।

वे बहुत कम बोलते थे। उन्हें किसी प्रकार की मित्रता, शिष्टाचार एवं गपशप पसंद न थी।

वे अत्यंत शर्मीले थे। वे जीवन भर अविवाहित रहे। स्त्रियों से तो उन्हें भय लगता था। गृह व्यवस्थापिका से वे पत्री द्वारा बातचीत किया करते थे। अन्य गृह दासियां उनकी आंखों के सामने आने से डरती थी। वे उन्हें देखकर अपने कक्षा में छिप जाया करते थे या उन्हें निकाल देते थे।।

वे धन के प्रति निरपेक्ष थे उनके नाम बैंक में एक पौण्ड जमा थे। बैंक के सदस्यो ने उन्हें पैसों का उचित

(शेष पृष्ठ 30 पर)

दैत्याकार पूँछ की कहानी

1973 में अमेरिका के पायोनियर अन्तरिक्षयान ने बृहस्पति ग्रह तक उड़ान की और चित्र पृथ्वी पर भेजा। बृहस्पति ग्रह का समीप से लिया गया यह प्रथम चित्र था।

1976 के मार्च माह में पायोनियर अन्तरिक्षयान सूर्य-मण्डल से बाहर की अपनी यात्रा के समय शनिग्रह की कक्षा से उड़ान करते हुए पुनः बृहस्पति की चुम्बकीय पूंछ के प्रभाव में आया।

पृथ्वी अथवा बृहस्पति जैसे किसी भी ग्रह की चुम्बकीय पूंछ एक प्रकार के चुम्बकीय आवरण का विस्तार मात्र होता है जो ग्रह को उसके चुम्बकीय क्षेत्र सहित चारों ओर से घेरे रहता है। सौर-आंधियों के वेग के कारण चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा ग्रह के पीछे (सूर्य से दूर) की ओर रहती है। ये सौर-आंधियां 16 लाख किलोमीटर प्रति घण्टे की गति से लगातार चलती रहती हैं।

बृहस्पति की पूंछ बहुत ही विशाल है। यह 69 करोड़ किलोमीटर लम्बी है जब कि पृथ्वी की पूंछ 60 लाख किलोमीटर लम्बी है। पायोनियर की खोज के अनुसार बृहस्पति की पूंछ सदैव शनिग्रह की कक्षा की ओर बढ़ती रहती है। जब अन्तरिक्षयान इस पूंछ से गुजरा तब इसके उपकरणों ने सौर-आंधी को गति 'शून्य' अंकित की (चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा सौर-आंधी को पूंछ से बाहर ही रखती है)।

इस खोज का सबसे आकर्षक पहलू बृहस्पति ग्रह की पूंछ का शनिग्रह पर पड़ने वाला सम्भावी प्रभाव है। हर बीस वर्ष बाद, शनिग्रह, जहां तक सूर्य से सम्बन्ध है, बृहस्पति के पीछे की ओर आ जाता है और तब बृहस्पति की यह पूंछ शनिग्रह तक पहुँच जाती है। परन्तु, इन दोनों ग्रहों का परस्पर चुम्बकीय प्रभाव कभी दृष्टिगत नहीं हुए हैं। 'नासा' के पायोनियर सम्बन्धी वैज्ञानिक, जोन वोल्फ, का कहना है—"बृहस्पति की पूंछ और शनि की बाह्य विकिरण पट्टी के परस्पर मिलने से होने वाले प्रभाव अवश्य ही आकर्षक होंगे।"

अप्रैल, 1981 में ये ग्रह फिर एक सीध में आयेंगे। तब, अमेरिकी वैज्ञानिक अन्तरिक्षयान से इसके प्रभावों का अध्ययन करेंगे।

हारमोनों के प्रयोग द्वारा कीट-पतंगों का नियन्त्रण

प्रतिरोधी कीट-हारमोनों के प्रयोग द्वारा कीड़े-मकोड़ों पर नियन्त्रण पाने की एक नवीन विधि का विकास किया गया है। न्यूयार्क राज्य कृषि परीक्षण-स्टेशन के वैज्ञानिक डा० विलियम एस० बोवर्स ने इसका विवरण केमिकल सोसाइटी की वार्षिक बैठक में प्रस्तुत किया।

कीटों के प्राकृतिक प्रतिहारमोनों के प्रयोग से अवांछनीय कीटमारक दवाओं का प्रयोग समाप्त हो जायेगा।

'प्रेकोसेन—1' और प्रेकोसेन—2' नामक इन प्रति-हारमोनों द्वारा कीटों में नये हारमोनों का बनना रुक जाता

है और कीटों की प्रजनन क्षमता नष्ट हो जाती है। झींगुर, मैक्सिकन सेम, कपास, सेव आदि के कीटों पर किये गये परीक्षण पूर्ण सफल रहे हैं।

एक प्राकृतिक कीटनाशक दवा का विकास

पौधों में भी अपनी प्रतिरोधक क्षमता होती है। पशुओं में इसे रोगक्षम (प्रतिदेही) प्रणाली कहा जाता है, जिससे वे फफूंद और जीवाणुओं से अपनी रक्षा करते हैं।

अब कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के एक वैज्ञानिक को फफूंद से एक रासायनिक पदार्थ विलग करने में सफलता मिली है जो पौधों के लिए विजातीय सिद्ध हुआ है। यह पदार्थ पौधों की प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि करता है।

अमेरिकी केमिस्टों की एक बैठक में, डा० पीटर अलवशेम ने बताया "पौधों और उनके परजीवियों के मध्य एक प्राकृतिक परस्पराश्रित क्रिया पर आधारित यह एक प्रकार की प्रथम नवीन कीटनाशक दवा सिद्ध होगी।"

उन्होंने इस पदार्थ को फफूंद की कोशिका-भित्ति से विलग किया है जो सोयाबीन में रोग उत्पन्न करता है। अलवशेम के अनुसार 'बेटा-ग्लूकान' नामक यह पदार्थ जब पौधे में दिखायी देता है, तब यह इस बात का संकेत है कि पौधे को फफूंद रोग लगने वाला है।

यह पदार्थ पौधे में 'फाईटोअलेक्सिन' नामक प्राकृतिक रसायन का निर्माण करता है जो फफूंद, जीवाणु और सम्भवतः कीटों और विषाणुओं को पनपने नहीं देता।

लेखकों से निवेदन—
केवल मौलिक रचना ही भेजें रचना के साथ काली स्याही से बना चित्र अवश्य भेजें रचना काग़ज़ के एक ही ओर हो और टाइप की हुई हो।

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ०/3/5/

भाग 115 संख्या 6-7 सं० 2034 विक्र० जून-जुलाई 1978

सम्पादकीय

प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए सरकार की योजना थी कि लगभग 100 करोड़ रुपया व्यय करके छठवीं पंचवर्षीय योजना में 4·55 करोड़ बच्चों को जिनकी अवस्था 6-14 वर्ष है स्कूल भेजा जायगा। देश में साक्षरता का विस्तार करने के लिए निश्चय ही यह वृहत योजना है और इसके कार्यान्विन से देश में शिक्षा का सम्भावित प्रसार हो सकेगा। विदेशी शासनकाल में अधिकांश जनसंख्या निरक्षर ही थी। स्वाधीनता के पश्चात् कुछ प्रगति हुई पर अभी भी निरक्षरों की संख्या बहुत है। जो पहले न पढ़ सके और उनकी अवस्था भी काफी हो चुकी है उनको अब शिक्षित करना सम्भव नहीं। प्रौढ़ शिक्षा के अन्तर्गत जितने अधिक लोग शिक्षित किये जा सकें उतना हो अच्छा है। शिक्षा मंत्रालय के एक कार्यकारी समूह के अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है कि इस अवधि में केवल 3·6 करोड़ बच्चे ही स्कूल भेजे जा सकेंगे और शेष 1·35 करोड़ बच्चों को स्कूल भेजने का प्रबन्ध करने में दो अतिरिक्त वर्ष लगेंगे। इस समय लगभग 8·5 करोड़ बच्चे प्राथमिक पाठशालाओं में पढ़ते हैं और वर्ष से अन्त तक यह संख्या लगभग 10 करोड़ पहुँचने की सम्भावना है। जो बच्चे अभी स्कूल नहीं जाते उनमें अधिकांश हरिजन, आदिवासी तथा भूमिहीन किसानों के बच्चे हैं। इनमें से $\frac{2}{3}$ लड़कियां है। यह आवश्यक है कि उस दिशा में कदम उठाये जाय कि इन परिवारों को सुविधा मिले ताकि उनसे बच्चे भी स्कूल जा सकें। आर्थिक अभाव प्राथमिक शिक्षा के लिए उतना महत्वपूर्ण कारक शायद नहीं है जितना कि सामाजिक अथवा परिवार की अज्ञानता है। विशेषकर लड़कियों की शिक्षा के बारे में यह परिवार सामाजिक स्थिति के कारण ही रूढ़िवादी विचारधारा अपनाये हुए हैं। इन परिवारों की लड़कियां जो शिक्षा पाती हैं उनका प्रतिशत बहुत ही कम है। उच्च शिक्षा में तो नगण्य सा है। जिन परिवारों में कोई सदस्य उच्च पद पर पहुँच गया है, वह भी वरीयता के कारण, उनके परिवारों के बच्चे चाहे पढ़ गये हों शेष के यहाँ तो बच्चों की शिक्षा पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। स्कूल में नाम लिखाते भी हैं तो बाद में थोड़ा बड़ा होते ही छोड़ देते हैं क्योंकि या तो खेत में काम करने लगते हैं या पिता के व्यवसाय में लग जाते हैं। शिक्षा के अभाव में उनका मानसिक विकास नहीं हो पाता। वह किसी भी विद्यार्थी की तुलना में उतनी ही प्रगति दिखा सकते हैं यदि उन्हें समुचित अवसर प्रदान किया जाय। अतएव अधिक से अधिक बच्चों को स्कूल भेजना और उन्हें शिक्षित करना हमारा परम कर्तव्य है।

भारतीय विज्ञान के भीष्मपितामह–डॉ रमन

● इन्द्र मोहन लाल दास

विश्वविख्यात नोबेल पुरस्कार विजेता वैज्ञानिक डा० चान्द्रशेखर वेंकट रमन विज्ञान की उन विभूतियों में से थे जिन्होंने विश्व के रंगमंच पर भारत तथा भारतीय विज्ञान को प्रतिष्ठापित कर उसे असीम यश का भागीदार बनाया। कई दशकों तक डा० रमन अपने मोलिक एवं प्रतिभापूर्ण अनुसंधानों के द्वारा भारतीय वैज्ञानिकों का अनुप्रेरित करते रहे। विज्ञान जगत विशेष कर भारतीय विज्ञान उनके आकस्मिक निधन से काफी गरीव हो गया। तद्यपि डा० रमन अब नहीं रहे किन्तु उन्होंने जो उदाहरण स्थापित किये वह युग-युग तक भारतीय वैज्ञानिकों के लिए प्रेरणा के श्रोत रहेंगे।

प्रारम्भिक जीवन :- डा० रमन का जन्म 7 नवम्बर 1888 ई० को त्रिचनापल्ली के एक कुलीन-शिक्षित ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पूर्वज पीढ़ियों से कृषि-कार्य करते थे ओर मध्म श्रेणी के थे। वास्तव में डा० रमन के पिता आर० चन्द्रशेखर अय्यर ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अपने परम्परागत जीविकोपार्जन के साधन का परित्याग कर अध्यापन कार्य में लग गये। प्रारम्भ में वे हाई स्कूल के शिक्षक थे किन्तु परिश्रम एवं दृढ़ अध्ययवसाय से वे लगातार प्रोन्नतिपाते हुए अन्त में हिन्दू महाविद्यालय विशाखापत्तनम् में भौतिकी के प्राध्यापक नियुक्त हुए। वे गणित, ज्योतिष ओर संगीत के अच्छे विद्वान थे।

डा० रमन बचपन से ही पढ़ने में काफी तेज थे। कुशाग्र बुद्धि वाले रमन ने 12 वर्ष की अल्पायु में ही मेट्रिक परीक्षा पास की। कहा जाता है कि जब वे स्कूल में पढ़ते थे उस समय ही उन्होंने प्रोटोटाइप डायनेमों का डिजाइन तैयार किया था। उनकी अल्पायु एवं विलक्षण प्रतिभा देखकर उनके शिक्षक भी हैरान थे। ए० एफ० एवं बी० ए० के परीक्षा में उन्होंने प्रथम स्थान प्राप्त किया। 1904 ई० में ये विश्वविद्यालय के सर्वश्रेष्ठ छात्र के रूप में प्रकट हुये ओर अनेक पुरस्कार एवं पारितोषिक प्राप्त किया जिनमें अर्जी जागीरदार स्मृति स्वर्ण पदक तथा एलिकिस्टन पदक प्रमुख हैं। गहन एवं विस्तृत ज्ञान की खोज में रमन विज्ञान के विभिन्न विषयों पर वर्गीकृत रचनाएं पढ़ने लगे और घंटों उसमें उलझे रहते। इस अविरल प्रयास का उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

एक दिन रमन कोई प्रयोग कर रहे थे कि उन्हें एक विचित्र का सामना करना पड़ा। उनका जिज्ञायु मस्तिष्क इसका उत्तर खोजने के लिए व्यग्र हो उठा। उन्होंने कई पुस्तकें पढ़ डाली किन्तु समस्या ज्यों की त्यों बनी रही। दूसरे दिन उन्होंने उस प्रयोग को पुनः दोहराया ओर एक अपनी परिकल्पना दी। उन्होंने परिकल्पना को लिपिवद्ध कर अपने प्राध्यापक जोन्स को दिया। महीनों बीत गए किन्तु प्राध्यापक ने उस पर कोई टिप्पणी नहीं की। अतः उन्होंने उसे प्राध्यापक से लेकर तथा उसे परिवर्द्धित कर 'ब्रिटिश सांइस मैगज़ीन' में प्रकाशित कर दिया। जल्द ही उन्हें अपने साथियों द्वारा उठायी गई अनेक समस्याओं का सामना पड़ा जिसके उत्तर में उन्होंने पुनः दूसरा लेख लंदन के 'दी फिलोसाफिकल मैगज़ीन' में 1906 ई० में लिखा। उनका तीसरा लेख 1907 ई० में 'दी नेचर' में प्रकाशित हुआ। जनवरी 1907 में उन्होंने एम० ए० (भौतिकी) में प्रथम स्थान प्राप्त किया और उच्च अध्ययन के लिए ब्रिटेन जाने वाले थे किन्तु स्वास्थ्य खराब होने के कारण ऐसा नहीं हो सका।

जीवन क्षेत्र में प्रवेश : अपने दोस्तों और संबंधियों के दबाव में आकर रमन फरवरी 1907 ई० में इतिहास तथा अर्थशास्त्र के विषय लेकर वित्त परीक्षा में बैठे और प्रथम स्थान प्राप्त किया। इसी वर्ष वे वित विभाग में डिप्टी एकाउण्टन्ट जनरल के पद पर नियुक्त हुए। आकर्षक वेतन सुर्युग्य पत्नी और सुन्दर आवास पाकर सामान्य मनुष्य अमन चेन की वंशी बजाने लगता है। लेकिन रमन का ध्यान अब भी विज्ञान की गहराईयों में डूबा हुआ था।

एक दिन सायंकाल जब वे अपने कार्यालय से लौट रहे थे उनका ध्यान दीवार पर लगे एक नामपट्ट पर जा टिकी-दी इंडियन एसोसिएशन फार दी कल्टिवेशन ऑफ साइंस। वे तुरन्त ही उस मकान की ओर चल पड़े। रमन को एसोसिएशन कार्यकर्त्ताओं से परिचित होने में कोई विशेष समय नहीं लगा। यहां उन्हें वैज्ञानिक प्रयोग करने का सुअवसर मिला। कलकत्ता विश्वविद्यालय के उप-कुलपति तथा एसोसिएशन के सक्रिय कार्यकर्त्ता सर आशुतोष मुखर्जी इनके कार्य से काफी प्रभावित हुए।

सरकारी नौकरी में रहते हुए भी वे वैज्ञानिक प्रयोगों एवं विज्ञान की नई उपलब्धियों के लिए काफी सम्मान का भाव रखते थे। वे हमेशा अधिक और अधिक जानने के लिए उत्सुक रहते थे। 1910 ई० में इनकी बदली रंगून हुई। जब वे वहां थे उसी समय इनके कानों तक समाचार पहुंचा कि यहां के किसी संस्थान ने एक नया उपकरण प्रस्तुत किया है। फिर क्या था वे आधी रात को उस संस्थान के निर्देशकों के यहां पहुंचे और सुबह होने तक उस यंत्र का ध्यान पूर्वक निरीक्षण करते रहे। पिता के देहावसान के बाद उन्होंने प्रेसीडेन्सी कालेज मद्रास में शोध कार्य करने का निश्चय किया किन्तु कुछ ही दिनों बाद इनकी बदली नागपुर हो गई और इस प्रकार इनका अनुसंधान कार्य कुछ दिनों के लिए रुक गया।

उनका व्यक्तित्व और विचार दोनों ही काफी ओजस्वी एवं प्रभाव कारी थे। एक छोटी सी कहानी है जिसे नागपुर के लोग अब भी सुनाते हैं। एक बार अग्निकाण्ड में किसी ग्रामीण का 100 रु० का बंडल लगभग जल गया। वह उसे बदलने के लिए कई जगह गया किन्तु किसी ने उसकी मदद नहीं की। वह अन्त में डा० रमन के पास आया। उन्होंने विशालक कांच की सहायता से एक-एक कर सभी रुपयों का परीक्षण कर कोषपाल को निर्देश दिया 'उसे नये रुपये दे दो, नम्बर स्पष्ट दीख पड़ रहे हैं'। यद्यपि यह घटना काफी छोटी है तथापि यह उनकी वैज्ञानिक कार्य पद्धति को भली-भांति दर्शाती हैं।

विज्ञानवेत्ता रमन का प्रादुर्भाव : 1917 ई० में सर आशुतोष मुखर्जी ने उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय में भौतिकी का प्राध्यापक नियुक्त किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय की भौतिकी प्रयोगशाला विज्ञान के उपासक रमन के जीवन का अंग बन गई। 1919 ई० में वे "दी इण्डियन एसोसियशन फार दी कल्टिवेशन आफ साइंस" के सचिव चुने गये।

डा० रमन की वैज्ञानिक खोजों में "रमन प्रभाव" अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। डा० रमन द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त का विज्ञान जगत में काफी महत्व है। इस खोज की भी अपनी एक कहानी है। 1921 में लन्दन में ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के देशों के विश्वविद्यालयों के सम्मेलन के लिए वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में प्रथम बार विदेश गये। जब उनका जलयान भूमध्य सागर से गुजर रहा था, वे जहाज के डेक पर खड़े होकर चारों ओर के दृश्यों का सिंहावलोकन कर रहे थे। अचानक सागर की नीली लहरों ने वैज्ञानिक रमन को चिन्तन की गहराईयों में ढ़केल दिया। वे सोचने लगे-पानी नीला क्यों दीखता है और वे इस प्रश्न का उत्तर खोजने में मुस्तैदी से जुट गए। उन्होंने सैकड़ों प्रयोग किए। प्राप्त परिणामों के आधार पर उन्होंनेजिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसे प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक भिंगशियम ने "रमन प्रभाव" की संज्ञा दी और तब से यह इसी नाम से जाना जाता है।

रमन प्रभाव: एक सरल विवेचना—रमन ने देखा कि जब प्रकाश का किरणपुंज किसी पारदर्शक माध्यम (ठोस,

द्रव या गैस) से गुजरता है तो उसका कुछ भाग प्रकीर्णित हो जाता है। यदि किसी पदार्थ को केवल एकही आवृत्ति के प्रकाश द्वारा प्रकाशित किया जाता है तो उससे अनेक आवृत्तियों वाले प्रकाश का प्रकीर्णन होता है। प्रकीर्णित प्रकाश की आवृत्ति आपतित प्रकाश की आवृत्ति से भिन्न होती है। प्रकीर्णित प्रकाश की तीव्रता कम होती है और इसे "रमन प्रकाश" कहते हैं। चूंकि साधारणतः प्रकीर्णित प्रकाश की मात्रा बहुत कम होती है। अतः उन्होंने उसके वर्णपट्ट (स्पेक्ट्रम) जो अवरक्त (इन्फ्रा रेड) क्षेत्र में पड़ता है, का परीक्षण करने के लिए एक विशेष युक्ति अपनायी। उन्होंने जल से ठंढ़ा किए हुए ट्यूब में एक द्रव लिया। उसे मर्करी लैम्प से प्रकाशित कर स्पेक्ट्रोग्राफ के सामने रख किया। इस प्रकार जो वर्णपट्ट हुआ इसे रमन वर्णपट्ट की संज्ञन दी गयी। उन्होंने मर्करी लैम्प के प्रकाश पट्ट की सहायता से विविध वर्णीव (स्पेक्ट्रल) प्रभावों का अध्ययन किया।

क्वान्टम सिद्धान्त के आधार पर रमन प्रभाव की जा चुकी है। किसी खास आर्वृत्तित के लिए प्रकाश के लिए प्रकाश के किसी भी क्वान्टम की उर्जा $\triangle E$ निम्न-लिखित समीकरण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है:

$$\triangle E = h\nu$$

जहां h प्लान्क का नियतांक है। यदि आपतित प्रकाश की उर्जा $h\nu_1$ हो जिसका कुछ भाग अणु के अन्दर उपस्थित परमाणुओं के विस्थापन में प्रयुक्त हुआ, जिससे प्रकीर्णित प्रकाश की उर्जा $h\nu_2$ हो जाता है और इस प्रकार वर्णपट्ट में नयी रेखाएं उपस्थित हो जाती हैं जो रमन रेखाएं कहलाती हैं। अतः वह घटना जिसके फलस्वरूप प्रकीर्णित प्रकाश की आवृद्धि आपतित प्रकाश की आवृत्ति से कुछ भिन्न हो जाता है तथा अणु के अन्दर परमाणुओं के दोलन में भिन्नता आ जाती है "रमन प्रभाव" कहलाती है। आवृत्ति $(\nu_1 - \nu_2)$ रमन आवृत्ति कहलाती हैं।

पदार्थ के अणुओं तथा प्रकाश स्रोत से आने वाले प्रकाश के फोटोनों के बीच ऊर्जा विनिमय होने के कारण "रमन प्रकाश" का प्रकीर्ण होता है। जो फोटोन अणुओं से उर्जा ग्रहण कर लेते हैं वे अधिक आवृत्ति के साथ निकलते हैं, और जो फोटोन अणुओं को उर्जा प्रदान करते हैं, उनमें उर्जा का क्षय होता है और उनकी आवृति कम हो जाती है। यही रमन प्रभाव है।

रमन प्रभाव के निरीक्षण के सरल साधित्र: रमन प्रभाव के निरीक्षण के लिए साधारणतया निम्नलिखित वस्तुएं आवश्यक हैं:

(1) आपतित विकिरण स्रोत के रूप में मर्करी लैम्प का व्यवहार किया जाता है। आपतित विकिरण को एक वर्णीय (मोनोक्रोमेटिक) बनाने के लिए छनक यथा सोडियम नाइट्रेट विलयन या कोबाल्ट सल्फोक्रिरेट व्यवहृत किया जा सकता है। (2) प्रकीर्णिन पदार्थ रखने के एक ट्यूब जो रमन ट्यूब कहलाता है तथा (3) प्रकीर्णित प्रकाश की तीव्रता कम होती है अतः एक उच्च शक्ति वाला स्पेक्ट्रोग्राफ चाहिए। वर्णपट्ट को किसी ग्लास स्क्रीन या फोटोग्राफिक प्लेट पर अंकित किया जा सकता है।

रमन प्रभाव का महत्व:- "रमन प्रभाव" का क्या महत्व है यह इसी बात से प्रदर्शित होता है कि 1973 तक इस पर 6000 से अधिक मौलिक शोघ पत्र विभिन्न विश्व-विद्यालयों द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है। खोज के पहले दशक में ही 2500 से अधिक विभिन्न रासायनिक पदार्थों के विश्लेषणात्मक अध्ययन में इस नियम का व्तवहार किया गया। इसके द्वारा भौतिकी एवं रसायन शास्त्री की अनेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया किया जा चुका है। इसके द्वारा अणुओं के अवयवात्मक एवं संरचनात्मक गठन, समाववता (isomerism) अणुओं की पारस्परिक प्रतिक्रिया, रासायनिक वाण्ड्स विद्युतीय विवन्धन इत्यादि अभिक्रियाओं का सफलतापूर्वक अध्ययन किया जा चुका है। इस खोज के पहले इन्फारेड वर्णपट्ट के अध्ययन में काफी दिक्कत का सामना पड़ता था क्योंकि यह ऐसे क्षेत्र में पड़ता है जहां फोटोग्राफिक प्लेट संवेदन शील नहीं है। पदार्थों की अणु संरचना के निर्धारण के लिए

इसका काफी व्यवहार होता है। लेसर किरणों के आविष्कार ने इस क्षेत्र में होनें वाली प्रगति को काफी बढ़ा दिया है। लेसर का प्रकाश श्रोतों के रूप में व्यवहृत होने से रमन स्पेक्ट्रोस्कोपी विश्लेषणात्मक एवं संरचनात्मक रासायनज्ञों का एक महत्वपूर्ण साधन बन गया है। लेसर रमन स्पेट्रोस्कोपी एक अलग विज्ञान के रूप में उभर कर सामने आ रहा है, 1930 ई० में वे अपनी इस खोज के लिए भौतिकी में नोबल पुरस्कार प्राप्त किया। वे इस क्षेत्र में पुरस्कार पाने वाले प्रथम एशियाई थे।

जर्मन फिजिकल सोसाइटी के आग्रह पर उन्होंने 'हैण्डवुक ऑफ फिजिक्स' के लिए वाद्य यत्रों पर एक विस्तृत लेख लिखा। उन्होंने भारतीय वाद्या यंत्रों पर इस लेख में विस्तार से लिखा। उन्होंने मृदंग वीणा इत्यादि वाद्य यंत्रों से निकलने वाले स्वर एवं कम्पन पर गहन अनुसंधान कर उनका गणित ज्ञात किया। ध्वनिकी को इनकी प्रमुख देन है, ध्वनि की प्रवृत्ति पर मौलिक एवं नवीन शोध प्रबन्ध: दी अनसिमिट्रकल डिफ्रेक्शन वैण्डस ड्यू टू ए वेक्टेंग्यूलर अपरचर।

एक और नया आविष्कार:- रमन के लिए संसार का सबसे आश्चर्यजनक वस्तु था-रंग। वे नदी, सागर पहाड़ इत्यादि के रंगों को देखते और सोचते ये रंगीन क्यों दिखाई पड़ते हैं? इन रंगों का विकास कैसे हुआ? इन्द्रधनुष को रंगीन छटा हम नित्य ही देखते हैं किन्तु क्या कभी आपने यह कल्पना भी की है कि हमारे नेत्र विभिन्न रंगों की अनुभूति कैस करते हैं। रमन ने इस रहस्य को सुलझाया ही नहीं बल्कि एक नया दृष्टि-विधान प्रस्तुत किया। उनका कहना है 'रंगानुभूति का सम्बन्ध भौतिक विज्ञान' शरीर विज्ञान तथा मस्तिष्क विज्ञान से है। जब दृष्टि पटल रेटिना फोटोप्लेट की तरह प्रत्येक वस्तु का चित्र अंकित करती है तो वह भौतिक विज्ञान का प्रतिनिधित्व करती है। हमारी आखें केवल तीन मूलभूत रंगों में ही भेद कर सकती है'—इस परम्परागत सिद्धान्त को चुनौती दी और कहा 'वृहतवर्णक्रम में हमारी आंखे चौथे की भी अनुभूति कर सकती है और सैकड़ों शेड्स में भिन्नता कर सकती है।' उन्होंने स्वयं कहा 'यह एक युगान्तकारी खोज है जिसने प्रचलित सिद्धान्तों का खोखलापन सदा-सदा के लिए खत्म कर दिया।' श्री वी० टी० श्रीनिवासन ने इस पर तुरन्त टिप्पणी की 'तब तो आपको पुन: नोबल पुरस्कार मिलनी चाहिए।' रमन छुटते ही उत्तर दिए, 'लेकिन इसे महसूस करने में नोबल पुरस्कार समिति को अभी 20 वर्ष से अधिक समय लगेगा।' ऐसे आत्म विश्वास के धनी थे हमारे डा० रमन। वे जीवन के अन्तिम क्षण तक रंगों पर अध्ययन करते रहे। मृत्यु से दो वर्ष पूर्व उन्होंने 'फिजियोलाजी आफ वीजन' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित किया।

1948 ई० में उन्होंने रमन अनुसंधान संस्थान, बंगलोर की स्थापना की जिसके वे आजीवन सदस्य रहे। रंगीन वस्तुएं उनके वैज्ञानिक मस्तिष्क को सदा कुछ न कुछ कार्य करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने अपने संस्थान में 'किस्टलोग्राफिक एण्ड मिनरलॉजिकल म्यूजियम' स्थापित किया और नोबल पुरस्कार की काफी रकम खर्चकर 300 से ऊपर रंगीन हीरे खरीद कर उसमें रखा। एक बार उन्होंने पेरिस में घूमते हुये एक दुकान में दो रंगीन मधुमक्खियां देखीं। उन्होंने तुरन्त उन्हें खरीद लिया। कुछ दिनों बाद उन्होंने उसका संग्रह बनाने का निश्चय किया। थोड़े समय पश्चात् उनके संग्रहालय में विभिन्न प्रकार की हजारों मधुमक्खियां एकत्र हो गई। उन्होंने उस पर रंग और प्रकाश संबंधी विभिन्न प्रयोग किये और कुछ काल पश्चात् रवा संबंधी महत्वपूर्ण शोध पत्र प्रकाशित किया।

शांति-प्रिय रमन : अन्य वैज्ञानिकों की तरह वे भी युद्ध की विभीषिका से त्रस्त थे। वे यह नहीं चाहते थे कि सत्ता लोलुप निहित स्वार्थ वाले कुछ लोग वैज्ञानिक उपलब्धियों का प्रयोग मानवता के विरुद्ध करें। प्राय: कुछ वैज्ञानिक ऐसे भी आविष्कार कहते हैं जिसका प्रयोग मानव के लिए विरुद्ध हो सकता है किन्तु डा० रमन ने ऐसा एक भी आविष्कार नहीं किया। फलत: इन्हें रूस सरकार ने 1958 ई० में प्रथम लेलिन शांति पुरस्कार देकर सम्मानित किया।

रमन के ओजस्वी विचार : वे अन्तरिक्ष अन्वेषण के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि अभी हम अपने ही ग्रह के बारे में बहुत कम जान सके हैं। अन्तरिक्ष अन्वेषण तो समय एवं साधन का दुरुपयोग मात्र है। वे सरलता एवं सादगी के पक्षपाती थे। वैज्ञानिक खोजों पर करोड़ों रुपये खर्च करने के वे विरुद्ध थे। उनका विश्वास था वैज्ञानिक खोज के लिए खर्चीले उपकरणों की उतनी आवश्यकता नहीं जितना कि सरलता एवं लगनशीलता की आवश्यकता है। उनका कहना था कि शाहजहां अपने प्रेयसी को दफनाने के लिए ताजमहल बनाया। उसी तरह वैज्ञानिक साज समानों को दफनाने के लिए राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं का निर्माण किया गया है। वे विज्ञान को राजनीति से पूर्णतया अलग रखने के पक्ष धर थे। जब भी किसी सम्मेलन या संस्थान में राजनीतिज्ञों का प्रवेश होता वे बहिष्कार करते। जब उनसे पूछा गया 'प्रत्येक वर्ष भारतीय विज्ञान कांग्रेस का सम्मेलन होता है किन्तु आप उसमें भाग नहीं लेते हैं। क्यों उन्होंने कहा' क्या आप किसी ऐसे देश का नाम बता सकते हैं जहां विज्ञान कांग्रेस का उद्घाटन राजनेता करते हों। हमारे देश में इसका उद्घाटन अब तक नेहरू या श्रीमती गांधी जैसी राजनेता ही करते थे। फिर आप स्वयं सोच सकते हैं कि आत्म सम्मान के धनी वैज्ञानिक उसमें कैसे जा सकते हैं।'

रमन को अपनी मातृभूमि से अपार प्रेम था। उसकी सेवा ही उनका धर्म था। वे उन सभी वैज्ञानिकों उपलब्धियों को निरर्थक समझते थे जो राष्ट्र एवं राष्ट्र की जनता का कल्याण करने में असमर्थ हैं। महान वैज्ञानिक होते हुए भी उनको प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति पर अटूट विश्वास था। उनका कहना था 'भारतीय दर्शन विज्ञान पर आधारित सच्चा दर्शन है। जहां वे अन्य विश्वास एवं रूढ़िवादिता के विरोधी थे वहीं परम्परा के प्रति उनका अगाध विश्वास था। जब वे स्टाकहोम नोबल पुरस्कार ग्रहण करने गये तो उनके सम्मान में भोज आयोजित हुआ। भोज में शराब भी परोसी गई। उन्होंने जाम पीने से इन्कार कर दिया। तभी किसी ने मजाक किया 'हमने शराब पर रमन प्रभाव सुबह देख लिया है अब रमन पर शराब का क्या प्रभाव पड़ता है यह भी देखना चाहते हैं।' वातावरण कहकहों से गूंज उठा।

प्रकृतिवादी रमन : विज्ञानवेत्ता प्रकृति की रचनाओं से वास्ता रखता है। वह उसकी कार्य विधि समझने एवं शब्दों में उसका वर्णन करने का प्रयत्न करता है। प्रकृति से वह जितना ही दूर हटता जाता है, उसके प्रयत्न की उपयोगिता भी प्रायः उतनी ही घटती जाती है। कभी-कभी वैज्ञानिक कौड़ी कल्पना की उड़ाने भी भरता है लेकिन तब यथार्थ की ठोस चट्टानें से टकरा कर कष्ट पाता है—ये विचार हैं डा० रमन के। वे आजीवन प्रकृति के रहस्यों से उलझे रहे और उसे सुलझाने का प्रयत्न करते रहे।

योग्य प्रशिक्षक : वे एक उच्च कोटि के प्रशिक्षक थे। जिन्होंने भारतीय वैज्ञानिक का एक दल तैयार किया, उन्हें वैज्ञानिक प्रशिक्षण दिया तथा नवीन अनुसंधान के लिए प्रेरित किया। प्रायः भारत के सभी बड़े वैज्ञानिक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से डा० रमन से सम्बन्धित रहें हैं, उनमें प्रमुख हैं :

(1) स्वर्गीय डा० भाभा—अध्यक्ष भारतीय परमाणु ऊर्जा आयोग तथा अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा आयोग।

(2) स्वर्गीय डा० विक्रम सारा भाई—अध्यक्ष भारतीय परमाणु ऊर्जा आयोग।

(3) स्वर्गीय डा० के० एस० कृष्णन्—निर्देशक, राष्ट्रीय भौतिकी प्रयोगशाला।

(4) स्वर्गीय डा० पी० नीलकान्तम्—प्रथम निर्देशक, राष्ट्रीय वैज्ञानिक प्रयोगशाला, बंगलोर।

(5) डा० आर० एस० कृष्णन्—भौतिकी विभागाध्यक्ष, भारतीय विज्ञान संस्थान बंगलोर।

(6) प्रो० ए० जयरामन्—भ्रमणशील वैज्ञानिक, राष्ट्रीय वैज्ञानिक, राष्ट्रीय वैज्ञानिकी प्रयोगशाला, बंगलोर जो अब बेल टेलीफोन प्रयोगशाला, अमेरिका से अवकाशा पर हैं।

(7) डा० एम० जी० मेनन—भूतपूर्व निर्देशक, टाटा मौतिक अनुसंधान संस्थान, बम्बई एवं भूतपूर्व अध्यक्ष, भारतीय अन्तरिक्ष अनुसंधान-संगठन ।

(8) प्रो० एस० भगवन्तम्—भूतपूर्व वैज्ञानिक सलाहकार, प्रतिरक्षा मंत्रालय, भारत सरकार ।

(9) डा० एस० रामाशेषम्—उपनिर्देशक, राष्ट्रीय वैज्ञानिकी प्रयोगशाला, बंगलोर ।

(10) प्रो० जी० एन० रामचन्द्रन्—भूतपूर्व भौतिकी विभागाध्यक्ष, मद्रास विश्व-विद्यालय तथा सम्प्रति जीव विज्ञान विभाग, भारतीय विज्ञान संस्थान, बंगलोर में प्रोफेसर और फेलो, रायल खोसाइटी, लंदन ।

उनके द्वारा प्रशिक्षित वैज्ञानिकों का सूची काफी-लम्बी है । ऊपर जो दिये गये हैं वे मात्र उदाहरण के लिए । इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने राष्ट्र के विकास में अकथनीय सहयोग प्रदान किया ।

रमन की महत्वपूर्ण उपलब्धियां

1904-1907	भौतिकी स्नातक बने—प्रथम आने पर स्वर्ण पदक प्राप्त किया । प्रथम शोध पत्र प्रकाशित हुआ। एम० ए० में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण ।
1917	कलकत्ता विश्वविद्यालय में पालित पीठिका के प्राध्यापक नियुक्त हुए और 1933 तक इस पद पर रहे ।
1919	'दी इंडियन एसोसिएशन फार दी कल्टीवेशन ऑफ साइंस के सचिव मनोनीत ।
1924	'ब्रिटिश एसोसिएशन फार दि एडवांसमेन्ट ऑफ साइंस' के वार्षिक बैठक में सम्मिलित रायल सोसाइटी की सदस्यता ।
1925	फ्रेन्कलिन इंसटीट्यूट, फिलाइल्फिया (अमेरिका) के शताब्दी समारोह तथा सोविसत विज्ञान अकादमी के द्वि-शताब्दी समारोह में भाग लिया ।
1926	'इंडियन जनरल ऑफ फिजिक्स' का सम्पादन ।
1928	रोम में मेट्यु की पदक की प्राप्ति तथा भारतीय विज्ञान कांग्रेस का सभापतित्व ।
1929	'सर की उपाधि'
1930	भौतिकी का नोबल पुरस्कार एवं रायल सोसाइटी का ह्यूज पदक प्राप्त ।
1933	'इंडियन इस्टीट्यूट ऑफ साइंस' के निर्देशक नियुक्त ।
1934	भारतीय विज्ञान अकादमी के स्थापना में सहयोग ।
1937	अन्तरराष्ट्रीय भौतिकी परिषद में पेरिस की यात्रा ।
1941	अमेरिका का फ्रेन्कलिन पदक तथा फ्रैन्कलिन इंस्टीट्यूट और रायल आइरिश अकादमी की सदस्यता ।
1948	रमन अनुसंधान संस्थान की स्थापना किया तथा उसके निर्देशक बने ।
1949	प्रथम राष्ट्रीय भौतिकी शोध प्राध्यापक नियुक्त ।
1954	भारत का सर्वोच्च सम्मान 'भारत रत्न' की उपाधि ।
1961	पोन्टिफिकल अकादमी ऑफ साइंस के सदस्य नियुक्त ।

अन्य पुरस्कार एवं सम्मान : पेरिस, ग्लासगो, वाराणसी मद्रास, बम्बई, कलकत्ता, ढाका तथा फेवर्ग के विश्वविद्यालयों की सम्मानित उपाधियों तथा अनेक भारतीय व अन्तर-राष्ट्रीय संस्थाओं के सदस्य निर्वाचित। विज्ञान अकादमी, पेरिस के विदेशी सदस्य, 'दी साइंस अकादमी ऑफ हंगरी' 'दी एशिएन एकेडमी ऑफ साइंस इत्यादि की सदस्यता।'

उनकी कुछ उल्लेखनीय कृतियां हैं : 'मौलीक्यूलर डिफ्रेक्शन ऑफ लाइट', 'मिकेनिकल थ्योरी ऑफ बाउंड स्ट्रिंग्स एण्ड डिफ्रेक्शन ऑफ विजन।'

20 नवम्बर 1970 को रमन इस लोक से विदा हो गए। नोबल पुरस्कार विजेता डा० रमन भारत द्वारा उत्पन्न वैज्ञानिकों में महानतम व्यक्ति थे। वे भारतीय विज्ञान जगत के लिए महान पथ प्रदर्शक थे। उनकी विज्ञान को देन सदा अमर रहेगी। भारत को गर्व है कि उसकी गोद में रमन जैसा व्यक्ति पला।

अहा ! चन्दन का वृक्ष गिर गया
किन्तु उसका सौरभ वर्तमान है।
पृथ्वी के चारों कोनों को वह
सदा सुरभित करती रहेगी ॥

भौतिकी विभाग बी. एच. यू. वाराणसी
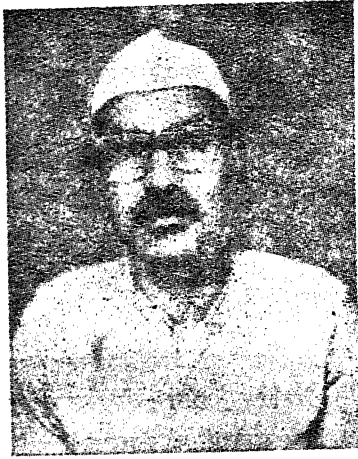
भारतीयता के पोषक, विज्ञान प्रेमी,
आदर्श शिक्षक श्री राम नारायण जी

श्री राम नारायण जीव विज्ञान पुरस्कार

श्री शुकदेव प्रसाद जी ने विज्ञान परिषद् को एक निधि प्रदान की है जिससे प्रतिवर्ष 'विज्ञान' में जीव वैज्ञानिक विषयों (Biological Sciences) पर प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ निबन्ध पर पुरस्कार प्रदान किया जायगा, जो उनके पिता के नाम पर 'श्री रामनारायण जीव विज्ञान पुरस्कार' नाम से जाना जावेगा।

एक प्रमाण पत्र के साथ 100 रुपये की नकद धनराशि पुरस्कार स्वरूप प्रदान की जावेगी। वर्ष 1978 के लिए रचनाएँ आमंत्रित हैं।

आवश्यक निर्देश

लेखकों को चाहिये कि वे प्रस्तावित पुरस्कार के लिए लेख भेजते समय निम्न बातों का ध्यान रखें।

- लेख केवल जीव वैज्ञानिक विषयों पर ही हो, जो सर्वथा मौलिक एवं अप्रकाशित हो।
- लेख कागज के एक ही तरफ हाशिया छोड़कर सुवाच्य लिखा अथवा टंकित हो।
- संलग्न चित्र की डिजाइनें अच्छे ढंग से बनी हों।
- विस्तृत जानकारी एवं लेख भेजने के लिए निम्न पते पर लिखें।

प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद—2

ओरोजेनिक शिला श्रृंखला

● विजय कान्त श्रीवास्तव

भूद्रोणियों में मैग्मीय प्रक्रियाओं तथा पर्वत निर्माणी प्रक्रियायें को ओरोजेनिक क्रियायों में सम्मिलित किया जाता है। एक पूर्ण ओरोजेनिक (Orogenic) क्रिया में ज्वालामुखी के चार चरण तथा साथ-साथ भूविवर्तन के चार चरण पाये जाते हैं।

इस क्रिया में प्रथम चरण में ग्रेबो (Gabbroic) तथा अल्पक्षारीय (Ultrabasic) शिलाओं का बाहुल्य पाया जाता हैं। इस प्रकार की शिलाएं कुछ तिर्यक संस्तरों की भाँति तथा मातृ शिलाओं में विभिन्न प्रकार की रचनाओं के रूप में पायी जाती है। इन शिलाओं में भी उसी प्रकार का कायान्तरण पाया जाता हैं। जैसा कि मातृ शिला में पाया जाता है। इसीलिए अनेक प्राथमिक खनिज द्वितीयक खनिजों में बदल जाया करते हैं। इस प्रकार के प्रमुख खनिजों में सर्पेन्टीन (Serpentine), क्लोराइट (Chlorite) तथा एपिडोट (epidote) प्रधान हैं। इस प्रकार की शिलाओं को सम्मिलित रूप से ओफियोलाइट (ophiolite) शिला समूह कहा जाता है। इस प्रकार की शिलाओं में अनेकों प्रकार की विभिन्नता पायी जाती है। इनमें अधिकतया बसाल्ट (Basalt) तथा अधिक मात्रा में पेरीडोटाइट (Peridotite) पाया जाता है। इस प्रकार का पेरीडोटाइट प्रायः सर्पेन्टीन में बदल जाया करता है।। पेरीडोटाइट इस अवस्था में अल्प विसकोसिटी वाला होता है तथा इसका तापक्रम भी अधिक नहीं पाया जाता है।

ओफियोलाइट शिला श्रृंखला अर्द्धसागरीय अवस्था में पाया जाता है तथा इसमें तकिये के आकार की रचना (Pillow Structure) तथा इसी प्रकार की अन्य रचना पायी जाती है। इस शिला के साथ-साथ रेडियोलेरियन चर्ट तथा सर्पेन्टीनाइट भी पाया जाता है। इन शिलाओं में सोडा की मात्रा अधिक पायी जाती है तथा कालान्तर में यह स्पिलाइट (spislite) शिला में बदल जाया करता है। स्पिलाइट में परिवर्तन की क्रिया निम्न समीकरण द्वारा सम्पन्न होती है।

$$Na_2\,CO_3 + Ca\,Al_2\,Si_2\,0_8 + 4\,SiO_2 \rightarrow CaC_{33} + 2\,Na\,Al\,Si_3\,O_8$$
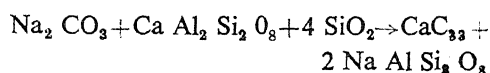
यह क्रिया लगभग 300°C पर ही सम्पन्न हो जाता है।

ओफियोलाइट शिला समूह से भूद्रोणियों की विद्यमानता का भी ज्ञान होता है। यह भी पाया गया है कि ओफियोलाइट मैग्मीय प्रक्रिया का प्रथम चरण होता है। इस प्रकार के ओफियोलाइट शिलायें भूमध्य क्षेत्र में, पिरेनीज, आल्पस, बाल्कन, हिमालय तथा बर्मा पर्वत क्षेत्रों में पायी जाती है। ये शिलायें सदैव विशाल भूविवर्तन के साथ-साथ पायी जाती है तथा इस क्षेत्र में ऋणात्मक गुरुत्व भी पाया जाता है। इसलिए यह माना जाता है कि प्राथमिक ओलीविन बसाल्ट मैग्मा भूद्रोणियों में पर्वत निर्माणी प्रक्रियायों से गतिशील हो जाता है तथा उद्‌गार के रूप में वाह्य पटल पर आ जाता है। अवसाद में इस प्रकार के मैग्मा के उत्कोच तथा उद्‌गार के विभिन्न प्रकार की शिलाओं का निर्माण होता है।

पेरीडोटाइट में ओलीविन खनिज की अधिकता पायी जाती है। इसको डनाइट (Dunnite) भी कहा जाता है। ये शिलायें, सिल, डाइक तथा छोटे-छोटे नेक के रूप में भी पायी जाती है। डनाइट शिला प्रायः वलित पर्वत मालाओं में पायी जाती है। इन्हीं क्षेत्रों में

सर्पेन्टीन भी पायी जाती है। सर्पेन्टीन डनाइट का परिवर्तित रूप भी है। ये दोनों शिलायें ओफियोलाइट शिला श्रृंखला में पाये जाते हैं तथा ओरोजेनिक क्षेत्र में पाये जाते हैं।

अनेक स्थानों पर पेरीडोटाइट शिला स्थानीय रूप से ग्रेबो तथा नोराइट शिलाओं में भी पायी जाती हैं। इस प्रकार की उत्पत्ति में पायोरोक्जीनाइट (Pyroxenite) शिला भी पायी जाती है। इस प्रकार की शिलायें अर्द्ध सागरीय अवस्था में पायी जाती है। इसीलिए इन उद्गारों में तापक्रम भी अधिक नहीं पाया जाता है। प्रयोगशाला में प्रयोगों के उपरान्त यह पाया गया है कि इस प्रकार के उद्गारों का ताप 1300-1400° सें. तक होता है। शुद्ध मैग्नीसियम सर्पेन्टीन अधिक से अधिक 500°C तक स्थिर पाया जाता है। मैग्नीसियम ओलीविन वाष्प के साथ 430°C तक स्थिर पाया जाता है तथा लौह ओलीवीन इससे भी कम तापक्रम पर पाया जाता है। पेरीडोटाइट लावा अधिक गहराई पर भी पाया जाता है। ओलीवीन तथा पेरीडोटाइट शिला के निर्माण तथा इन अवस्थाओं में उद्गार के सम्बन्ध से भूवैज्ञानिकों ने अनेक मतों का प्रतिपादन किया है। सम्पूर्ण विश्व में अनेक क्षेत्रों में इस प्रकार की शिलायें पायी जाती है। अनेक क्षेत्रों में इन शिलाओं के साथ विशाल मात्रा में क्षेत्रीय कायान्तरण भी पाया जाता है।

वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि भूद्रोणियों में लगभग 20-25 कि० मी० की गहराई पर अवसाद द्रवीभूत होने लगते हैं। इस प्रकार के द्रवीकरण से प्रथम ग्रेनाइट मैग्मा बनता है, ज्यों-ज्यों ताप बढ़ता जाता है वैसे-वैसे मैग्मा क्षारीय होता जाता है परन्तु बलन, भ्रंश तथा अन्य प्रक्रियाओं से मैग्मा में अनेक पदार्थ मिलते जाते हैं। बसाल्ट मैग्मा के बनने के लिए अधिक मात्रा में ताप तथा गहराई पर दबाव भी अधिक होना चाहिए।

विशाल ओराजेनिक क्षेत्रों में बायोटाइट डायोराइट श्रृंखला की शिलायें पायी जाती हैं। इस प्रकार की शिलायें दक्षिणी नारेव में कैलेडोनियन उत्कोच तथा आल्पस् के टोनालाइट शिला श्रृंखला तथा एण्डीस पर्वत में डायोराइट शिला श्रृंखला में पायी जाती है।

इन दोनों क्रमों के विभेदीकरण में द्रव मात्रा का अन्तर पाया जाता है। मातृ द्रव में बायोटाइट डोराइट मैग्मा पाया जाता है तथा अन्त में बायोटाइट खनिज बच जाता है। तथा अन्त में पोटेशियम फेल्डस्वार नहीं बचता है। प्रारम्भ में ही बायोटाइट के बनने में पोटेशियम की मात्रा खत्म हो जाती है। इस प्रकार की शिलायें अर्ध सागरीय अवस्था में पायी जाती हैं अत: इनमें जल की मात्रा अधिक पायी जाती है। भूद्रोणियों में सिलिका तथा एल्यूमिना की मात्रा अत्यधिक पायी जाती है अत: इस मैग्मा में भी सिलिका तथा एल्यूमिना की मात्रा बढ़ जाती है। अत: प्राथमिक मैग्मा में अन्य अनेक पदार्थों के मिलने से मैग्मा नोराइट मैग्मा के रूप में परिवर्तित पायी जाती है। अन्त में मैग्मा में पायरोक्जीन खनिज भी मिल जाता है तथा इसमें प्राथमिक स्तर पर ही पोटेशियम फेल्डस्पार का निकलना आरम्भ हो जाता है। इस अवस्था में भी जल की मात्रा इसमें अधिक पाया जाता है। इस प्रकार का मैग्मा प्राय: उत्कोची होता है तथा द्वितीयक स्तर का पाया जाता है। इस अवस्था में कायान्तरण भी पाया जाता है। इसमें प्लूटोनिक अवस्था की मैग्मीय शिला श्रृंखला भी पायी जाती हैं। इस अवस्था में एनारथोसाइट खनिज भी पाया जाता है।

एनारथोसाइट भी ग्रेनाइट की भाँति विशाल बैथोलिथ का निर्माण करता है। इस शिला में प्राय: एक ही खनिज पाया जाता है (चाहे एन्डेसीन या लेब्राडोराइट) परन्तु ओलिगोक्लेज तथा वायटोनाइट नहीं पाया जाता है।

एनारथोसाइट मैग्मा उच्च ताप पर प्लेगियोक्लेज द्रव के साथ पाया जाता हैं। कभी-कभी ग्रेबो तथा नोराइट मैग्मा और एनारथोसाइट मैग्मा विपरीत अवस्था में पाये जाते हैं। ग्रेबो तथा एनारथोसाइट में मणिम

(शेषांक पृष्ठ 16 पर)

पहला जीव कैसे बना

(अन्तिम किस्त)

● डॉ० चन्द्रविजय चतुर्वेदी

रासायनिक विकास: विगत तीस वर्षों में कार्बनिक रसायनज्ञ, रेडिएशन रसायन, जीवशास्त्री, खगोलशास्त्री, भूगर्भ शास्त्री, जैविक रसायनज्ञ सहित अन्यान्य वैज्ञानिक रासायनिक विकास की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयोग करके इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जैविक विकास के पूर्व इस जगत में रासायनिक विकास की एक सतत प्रक्रिया हुई है, जिसके फलस्वरूप आज से लगभग 3.5 अरब वर्ष पूर्व इस धरती पर जीव का प्रादुर्भाव एक सेल के रूप में हुआ। पृथ्वी की उत्पत्ति लगभग 4.5 अरब वर्ष पूर्व जानी जाती है। इस प्रकार इस एक अरब वर्ष के काल में रासायनिक अभिक्रियाओं ने अजीवित द्रव्यों से जीवित सेल को जन्म दिया हैं। बीसवीं सदी के वैज्ञानिक अपने प्रयोगशाला में उन प्रयोगों को दुहराने में लगे हैं जो सृष्टि के 1 अरब वर्ष के बीच में इतिहास को साकार कर देते हैं ऋग्वेद में एक स्थल पर कहा गया है 'असतः सद्जायत' अर्थात असतः (अजीवित) से सत (जीवित सेल) की उत्पत्ति हुई। रासायनिक विकास की गाथा ने बतलाया कि जीवित प्रणाली जैसी प्रणाली का उद्भव सहसा ही किसी एक्सीडेण्ट के कारण नहीं है वल्कि यह उस क्रमिक श्रृंखला की परिणति है जो शनैः शनैः जटिल होती गयी। दूसरे शब्दों में एक ऐसी प्रणाली के बढ़ते कदम ने उस प्रणाली को जन्म दिया है जिसे हम जीवित प्रणाली कहते हैं।

जीवित प्रणाली क्या है? रासायनिक विकास की यात्रा परमाणु से चलकर अणु, और बहुलक तक होती हुई द्रव्यों के ऐसे संगठन तक पहुँच जाती है जो जीवित प्रणाली को जन्म देते हैं। पदार्थों का यही संगठन है जिसमें किसी जीवित प्रणाली का प्रादुर्भाव हो सका। क्या हैं यह जीवित प्रणाली? जीवित सेल चाहे वे वैक्टीरिया हों अथवा मानव के लीवर सेल हों; इसमें एक क्रिया उपापचन की होती है। इस क्रिया में सम्मिलित हैं अर्न्तग्रहण पाचन, ऊर्जा परिवर्तन-स्वांगीकरण, स्रवण, उत्सर्जन जैसी प्रकियायें। उद्दीपन और प्रजनन किसी जीवित प्रणली के प्रमुख गुण हैं। उद्दी, पन के प्रति अनुवृत्ति, जीवित सेल का ही गुण नही हैं। चीनी का एक टुकड़ा पर्याप्त मात्रा में ऊष्मा और आक्सीजन की उपस्थिति में उद्दीप्त हो जाता है जो उसका एक आक्सीकृत रूप है। ताप के परिवर्तन से उसी प्रकार सल्फर के कई अपररूप होते हैं। यह तथ्य कि जीवित वस्तुयें वृद्धि करती हैं उनका अकेला गुण नहीं हैं। अकार्बनिक क्रिस्टल भी वृद्धि करते हैं। इसी प्रकार प्रजनन कोई सम्भव गुण नहीं है जिसके आधार पर जीवित प्रणाली को परिभाषित किया जा सके। डीन्यूक्लीएटेड अमीवा प्रजनन की दृष्टि से मृत होते हैं यद्यपि निश्चित रूप से इनमें उपापचयन की क्रिया होती है और यह जीवित प्रणाली के अन्य सामान्य गुणों से युक्त रहता है। इस प्रकार जीवित प्रणाली की एक व्यापक परिभाषा आवश्यक हो जाती है। पिछले बीस वर्षों से भी अधिक समय से वैज्ञानिक जीवित प्रणाली को एक परिभाषा के अर्न्तगत बाँधने के उपक्रम में रहे हैं पर एक आदर्श परिभाषा अभी तक नहीं दी जा सकी है। पीटे (1937) ने बतलाया कि जीवित और निर्जीव में एक दृढ़ सीमा रेखा नहीं खीची जा सकती और न ही जीवन एक ऐसा गुणा हैं जिसे परिभाषा की सीमा में बाँध दिया जाय। बर्नाल (1957) के अनुसार स्वपोषित रासायनिक अभिक्रिया को किसी आयतन में मुर्त्त रूप देना ही जीवन है। कानिकोवा को बर्नाल के स्वपोषित पर आपत्ति हुई

उन्होंने इसके लिए स्वविकसित शब्द का सुझाव दिया और बतलाया कि जीवित प्रणाली वह जटिल रासायनिक प्रकिया है जो अपने वातावरण के पदार्थों के साथ रासायनिक अभिक्रिया के सहारे अपना प्रजनन और विकास करता है वह परिवर्तित होते हुए भी अपने अतिस्त्व को बरकरार रखता है। रासायनिक प्रणाली के सहारे जीवन वह योग्यता प्राप्त करना है जिससे अपने अस्तित्व को बनाये रखते हुए अपने में से अपने जैसा ही एक दूसरे अस्तित्व को प्रकट किया जा सके। हाल्डेन के अनुसार जीवन, रासायनिक अभिक्रिया की एक आत्म सतत उपलब्धि है। होराविज ने जीवन को स्वजनित प्रणाली बताया जिसमें नये रूप के प्रजनन की क्षमता ही। परिभाषा के प्रयास में उन्होंने इस बात पर महत्व दिया कि जीवित प्रणाली में आत्म प्रजनन, उत्परिवर्तन तथा विषमांग उत्प्रेरण की क्षमता होती है। ब्राउनश्टीन को उसमें संतोष नहीं मिला और टिप्पणी की 'बहु आणविक परिस्थिति में एक जीवित अणु' ही होराविज की परिभाषा के पूल में है जो प्रतिवाद की गुंजाइस छोड़ जाता है। इस सन्दर्भ में पालिंग की अभिव्यक्ति पूर्ण विराम हैं 'कभी यह आवश्यक हो जाता हैं कि किसी विषय को परिभाषित करने के बजाय उसका अध्ययन किया जाय।'

जीवित और निर्जीव प्रणाली के बीच एक निश्चित सीमा रेखा खींचना यद्यपि आसान नहीं हैं परन्तु यह आवश्यक है कि कम से कम वे गुण तो निश्चित रूप से परिभाषित रहें जो यदि किसी प्रणाली में उपस्थित रहें तो उसे जीवित प्रणाली कहा जा सके। डॉ० कृष्ण बहादुर के अनुसार जीवित वह प जिसमें सुनियोजित ढंग से वृद्धि गुणन और उपापचयन की क्रियाये हों। वृद्धि का तात्पर्य प्रणाली के उस परिवर्तन से है जो इन के संश्लेषण होने से होता है, जिससे प्रणाली का सृजन होता है। गुणन का अर्थ प्रणाली की संख्या वृद्धि से है। पूर्व इकाई से नई इकाई के अस्तित्व में आने से है। उपापचयन का अर्थ ऐसी रासायनिक श्रृंखला से है जो प्रणाली के भीतर कम्पन होते हैं, जो वातावरण से प्रणाली के भीतर प्रविष्ट होने वाले अणु को उन द्रव्यों में परिवर्तित करते हैं जिससे प्रणाली का सृजन होता है। यह जीव की परिभाषा भले न हो पर जीव के आवश्यक गुणों का वर्णन अवश्य है जिससे जीवित प्रणाली की अनुभूति होती है।

आणविक संयोजन — सेल में उपस्थित महत्वपूर्ण यौगिकों के अजीवात संश्लेषण की जानकारी के बाद, जीव की उत्पत्ति के अध्ययन में महत्वपूर्ण चरण शेष रहता है, यह जानना कि इन रसायनों का आणविक संयोजन कैसे हुआ, जिससे उस सूक्ष्म रचना का जन्म हुआ, जिसने जैविक व्यवस्था के गुणों का प्रदर्शन किया।

विश्वविद्यालय के एक ही परिसर में एक भौतिकशास्त्री द्रव्यों के निर्माण इकाई परमाणु के व्यवहार का अध्यन कर रहा है तो दूसरी ओर एक जीव-शस्त्री, शरीर धारियों के निर्माण करने वाली इकाई सेल के व्यवहार के अध्ययन में रत है। भौतिक शास्त्री के कण और जीवशास्त्री के कण में बुनियादी अन्तर जीवित और निर्जीव प्रणाली में है। पर क्या जीवशास्त्री का कण भौतिक शास्त्री के कणों की एक जटिल और सुसंगठित व्यवस्था नहीं हैं। यह प्रश्न एक अति प्राचीन विज्ञान-दर्शन की समस्या के साथ जुड़ा हुआ हैं। जीव-विज्ञान और भौतिक-विज्ञान की दुनिया कितनी अलग अलग है इसके बुनियाद में यह तय करना निहित है कि जीवित और निर्जीव के बीच में कितनी स्पष्ट रेखा खींची जा सकती हैं। जीवित शरीर धारियों के बारे में उसको, उसके वातावरण से अलग करके कितना सोच सकते हैं। वातावरण से अलग एक शरीरधारी भौतिक असम्भाव्यता है। विभिन्न जातियों के जीवित शरीरधारी प्राणी अलग प्रकार की परिस्थितियों में ढलने का प्रयास करते हैं। रेगिस्तान में ले जाये जाने पर एलीगेटर मृत हो जाता है। क्योंकि वह सूखे वातावरण में अपनी जीवन क्रिया संचालित करने की अनुकूलता नहीं प्राप्त कर पाता। रेगिस्तानी वातावरण इसके लिए एक अनजान वातावरण रह जाता है। एनॉटामी, फिजियोलॉजी तथा व्यवहार में एलीगेटर दलदली वातावरण के अनुकूल अपने को ढाल लेते हैं। इस प्रकार जीवन क्रिया संचालित रहें उसके लिए वातावरण की अनुकूलता जीवित प्रणाली का एक महत्वपूर्ण अंग है।

एक सेल वाला एक छोटा सा प्राणी है—अमीबा—जो

कि स्थिर जल में रह लेता है इससे सामान्य जातिवाला एक इंच के सौवें भाग का होता हैं जो आँख से दिखाई नहीं पड़ता। माइक्रोस्कोप से देखने पर ज्ञात होता हैं कि यह एक रंगहीन जेली की तरह होता हैं। उसका शरीर मुलायम होता है तथा इसका निर्माण एक जीवित सेल से होता है। यह पूर्ण होता है बाहरी भिल्ली, साइटोप्लाज्म और न्यूक्लीयस से। यह शरीरधारी प्राणी है जो कि श्वसन, प्रजनन और उपापचयन की क्रिया सम्पादित करता है। अमीबा पानी से घिरा रहता है। इसकी छोटी सी काया में 85% पानी ही होता है वही पानी जिसमें यह गति करता है। यदि इसके भीतर के पानी को सुखा दिया जाय तो अमीबा मृत हो जाता है। इस सेल से पानी का एक अणु जितनी सरलता से बाहर निकल आता है उतनी सरलता से ही भीतर प्रविष्ट भी हो जाता है। कार्बन डाई आक्साइड और आक्सीजन भी भीतर बाहर आती जाती रहती है। आयरन, फास्फोरस, नाइट्रोजन तथा अन्य द्रव्यों का आदान प्रदान होता रहता है। सेल के भीतर जो रसायन हैं वे जीवित अमीबा हैं और जब ये सेल के बाहर रहते हैं तो वातावरण हैं। पानी जब सेल के भीतर है तो जीवित है और जब बाहर है तो निर्जीव। शरीरधारी की रचना के लिए कच्चे माल की सप्लाई वातावरण से होती है और वे फिर वातावरण को ही स्थानान्तरित हो जाते हैं। एक मानव शरीर के 155 पौण्ड में 100 पौण्ड आक्सीजन, 15 पौण्ड हाइड्रोजन, 28 पौण्ड कार्बन 4.5 पौण्ड नाइट्रोजन, 2 पौण्ड कैलशियम 1.5 पौण्ड फास्फोरस, 0.5 पौण्ड सल्फर, 0.25 पौण्ड सोडियम, शेष 1.25 पौण्ड आयरन तथा अन्य कई तत्व होते हैं। ये तत्व वातावरण से मिलते हैं पर इस सूची के सामान को जुटाकर कोई शिल्पी, कोई मूर्तिकार क्या जीवित मानव की रचना कर सकता है। इस भौतिक शरीर की रचना का एक महत्वपूर्ण पहलू है संगठन पर इससे भी महत्वपूर्ण है वह प्रक्रिया जिससे यह संगठन तैयार होता है।

आइये थोड़ा इस संगठन पर विचार करें। मानव एक इकाई हैं इसके संगठन का स्वरूप समाज होता है जिसके कार्यव्यापार का निर्गमन व्यक्ति के गुण और उसके कार्यव्यापार से अलग होता है। स्टील, कापर, रबर, आदि कच्चे माल की सहायता से संगठन तैयार किया जाता है— मोटर कार, जिसके गुणों और कार्यव्यापार को इसके कच्चे माल या उसके कार्यव्यापार के सहारे पहले से कल्पना में नहीं लाया जा सकता। वस्तुओं के भौतिक संगठन के फलस्वरूप किसी विशेष गुण का प्रदर्शित होना, एक ऐसा भाव है जो कि मनुष्य द्वारा निर्मित वस्तुओं के साथ ही साथ नैसर्गिक वस्तुओं में भी परिलक्षित होता है। संगठन के गुण और लाक्षणिकता को समझने के लिए एक सामान्य रासायनिक यौगिक जल के संगठन की ओर ध्यान दें। यदि किसी एक रासायनिक द्रव्य को ढूँढा जाय जिससे जीव की उत्पत्ति में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई हो तो वह है जल। एक जीवित सेल में तीन चौथाई जल ही होता है। जल के एक अणु का सृजन हाइड्रोजन के दो परमाणु तथा आक्सीजन के एक परमाणु के संयुक्त होने से होता है। हाइड्रोजन एक हल्की तथा ज्वलनशील गैस है जो शून्य से 423°सें० नीचे के ताप पर द्रव होता हैं। आक्सीजन सामान्य ताप पर गैस है और शून्य से 297°सें० नीचे द्रव होता है। जब ये दोनों गैसे मिलती हैं तो ऊर्जा की काफी मात्रा के साथ जल बनता है। रासायनिक दृष्टिकोण से यह अभिक्रिया हाइड्रोजन का आक्सीकरण है। हाइड्रोजन और आक्सीजन के एक रासायनिक संगठन के फलस्वरूप बनने वाला जल अलग ही गुण प्रदर्शित करता है सामान्य ताप पर यह द्रव रहता है। स्टार्च और सेल्यूलोज दोनों जटिल कार्बोहाइड्रेट होते हैं। इन दोनों ही यौगिकों में सामान्य शर्करा के अणु एक दूसरें के साथ एक लम्बी शृंखला में जुड़कर एक जटिल अणु बनाते हैं। दोनों ही द्रव्यों में एक ही प्रकार की शर्करा की इकाई उपस्थित होती है पर जिस भाँति वे जुड़ते हैं उसमें अन्तर होता है। जुड़ने के इसी अन्तर के कारण ही अलग प्रकार के संगठन बनते हैं।

संगठन का एक उदाहरण 'जीव' भी है जो कि मोटर कार, सामाजिक एवम धार्मिक संगठन, जल, स्टार्च, सेल्यूलोज आदि से कहीं अधिक जटिल संगठन वाला होता है। एकसेलीय शरीरधारी अमीबा बहुत ही सामान्य प्राणी है पर यह उस जटिल संगठन की परिणति है जिस संगठन में

बँधकर कुछ रासायनिक पदार्थ एक ऐसी प्रणाली का सृजन करते हैं जिसकी लाक्षणिकता उन बुनियादी द्रव्यों से भिन्न होतहै है। एमीनोएसिड, पेप्टाइड, प्रोटीन, लुकोस जैसे सेल निर्माण के बुनियादी द्रव्य श्वसन, प्रजनन, उपापचयन जैसे गुणों को प्रदर्शित नहीं करते पर इनके एकजुट होने से जो इकाई निर्मित होती है वह इन गुणों का प्रदर्शन करती है।

एक अरब वर्ष की गाथा के अन्तिम चरण में प्रकृति की गोदी में ये रासायनिक पदार्थ कैसे संगठित हुए होंगे। कैसे संगठन की इकाई जीवन्त हुई। आइये देखें आज का वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में यह जानने के लिए क्या कर रहा है। पिछले तीस वर्षों में ऐसी संरचना के बनने पर प्रयोग किये गये हैं जिसमें ऐसे गुणों का समावेश दिखलाई पड़ा है जो जीवित प्रणाली में सामान्य होते हैं। बूजी (Booji) और डेजांग (Dejong) (1956) तथा आपेरिन (1957) द्वारा सहगुच्छ (कोजरवेट) का बनना बतलाना इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। आपेरिन ने एकविक गोद और जेलेटिन से गुच्छ बनाया। ये बूंद के कण हैं जिन पर आंशिक आवेश होता है। ये विलयन और कोलाइडो के बीच के प्रावस्था को प्रदर्शित करते हैं। यद्यापि ये अलग अस्तित्व प्रदाशित करते हैं परन्तु इनका कोई निश्चित आकार नहीं होता। अपकेन्द्रण से इनके अस्तित्व को नष्ट किया जा सकता है। गुच्छ कोई एन्जाइमी क्रिया नहीं प्रदर्शित करते बल्कि आस पास के जलीय माध्यम से एन्जाइम को आकर्षित कर लेते हैं।

फाक्स (1954) ने पेप्टाइड के साथ जल को उबालकर माइक्रोस्फेयर बनाया। ऐसे कण ठोस भंगुर द्रव्य के बने होते हैं। फाक्स ने अपने आगे के प्रयोगों में देखा कि कुछ विशेष प्रकार के कार्बनिक पदार्थों के सम्पर्क में आने से इन कणों में वृद्धि और गुणन की क्रिया होने लगती हैं तथा ये एन्जाइमी गुण भी प्रदर्शित करने लगते हैं।

डॉ० कृष्ण बहादुर ने फॉर्मेल्डिहाइड, साइट्रिक अम्ल या मुक्त एमीनोएसिड के साथ नाइट्रोजन के एक स्रोत तथा एक अकार्बनिक उत्प्रेरक के जलीय मिश्रण को सूर्य के प्रकाश से विकीर्णीत करके एक सूक्ष्म संरचना तैयार किया जिसे उन्हों जीवणु—जीव के कण कहा। ये कण वृद्धि करते हैं, बडिंग से गुणित होते हैं तथा उपापचय की क्रिया भी करते हैं। इन कणों का आकार स्थायी होता है। ये अर्द्ध ठोस आकार के द्रव्य होते हैं तथा दाब के प्रयोग से इसे गूदा के रूप में परिवर्तित किया जा सकता हैं। इन कणों का रासायनिक संगठन सेल की भाँति ही होता है। अणुओं के संगठन से जीवित प्रणाली के बनने की दिशा में अध्ययन करते हुए डॉ० बहादुर ने पदार्थों के दो विशेष गुणों की ओर इंगित किया। हैं अनुकूलनशीलता और द्वि गुणन। भौतिक रसायन के शातलिये (Le Chatelier) के नियम के अनुसार पदार्थ के किसी प्रणाली के साम्यावस्था में यदि खलल डाली जाय तो एक परिवर्तन होता है। सूक्ष्म जो कि उस प्रतिवन्ध को समाप्त करने का प्रयास करता हैं। शरीरधारी (organism) अथवा जीवाणु साम्यावस्था द्रव्यों की एक व्यवस्था का स्वरूप है। यदि इस सूक्ष्म जीवाणु के भौतिक रासायनिक वातावरण में हल्का सा परिवर्तन किया जाय तो जीवाणु के भीतर ऐसे परिवर्तन होते हैं जो कि वातारवण के परिवर्तन की प्रतिकूलता को उसके लिए कम करते हैं। परिवर्तन के क्रम को जारी रखने पर जीवाणु को शारीरिक एवम् आकृतिक क्रियात्मकता स्थायी रूप से परिवर्तित हो जाती हैं। इस प्रकार जीवाणु द्विगुणुन की दिशा में अग्रसर होता है

विकास की प्रक्रिया में अनुकूलनशीलता का महत्वपूर्ण स्थान हैं यह जीवित प्रणाली का एक विशेष गुण हैं। इसी गुण के प्रभाव से प्रणाली के लाक्षणिक गुणों में थोड़ा बदलाव या परिवर्तन होता है वातावरण के साथ तादात्म स्थापित करते हुए परिवर्तन की क्षमता से ही कोई व्यवस्था विकसित हो सकती है।

क्या जैविक व्यवस्था के गुणों - वृद्धि गुणन और उपा- ने उस आदिकालिक धरती पर आज के सेल की भाँति ही किसी प्रणाली का सृजन किया होगा? बहुत संभव है कि अदिकालिक प्रकृति की गोदी में रासायनिक अणुओं के संगठन से जो जीवित प्रणाली बनी हो उसका रासायनिक संगठन आज के जीवित प्रणाली के बुनियादी इकाई के रासायनिक संगठन

(शेषांक पृष्ठ 18 पर)

धन और ऋण चिन्हों की गाथा

● नरेश चन्द्र 'पुष्प'

तुम सभी गणित के सवाल तो करते ही रहते होगे। फिर तुमने जोड़ और घटाने के प्रश्न भी किये होंगे। जब तुम गणित में जोड़ और घटाने के सवाल करते होंगे, तब जोड़ के लिये (+) और घटाने के लिये (-) चिन्हों का उपयोग करते होंगे। जोड़ के लिये (+) को धन और घटाने के लिये (—) चिह्न को ऋण चिह्न कहते हैं।

तुमने ये चिह्न अपने माता-पिता और शिक्षक से ही सीखे होंगे। और तुम्हारें माता पिता ने अपने माता पिता और शिक्षक से सीखे होंगे। इसी तरह तुम्हारे बाबा दादा ने अपने माता पिता और शिक्षक से सीखे होंगे। इसी तरह तुम्हारे शिक्षक ने भी अपने माता पिता और शिक्षक से सीखे होंगे। फिर भला वह कौन सा आदमी है जिसको किसी ने भी इन चिहों के बारे नहीं बताया था और उसने स्वयं अपने आप ही इन चिन्हों को बनाया था। सचमुच यह बात बड़ी ही मजेदार है। इस बात को जानने के लिये तुम्हें पुराने जमाने की गणित की पुस्तकों को देखना पड़ेगा।

जोड़ और घटाने के चिह्न को सबसे पहले मिश्र देश की पुस्तकों में देखा गया था। ईसा से 1550 पूर्व अह्यी ने सबसे पहले जोड़ के लिये **ч** चिह्न और घटाने के लिये **y** चिह्न का उपयोग किया था। इसके पश्चात, ईसा के 275 वर्ष बाद डाइफैमट्स ने अपनी पुस्तक 'अर्थमेटिका' में जोड़ की एक स्थिति दर्शायी है। उसने $\times^3+13\times^2$ के स्थान पर $K^{y_a}\triangle^y iy$ लिखा था और घटाने के लिये ↑ चिह्न का उपयोग किया था।

गणित की दुनियाँ में (+) चिह्न का उपयोग सर्वप्रथम ब्रह्मगुप्त और भास्कर ने किया था। आज हम (+) चिह्न का उपयोग जोड़ के लिये करते हैं लेकिन ब्रह्मगुप्त और भास्कर ने इस चिह्न का उपयोग घटाने के लिये किया जाता है। जैसे:

$$10+4=6$$

लेकिन आज कल हम इस तरह से लिखते हैं जैसे, $10-4=6$

हम सब जोड़ के लिये धन (+) चिह्न का उपयोग करते है लेकिन सवाल पैदा होता है कि यह चिह्न आया कहां से। इस संबंध में अलग-अलग विचार हैं। भारत के रहने वाले गणितज्ञ सवाल करने के स्थान पर अक्षर का उपयोग करते थे जिसको देख कर पता चलता था कि यह किस प्रकार का सवाल है। वे आमतौर पर 'ऋ' अक्षर का उपयोग करते थे। यह 'ऋ' अक्षर संस्कृत शब्द 'ऋण' से लिया गया था जिसका अर्थ 'उधार लेना' होता है। अत: जब वे घटाने के सवाल करते थे तो वे घटाने के सवाल के पास 'ऋ' अक्षर लिख लेते थे। इससे यह पता चलता था कि यह घटाने का सवाल है। लेकिन यहां पर हम देखते हैं कि धन (+) का चिह्न घटाने के लिये उपयोग में लाया जाता था न कि जोड़ के लिये।

लेकिन फिर भी यहां यह प्रश्न छूट जाता है कि यह (+) चिह्न आया कहां से इस चिह्न का रूप किसने दिया। सम्राट अशोक के शिला लेखों में 'क' अक्षर अनेकों स्थानों पर आया है। इसकी सूरत (+) कुछ हद तक 'क' से मिलती जुलती है। अत: यह भी विचार किया जाता है कि 'क' का रूप ही धीरे-धीरे (+) में बदल गया हो।

डाइफैन्टस ने ऋणात्मक संस्थाओं को प्रदर्शित करने के लिये ψ चिह्न का उपयोग किया था उसने यह चिह्न ψ से लिया था जो पहले से ही उपयोग में लाया जा रहा था। डा० केई ने इस तर्क के आधार पर यह कहा कि ये चिह्न भारतीय गणित में पहले से ही उपयोग में लाये जाते थे लेकिन ग्रीसवासियों ने इस चिह्न को बदल कर दूसरा ही रूप दे दिया था। किन्तु डा० व्रज मोहन के अनुसार यह तर्क न्यायपूर्ण नहीं है।

'न्यून' और 'कन्या' शब्दों का अर्थ कम होता है। 'कन्या' के प्रथम अक्षर 'क' और 'न्यून' के प्रथम अक्षर 'न' को लिया गया जो एक में मिला देने से लगभग क्रास की शक्ल प्राप्त होती है। इसी शकल मे + की आकृति प्राप्त हुई थी जिसे गणित में उपयोग लाया गया था।

एक अन्य विचार के अनुसार 'क्ष' अक्षर का बदला हुआ रूप ही + चिह्न है। यह 'क्षय' शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ कम होता है।

यूरोप निवासी पहले जोड़ के लिये P,P^1 या P^2 का उपयोग करते थे। डच गणितज्ञ वेनडेर हीफी ने जोड़ के लिये सर्वप्रथम + (क्रास) केचिह्न का उपयोग किया था। जर्मनवासी भी जोड़ के लिये सोलहवीं शताब्दी में + चिह्न का उपयोग करते । ग्रेलटियस ने इस चिह्न का उपयोग 'फेतस पोजीशन' के नियमों के लिये किया था।

पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में गणितज्ञ घटाने के लिये $\bar{m}$ या $\tilde{m}$ चिह्नों का उपयोग करते थे m के ऊपर एक रेखा का उपयोग किया जाता था। संभवत: यह रेखा किसी भूल की संबोधित: करती थी। संभव है घटाने का चिह्न (--) इसी m की ऊपरी रेखा से लिया गया हो। m अक्षर को लिखावट में लिखते समय बड़े अक्षरों में—लिखते थे और छोटे अक्षर में लिखते समय—लिखते थे बाद में रेखा के ऊपर तथा नीचै के क्पिु को मिटा दिया गया और खाली रेखा का उपयोग किया जाने लगा। चूंकि लिखावट में m को — लिखा जाता था और साथ ही साथ m घटाने का संकेत था अत: रेखा (–) का उपयोग घटाना के सवालों के लिये उपयोग में लाया जाने लगा।

शेषांक पृष्ठ 10 का

विभेदीकरण भी पाया जाता है परन्तु मातृ द्रव सायनाइट (syenite) पाया जाता है। उत्क्रोच अवस्था में मातृ द्रव भिन्नि शिलाओं में मिलकर चूर्ण विचूर्ण हो जाता है। शुद्ध रूप से एनारथोसाइट मैग्मीय प्रक्रिया के बाद की अवस्था में पाया जाता है।

ओरोजेनिक क्षेत्र में विभिन्न अवस्था में पायी जाती है।

ऊर्जा का नया स्रोत

● अशोक कुमार

गत् दशक से विद्वानों, वैज्ञानिकों यहां तक कि राज नेताओं की भी ऊर्जा संकट देखकर चिन्ता बढ़ गई है। इस क्षेत्र में समय-समय पर अनेकों प्रयास होते रहे हैं लेकिन अभी तक हमको ऊर्जा का कोई विशाल भंडार सुलभ नहीं हो सका है। जीवन का आधार ऊर्जा ही है अतः हम सबको मिलकर ऊर्जा का भंडार खोजना है।

इस क्षेत्र में मैं एक सिद्धान्त दे रहा हूँ जो नीचे वर्णित है। इससे हम आसानी से ऊर्जा की इच्छित मात्रा प्राप्त कर सकते हैं। यह निम्नलिखित हैं :

हम एक प्रकार के नये विद्युत जनित का सिद्धान्त दे रहे हैं जिसमें कुन्डली (आर्मेचर) को नचाने के लिए न तो पानी के झरना का काम लगेगा और न ही वाष्प इंजन का, इसमें तेल इंजन का भी काम नहीं लगेगा। यह सिर्फ शक्तिशाली स्थायी चुम्बक से चलेगा।

इसमें साइकिल के पहिए जैसी एक पहिया होती है जिसमें तीलियां लगी रहती हैं। इस पहिये को किसी धुरे में लगाकर किसी दीवाल से लगाकर स्थिर कर दिया। धुरे से समान दूरी लेकर एक वृत की कल्पना किया और इसके परिधि पर पहिए के प्रत्येक तिल्ली में मुलायम लोहे की प्लेट जड़ दिया हर प्लेट के एक निश्चित यानी समान दिशा में लकड़ी की पतली प्लेटें भी जड़ दिया। इसके बाद प्लेटों द्वारा बने हुये वृत के ब्यास के सिरों पर दो शक्तिशाली स्थायी (इस्पात या फौलाद का) चुम्बक बिपरीत दिशाओं में, एक नीचे से तो एक उपर से, लगा दिया। इसके बाद पहिए को स्वतन्त छोड़ दिया। इसके बाद हमने देखा कि पहिया प्रारम्भ में धीमे गति से और बाद में तेज तथा निश्चित गति से चलने लगा।

क्रिया कैसे हुई: चुम्बक ने अपने सामने के प्लेट को अपने शक्तिनुसार आकर्षित किया जब आकर्षित किया तब चक्का कुछ स्थानान्तरित हुआ और इस दशा में एक चुम्बक के सामने की प्लेट आकर्षित होकर कुछ तिरछी हो गयी यानी लगभग 45° या 50° पर हो गयी और इसके सामने एक दूसरी प्लेट कुछ अधिक दूरी पर आ गयी। और दुसरे चुम्बक के सामने जब पहिया कुछ स्थानान्तरित हुई तो एक प्लेट आ गयी जिसको वह अपने आकर्षण शक्ति से आकर्षित कर लिया। पहले प्लेटो की संख्या बिषम होनी चाहिए। चुम्बक के सामने प्लेट आयी जिसको वह आकर्षित कर लिया। इस तरह यह चक्का गतिमान हो गया। इस चक्के से किसी डायनमों को सम्बन्धित कर देने पर विद्युत पैदा होने लगेगी और हमारा ऊर्जा संकट दूर हो जायेगा।

यह उपकरण बहुत ही आसान और सुदृढ है। इसको कहीं भी बनाकर विद्युत पैदा की जा सकती है। इसमें जो चुम्बक लगेगा वह मिश्र धातु का यदि होगा तो बहुत दिनों तक चलेगा और जब उसकी शक्ति क्षीण होगी तो दूसरा चुम्बक लगा दिया जाय। एक चुम्बक लगभग 10 वर्ष चल जायेगा। इस तरह हमें विना विशेष खर्च के विद्युत ऊर्जा प्राप्त हो जायेगी। ध्यान रहे कि प्लेटों की संख्या विषम रखी जाय।

अंत में हमारी अनुसंधान कर्मियो से हार्दिक प्रार्थना है

कि वे इस प्रयोग को व्यापारिक रूप देकर देश के प्रगति में हाथ बटायें। आप लोगों से मेरा हार्दिक प्रार्थना है कि इस प्रयोग को राष्ट्रीय प्रयोगशाला तक पहुँचा दें।

[हाई स्कूल के विद्यार्थी के मस्तिष्क में उपजी इस 'खोज' को हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं। इसकी व्यावहारिकता तथा उपयोगिता पर प्रकाश डाल कर विद्युत अभियंताओं को चाहिये कि इस युवक का मार्ग दर्शन करें—सम्पादक]
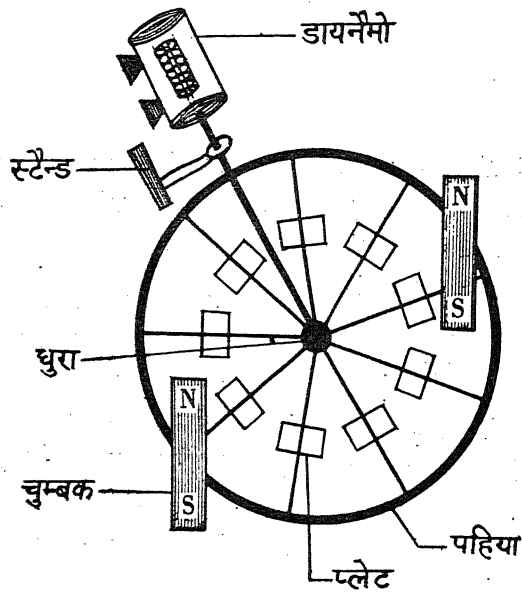
(शेषांश पृष्ठ 14 का)

से भिन्न रहा हो। विकास की सतत प्रक्रिया में आज के सेल का स्वरूप बना होगा। लुआफ के शोधों से ज्ञात हुआ है कि विकास से सेल के गुणों में जहाँ वृद्धि हुई हैं वहीं कुछ प्रारम्भिक गुणों का ह्रास भी हुआ है। आधुनिक सायटोलॉजी के अनुसार कोशिकांग विकास जन्य विशिष्टतायें हैं और पहले सेल में इन विशिष्टताओं का अभाव रहा होगा। इसी प्रकार के साम्यों की ओर ब्रिग्स का भी इशारा है। डॉ० बहादुर के अनुसार प्राचीन सूक्ष्म शरीरधारी की संरचना बहुत ही साधारण रही होगी और ये जैविक गुणों से समपन्न रहे होंगें। ऐसी जीवित प्रणालियों का बनना इसलिए सम्भाव हुआ क्योंकि द्रव्यों में वंशगत गुण है गुणन और अनुकूलनशीलता।

(समाप्त)

विज्ञान, टेक्नालॉजी तथा समाज

● डॉ० आत्माराम

भारत जैसे देश में, जहाँ स्वतंत्रता के आरम्भ के दिनों में उद्योग अच्छी प्रकार व्यवस्थित नहीं था, यह स्वाभाविक था कि औद्योगिक शोध की व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व सरकार पर होता। व्यक्तिगत रूप से मैं ऐसे सभी प्रयासों के एक सीमा से अधिक सरकारीकरण के विरुद्ध हूं। वैज्ञानिक तथा आद्यौगिक शोध कार्य को जहां तक सम्भव हो सरकार के सीधे नियंत्रण से बाहर ही रखना चाहिये। सोवियत रूस, जहां सभी कार्य का माप सरकारी नियंत्रण में होते हैं, में भी अब यह धारणा जोर पकड़ती जा रही है कि शोध कार्यों को सरकार पर निर्भर नहीं करना चाहिये। अतः कई उद्योगों में सरकार से आंशिक अनुदान मिलता है और शेष का वे स्वयं अर्जन करते हैं। आद्यौगिक शोध संस्थानों की व्यवस्था की दृष्टि से भारत में भी इसे क्यों न अपनाया जाय। इससे औद्यागिक आवश्यकता के अनुसार क्रियाशीलता बढ़ाई जा सकती है तथा वैज्ञानिकों व तकनीशियनों की जागरूकता सुधारी जा सकती है

आज जब हम यह दावा करते हैं कि हम संसार के 10 बड़े आद्यौगिक राष्ट्रों में से एक हैं, संसार में वैज्ञानिकों तथा तकनीशियनों की संख्या की दृष्टि से हम तीसरे नम्बर पर हैं, तथा हमारी शोध क्रियाशीलता सर्वोत्तम है तो हमारे देश में भी औद्योगिक शोध में लगे वैज्ञानिकों, इंजीनियरों तथा तकनीशियनों एवं उद्योग के बीच ऐसा सम्बन्ध क्यों नहीं स्थापित किया जाता जिसमें दोनों के बीच एक प्रकार का 'ठेका' सा हो जिसमें दोनों ओर से परम समता रहे।

भारतीय उद्योगों में शोध बढ़ता जा रहा है। आर्थिक तथा प्रशासनिक प्रोत्साहन उपलब्ध होने पर उघस्त्रोगों में अब आर. एण्ड डी. (R&D) सुविधायें स्थापित की जा रही है। प्रयासों के बारे में हमें अब सूचना रहती है क्योंकि आर्थिक अथवा प्रशासनिक प्रोत्साहन प्राप्त करने के लिये कम्पनियों को विज्ञान तथा तकनीकी विभाग में पंजीकरण करवाना पड़ता है। मैं समझता हूँ अब तक लगभग 500 आद्यौगिक इकाइयां इस विभाग में पंजीकृत हैं। सरकार द्वारा स्थापित प्रयोगशालाओं पर, इस वृद्धि का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता।

अब समय आ गया है। राष्ट्रीय अनुसंधान शालाओं को उद्योगों की वर्तमान प्रक्रियाओं को समझ कर अपने शोध कार्यों को पूर्णतया भिन्न आधारों पर व्यवस्थित करना चाहिये। व्यावसायिक भाषा में उन्हें ऐसी क्षमता का विकास करना होगा और अपनी योग्यता इस प्रकार बढ़ाना होगा कि वह उन्हें उद्योगों को 'बेच' सकें ताकि उन्हें अधिक से अधिक आर्डर फर्मों से प्राप्त हो सकें। परिणामस्वरूप इन अनुसंधानशालाओं को धन भी प्राप्त होगा और उनको श्रेय भी प्राप्त होगा। सरकार की 'चुनी हुई तकनीक' के आयात की नीति के कारण आद्यौगिक शोध प्रयोगशालाओं द्वारा उद्योगों के सहयोग से अपनी क्रियाशीलता बढ़ाने की संभावना बहुत अधिक हो गई है।

शिक्षा के विकास के लिये केन्द्रीय सरकार काफी अधिक धन व्यय करती हैं। विस्तार तथा सहायता के होते भी हम देश में सी० वी० रमन, एम० साहा, बीरबल साहनी. एस० एन० बोस तथा पी० सी० महालनोबिस की क्षमता तथा योग्यता के वैज्ञानिक नहीं बना पा रहे हैं। जब वैज्ञानिक शोध की ओर सरकार का योगदान बहुत कम था तो हमने विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। आज सभी जगह यह सुनने को मिलता है कि धन तथा

सुविधा में वृद्धि होते हुये भी विश्वविद्यालयों में शोध कार्य के स्तर में गिरावट आ गई है। ऐसा किस कारण से है। यह सामाजिक दोष है अथवा अनचाहा राजनीतिक प्रभाव है या शायद दोनों ही है।

हम संसार के 10 बड़े औद्यौगिक देशों में से एक भले हो गये हों आज भी हम मुख्यतः कृषि प्रधान देश हैं। औद्योगीकरण का आरम्भ हुआ है यह कहा जा सकता है। तकनीकी ज्ञान तथा कौशल हमारे समाज के भविष्य को सुधारने में वाहक बल का कार्य कर सकता हैं और हमें यह सोचना होगा कि हम अपने प्रयासों को किस प्रकार तथा किस दिशा में मोड़ें ताकि हमारे सामने जो विकराल समस्यायें हैं हम उनको जुट कर मुकाबला कर सकें।

मैं सोचता हूँ महात्मा गांधी की शिक्षा हमें इस प्रश्न का उत्तर देती है। गांधी विचार धारा विकेन्द्रित उत्पादन पद्धति को बताती है जिसमें सत्ता किसी राज्य अथवा किसी वर्ग के व्यक्ति के हाथ में नहीं रहती। उनका विचार आज या भविष्य में हो सकता है कुछ लोगों को न जंचे। मैं ऐसा नहीं मानता। हमारे अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, वैज्ञानिकों तथा तकनीशियनों में से कुछ ने ही गांधी विचारधारणा को अपनाया है। भारतीय समाज आज भी ग्रामीण है जो कृषि पर आधारित है। इधर हाल में भारतीय कृषि में कुछ परिवर्तन आए हैं तथा विज्ञान और टेक्नालॉजी का उत्तरोत्तर उपभोग होने लगा है।

गांधी विचार धारा में टेक्नालॉजी के विकास में किसी भी व्यवस्था में मनुष्य महान है मशीन नहीं। मनुष्य मशीनों का मालिक है न कि मशीनें मनुष्य का। भारतीय परिपेक्ष्य में गांधी विचारधारा आज भी महत्वपूर्ण है फिर भी हमारी आवश्यकताओं तथा परिवर्तित परिस्थितियों के आधार पर उसमें हम कुछ परिवर्तन कर सकते हैं। कोई भी समाज स्थितिक नहीं होता और न ही किसी सामाजिक-आर्थिक पद्धति को नियंत्रित करने वाला कोई सिद्धान्त ही स्थितिक होता है। उदाहरण के लिये उच्च तकनीकों से विकसित-पूंजी विन्यास उत्पाद पॉलिस्टर का खादी में प्रयोग किया जाने लगा है।

संसार के अधिकांश ओद्यौगिक समाजों में अपने देश की सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था निर्धारण करने में श्रमिकों की महान भूमिका रही है। भारत में सांस्कृतिक, भाषाई, धार्मिक, नैतिक तथा जातीय विचारों की आर्थिक विचारों की तुलना में अधिक शक्तिशाली भूमिका रही है

विज्ञान तथा टेक्नालॉजी शरीर की देख भाल कर सकता है परन्तु शरीर की आत्मा का स्थान मानवीय व्यवहार ही ले सकता है। मानवता के बिना विज्ञान तथा टेक्नालॉजी के आधार पर यदि हम सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था खड़ी करें जिसमें आर्थिक विकास साथ साथ न हो तो वह व्यवस्था खड़ी नहीं रह सकती। भारतीय सामाजिक परिपेक्ष्य में ही विज्ञान व टेक्नॉलॉजी का विकास हो। भारतीय समाज के लिये कोई सरल सिद्धान्त लागू नहीं किया जा सकता। भारतीय समाज शास्त्रियों तथा अन्य बुद्धिजीवियों को भारत की सामाजिक समस्याओं का गूढ़ अध्ययन करके उसका हल ढूंढना चाहिये।

*[साइंस तथा टेक्नालॉजी की राष्ट्रीय समिति के अध्यक्ष डॉ० आत्मा राम के 10 वें श्री राम मेमोरियल लेक्चर पर आधारित]

भंडारित अनाज के हानिकर कीड़े

● गौतम लाल जोशी

खाद्य समस्या को जटिल बनाने में उन कीड़ों का बहुत योग दान है जो अनाजों को भंडारों में हाँनि पहुँचाते है। समझा जाता है कि मंडारित अनाज का 10% भाग कीड़े नष्ट कर डालते हैं। यदि हम इन कीटों से अनाज को नष्ट होने से बचा सकें तो हम बहुत हद तक खाद्य समस्या को हल कर सकने में सफल होंगे। अनाजों को हानि पहुँचाने वाले कीड़ों से सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे कीड़ों के जीवन चक्र आदि के बारे में जानकारी प्राप्त करें। इसके अतिरिक्त यह भी जानना आवश्यक है कि कौनसा कीड़ा कब, कहाँ व किस माह में किस फसल को अधिक हाँनि करता है अतः अनाज में लगने वाले कुछ प्रमुख कीड़ों और उनके जीवन चक्र की संक्षिप्त टिप्पणी निम्नांकित है।

चावल घुन (साइटोफिलप्स ओशइजी)

यह घुन कुल का कीड़ा है तथा यह संसार के सभी देशों में पाया जाता है। यह धान को तो हाँनि पहुँचाता ही है लेकिन इसके अलावा गेहूँ, मक्का, ज्वार, जई तथा मिलेट को भी आक्रमण से नहीं छोड़ता है। वयस्क कीड़े अन्न के दाने को तथा उसके बच्चे भ्रूण वाले भाग को खाकर दोनों को खोखला कर देते हैं। इस प्रकार मनुष्य अनाज को खाने लायक नहीं रहता। वयस्क कीड़ा भूरे रंग का होता है। जिसके सिर के सामने की ओर एक लम्बी सी सूंड होती है जिससे यह अनाज को खाता है।

मादा अनाज के दाने में अपने सूंड़ द्वारा कोमल भाग में छेद करके, गडढ़ा बना के इसमें अण्डे देती है। मादा अपने पूरे जीवन काल में तीन से चार सौ तक अण्डे देती है। बच्चों का सिर भूरे रंग का होता है तथा जबड़े कठोर होते हैं। बच्चे दाने के अन्दर घुसकर उसे खोखला बना देते हैं ये 20 से 34 दित तक अनाज खाते रहते हैं और बाद में दाने के अन्दर ही प्यूपा में बदल जाते हैं। यह प्यूपा बाद में कीड़ा बन जाता है।

र्‌हाईजोपर्था डोमिनिका

चावल के घुन के बाद हाँनि पहुँचाने में कदाचित इसी कीड़े का स्थान है। इससे, गेहूँ, मक्का, चावल, दाल, आटा, मैदा फल और यहाँ तक कि लकड़ी, कागज तथा चमड़ा कुछ भी नहीं छूटता। इस कीड़े में वयस्क तथा बच्चे दोनों ही दाने को खाते हैं। वयस्क अधिक हानिकारी होता है! ये दाने में छेद करके आटा सा बना देते हैं जिसमें कीड़ों का मलपदार्थ भी मिल जाता है जिससे अनाज खाने योग्य नहीं रहता।

मादा दाने के भ्रूण वाले कोमल स्थान में अण्डे देती है एक मादा 300 से 500 तक अण्डे देती है। अण्डों में से बच्चे निकलने के तुरन्त बाद दाने के भीतर घुसकर उन्हें खाने लगती हैं। इनका जीवन 44 दिन का होता है। बाद में ये प्यूपा में बदल जाते हैं और सात आठ दिन तक उस अवस्था में रहते हैं। ये कीड़े मई से अगस्त तक अधिक हाँनि पहुँचाते हैं। दिसम्बर में ये निष्क्रिय हो जाते हैं। वयस्क कीड़ा उड़ सकता है।

खपरा बीटिल (ट्रागोडर्मा ग्रैनेरिया)

यह विशेष रूप से गेहूँ को खाता है क्योंकि गेहूँ उसका प्रिय भोजन है पर यह ज्वार, मक्का, चावल, तथा दालों को भी नहीं छोड़ता। इसके बच्चे अधिकतर अनाज के भ्रूण वाले भाग को खाते हैं और कभी-कभी यह पूरे दाने
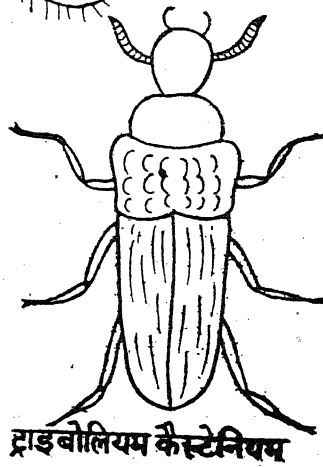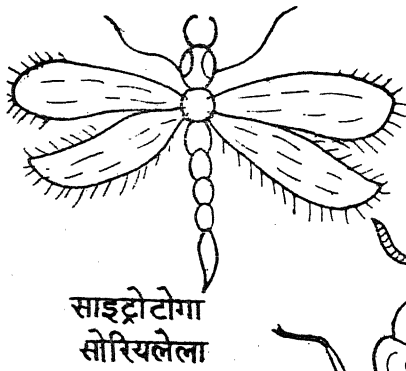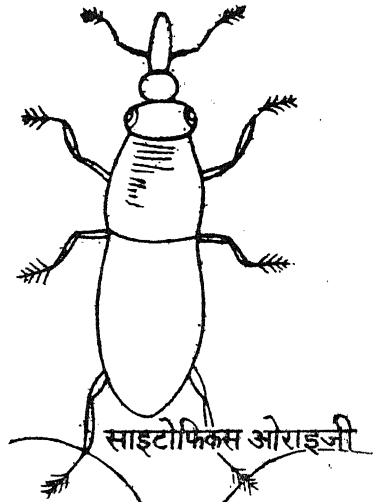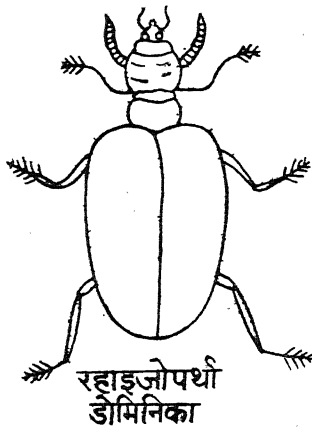
भंडारित अन्न को हानि पहुँचाने वाले कीट

को भी खाते हैं और दाना खोखला ही रह जाता है। बच्चे अधिकतर अनाज की ढेरी की उपरी सतह पर ही रहते हैं और जुलाई अक्टूबर तक के महीनों में अधिक प्रभावशाली होते हैं। इसी समय अनाज में सबसे अधिक हानि होती है। वयस्क कीड़े बसन्त ऋतु में ही दिखाई देते हैं। मादा अण्डे अलग दोनों के ऊपर देती हैं जिसमें से 9 से 16 दिन के भीतर ही बच्चे आते हैं जो पीले भूरे रंग के होते हैं तथा उनके शरीर पर पीले भूरे लम्बे-लम्बे बला होते हैं। ये बाल गुच्छों के रूप में होते हैं परन्तु निकले दाने के नहीं खा पाते इसलिए यह पुराने बच्चों द्वारा निकाले गये आटे पर निर्भर रहते हैं। इन बच्चों का जीवन 50 दिन तथा प्यूपा का जीवन 6 से 17 दिन का होता है।

रस्ट रैड फ्लोरबीटिल (ट्राइजोलियमकेस्टिलिया)

यह कीड़ा टूटे हुए अनाज के टुकड़ों और आटा, सूजी, मैदे को विशेष हाँनि पहुँचाता है। यद्यपि मूंगफली, सूखे फल, सेब, नारियल, स्टार्च पदार्थ तथा चाकलेट भी इससे नहीं बचते। आटे में इनकी संख्या बढ़ जाने से आटा मट-मैला तथा पीला पड़ जाता है और उसमें फफूंद भी लग जाती है। बाद में इस आटे में से तीखी विशेष प्रकार की दुर्गंध निकलने लगती है जिससे यह आटा खाने प्रोग्य नहीं रहता। वर्षा ऋतु में यह कीड़ा बहुत हानि पहुँचाता है।

मादा अण्डों को अलग-अलग करके अनाज के दाने या आटे आदि में देती है। अण्डा छोटा सफेद तथा बेलनाकार होता है। एक मादा 450 तक अण्डे देती है जिनसे 5 से 12 दिन में बच्चे निकल आते हैं जिनका रंग हल्का भूरा होता है और मूंह में चबाने वाले अंग होते हैं। इन बच्चों का जीवन उसे 12 सप्ताह तक तथा प्यूपा का जीवन 6 से 9 दिन तक का होता है। प्यूपा से बाद में वयस्क सूण्डी निकल आती है।

साइट्रोटोगा सोरियोलेला

इसे अंगूमोयस माथ भी कहते हैं क्योंकि पहली बार यह अंगुमोयस फ्रांस में पाया गया था। अमेरिका में इसे प्लाइविविल तथा बंगाल में इसे सूरखी कहते हैं। यह कीड़ा चावल, मक्का, धान, जौ, ज्वार, आटा व सूजी खाता है। इसके बच्चे वास्तव में इसके लार्वे अनाज को हाँनि पहुँचाते हैं। वयस्क कीड़े हाँनिकारक नहीं होते हैं।

मादा खेतों में दूधिया बालियों में अण्डे देती है और वहीं से लार्वा के साथ गोदामों में आ जाते हैं पर इससे अनाज की उपरी सतह को ही हाँनि पहुँचती है। मुख्य कारण यह है कि मादा अनाज के ढेर के अन्दर प्रवेश नहीं कर पाती। क्योंकि कीड़ों को नमी की अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है इसलिए जिन प्रदेशों में अधिक नमी होती है वहाँ ही इन कीड़ों का प्रकोप अधिक होता है। वर्षा ऋतु के पश्चात जुलाई-सितम्बर तक ये कोड़े अधिक प्रभाव शाली रहते हैं। मादा एक-एक करके या गुच्छों में अनाज के दानों पर या दरारों पर या खेतों में बालियों पर अण्डे देती हैं। मादा एक समय में चार सौ तक अण्डे देती हैं जिससे बच्चे निकलते हैं जो दानों में छेद बनाकर घुस जाते हैं। बच्चों का जीवन दो तीन सप्ताह तथा प्यूपा का जीवन लगभग एक सप्ताह का होता है।

चावल का कीड़ा (कार्सेरासेफलानिका)

तितली कुल का यह कीड़ा धान व चावल खाता है परन्तु बिस्कुट, सूखे फल, नारियल, चाकलेट, सूजी, तथा आटे को भी नहीं छोड़ता।

मादा 90 से 200 तक अण्डे बोरे पर, अनाज तथा दीवारों पर देती हैं। अण्डे छोटे सफेद तथा अंण्डाकर होते हैं। इनसे जो बच्चे निकलते हैं वे सफेद रंग के होते हैं जिनका सिर चौड़ा एवं पीला होता है। यह भोजन की तलाश में घूमते रहते हैं और बाद में टूटे फूटे अनाज के दाने खाने लगते हैं। बड़े होने पर ये अन्दर घुसकर मण्ड को खाते है व एक प्रकार का जाला सा बनाकर समूह में रहते हैं! इन के बच्चे का जीवन 25 से 35 दिन तक और प्यूपा का जीवन 10 दिन का होता है। प्यूपा बाद में वयस्क में बदल जाता है जो हाँनिकारी नहीं होता!

चाय की पत्तियाँ आप तक पहुँचने से पहले

● नरेन्द्र भट्ट

चाय आज जनसाधारण से लेकर वर्ग विशेष की सामान्य रूप से प्रिय बनी हुई है तब यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि चाय की पत्तियाँ कैसे चुनी जाती हैं और कैसे चाय तैयार कर आपके निकट भेजी जाती हैं।

चाय की चुनाई करती स्त्रियाँ, चाय के लहलहाते पौधे प्रकृति में मनोरम दृश्य उपस्थित करते हैं। रंग बिरंगे वस्त्र पहने सिर पर या कमर पर टोकरी रखे अपनी मनोहर उँगलियों और फुर्तीले हाथों से चुनाई करते समय प्रकृति की बेटियाँ लगने वाली स्त्रियाँ बड़ी अनुपम लगती हैं।

पुरुषों की अपेक्षा चाय की पत्तियों को चुनने का कार्य प्रायः औरतें ही अधिक कुशलता के साथ करती हैं। वे चाय की पत्तियों इस कला के साथ चुनती हैं कि कार्य में फुर्ती रहे और एक बार में टहनी में लगी दो पत्तियाँ और उनके मध्य कोपल ही टूटे।

चुनाई की विधियाँ चुनाई की दो विधियाँ हैं हाथ से और मशीन से। हाथ से दो तरह से चुनाई होती है। पहली महीन चुनाई जिसमें कम पत्तियाँ तोड़ी जाती हैं और दूसरी मोटी चुनाई जिसमें अधिक पत्तियाँ तोड़ी जाती हैं। मशीन से चुनाई रूस में की जाती है जो एक घन्टे में 138 व्यक्तियों की कार्यक्षमता के बराबर और 503 किलोग्राम पत्तियों की चुनाई कर लेती है जबकि एक श्रमिक महिला 40 कि०ग्राम से अधिक पत्तियों की चुनाई नहीं कर सकती है। किन्तु मशीनी चुनाई से दो हानियाँ होती हैं। यह श्रमिकों में बेरोजगारी फैलाती है और चुनने योग्य कोपले पौधें पर ही रह जाती हैं।

विभिन्न क्षेत्रों में चाय की चुनाई के समय में अन्तर हो सकता है। उत्तर भारत में शीतकाल में चुनाई नहीं करते हैं लेकिन दक्षिण भारत में वर्ष भर चुनाई कार्य होता रहता है। एक वर्ष में चाय की पत्तियों की चुनाई लगभग तीस बार की जाती है।

मोटी चुनाई से प्राप्त चाय कुछ घटिया श्रेणी की और महीन चुनाई से उत्तम श्रेणी की मिलती है। चुनाई की पत्तियों के आकार के आधार पर उनको चूरा, फटकन, पेंको, नरंगी आदि नाम में से कोई नाम दिया जाता है।

चार प्रक्रियाओं के चक्र में चाय की पत्तियाँ:-चाय की पत्तियाँ खेत से चयन के बाद, चार प्रक्रियाओं में से गुजरने के बाद ही आप तक पहुँच पाती हैं। वे प्रक्रियाएँ हैं— (1) सुखाना (2) बेलना (3) फफदना (4) गरम करना

कारखाने में इन चारों क्रियाओं में क्रमशः चाय की पत्तियों पर कार्य होता है। इन चारों परम्परागत विधियो को छोड़कर एक आधुनिक विधि है जिसमें सी० टी० सी० का उपयोग होता है। पहली प्रक्रिया है सुखाना। इसमें पत्तियों में जो 75 प्रतिशत पानी होता है उसमें से 40 प्रतिशत तक कम हो जाता है। चाय की पत्तियों को जाली, तख्तों, रैक, मढ़े हुए टाट या बांस के रॉड किसी भी में रखा जाता है। यदि परिवेश ठंडा हो तो गरम हवा प्रवाहित की जाती है। 18 घन्टों में पत्तियाँ सूख जाती हैं।

पत्तियों के सूखने के बाद उन्हें दो बार कहीं-कहीं तीन बार बेला जाता है। बेलने की क्रिया 20 मिनट से अधिक नहीं की जाती है। टी रोलिंग मशीन द्वारा पत्तियों को

बेला जाता है। इससे पत्तियों की कोशिकाएँ टूट जाती हैं। साथ ही पत्तियों का रंग बदल जाता है। उनसे तैयार चाय की गन्ध आने लगती है।

बेलने के बाद पत्तियों को किण्वन कक्ष में ले जाया जाता है। यहाँ पत्तियों का हवा (आक्सीजन) से संयोग होने के कारण आक्सीकरण हो जाता है। वे लाल रंग की हो जाती हैं। सीमेन्ट के फर्श पर फैलाने के 6 घन्टों के बाद ही किण्वित होकर हरे रंग से लाल रंग में बदलती है। इसके उपरान्त शेल ब्रेकर यंत्र से गुजारी जाती है। इनसे निकली पत्तियों के बारीक भाग किण्वित करने के लिए रखते हैं। पूर्ण किण्वन करने के बाद चाय का रंग काला हो जाता है।

चाय की पत्तियों को किण्वित करने या फफदने के बाद स्वत: चालित मशीनों द्वारा 40 मिनट में सुखा दिया जाता है। पत्तियों में गर्म हवा के सम्पर्क के कारण आर्द्रता 4 प्रतिशात रह जाती है।

आधुनिक विधि में सी० टी० सी० मशीन इन चारों प्रक्रियाओं में तीन प्रक्रियाओं कुचलने, बेलने आदि के बाद अच्छी पत्तियों को छाँट लेते हैं! इस विधि में चाय निर्माण की प्रक्रिया अल्पकाल में पूरी हो जाती है।
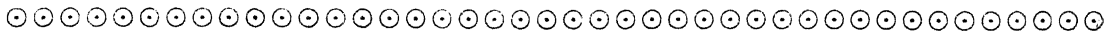
⊙⊙⊙

सूचना

डा० गोरख प्रसाद पुरस्कार

विज्ञान के लेखकों को जानकर प्रसन्नता होगी कि १६७८ से प्रतिवर्ष विज्ञान परिषद् ने 'विज्ञान' में वर्ष भर में प्रकाशित उत्तम लेखों पर तीन पुरस्कार देने का निर्णय किया है। ये पुरस्कार 'डा० गोरख प्रसाद पुरस्कार' कहलावेंगे। पुरस्कारों की राशि निम्नप्रकार रखी गयी है :—

प्रथम	१२५ रु०
द्वितीय	७५ रु०
तृतीय	५० रु०

लेखकों को आमंत्रित किया जाता है कि वे विविध वैज्ञानिक विषयों पर उत्तमोत्तम लेख भेजकर पुरस्कार प्रतियोगिता में भाग लें।

प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

मुखीय-गर्भनिरोधण

● आसुतोष

यह सर्वविदित है कि तेजी से बढ़ती जनसंख्या पृथ्वी पर मानव की सर्वाधिक विकट समस्याओं में से एक है। जनवरी 1976 में जनसंख्या ब्यूरो के अनुसार विश्व की जनसंख्या 3.346 अरब थी तथा इसमें प्रतिवर्ष 65 लाख यानि 180 प्रतिदिन की दर से वृद्धि हो रही है। सं० रा० अमेरिका के अनुसार सन् 2066 में जनसंख्या 24 अरब तक हो जायेगी। यह तथ्य मानव जाति के लिये एक संभावित खतरे की सूचना है यदि मानव-उर्वरता (फर्टिलिटी) को रोकने के अनेक साधनों का विकास कर उनका प्रचार पूरे विश्व में न किया गया।

प्रकृति में पाया जाने वाला हॉरमोन 'प्रोजेस्ट्रान' (कॉरपस-ल्यूटियम हॉरमोन), अनेक कार्यों को करने के साथ एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य भी करता है, वह है गर्भ-धारण के समय अण्डजनन को रोकना। इस हॉरमोन को "प्राकृतिक निरोधक" भी कहते हैं। प्रोजेस्ट्रान की सक्रियता का कारण इसकी विशिष्ट संरचना समझी जाती रही है। सन् 1955 में पिन्कस ने यह तथ्य खोजा कि एक यौगिक, नॉन-इथाइनोड्रल (एक प्रोजेस्ट्रान उत्पाद), यदि महिलाओं को मुख से खिलाया जाय तो उनमें अण्डजनन बन्द हो जाता है।

निरोधक सामग्रियों को साधारणतया 'पिल' कहते हैं। प्रोजेस्ट्रान के तथाकथित गुण के कारण अनेक गर्भ-निरोधकों का निर्माण किया गया है जिनमें प्रोजेस्ट्रान या इसके यौगिकों का प्रयोग किया गया है।

प्रोजेस्ट्रान का संश्लेषण स्टिगमास्टरॉल तथा कोलेस्टरॉल से किया गया है। नेशनल बोटेनिकल गार्डन, लखनऊ के वैज्ञानिकों ने एक औषधि पौधे 'डिस्कोरिया' के तीव्रगति से उत्पादन की विधि विकसित की है। डिस्कोरिया से प्रोजेस्ट्रान का आसान संश्लेषण किया जा सकता है।

वर्तमान समय में उपलब्ध कुछ गर्भ-निरोधक निम्नलिखित हैं :

उत्पाद	प्रोजेस्ट्रान भाग	एस्ट्रोजन भाग
एनोविड	नॉरइथाइनोड्रल	मेस्ट्रनौल
आर्थो-नोवम	नॉरइथाइनोड्रोन	मेस्ट्रनौल
नॉरलेस्ट्रिन	नॉरइथाइनोड्रोन-एसिटेट	इथाइनिल-ऐस्ट्राडौल
प्रोवेस्ट	मेड्रोक्सी प्रोजेस्ट्रोन एसिटेट	इथाइनिल-ऐस्ट्राडौल
ओरेकन	डाइमेथिस्ट्रोन	इथाइनिल-ऐस्ट्राडौल
C-क्विन	क्लोरमेडिनोन एसिटेट	मेस्ट्रनॉल
ओव्यूलेन	इथाइनोडौल-डाइ एसिटेट	मेस्ट्रनॉल
आर्थो-नोवम (क्रमिक रूप में)	नॉरइथाइनोड्रोन	मेस्ट्रनॉल
नोरिनिल-1	नॉरइथाइनोड्रोन एसिटेट	मेस्ट्रनॉल
नोरलेस्टिन-1	नॉरइथाइनोड्रोन एसिटेट	इथाइनिल-ऐस्ट्राडौल
नॉरक्विन	नॉरइथाइनोड्रोन	मेस्ट्रनॉल

सी० डी० आर० आई०, लखनउ में कुछ अन-स्टीरॉयडल मुखीय गर्भ-निरोधकों का, जिनमें हॉरमोन प्रभाव क्षीण है, सफल प्रयोग किया गया है। 'सेन्टक्रोमन' नाम के इस यौगिक का आजकल "फील्ड-परीक्षण" किया जा रहा है।

अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि निरोधक 'पिल' हमारे समय की महत्वपूर्ण खोजों में एक है और इसका महत्व परमाणु ऊर्जा या अन्तरिक्ष उड़ानों से भी अधिक है। ●

मोनोरेको-इलाहाबाद
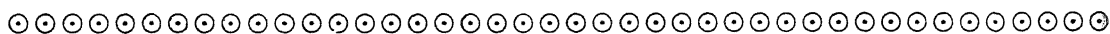
⊙⊙⊙

निर्वात तकनीक के बढ़ते चरण

● रोशन लाल जैन

आकाश को चीर कर नीचे गिरते हुए उल्का की ओर हमारी दृष्टि उससे निकलते प्रकाश पुंज के कारण सहज ही चली जाती है, यद्यपि किसी प्रकार की ध्वनि हमें सुनाई नहीं पड़ती। हम भली प्रकार जानते हैं कि दूरस्थ आकाश खाली है, वहाँ न हवा है न कोई अन्य गैस। वहाँ निर्वात है जिसे दूसरे शब्दों में 'शून्य' कहा जाता है। इसका अर्थ हुआ कि ध्वनि तरंगों के लिए आवश्यक माध्यम वहाँ अनुपस्थित है। हवा का आवरण पृथ्वी के चारों ओर लगभग 3200 किलो मीटर तक ही है। अतएव दूरस्थ आकाश में वायुमण्डल में ऊपर कैसा भी भयंकर विस्फोट क्यों न हो उसकी आवाज हमारे कानों तक नहीं पहुँच सकती।

इसके इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि निर्वात उत्पन्न करने से सम्बन्धित विज्ञान का विकास पिछली कई सदियों में धीमा रहा। 350 ई० पू० महान दार्शनिक अरस्तू ने निर्वात को असंभव करार दिया था। लेकिन एक सदी बाद आर्कमिडीज के सिद्धान्त ने मानव मस्तिष्क में एक महत्वपूर्ण जिज्ञासा को जन्म दिया था, क्या किसी वस्तु की कोई परम मात्रा भी है? इसका जवाब स्पष्टतः निर्वात था। लेकिन दुर्भाग्य से तेरहवीं सदी तक भी रोजर वेकना जैसे वैज्ञानिक यही कहते रहे कि "निर्वात केवल एक गणितीय सार है। व्यावहारिक रूप में इसकी लब्धि असम्भव है।"

गैलिलीयो प्रथम वैज्ञानिक थे जिन्होंने सबसे पहले पिस्टन को सिलिन्डर में से खींचकर आंशिक निर्वात पैदा किया। फिर टारिसेली ने पारे से भरी नली को उलटकर बताया कि पारे का स्तम्भ एक विशेष ऊँचाई पर आकर ठहर क्यों जाता है। इस प्रकार टारिसेली ने आधुनिक वायु दाब मापी (बैरोमीटर) के सिद्धान्त की खोज की। पारे का स्तर वायुमण्डल का दाब बता रहा था और ऊपरी भाग में निर्वात था। आज दाब की (सही शब्दों में निवति की) प्रयुक्त हो रही इकाई 'टॉर' इसी वैज्ञानिक के नाम से जानी जाती है। एक टॉर पारे के एक मिलीमीटर दाब को दर्शाता है।

निर्वात को परिभाषित करने के लिए इसे किसी बन्द क्षेत्र (उपकरण) में विद्यमान हवा अथवा किसी अन्य वाष्प के दाब में हुई कमी से सम्बन्धित करना होगा। वायुमण्डल के दाब (760 टॉर) से कम दाब के क्षेत्र को ही ऋणात्मक दाए का क्षेत्र अथवा निर्वात कहा जाता है। इस दाब को स्पष्टतः ज्यों-ज्यों कम किया जायगा, निवति उतना ही अधिक होगा। इसके लिये आवश्यक है कि सम्बन्धित क्षेत्र से किसी विधि द्वारा वायु को निकाल दिया जाय तथा बाहर की हवा को अन्दर न जाने दिया जाय।

तो क्या इस विधि द्वारा दाब शून्य किया जा सकता है? सम्भवतः नहीं। अभी तक 10^{-16} टॉर तक का निर्वात उत्पन्न किया जा सकता है। यह निर्वात कथित 'क्रायोजेनिक पंपिंग' द्वारा सम्भव हुआ है जो कि बहुत कम ताप के अनुप्रयोग की नवीनतम विधि है। अध्ययन की दृष्टि से निर्वात को चार वर्गों में बाँटा गया है, जिन्हें क्रम से अति सामान्य (760 से 1 टॉर तक), सामान्य (एक टॉर से 10^{-3} टॉर तक) उच्च (10^{-3} टॉर से 10^{-7} टॉर तक) और अति उच्च (10^{-7} टॉर से अधिक) निर्वात कहा जा सकता है। विभिन्न चरणों तक के निर्वात उत्पन्न करने के लिए आज विशिष्ट पंप उपलब्ध हैं जो उपकरण से हवा को खींचकर बाहर

निकाल देते हैं अथवा किसी अन्य विधि द्वारा वहाँ उसका दाब कम कर देते हैं।
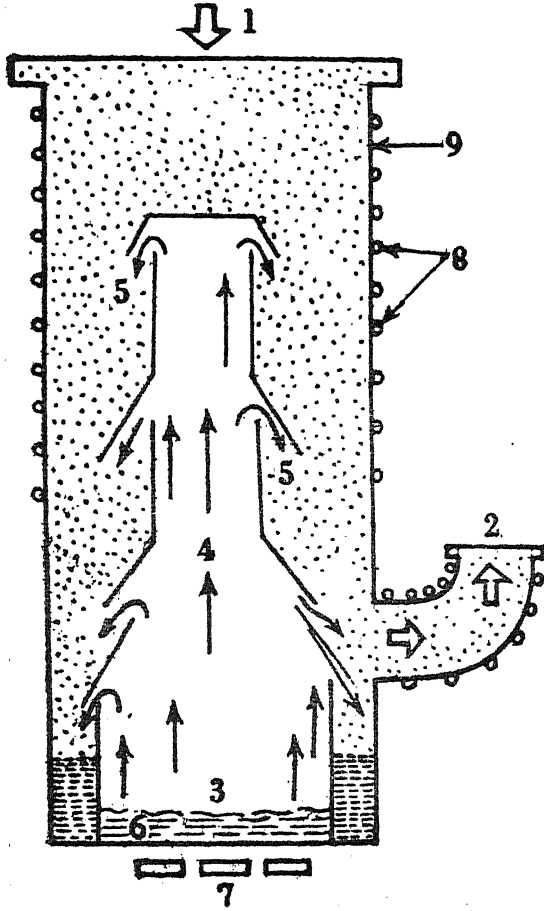
वाष्पधारा पंप व तेल प्रसरण पंप

1. प्रवेश तोरण 2. निकास तोरण, 3. बायलर, 4. चिमनी 5. नाजल, 6. कल, 7. हीटर, 8. शीतलक नलिकाएँ, 9. पंप का आवरण।

निर्वात पंप-प्रकार एवं पद्धतियाँ

सन् 1879 से पहले गैस नलिकाओं में दाब कम करने के लिए पिस्टन वाले पंपों तथा हाथ से चलने वाले टाप्लर पंपों की सहायता ली जाती थी। इनसे लगभग एक चौथाई टॉर निर्वात हो जाता था। बाद में तार के फिलामेन्ट के बल्बों के आने पर अमरीकी रोटेरी पंप को प्रयोग में लाया जाने लगा। आज यह रोटेरी तेल पंप भारत में तैयार होते हैं और 10^{-3} टॉर तक का निर्वात देने वाले ये यांत्रिक पंप आज अनेक प्रयोगशालाओं तथा कारखानों में उपयोग में आ रहे हैं। पंप में तेल वायुरोधी का काम करता है पर 10^{-3} से अधिक निवति होने पर इस तेल से सरण (लीकेज) होने लगता है।

वाष्प धारा पंप अधिक से अधिक 10^{-10} टॉर तक निर्वात दे सकते हैं। इन पंपों में निर्वात, प्रायः कम वाष्प दाब वाले तेल, पारे आदि की गर्म एवं वेग वती वाष्प धारा द्वारा बरतन की गैस के कणों को निकास वाल्व की ओर संवेग देकर प्राप्त किया जाता है। फिर निकास वाल्व से इन गैस के कणों को यांत्रिक पंप अथवा किसी अन्य उपयुक्त पंप से बाहर खींच लेते हैं। प्रयुक्त तेल अथवा पारे की वाष्पधारा पंप के ठंडे भाग द्वारा द्रवित होकर पुनः बायलर में पहुँच जाती है, तेल प्रसरण (डिफ्यु-जन) और पारे का प्रसरण पंप इसी सिद्धान्त पर काम करने वाले पम्प हैं। रासायनिक पंपों में विद्यमान गैस या वाष्प को किन्हीं पदार्थों द्वारा कम वाष्प दाब वाले यौगिकों में परिणत कर दिया जाता है। इस तरह बरतन में उपस्थित वाष्प की मात्रा कम हो जाती है, उदाहरण के तौर पर टाईटेनियम, बेरियम की वाष्प उपकरण की क्रियाशील गैसों से क्रिया करके बहुत कम वाष्प दाब वाले यौगिक बना देती है। निष्क्रिय गैस से इस विधि द्वारा छुटकारा नहीं मिल सकता। इसके लिए तथाकथित 'गेटर आयन' पंप का प्रयोग होता है। आयन पंपिंग पद्धति में निकाली जाने वाली गैसों का आयनिकरण एक प्रबल विद्युत क्षेत्र द्वारा होता है और फिर विद्युत एवं चुम्बकीय बलों द्वारा इन्हें गति देकर निष्काषित कर दिया जाता हैं। अन्य निर्वातोत्पादक पंपों में अधिशोषण पंप भी हैं जो दूषण रहित निवति के लिए प्रयुक्त होते हैं। सक्रिय कृत चारकोल आदि पदार्थ को पंप में रखकर उसे द्रव नाइट्रोजन से ठंडा करते हैं जिससे वह गैसों को अधिशोषित करके बरतन में निवति उत्पन्न करता है। उत्पन्न निवति पदार्थ की शोषण क्षमता पर निर्भर करता है इस प्रकार 10^{-6} टॉर तक का निवति किया जा सकता है।

अन्तरिक्ष अनुसंधान तो अत्युच्च निर्वात का पर्याय ही है। जैसा कहा जा चुका है, क्रायोजेनिक पंपिंग द्वारा यह निवति पैदा किया जा सकता है। लगभग —269°सें० से (द्रव हीलियम ताप) पर उपकरण में विद्यमान सभी गैसें द्रवित हो जाती हैं जिससे दाब कम हो जाता है। उपकरण की सतह पर अधिशोषित गैसों के निकालने के लिए पहले उपकरण को गर्म करते हैं और फिर अन्य पंपों द्वारा उसकी गैस को बाहर निकालते हैं इस क्रिया को कई बार दोहराने पर लगभग 10^{-15} टॉर का निवति उत्पन्न हो जाता है।

भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र बम्बई के तकनीकी भौतिकी प्रभाग में इन विषयों पर काफी अनुसंधान और विकास कार्य हुआ है। प्रसरण—रासायनिक—आयल तथा सार्प्शन पंपों व तत्संबंधी सामग्री आदि का उत्पादन करके यह प्रभाग देश की विभिन्न प्रयोगशालाओं तथा उद्योगों को इनकी पूर्ति कर रहा है। इस प्रभाग ने रक्त परिरक्षण आदि में काम आने वाले 'फ्रीज ड्रायर' भी बनाये हैं। इसके अतिरिक्त निवति के मापन में काम आने वाले विभिन्न दाब मापी भी बनाये एवं सप्लाई किये जा रहे हैं।

निर्वात मापन

साधारण निवति, प्रयोगशाला में पारे या किसी अन्य तेल से भरे मैनोमीटर द्वारा प्रत्यक्ष तौर पर ज्ञात कर लेते हैं, परन्तु उच्च या अत्युच्च निवति को इस विधि से मापने के लिये पानी से भी करोड़ों, अरबों गुना हल्का द्रव आवश्यक होगा। साथ ही प्रयोग में आने वाली मैनोमीटर ट्यूब की लम्बाई उसे अंन्तरिक्ष में पहुँचा देगी। इस प्रकार ऊँचे निवति को परोक्ष विधि से ही मापा जा सकता है। इसके लिए उपकरण में उपस्थित गैस की उष्मा चालकता अथवा उसके आयनीकरण से उपस्थित गैस की उष्मा चालकता अथवा आयनीकरण से प्राप्त विद्युत धारा को ज्ञात किया जाता है। सुविदित मैक्लियाड गेज से 10^{-6} टॉर तक का निवति मापा जा सकता है। आयन धारा, जो दाब के कम होने के साथ कम होती है पर आधारित ठंडे कैथोड़ दाब मापक वा गर्म कैथोड़ दाब मापक विशेष संशोधनों के साथ अत्युच्च निवति माप लेते हैं। इनके प्रयोग से अपोलो 14 के अन्तरिक्ष यात्रियों ने चन्द्र तल पर 10^{-14} टॉर तक के निवति को मापा। उपकरण और उसमें उत्पन्न निवति को ध्यान में रखते हुए कई प्रकार के दाब मापी विकसित किये गये हैं। सामान्य निवति के लिये साधारणतः तापयुग्म दाब मापी इस्तेमाल किया जाता है जो गैस की उष्मा चालकता के सिद्धान्त पर आधारित है।

निर्वात के अनुप्रयोग

निर्वात आसवन की विधि किसी रसायनशाला की एक सामान्य विधि है। सामान्य ताप पर दाब कम करने से द्रव का क्वथनांक घट जाता है यह सभी जानते हैं। इस प्रकार ताप बढ़ाये बिना किन्हीं द्रवों का आसवन सुगमता से किया जा सकता है। इस विधि द्वारा औषध उद्योग विटामिन सम्पन्न तेलों का अति उच्च निवति में आसवन कर विटामिन सान्द्रित करते हैं। निर्बात में पदार्थों में उपस्थित नमी की उड़ाने की लोकप्रिय विधि फ्रीज ड्राइंग द्वारा खाद्य सामग्री, रक्त प्लाज्मा तथा पेनिसिलिन आदि औषधियाँ परिरक्षित की जाती हैं। इस प्रक्रिया से पदार्थों के रंग-रूप और गुण नहीं बदलते।

धातु कर्म में प्रयुक्त सभी प्रक्रियाओं यथा गलाने, वेल्डिंग, सिंटरिंग एवं तापानुशीतन आदि में निर्वात का उपयोग होता है। धातुकर्म में निर्वात भट्टियों का विशेष महत्व है जिनमें आर्क भट्टी प्रेरक भट्टी और इलेक्ट्रान पुंज भट्टी प्रमुख है। आर्क भट्टी मॉलिब्डेनम, जिर्कोनियम, टाइटेनियम आदि अधिक क्रियाशील धातुओं को गलाने के काम आती है। प्रेरक भट्टी में मिश्र धातु संरचना पर भली प्रकार नियंत्रण रखा जा सकता है। तीसरे प्रकार की भट्टी में इलेक्ट्रॉन पुंज द्वारा पैदा हुई उष्मा से धातु को गलाया तथा उसे वेल्ड किया जाता है। निर्वात भट्टियों द्वारा महत्वपूर्ण टइन्टेलम और टंग्सटेन धातुओं को शुद्ध रूप में प्राप्त किया जाता है। इसी प्रकार निर्वात कक्ष में इस्पात को गरम कर गैसीय तथा अन्य अशुद्धियों को निकाल फेंका जाता है।

शोध और उद्योग में अनुप्रयोग की दृष्टि से निर्वात लेपित फिल्मों का प्रमुख स्थान माना जाता है। निवति विरण में लेपित पदार्थ के पतले आवरण धातु के ऑक्सीपरयणआदि द्वारा होने वाली दूषण प्रक्रियाओं से बचाव हो

जाता है। पिछले बीस वर्षों में इन फिल्मों पर विस्तृत काम हुआ है। इन फिल्मों की सहायता से वैधुत चुम्बकीय इलेक्ट्रॉनिक एवं अति संवाहकता आदि गुणों का अध्ययन किया जाता है साथ ही इन पदार्थों की रचना इनमें विद्यमान स्थान भ्रंश स्थानान्तरण घटनायें तथा सही प्रक्रियाओं का भी अध्ययन किया जाता है। औद्योगिक क्षेत्र में निर्वात लेपन की विधि से लेंस लेपन दर्पणों का एलुमिनिकरण इलेक्ट्रॉनिक परिपथ का निर्माण तथा सजावटी सतहों का निर्माण किया जाता है। इसी विधि द्वारा धातुओं पर केड्मियम, एल्युमिनियम आदि का लेप करते हैं जिससे इनकी सुरक्षा होती है। लेपित फिल्म की मोटाई 0.005 इँच तक होती है। इलेक्ट्रानिक उद्योगों में तो निर्वात लेपन एक अपरिहार्य साधन बन गया है। इलेक्ट्रॉनिक क्षेत्र में कैपेसिटर से लेकर कम्प्यूटर में प्रयुक्त होने वाली स्मृति टेप तक सभी वस्तुएँ तैयार करने में इस विधि का उपयीग होता है।

जहाँ तक अन्तरिक्ष विज्ञान में निवति के उपयोग का प्रश्न है *यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि अन्तरिक्ष विज्ञान* सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा विशाल क्षेत्र में अत्युच्च में निवति पैदा करना अन्तरिक्ष के विभिन्न कल पुर्जों की क्षमता निर्धारित करना आदि ने निवति तकनीक के विकास में बहुत बड़ा योग दिया है।

अमरीका और सोवियत इसकी रूचि अन्तरिक्ष विज्ञान में आंशिक रूप से अब भी बनी हुई है। आशा की जा सकती है कि आने वाले वर्षों में पदार्थ विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान के विस्तार से निवति भौतिकी के कुछ और रहस्य खुलेंगे जिनका उपयोग मानव कल्याण के लिये किया जा सकेगा। भविष्य के संगलन रिएक्टरों के निमित्त ड्यूटेरियम तथा ट्रीटियम परमाणुओं के संगलन सम्बन्धी प्रयोग चल रहे हैं। अत्युच्च निवति की सहायता से इन गैसों को परिशुद्ध किया गया है। निवति के इन विविध अनुप्रयोगों ने इस तकनीक को एक रचनात्मक स्वरूप प्रदान किया इसमें संदेह नहीं।

दूर-संचार के क्षेत्र में क्रान्ति

विगत कुछ वर्षों में टेक्नॉलाजी के क्षेत्र में इतनी विलक्षण प्रगति हुई है कि आज आपका टेलिविजन सेट, स्टीरियो, टेलिफोन आदि उपकरण पुराने पड़ गये हैं। अभी तक आप अपने टेलिविजन सेट में अधिक से अधिक 20 चैनलों पर टेलिविजन कार्यक्रमों का अवलोकन कर सकते हैं, परन्तु वह दिन अधिक दूर नहीं जब टेलिविजन सेटों में सैकड़ों चैनलों की व्यवस्था हो जायेगी तथा दर्शक इनमें से किसी भी चैनल पर प्रसारित हो रहे कार्यक्रम को बटन दबा कर देख-सुन सकेंगे। इसी प्रकार दुतरफे वार्तालाप के क्षेत्र में भी नाटकीय परिवर्तन होने वाला है। टेलिफोन से परस्पर वार्तालाप करने वाले दो व्यक्ति वार्तालाप के दौरान सन्नद्ध पर्दे पर एक-दूसरे के चित्र भी देख सकेंगे।

दूर-संचार के क्षेत्र में इस विलक्षण और क्रान्तिकारी प्रगति का श्रेय 'ओप्टिकल फाइबर' नामक एक नवीन और अद्भुत वस्तु को दिया जा रहा हैं। देखने में कांच से निर्मित यह 'फाइबर' वायलिन के तारों जैसा दिखता हैं परन्तु इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेसर किरणें इसमें से होकर प्रवाहित हो सकती है तथा दोनों ओर से अनगिनती संदेशों का प्रसारण किया जा सकता है। विद्युदणु गणकयन्त्र, उपग्रह, कैसेट आदि नवीनतम आविष्कारों के साथ इस अद्भुत आविष्कार का संयोग कर देने से दूर-संचार के क्षेत्र में एक विलक्षण क्रान्ति के द्वार उन्मुख हो गये हैं।

वह दिन अधिक दूर नहीं जब आपके कक्ष में केवल एक टेलिस्क्रीन लगा होगा जिस पर बटन दबाते ही ध्वनि, आकार और आंकड़े आदि आपसे-आप चमकने लगेंगे। वर्तमान घटनाओं के बारे में जानकारी प्राप्त करनी हो, कोई खेल या मैच देखना हो, फिल्म देखनी हो अथवा कोई अन्य कार्यक्रम देखना हो, विद्युदणु गणक-यन्त्र में मौजूद सम्बन्धित बटन को दबाइये और आराम से बैठक कर मनोवांछित कार्यक्रम देखिए। यहां तक कि आप घर बैठे परीक्षा भी दे सकेंगे और अपना परीक्षाफल भी तुरंत मालूम कर सकेंगे।

यदि पर्दे पर आने वाली किसी सूचना या आंकड़े को आप लिखित रूप में कागज पर चाहेंगे तो इसकी भी व्यवस्था रहेगी। उचित बटन दबाते ही आपको मनोवांछित जानकारी या सूचना—इसमें इनकमटैक्स फार्म तथा समाचारपत्र आदि भी शामिल होंगे—अविलम्ब कागज पर छपी हुई मिल जायेगी।

यदि आप विद्युदणु गणक यन्त्र के बटन दबाते-दबाते ऊब जायें और किसी दूसरे नगर में रह रही अपनी पुत्री या किसी अन्य सम्बन्धी से मुलाकात करना चाहें तो अपनी दूर-संचार प्रणाली पर ही उससे आमने-सामने वार्तालाप भी कर सकेंगे। सम्मेलनों आदि के लिए भी ऐसी व्यवस्था की जा सकेगी जिसके अन्तर्गत प्रतिनिधिगण अपने देश में बैठे ही वाद-विवाद और विचार-विनिमय में भाग ले सकेंगे। उचित फीस देकर आप अपनी स्क्रीन पर किसी ऐसे कार्यक्रम को भी देख सकेंगे जो नियमित दैनिक प्रसारण में शामिल नहीं होगा। यही तरीका विश्वविद्यालय के किसी विशेष पाठ्यक्रम का अध्ययन करने के लिए प्रयोग किया जा सकेगा। ऐसे कार्यक्रमों की फीस चुकाने के लिए भी आपको कोई तकलीफ नहीं करनी पड़ेगी। आप घर बैठे अपने विद्युदणु गणक यन्त्र का उचित बटन दबाएंगे और आपके बटन दबाते ही बैंक में जमा आपकी धनराशि से

सम्वन्धित कार्यक्रम की फीस अपने-आप काट ली जायेगी।

दूरसंचार के क्षेत्र में इस अभूतपूर्व क्रान्ति को सम्भव बनाने में विद्युदणु गणक यन्त्र भी महत्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं। इस समय भी लगभग सभी बीमा कम्पनियां, बैंक, कानून पालन कराने वाली एजेंसियां, आंकड़ा-बैंकों का प्रयोग करने लगे हैं। वह आंकड़े और सूचनाएं माइक्रोवेव द्वारा अथवा उपग्रहों के माध्यम से काफी दूर तक भेजना सम्भव हो गया है। उदाहरणार्थ, मिलवौकी स्थित अस्पताल, जिसमें लौसएंजेलेस के रहने वाले एक व्यक्ति का संकटकालीन आपरेशन होने वाला है, लौसएंजेलेस स्थित विद्युदणु गणक यन्त्र में संग्रहीत रोगी के डाक्टरी रिकार्ड की पूरी जानकारी पलक झपते हासिल कर सकेगा। इसी प्रकार, न्यू ओर्लियन्स नगर से प्रकाशित होने वाला एक समाचारपत्र, किसी भी महत्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटना से सम्वन्धित ज्ञातव्य जानकारी न्यूयार्क टाइम्स के ज्ञातव्य जानकारी वैंक से प्राप्त कर सकेगा। एक विद्युदणु गणक यन्त्र दूसरे विद्युदणु गणन यन्त्र में अपने आंकड़े भी प्रेषित कर सकेगा।

आज भी, संचार-उपग्रहों द्वारा एक-दूसरे से 3 हजार मील की दूरी पर स्थित दो स्थानों के बीच टेलिविजन कार्यक्रम आंकड़े और प्रलेख प्रसारित करने का कार्य बहुत आसान हो गया है। भविष्य की टेलिफोन वार्ताओं में, जिसमें दुतरफी रंगीन दृश्यावली भी शामिल रहेगी, दूरी का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा।

संक्षेप में, दूर-संचार के क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रान्ति को साकार रूप देने वाले सभी तत्व इस समय हमारे पास मौजूद हैं तथा उनका व्यापक उपयोग मानव जीवन के सभी क्षेत्रों को विलक्षण रूप से प्रभावित करने वाला है।

दूरसंचार के क्षेत्र में सक्रिय इस क्रान्ति का प्रभाव विश्व के वित्त पर भी पड़ने वाला है। इस समय दुनिया में कागज की—कागजी मुद्रा, चेकों, स्टाकों, वॉण्डों, विलों, आर्डरों आदि—की ही भरमार है। यहां तक कि कार्यालयों और डाकखानों में कागज के ही ढेर नजर आते हैं। लेकिन, भविष्य में यह सब विद्युदणुगणक यन्त्रों की मायाविनी दुनिया में विलीन हो जायेंगे। तब इन सबका कार्य विद्युदणु-गणक यन्त्र संभाल लेंगे और लेनदेन का सारा काम दूर-संचार प्रणाली द्वारा होने लगेगा। साइंस पत्रिका के सम्पादक एडविन वीं० पार्कर के अनुसार, भविष्य की दूरसंचार प्रणाली में पुस्तकालय, समाचारपत्र, मेल आर्डर सूची, डाकघर, कक्षा और रंगमंच आदि का संगम हो जायेगा। आज के टेलिविजन सेट से मिलती-जुलजी होते हुए भी वह उससे सर्वथा भिन्न होगी। आज, टेलिविजन सेटों का उपयोग एक निर्धारित समय पर होता है। लोग अपने टेलिविजन सेटों का उपयोग उसी प्रकार मनोवांछित ढंग पर कर सकेंगे जैसे वह आज अपनी मोटरगाड़ियों का प्रयोग करते हैं।

दूरसंचार के क्षेत्र में होने वाली इस विलक्षण क्रान्ति का एक प्रभाव यह भी हो सकता है कि लोगों के आवागमन या यात्राओं में कमी हो जाये क्योंकि अधिकांश जरूरत घर बैठे ही पूरी हो जाने पर लोग यात्राओं पर बहुत कम जाया करेंगे। इससे जहां सड़कों और वाहनों में भीड़-भाड़ घटेगी वहीं लोगों का समय भी बहुत बचेगा। इस अवकाश का उपयोग लोगों के जीवन को अधिक सुसंस्कृत और अर्थपूर्ण बनाने के लिए जा सकेगा।

पुस्तक समीक्षा
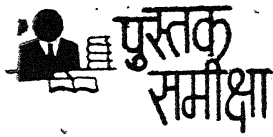
वैज्ञानिक परिवाजक : पृष्ठ संख्या 266, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद—2

(1) प्रारम्भिका—यह ग्रन्थ भूविख्यात स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती की महिमा पर लिखा गया है ।

(2) उनका तापसिक जीवन—स्वामी जी घोर तपस्या के साक्षात्कार हैं—यह तथ्य एक लेख पृष्ठ 132, अन्तिम पैरे, पांचवीं पंक्ति से स्पष्ट हो जायेगा ।

(3) लोकोपकारक कृतियां—लोकमात्र के परिचय के लिए यहां दृष्टान्त के तौर पर साबुन और ग्लीसरीन जैसे लेख काफी होंगे । (पृ० 162)

(4) विशाल दृष्टिकोण तथा समन्वय—

(क) उनके भाषाणों में से—
मैं चाहता हूँ कि सभी भाषाएं एक समान फलें फूलें

(पृष्ठ 171, पैरा 2, पंक्ति 2)

(ख) "मुझे तो अन्तर्जातीय शब्द का प्रयोग अनेक देशों के लिए अपमान सा प्रतीत होता है"

(पृ० 186, पैरा 1, पंक्तियां 3-4)

(ग) हमें नये ढंग के पंडित, पुरोहित और उपदेशक तैयार करने होंगे।

(पृ० 189, अन्तिम पैरा, 7 से चलक पंक्तियां)

(घ) उनका व्यावहारिक दृष्टिकोण—
यह प्रवृत्ति इस उक्ति से स्पष्ट हो जायेगी—"अब प्रश्न सिद्धान्तों का नहीं है, प्रश्न है व्यावहारिकता का" (पृष्ठ 199, पैरा 4, पंक्ति 1 से)

(ङ) आप की वैदिक आयुर्वेद में रुचि—

अथर्ववेद के आधार पर रचित अनेक कृतियों से सम्बन्धित आपके विविध लेख इस विशाल क्षेत्र में बड़े चमत्कारी हैं ।

(पृ० 244, पैरा 2)

(5) उपसंहार—"इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाएगा कि स्वामी जी प्राचीन और अर्वाचीन उच्च आदर्शों का एक विशाल समन्वय हैं ।"

डा० सिद्धेश्वर वर्मा ३५ डिफेन्स कालोनी,
नई दिल्ली

विज्ञान वार्ता

● विकिरण और फसल कटाई

वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि सौर विकिरण केवल पौधों की वृद्धि की नहीं बल्कि उनके आनुवंशिक तंत्र को भी प्रभावित करता है। लेकिन वनस्पति पर विकिरण के प्रभाव की नियमित विशिष्टताओं को खोजने के लिये कई वर्षों के अध्ययन की आवश्यकता है। तार्जक विश्वविद्यालय में डिज़ाइन किये गये गामा अधिष्टापन से इस समय में कटौती करना सम्भव होगा। गामा कण उत्सर्जन, निर्वात व आक्रामक वातावरण को प्रेरित करता है। भिन्न पौधों के विकास पर इन तत्वों के प्रभाव का अध्ययन किया जा रहा है। प्रथम प्रयोगों से पता चला है कि अनेक फसलें, जिनके बीज गामा किरणों द्वारा प्रभावित किये गये हैं, सामान्य की अपेक्षा तेजी से पकती हैं और इनसे प्राप्त फसल की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि होती है।

कम्प्यूटर नुस्खा लिखता है

हाल ही में बाक् में एक मेडिकल साइबरनेटिक केन्द्र स्थापित किया गया है। इसमें एक 20 बिस्तरों वाला अस्पताल, इलेक्ट्रानिकी मस्तिष्क और इसके साथ रेडियो जुड़ी पुनरूज्जीवक मशीनें शामिल हैं। प्रथम संकेत पर एम्बूलेंस रोगी के पास भेज दी जाती है। छोटे व संचालन करने में सरल संवेदक रेडियो द्वारा कम्प्यूटर को रोगी की स्थिति से अवगत कराते हैं। कम्प्यूटर की स्मरण शक्ति में हज़ारों रोग इतिहास व प्रमुख आंकड़े निहित होते हैं। कम्प्यूटर शीघ्रता से अपनी सिफारिश पेश करता है। इस केन्द्र के शल्य क्रिया कक्ष में भिन्न विश्लेषण स्वचालित प्रक्रिया द्वारा किये जाते है। शल्य क्रिया के बाद की अवधि में भी रोगी की दशाओं पर नियंत्रण पूरी तरह स्वचालित रहता है।

संसार की सबसे छोटी लेसर बंदूक

हैम्बर्ग यूनिवर्सिटी के भौतिक विदों ने संसार की सबसे छोटी लेसर बंदूकविकसित किया है। अब तक प्रयोगशालाओं में जुड़ाई आदि के लिये प्रयुक्त होने वाली बंदूकों से यह 10 गुना छोटी है। 0.1 मिमी० व्यास के लेसर क्रिस्टल को इसमें इस्तेमाल किया जाता है। इसे बनाने में इन भौतिक विदों को दो वर्ष लगे।

"तोप" बीजों को दागती है

आपरेटर "तोप" को लक्ष्य पर साधता है और इसकी नली काले रंग का एक पदार्थ दागती है। जर्मनी पांस, उर्वरक व बारहमासी जड़ी बूटियों के बीजों का यह गीला मिश्रण सिंचाई नहर के प्रत्येक मीटर पर ढलानों को ढ़क लेता है।

इन नहरों, बांधों के साथ ही पहाड़ियों के किनारों को जो घास से मजबूत बना दिया गया है। भूमि-परिष्करण में इस्तेमाल की जाने वाली नयी पद्धति उत्पादकता में चार से पाँच गुना की वृद्धि करती है। जल बोआई की पद्धति का एस्तोनियाई जनतंत्र में व्यापक रूप से इस्तेमाल किया जाता है।

कम्प्यूटर द्वारा नियंत्रित दूरबीन

लेनिनग्राद में लेनिन आप्टिकल अपेरेटस एसोसियेशन ने असाधारण डिज़ाइन की एक दुरबीन की जुड़ाई की है। यह भूमण्डल के किसी भी स्थान पर किसी भी भूगोलीय निर्देशांक पर कार्य कर सकती है।

यह नया खगोल-भौतिकीय उपकरण अत्यन्त परिशुद्धता के साथ वस्तुओं पर फोकस कर सकता है तथा आंकड़ों का संचयन करने को व उन्हें प्रक्रियाबद्ध करने की इसकी क्षमता असाधारण रूप से उच्च-स्तरीय है। विस्तृत खगोल-भौमिकीय अनुसन्धान के लिए तैयार की गयी यह दुरबीन कमप्यूटर द्वारा नियंत्रित उपकरणों से सज्जित है। ●

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ०/3/5/

भाग 115 संख्या 8-9 स० 2034 विक्र० अगस्त-सितम्बर 1978

सम्पादकीय

मानव समाज की विभिन्न वंशावलियों में कुछ लक्षण इस प्रकार के होते हैं जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानान्तरित होते रहते हैं और जिन्हें हम आनुवंशिक विशेषक के नाम से जानते हैं। इन विशेषकों का वंशागति स्थानान्तरण जीन्स पर निर्भर करता है। आनुवंशिक विशेषक इन्हीं जीन्स में विद्यमान रहते हैं और गुण सूत्र के वाहक का कारण जीन्स होते हैं। खुराना आदि विश्वविख्यात वैज्ञानिकों ने जीन्स, डी० एन० ए०, जेनेटिक कोड आदि के बारे में हमारे ज्ञान में जो अभिवृद्धि की है वह वास्तव में सराहनीय है और अब तो जीन के संश्लेषण की भी घोषणा की जा चुकी है। अभी हाल ही में परखनली शिशु के जन्म से नई सम्भावनाओं का भी सूत्रपात्र होता है। शिशुओं के जन्मजात रोग एक विकराल समस्या बनती जा रही है और आज इन जीन वैज्ञानिकों के सम्मुख उस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ने की समस्या आ गई है कि कैसे इसका निदान किया जा सके। 1968-69 में वर्ल्ड हेल्थ आर्गनाइजेशन ने सारे विश्व में एक सर्वेक्षण करके यह पता लगाया था कि दोषपूर्ण शिशुओं का अनुपात जिसे 'जेनेटिक लोड' कहते हैं लगभग 6% है। 1977 में यूनाइटेड नेशन्स की विकिरण समिति की रिपोर्ट में यह कहा गया है कि अब यह जैनेटिक लोड' 10.8% हो गया है। आज 100 में से लगभग 11 ऐसे बच्चे जन्म ले रहे हैं जिनमें जन्मजात दोष पाये जाने लगे है। यह चिन्ताजनक विषय बन गया है। सोवियत रूस के जीन वैज्ञानिक डॉ निकोलाई डबनिन के अनुसार आज मानव जाति तथा मानव वंशावली एक खतरनाक स्थिति में पहुँच गई है। अत: इन वैज्ञानिकों को अब ऐसी स्थितियां विकसित करनी चाहिये जिससे इस जन्मजात दोष के बढ़ते प्रकोप को रोका जा सके। वायु मण्डल व पर्यावरण अब काफी संदूषित हो चुका है। पर्यावरण में लगभग 2, 000 ऐसे म्युटाजेन्स हैं जो इन दोषों के मूल कारण हैं। तो इन म्युटाजेन्स का क्या प्रभाव पड़ने वाला है यह पता लगाना अब बहुत आवश्यक हो गया है। शिशु के मृत्यु दर परतो हमने नियंत्रण सा कर लिया है पर क्या विकलांग बच्चे समाज के लिये अभिशाप तथा भार नहीं सिद्ध होंगे। अत: वैज्ञानिकों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह देखें कि डी० एन० ए० को प्रभावित करने वाले इन म्युटाजेन्स को नियन्त्रित करने की कौन सी विधि विकसित की जाय। पिछले कुछ वर्षों में जन्मजात दोषों की वृद्धि का जो दर रहा है इसको देखते हुये लगता है कि मानव समाज के सामने आज एक विकट समस्या खड़ी है जिसका समाधान आवश्यक है।

तड़ित और गर्जन की व्याख्या

● डा० भारतेन्दु

सौर विकिरण से भूमि (जो वायु की तुलना में सुचालक है) के काफ़ी गर्म होने पर वायु में अस्थिरता आ जाती है। इससे वायु की ऊर्ध्वाधर संनयन धारा वहने लगती है। यदि वायु में पर्याप्त नमी हो तो जल वाष्प ऊपर ठंडे तापमान में जाकर संघनित होने लगती है और मेघ आच्छादित होने लगता है। स्वच्छ वायु में विद्यमान ऋण और धन आवेशित कण भी वायु के साथ साथ ऊपर मेघ में पहुँचते हैं। वहाँ गुरुत्व या वायु प्रवाह के कारण ऋण और धन आवेश के कण अलग-अलग कोशिकाओं में बँट जाते हैं। जिन मेघों में यह घटना घटती है वह प्रायः कपासी मेघ ही होते हैं और यह मेघ नभ में फूलगोभी की तरह उभरते हैं।

एक प्रतिमान मेघ का रूपांकन चित्र 1 में किया जा रहा है। मेघ के ऊपरी खण्ड में धनात्मक और मध्य तथा
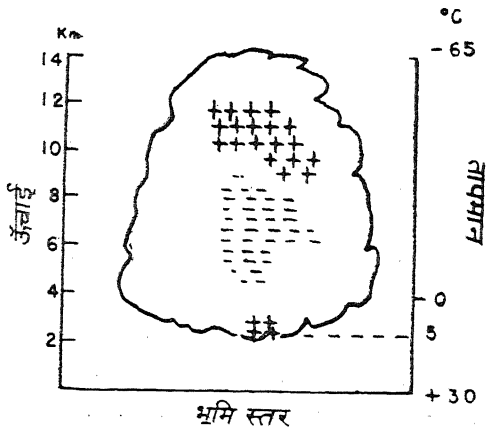
नीचे के भाग में ऋणात्मक आवेश होता है जिनका प्रतिरूपी मान क्रमशः +40 और —40 कूलॉम होता है। मेघ के धरातल में भी प्रायः थोड़ा सा धनात्मक आवेश पाया जाता है, किन्तु इसकी चर्चा हम इस लेख में नहीं करेंगे। मोटे तौर पर धनात्मक और ऋणात्मक आवेश की बड़ी कोशिकाएँ ही महत्वपूर्ण हैं।

इन बड़ी धनात्मक और ऋणात्मक आवेश की कोशिकाओं के बीच जब विद्युत विभव बहुत बढ़ जाता है तब वायु का आयनीकरण होने लगता है। आयनीकरण पथ ज्योतिष्मान होने पर 'तड़ित' कहलाता है। तड़ित का मार्ग सिलिंडर के आकार का होता है, और इसके क्षैतिज काट का व्यास कुछ सेंटीमीटर होता है। इस सिलिंडर आकृति के मार्ग में 10^{10} जूल ऊर्जा उत्पन्न होती है और इस अधिक ऊर्जा के कारण भीषण ऊष्मा उत्पन्न होती है। परन्तु यह घटना कुछ क्षणों के लिए ही घटती है और तात्कालिक उष्णन होने से वायु को प्रसारित होने का समय ही नहीं मिल पाता है। फलस्वरूप आघात तरंग उत्पन्न हो जाती हैं और यह आघात तरंग वायुमण्डल में कुछ मीटर चलने के बाद क्षीण होकर ध्वनि तरंग में बदल जाती है। इसी ध्वनि तरंग को हम 'गर्जन' कहते हैं।

अब यह स्पष्ट हो गया है कि 'तड़ित एक विद्युत चिनगारी है और गर्जन क्षीण आघात तरंग से उत्पन्न ध्वनि है।' मेघों के घर्षण और बूँदों के कण टूटने से इनका सम्बन्ध नहीं है।

तड़ित एक ही मेघ के अन्दर एक भाग से दूसरे भाग में, या एक मेघ से दूसरे मेघ के बीच में, अथवा मेघ और भूमि के मध्य उत्पन्न होती हैं। जब तड़ित पथ भूमि और

मेघ के बीच होता है तो इसे 'भूमि तड़ित' (ground flash) कहते हैं। जब तड़ित दो मेघों के बीच होती है तो 'मेघ तड़ित' (cloud flash) कहलाती है, और जब एक ही मेघ के दो भागों के मध्य होती है तो उसे 'अन्तर्मेघ तड़ित (intracloud flash) कहते हैं। कभी कभी तड़ित मेघ से उदित होकर वायु में ही लीन हो जाती है, तब इसको 'वायु तड़ित' (air discharge) कहते हैं।

मौसमशास्त्री तड़ित को उसके रूप से भी विभाजित करते हैं। जब तड़ित चिनगारी साफ दिखाई देती है तब उसे 'रेखा तड़ित' (streak lightning) कहते हैं। जब तड़ित पथ मेघ में छिपा रह कर मेघ को ज्योतिष्मान कर देता है तब उस तड़ित को 'चादर तड़ित' (sheet lightning) कहते हैं। जब कभी मेघ तड़ित शीघ्रता से बढ़ती हुई स्पष्ट रूप से दिखती है तब यह 'राकेट तड़ित' (rocket lightning) कहलाती है। जब तड़ित काफी दूर हो और उसकी गर्जन न सुनाई पड़े तो उसको 'उष्ण तड़ित' (heat lightning) भी कहा जाता है। मौसम विज्ञान का यह विभाजन केवल गुणात्मक है और इसका कोई विशेष वैज्ञानिक महत्व नहीं है।

एक तड़ित जो हम अपनी आँखों से देखते हैं वास्तव में कई घातों में चमकती-दमकती है। एक विशेष प्रकार के कैमरे से (यह बायज कैमरा कहलाता है) तड़ित के ऐसे प्रेक्षण लिये जाते हैं।

चित्र 2 में भूमि तड़ित और उसके विभिन्न घातों का प्रदर्शन किया गया है। चित्र 2 अ में आँखों से देखी जाने
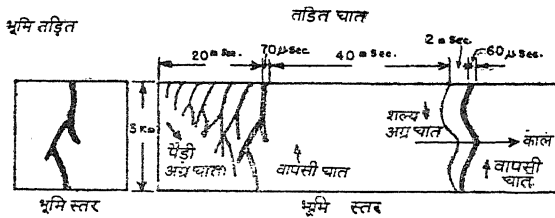
वाली एक सामान्य भूमि तड़ित प्रदर्शित है। चित्र 2 ब में इस भूमि तड़ित के विभिन्न घातों का उद्धरण है। जैसा चित्र 2 ब में दिखाया गया है यह भूमि तड़ित एक पैड़ियों में प्रकट होने वाले अग्रघात से प्रारम्भ होती है। इस घात को 'अग्र पैड़ी घात' (step leader stroke) कहते हैं। सामान्यत: मेघ से लगभग 50 मीटर लम्बी एक मन्द पैड़ी नीचे भूमि की ओर आती है और तुरन्त ही समाप्त हो जाती है। लगभग 50 माइक्रोसेकण्ड बाद दुगनी लम्बी सौ मीटर की पैड़ी निकल कर गायब हो जाती है। पुन: 50 माइक्रोसेण्कड पश्चात तिगुनी लम्बी पैड़ी निकल कर गायब हो जाती है। छुआ-छुलाई करते हुये पैड़ियों का, जिनमें बाद में शाखाएँ भी निकल आती हैं, यह क्रम चलता रहता है। अन्त में, जब अन्तिम पैड़ी भूमि के पास पहुँचती है तब एक अतीव ज्योतिर्मय घात अन्तिम पैड़ी पथ का अनुरेखण करता हुआ भूमि से ऊपर मेघ की ओर जाता है। इसको 'वापसी घात' (return stroke) कहते हैं। वापसी घात की काल अवधि लगभग 70 माइक्रोसेकण्ड होती है और यह लगभग 5×10^7 मीटर प्रति सेकण्ड की गति से ऊपर जाता है। लगभग 5 किलोमीटर लम्बे इस वापसी घात में 10-20 किलो ऐम्पियर विद्युत धारा बहती है।

जैसा चित्र 2ब से स्पष्ट है वापसी घात के पश्चात् लगभग 40 मिली सेकण्ड तक में सब शान्त हो जाता है। इस समय के उपरान्त एक सतत शल्य अग्रघात (dart leader stroke) भूमि की ओर निकलता है। जब यह शल्य अग्रघात भूमि के निकट पहुँचता है तब एक दूसरा वापसी घात मेघ की ओर ऊपर जाता है। तत्पश्चात् सब शान्त हो जाता है और लगभग तीस-चालीस मिलीसेकण्ड पश्चात् पुन: शल्य अग्रघात और वापसी घात प्रकट होते हैं। इन घातों का यह क्रम तड़ित की पूरी अवधि, जो लगभग 0.2 सेकण्ड होती है, और सामान्यत: एक भूमि तड़ित में एक से लेकर चार वापसी घात होते हैं।

जैसा पहले ही बताया जा चुका है वापसी घात की सारणी से उत्सर्जित वेलनाकार आघात तरंग कुछ ही मीटर की दूरी पर क्षीण होकर ध्वनि तरंग बन जाती हैं और हमें गर्जन सुनाई पड़ती है। तड़ित के मुख्य पथ और शाखाओं से उत्पन्न ध्वनि अध्यारोपित होकर हमें सुनाई

देती है। गर्जन की अवधि सामान्यतः 5 सेकण्ड से लेकर 20 सेकण्ड तक होती है। तड़ित की गर्जन प्रायः 25 किलोमीटर की दूरी तक ही सुनाई पड़ती है।

जब तड़ित काफी पास होती है तो गर्जन प्रायः एक धमाके से प्रारम्भ होती है। दूर तड़ित की गर्जन शनैः शनैः तीव्र होती है। कभी कभी गर्जन एक कड़क (clap) में ही सुनाई देती है, वर्ना गर्जन कड़कड़ (peals) या गड़गड़ (rumble) करती है। कड़कड़ तड़ित के मुख्य सारणी के निकट भाग से और गड़गड़ शाखाओं अथवा सारणी के दूर भाग से सुनाई देती है।

गर्जन के दाव तरंग अभिलेखों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि ध्वनि संपीडक है। कुछ किलोमीटर दूर स्थित तड़ित की गर्जन का ध्वनि दाव सामान्यतः 5 माइक्रोबार से लेकर 100 माइक्रोबार तक होता है। (यह स्मरण रहे कि वायुमण्डल का दाव 1 बार होता है)।

गर्जन के वर्णक्रम की जांच करने पर पता लगता है कि इसमें श्रव्य और अवश्रव्य आवृत्तियाँ होती हैं। हमारे कान 20 हर्त्स से कम की अवश्रव्य आवृत्तियों की अनुक्रिया नहीं कर पाते अतएव हम केवल श्रव्य आवृत्तियाँ ही श्रवित करते हैं। श्रव्य आवृत्ति अधिकतम 200 हर्त्स तक पाये जाते हैं। आघात तरंग सिद्धान्त से श्रव्य आवृत्तियों की व्याख्या तो हो जाती है परन्तु अवश्रव्य आवृत्तियों का वैज्ञानिक कारण अभी तक पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं हो सका है। वर्णक्रम स्थानीय और कालीय रूप में चर भी हैं।

तड़ित विद्युत प्रकृति होने के कारण न्यूनतम प्रतिरोध पथ ढूँढ़ती है और तड़िच्चालक द्वारा ऐसे ही पथ की व्यवस्था की जाती है। तड़ित सम्बन्धी भ्रान्तियाँ भी दूर कर देना चाहिये—उदाहरणार्थ तड़ित काले पदार्थ पर गिरती है, या एक स्थान पर दुबारा नहीं गिरती, अथवा मामा भान्जे के साथ होने पर शीघ्र गिरती है आदि सब निराधार एवं असत्य हैं।

तड़ित झंझों में घर के भीतर रहने का प्रयास करें और नलों, पाइप, रेडियो या दूरदर्शन के एण्टेनाओं के तारों को न छुएँ। यदि बाहर फँस ही जावें तो वर्षा से बचने के लिये पेड़ों के नीचे कभी भी न खड़े हों। वृक्षों की ऊँचाई अधिक होने से इन पर तड़ित-पात होने की सम्भावना अधिक होती है। पेड़ों, खम्भों आदि की तुलना में समतल भूमि सुरक्षित है। सबसे सुरक्षित स्थान कार या बस के अन्दर है। पहाड़ी इलाके में चोटी से दूर जमीन पर लेटना वेहतर है। हाथ में छाता, छड़ी आदि भी नहीं लेना चाहिये और रबड़ के सोल के जूते पहनना चाहिये। यह सदैव स्मरण रक्खें कि भीग कर जीवित रहना सूखे रहकर मरने से अनगिनत गुने अच्छा है अतएव तड़ित झंझों में पेड़ों आदि का आश्रय कदापि न लें और ऊँचे स्थानों को भी ग्रहण न करें। ● ●

(शेष पृष्ठ 7 का)

है। मौसमवेत्ताओं के अनुसार उष्णकटिबन्ध से ताप क्षेत्र में ऊष्मा स्थानान्तरण में वृद्धि इन क्षेत्रों के औसत ताप को बनाये रखने में मदद करेगी क्योंकि वर्तमान में इसमें तेजी से गिरावट आने लगी है।

विश्लेषण : सौर सागर शक्ति संयंत्रों की स्थापना का विचार निस्संदेह आर्थिक, ऊर्जा संकट के समाधान एवं पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचाने की दृष्टि से आकर्षक एवं उपयोगी प्रतीत होता है। इनके बारे में विकसित राष्ट्रों, विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका में विस्तृत अध्ययन किया जा रहा है। ● ●

सौर सागर शक्ति

● श्यामलाल काकानी

मानव अनन्त काल से असीमित और प्रदूषण रहित सूर्य की ऊष्मा से व्यावहारिक एवं लाभदायक आधार पर शक्ति प्राप्त करने के स्वप्न संजोये हुये है। इस स्वप्न को साकार रूप प्रदान करने का एक उपाय यह हो सकता है कि उष्णकटिबन्धीय (ट्रॉपिकल) सागरों के ठंडे गहरे पानी और गुनगुनी ऊपरी परत के मध्य ऊष्मा इंजनों को परिचालित कर शक्ति का उत्पादन किया जाये।

विश्व में औद्योगिक क्रांति के साथ-साथ हमारी ऊर्जा के प्रमुख साधनों (परम्परागत)—कोयला, गैस और पेट्रोलियम के भंडार बड़ी तेजी से समाप्त होते जा रहे हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार वर्तमान में विश्व की समस्त आवश्यकताओं का लगभग 32.6 प्रतिशत भाग कोयले से, 44 प्रतिशत भाग तेल से और 19.2 प्रतिशत भाग प्राकृतिक गैस से पूर्ति होती है। वैज्ञानिकों ने चेतावनी दी है कि यदि ऊर्जा के इन स्रोतों का उपयोग इसी गति से होता रहा तो इन परम्परागत स्रोतों के ज्ञात भंडार 21 वीं शताब्दी के मध्य तक लगभग समाप्त हो जायेंगे। हमारे कई रासायनिक उद्योग भी इनका प्रयोग करते हैं अतः उन्हें भी खतरा उत्पन्न हो जायेगा।

परमाणु ऊर्जा के उपयोग से निःसंदेह शक्ति के साधनों में आंकने योग्य वृद्धि हुई है और कुछ समय के लिये ऊर्जा संकट का सीमित हल भी दिखाई देने लगा है। लेकिन यूरेनियम के ज्ञात भंडार भी अति सीमित हैं और एक सर्वेक्षण के अनुसार ये भी लगभग 4000 से 5000 वर्षो में समाप्त हो जायेंगे। परमाणु ऊर्जा के साथ एक बहुत बड़ी समस्या यह भी है कि रेडियोधर्मी अपद्रव्य पदार्थों को कैसे नष्ट किया जाये और पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचाया जावे।

वैज्ञानिक ऊर्जा संकट का कोई स्थायी समाधान ढूंढने के लिए चिन्तातुर हैं। वैज्ञानिक यह भी चाहते हैं कि ऊर्जा का स्रोत, असीमित तो हो ही परन्तु उससे प्रदूषण रहित ऊर्जा भी प्राप्त हो सके। इस दृष्टि से वैज्ञानिकों का ध्यान रह-रहकर सौर ऊर्जा की तरफ ही जाता हैं जो असीमित तो है ही, साथ हो प्रदूषण रहित भी। सूर्य से लगभग पौने दो अरब मेगावाट (1 खरब 73 अरब मेगावाट) बिजली के बराबर सौर शक्ति पृथ्वी से ठकराती है, जो कि मोटे तौर पर एक किलोवाट प्रति वर्गमीटर होती है। लेकिन वह शक्ति कम घनत्व वाली तथा अस्थिर होती है। इसलिये सौर शक्ति को दैनिक उपयोग में लाना अभी काफी मंहगा पड़ता है और अव्यावहारिक भी है। लेकिन पिछले कुछ वर्षों से सौर ऊर्जा से आर्थिक दृष्टि से लाभदायक ऐसी विधियों की खोज के प्रयास प्रारम्भ हो गये हैं जिनसे सौर ऊर्जा का शक्ति के रूप में व्यापक उपयोग हो सके। यद्यपि ये प्रयास शैशवावस्था में हैं लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस शताब्दी के अंत तक कई ऐसे संयंत्रों का विकास संभव हो सकेगा जो व्यावहारिक रूप में व्यापक स्तर पर आर्थिक दृष्टि से लाभकारी सौर शक्ति प्रदान करेंगे। निःसंदेह 21 वीं शताब्दी सौर शक्ति शताब्दी होगी।

यद्यपि सौर ऊर्जा से शक्ति प्राप्त करने के लिए विभिन्न सिद्धांतों पर आधारित कई प्रोजेक्टों पर विकासशील राष्ट्रों में कार्य हो रहा है लेकिन हम यहां फ्रेंच भौतिकशास्त्री जे० डी० आर्सोनवल द्वारा प्रस्तावित प्रोजेक्ट ऊष्णकटि

बन्धीय सागरों के ठंडे गहरे पानी और गुनगुनी ऊपरी परत के मध्य परिचालित होने वाले ऊष्मा इंजिनों का विकास कर असीमित मात्रा में सौर ऊर्जा से शक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

सौर सागर शक्ति संयंत्र : सन् 1881 में जे० डी० आर्सोनवल ने बताया कि ऊष्ण कटिबन्धीय सागरों के ठंडे गहरे पानी और ऊपरी परत के गुनगुने पानी के ताप में लगभग 20°सें. का अन्तर होता है। इस तापान्तर के कारण ठंडे गहरे पानी और ऊपरी परत वाले गुनगुने परत के मध्य एक ऊष्मा इंजिन स्थापित कर शक्ति प्राप्त की जा सकती है। इस शक्ति को 'सौर सागर शक्ति' कह सकते हैं। यह शक्ति प्रदूषण रहित एवं असीमित होगी।

जे० डी० आर्सोनवल के उपर्युक्त सुझाव पर क्लॉरेन्स जेनर ने विचार एवं कार्य किया और पाया कि आर्सोनवल का प्रस्ताव अत्यधिक रोचक एवं आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक सस्ता प्रतीत होता है। डा० जेनर ने अपने अनुसन्धान पेपर में इतना तक कहा है कि आर्सोनवल के सुझाव पर निर्मित सौर सागर शक्ति संयंत्र आर्थिक दृष्टि से इतना सस्ता होगा कि इसके सामने अब निर्मित हो रहे द्रव-धातु फास्ट ब्रीडर रिएक्टर आर्थिक दृष्टि से अनुपयोगी हो जायेंगे। 1966 में एन्डरसन और उसके पिता के द्वारा परिकलन के अनुसार सौर सागर शक्ति संयंत्र की अनुमानित लागत 165 डालर प्रति किलोवाट आयेगी। यद्यपि वर्तमान में यह लागत नाभिकीय शक्ति संयंत्रों की तुलना में बहुत अधिक है लेकिन शीघ्र ही इसको कम किया जा सकेगा। ऐसा अनुमान है कि 1990 तक इन सागर शक्ति संयंत्रों की लागत इतनी कम हो सकेगी कि नाभिकीय शक्ति संयंत्र आर्थिक दृष्टि से अलाभकारी हो जायेंगे।

भौतिक वर्णन : सौर सागर शक्ति संयंत्र का ऊष्मा इंजिन सिद्धान्त रूप में मानक ऊष्मा इंजनों की तरह ही होगा। चित्र 1 में सौर सागर शक्ति संयंत्र के आरेख को प्रदर्शित किया गया हैं। यह सौर सागर शक्ति संयंत्र की एक प्रस्तावित रूप रेखा मात्र हैं।

परिवेश (एम्बिएन्ट) ताप पर उच्च वाष्प दाब और अच्छा ऊष्मा स्थानान्तरण अभिलक्षणिक वाला कोई भी द्रव कार्यकारी माध्यम के रूप में प्रयुक्त कर सकते हैं। डी'
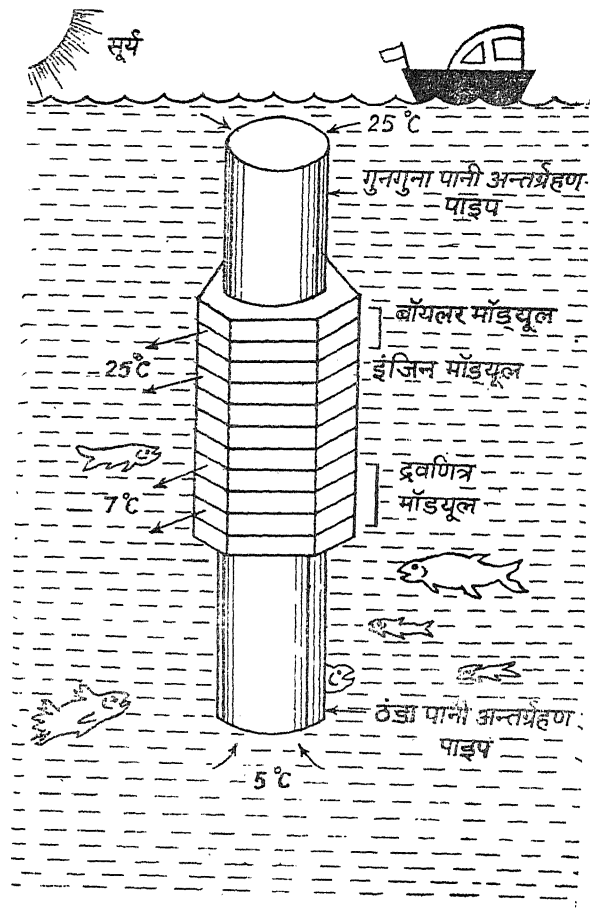
चित्र 1—सौर सागर शक्ति संयंत्र

आर्सोनवल ने अमोनिया को कार्यकारी माध्यम के रूप में प्रयुक्त करने का सुझाव दिया। लेकिन हाल ही में विकसित प्रशीतक तरल जैसे 'फ्रीऑन' आदि अधिक उपयोगी हो सकता है। चित्र 2 में सौर सागर शक्ति संयंत्र का सम्भावित आरेखीय आरेख प्रदर्शित किया गया है। इस आरेख में हम ने कार्यकारी माध्यम के रूप में अमोनिया को केवल दृष्टान्त के रूप में प्रदर्शित किया गया हैं। पर्याप्त रूप से उच्च वाष्प दाब वाला तरल इसलिये प्रयुक्त करते हैं कि

इससे अनावश्यक रूप से वृहद् टरवाइनों को काम में न लाना पड़े।
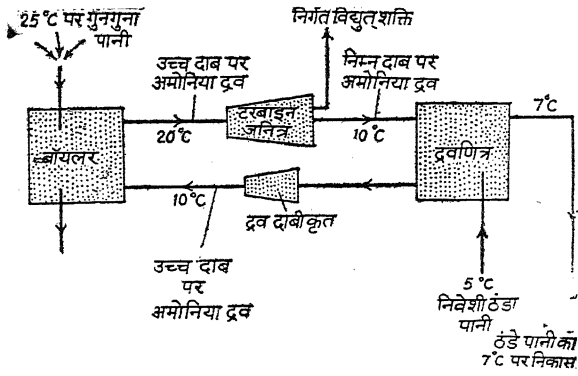
चित्र 2— सौर सागर शक्ति संयंत्र का आरेखीय आरेख।

सम्पूर्ण सौर सागर संयंत्र उदासीन उत्प्लावक होगा और इतनी गहराई पर निमज्जित (सबमर्जड) होगा कि कार्यकारी तरल का वाष्प दाब मुख्य रूप से समुद्री पानी के द्रवस्थैतिक (हाइड्रोस्टेटिक) दाव से प्रतिकारित (कम्पेनसेट) हो जायगा। इस प्रकार 15° सें. पर 105 पौंड प्रति वर्ग इंच अमोनिया के संगत वाष्प दाव के लिए उपयुक्त निमज्जित गहराई लगभग 200 फीट होगी।

उष्ण कटिबन्धीय समुद्र विशेप रूप से सौर सागर शक्ति संयंत्रों की स्थापना के लिए उपयुक्त स्थान हैं क्योंकि इनकी ऊपरी सतह स्थायी रूप से गर्म बनी रहती है और ठंडे पानी की गहराई सापेक्षतया उथली होती है। चित्र 3 में उष्ण कटिबन्धीय समुद्रों का 'विशिष्ट ताप प्रोफाइल' प्रदर्शित किया गया है। यद्यपि सौर सागर शक्ति संयंत्रों की स्थापना का कार्य केवल सैद्धान्तिक आधार पर ही हैं परन्तु आशा की जा सकती हैं शीघ्र ही वैज्ञानिक सौर सागर शक्ति संयंत्रों का विकास कर सकेंगे। ऐसा अनुमान हैं कि 1980 तक सौर सागर शक्ति संयंत्र एक वास्तविकता होगी।

पर्यावरण प्रभाव : द्रुत औद्योगिक विकास और नाभिकीय शस्त्रों के विशाल भंडारों और नाभिकीय शक्ति संयंत्रों के असीमित प्रसार से मानव आज अपने भविष्य के प्रति चिंतित हो उठा है। पर्यावरण प्रदूषित होता जा रहा है
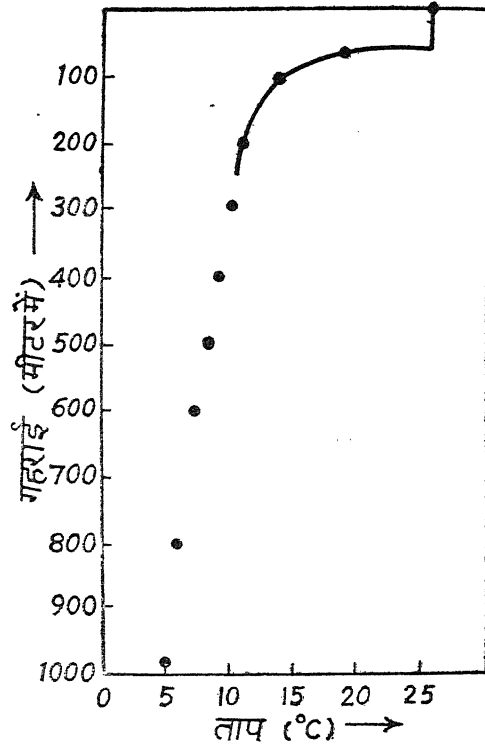
चित्र 3—ऊष्ण कटिबन्धीय सागरों का विशिष्ट ताप प्रोफाइल।

और प्रदूषण इसी रफ्तार से होता रहा तो 21 वीं शताब्दी के मध्य तक तो ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है कि पृथ्वी पर रहना कठिन हो जायेगा। यही कारण है कि विश्व जनमत नाभिकीय शस्त्रों और फास्ट ब्रीडर रिएक्टरों एवं न्यूट्रॉन बमों के विस्तार पर रोक लगाने के पक्ष में बनता जा रहा हैं। इस दृष्टि से सौर सागर शक्ति संयंत्र अत्यधिक लाभकारी प्रतीत होते हैं क्योंकि इनसे पर्यावरण प्रदूषण का कोई खतरा नहीं हैं। निस्संदेह वृहद पैमाने पर सौर सागर शक्ति के उपयोग से ऊष्णकटिबन्धीय सागरों की ऊपरी गर्म सतह के ताप में कुछ गिरावट अवश्य ही आयेगी। इससे उष्णकटिबन्ध वायुमण्डल के ताप में भी गिरावट आयेगी। ताप में इस परिवर्तन का पर्यावरण पर क्या प्रभाव पड़ेगा इस बारे में अभी विस्तार से अध्ययन नहीं किया गया है लेकिन मौसम वेत्ताओं ने ताप में इस परिवर्तन का स्वागत किया

(शेष पृष्ठ 4 पर देखें)

परमाणु ऊर्जा की प्रणेता-लिज माइतनर

● डा० सुरेश गर्ग

विश्व में नाभिकीय युग के विकास के प्रणेता भौतिकीविदों में प्रो० लिज माइतनर का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने ही सर्वप्रथम यूरेनियम के परमाणु के विखण्डन से उत्पन्न होने वाली विशाल ऊर्जा की गणना की और इस विखण्डन प्रक्रिया को नाभिकीय (न्यूक्लीय) विखण्डन का नाम दिया। इसके अतिरिक्त प्रो० ओटो हान के साथ संयुक्त रूप से प्रोटोएक्टिनियम एवं अन्य रेडियोएक्टिव पदार्थों की खोज के कारण प्रो० माइतनर का नाम विश्व के अग्रगण्य भौतिकीविदों की पंक्ति में अमर रहेगा।

अब से एक शताब्दी पूर्व प्रो० माइतनर का जन्म 7 नवम्बर, 1878 को वियना में एक यहूदी परिवार में हुआ था। इनके पिता श्री फिलिप माइतनर वकील थे। घर के सुरुचिपूर्ण वातावरण में लिज ने पिता के पुस्तकालय की तमाम पुस्तकें पढ़ डालीं किन्तु उनकी विशेष रुचि गणित व भौतिकी में थी। उस युग में लड़कियों की शिक्षा के विषय में बड़े ही दकियानूसी विचार थे अतः वे हाई स्कूल की परीक्षा में स्वाध्यायी परीक्षार्थिनी के रूप में ही बैठीं। सन् सन् 1901 से 1905 तक उन्होंने वियना विश्वविद्यालय में भौतिकी, गणित व दर्शन का अध्ययन किया। यहां उन पर प्रो० बोल्ट्जमान, प्रो० एक्सनर एवं प्रो० ऐंटन लेम्पा का विशेष प्रभाव पड़ा। सन् 1906 में लिज ने प्रो० एक्सनर के निर्देशन में 'थर्मल कन्डक्टिविटी इन नान-होमोजिनियस बाडीज' पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर वियना विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। मादाम क्यूरी की रेडियम की खोज की सफलता ने लिज की वैज्ञानिक बनने की आकांक्षा को और प्रोत्साहित किया। उन्होंने प्रो० स्टेफेन मेयर के साथ रेडियोएक्टिवता का अध्ययन आरम्भ किया।

सन् 1907 में माइतनर क्वांटम सिद्धान्त के लिये प्रसिद्ध प्रो० मैक्स प्लैंक के निर्देशन में अध्ययन के लिये बर्लिन आई। आरम्भ में प्रो० प्लैंक को एक महिला द्वारा वैज्ञानिक शोध कार्य करने में शंका थी लेकिन माइतनर की कुशाग्रबुद्धि से वे प्रभावित हुये बिना न रह सके।

प्रो० प्लैंक की कक्षा में जाने के साथ-साथ उन्होंने प्रायोगिक भौतिकी के अध्यक्ष प्रो० रूबेन्स से भी संपर्क स्थापित किया जिन्होंने माइतनर का परिचय डा० ओटो हान से कराया। माइतनर एवं डा० हान ने सन् 1908 में साथ मिलकर परमाणुओं की नैसर्गिक रेडियो एक्टिवता पर अनुसंधान आरम्भ किया। इस अध्ययन में उन्होंने सन् 1908 में ही थोरियम सी व सन् 1917 में एक्टिनियम के जनक पदार्थ एक नये रेडियोएक्टिव तत्व प्रोटो एक्टिनियम की खोज की। यह तत्व रेडियोएक्टिव विघटन के पश्चात् एक्टिनियम बनाता है। इसे आवर्त तालिका में 91 वें तत्व के रूप में थोरियम व रेडियम के बीच रखा गया। रेडियो रसायन में इस खोज पर माइतनर व डा० हान की विज्ञान जगत् में बड़ी सराहना हुई। सन् 1912 से 1915 के बीच डा० माइतनर बर्लिन विश्वविद्यालय में व्याख्याता रहीं। सन् 1917 में वे बर्लिन के कैसर विल्हेम रसायन संस्थान में विकिरण भौतिकी की अध्यक्षा नियुक्त हुई। सन् 1938 में जर्मनी छोड़ने तक वे इस पद पर रहीं। सन् 1926 में उन्हें बर्लिन विश्व-

विद्यालय में भौतिकी का विशिष्ट प्रोफेसर नियुक्त किया गया।

प्रोटो-एक्टिनियम की खोज के बाद डा० माइतनर ने परमाण्विक नाभिक (न्यूक्लियस) की भौतिकी एवं बीटा विकिरणों के लाइन स्पेक्ट्रा एवं इसके गामा विकिरण से सम्बन्ध का अध्ययन आरम्भ किया। इस अवधि में उनका संपर्क आइंस्टीन, हर्टज्, गीगर, फ्रेंक, स्टर्न एवं नील बोर जैसे प्रसिद्ध भौतिकविदों से हुआ।

सन् 1930 के दशक में विश्व के अनेक प्रमुख वैज्ञानिकों का ध्यान यूरेनियम के अध्ययन की ओर केन्द्रित था। सन् 1934 में एनरिको फर्मी ने न्यूट्रानों से यूरेनियम पर बमबारी की और यह घोषित किया कि इस क्रिया के फलस्वरूप एक नये तत्व नेप्चूनियम का निर्माण होता है। इस निष्कर्ष पर वैज्ञानिकों में मतभेद रहा। सन् 1935 में माइतनर ने हान व स्ट्रासमैन के साथ यूरेनियम के नाभिक पर मन्द गति से न्यूट्रानों की बमबारी के प्रयोग आरम्भ किये। 1938 में उन्होंने यूरेनियम के तीन समस्थानिक व थोरियम के एक समस्थानिक की खोज की। यूरेनियम का 28 मिनट अर्ध आयु वाला समस्थानिक 238 परमाणु भार वाले यूरेनियम में अनुनाद ग्रहण (resonance capture) का परिणाम माना गया। न्यूट्रान विकिरणित यूरेनियम से रेडियम के समान समस्थानिक भी प्राप्त हुये थे। जब ये प्रयोग अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचने को ही थे कि नाजियों की यहूदी विरोधी नीति के कारण प्रो० माइतनर का जीवन भी असुरक्षा के भँवर में डूबने लगा। उनके सहयोगी यहूदी वैज्ञानिकों का धीरे-धीरे सफाया हो रहा था। नाजी ऐजेंट प्रतिदिन प्रयोगशाला में आकर छानबीन करते थे, और प्रो० माइतनर से कार्य में प्रगति की जानकारी लेते थे व उन पर कड़ी निगरानी रखते थे। अब उन्हें यह विश्वास हो गया था कि इन परिस्थितियों में उनके जीवन के दिन गिने चुने हैं। मार्च 1938 में उन्होंने एक सूटकेस में थोड़ा सा सामान लिया और एक सप्ताह का अवकाश हालैंड में मनाने के बहाने चल दीं। कुछ भूमिगत मित्रों की सहायता से उन्होंने स्वीडिश वीसा प्राप्त कर लिया और स्टाकहोम जा पहुँची। इस बीच वे गैस्टेपो से गिरफ्तार होने से बालबाल बच गईं अन्यथा गैस चैम्बर में दम घुट कर मृत्यु ही उनकी नियति होती।

स्टाकहोम में प्रो० नील बोर ने प्रो० माइतनर को भौतिकी के नोबेल संस्थान में स्थान दिला दिया। दिसम्बर 1938 में हान व स्ट्रासमैन ने जोलियट क्यूरी द्वारा खोजे यूरेनियम के 3.5 घन्टे अर्ध आयु वाले समस्थानिक पर काम किया और लगभग 140 व 90 परमाणु भार वाले दो नाभिक प्राप्त किये। इससे परमाणु का विभाजन सामने आया किन्तु ये लोग उसकी पूर्ण व्याख्या नहीं कर सके। प्रो० हान ने प्रो० माइतनर को एक पत्र द्वारा सारा प्रायोगिक विवरण लिख भेजा। उस समय वे गोटबर्ग में क्रिसमस मना रही थीं और उनके साथ कोपेनहेगन में प्रो० बोर के साथ कार्यरत उनके भतीजे डा० ओटो फ्रिश भी थे। प्रो० माइतनर ने बार-बार पत्र पढ़ा और वे प्रो० हान के परिणामों से चकित रह गईं। प्रो० माइतनर व डा० फ्रिश ने प्रयोगों को दोहराया। यूरेनियम के नाभिक के विभाजन से उन्होंने बेरियम एवं क्रिप्टान के नाभिक प्राप्त किये व गणना द्वारा उन्होंने ज्ञात किया कि प्रत्येक यूरेनियम नाभिक के विभाजन से उत्पन्न दो नये नाभिकों में आपस में विकर्षण बल से लगभग 200^6 इलेक्ट्रान वोल्ट के बराबर ऊर्जा प्राप्त होती है। 6 जनवरी 1939 को प्रो० माइतनर ने प्रसिद्ध वैज्ञानिक साप्ताहिक 'नेचर' में एक पत्र द्वारा अपने निष्कर्ष प्रकाशित किये व हान द्वारा खोजे प्रक्रम को 'नाभिकीय विखण्डन' का नाम दिया। प्रो० माइतनर व डा० फ्रिश ने प्रो० हान के अनुसन्धान पर अपने निष्कर्षों से प्रो० बोर को अवगत कराया। द्वितीय विश्वयुद्ध में जब विश्व के राष्ट्रों के सामने जीवन-मरण का प्रश्न था, इस खोज का अत्यधिक सामरिक महत्व कूता गया। प्रो० बोर अमेरिका गये जहां उन्होंने आइंस्टीन व एनरिको फर्मी से नाभिकीय ऊर्जा के विषय में बातचीत की। इसकी सूचना राष्ट्रपति रूजवेल्ट को दी गई जिसके परिणामस्वरूप एटम बम के निर्माण के लिये मेनहटन प्रोजेक्ट प्रारम्भ हुआ। अमेरिका ने 6 वर्षों के प्रयास से

(शेष पृष्ठ 14 पर देखें)

काली मिट्टी में भवन निर्माण

● शैलेन्द्र नाथ भटनागर

काली मिट्टी (ब्लैक कॉटन सॉइल Black Cotton Soil) में भवन निर्माण सदा से इंजीनियरों के लिये एक बड़ी समस्या रही है। इसका कारण यह है कि इसमें निर्माण के समय तथा निर्माण के पश्चात् भी अधिकाधिक सावधानियां रखने पर भी काली मिट्टी पर बने भवनों में गहरी दरारें (Cracks) अचानक ही पड़ जाती हैं। भारत में लगभग 16 प्रतिशत भू भाग पर काली मिट्टी ही है। इसमें से अधिकांशतः विन्ध्याचल पर्वतमाला के दक्षिणी पठारी प्रदेश तथा उत्तरी-भारत में हैं।

काली-मिट्टी मुख्यतः दो प्रकार की होती है। पहली तो वह जो ग्रेनाइट (Granite) या ट्रैप (Trap) इत्यादि चट्टानों के टूटने से बनती है। ये चट्टानें टूटने के पश्चात् वातावरण के निरंतर प्रभाव से काली मिट्टी में परिवर्तित हो जाती हैं। दूसरे प्रकार की काली मिट्टी भी बनती तो उपर्युक्त चट्टानों के विनाशन से ही है, पर बहुधा यह अपनी उत्पत्ति के स्थल से दूर पहुंच जाती है। जब ये चट्टाने टूटती हैं तो इसके बिखरे हुए टुकड़े प्रचण्ड वायुवेग एवं जल धाराओं के थपेड़ों से बिखरते; उलटते, उड़ते और काया परिवर्तित करते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर ढ़ेर हो जाते हैं। इस प्रकार की मिट्टी में मुख्य विशेषता यह होती है कि इसमें पाये जाने वाले कार्बनिक पदार्थ (Organlc Substances) इसके कोलाइडी कणों के चारों ओर एक झिल्ली के समान सतह बना लेते हैं। यद्यपि काली मिट्टी में कार्बनिक पदार्थों का प्रतिशत मात्र 4 से 6 ही होता है, तथापि इस प्रतिशत का मिट्टी की अवशोषण क्षमता (Adsorption Power) तथा धारण क्षमता (Bearing Capacity or Bearing Power) पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

कृषि कार्यों की दृष्टि से काली मिट्टी अत्यंत उत्तम मानी जाती है; परंतु नींव कार्य (Foundation Work) के लिये इससे अधिक अविश्वसनीय (Incredítable) मिट्टी अन्य और कोई नहीं है। यदि सभी सामान्य एवं विशेष सावधानियां भी रखी जायें, तो भी भवन निर्माण के दस-पन्द्रह वर्षोपरान्त अचानक ही बिना किसी पूर्व चेतावनी के भवन में गहरी दरारें पड़ जाती हैं।

आइये, जरा इसके कारणों की वृहद विवेचना करें। काली मिट्टी में यह विशेष गुण पाया जाता है, जब यह शुष्क अवस्था (Dry condition) में होती है तो काफी अधिक दबाव भी सुगमतापूर्वक सह लेती है, पर जैसे ही इसमें नमी प्रविष्ठ होती है, इसके आयतन में काफी अधिक प्रसार होता है और इस अवस्था में काली मिट्टी में बनें भवनों को दो प्रकार से हानि होती है। प्रथमतः काली-मिट्टी फैलकर भवन की नींव की दिवारों पर अत्यधिक दबाव डालती है। जिससे दिवारों में गहरी उर्ध्वाधर दरारें (Vertical Cracks) पड़ जाती हैं। दूसरा यह कि नमी युक्त काली मिट्टी की धारण क्षमता अत्यधिक कम हो जाने पर भवन के वे हिस्से जो सामान्य से अधिक ऊंचे हैं, अधिक भार के कारण जमीन में धँसने लगते हैं। इसी प्रकार काली मिट्टी जब नमी त्यागती है तो भी इसका विध्वंसात्मक प्रभाव भवनों पर पड़ता है।

काली मिट्टी का विध्वंसात्मक प्रभाव उसकी पानी के प्रति गहरी प्रीति है। मिट्टी के सूक्ष्मकणों की उच्च केशाकर्षण शक्ति (कैपीलरिटी) के कारण उसमें नमी की मात्रा निरंतर परिवर्तित होती रहती है।

अतएव सामान्यत: जब कभी काली मिट्टी में भवन निर्माण का कार्य किया जाता है तो यह प्रयत्न किया जाता है कि उसकी नींव अधिक से अधिक गहरी रखी जाय तथा प्रति इकाई क्षेत्रफल पर भवन का बोझ (Pressure Intensity) एक सीमा से अधिक न रहे। यह देखा गया है कि लगभग 3 मीटर की गहराई पर यदि नींव रखी जाए तो भवन पर काली मिट्टी के फूलने एवं सिकुड़ने (Swelling and Shrinkage) का प्रभाव लगभग नगण्य हो जाता है। पर व्यावहारिक दृस्टि से इतनी गहरी नींव रखना अत्यंत खर्चीला है। यदि नींव की सतह पर भवन के प्रति वर्ग मीटर पर अधिकतम दबाव को 5 टन (Metric Tonnes) तक सीमित रखा जाए तो भी मिट्टी के संकुचन एवं प्रसार के प्रभाव में कमी की जा सकती है। जिस भूखंड में भूमिगत पानी की सतह काफी ऊंची हो वहाँ यह दबाव 4·0 टन प्रति वर्ग मीटर तक ही रखना श्रेयस्कर है।

यदि यह देखा जाय कि भूमि सतह से नीचे काली मिट्टी की सतह बहुत अधिक गहराई तक नहीं है, तो भविष्य की सुरक्षा को देखते हुए उस सम्पूर्ण मिट्टी को निकाल कर फेंक देना भी विशेष विधियों से भवन निर्माण की अपेक्षा अधिक सस्ता सिद्ध होगा। यदि यह आर्थिक दृष्टि से पूर्णत: संभव न हो तो नींव के क्रांकीट स्लैब (Concrete Slab) तथा काली मिट्टी के मध्य, उसके ऊपर नीचे, चारों ओर, रेत, पत्थर के टुकड़े, मुरम (Sand, Gravel Moorum) अथवा इसी प्रकार के ढीले पदार्थ (Loose Marteial) भर कर नींव की दीवार से काली मिट्टी का सम्पर्क रोकने का प्रयत्न किया जाता है।

इस पर भी हमेशा न तो यह संभव है कि भवन के नीचे भूमि पर दाव सीमित रखा जा सके, या सम्पूर्ण काली मिट्टी को निकाल कर अलग कर दिया जाए और या फिर पूरी तरह से उसकी दीवारों का काली मिट्टी से सम्पर्क तोड़ा जा सके। अतएव इसके लिये विभिन्न प्रकार की नीवों का निर्माण किया जाता है। काली मिट्टी में स्थाई भवन निर्माण के लिये रीनफोर्स्ड-सीमेंट-कांक्रीट (Reinforced Cement Concrete) ने बहुत बड़ा योगदान दिया है। फल स्वरूप भवन निर्माण की इस बड़ी समस्या का भी क्रमश: निदान होता जा रहा है। स्थापत्य कला अभियांतिकी (Civil Engineering) की नित नवीन विधियों एवं अन्वेषणों को देखते हुए यह सोचना भी अनुचित नहीं कि अब काली मिट्टी मी भवन निर्माण के लिए समस्या न रह कर सहायता में परिसीमित हो जाएगी। ●

पादप हार्मोनों का कोशिका के आण्विक स्तर पर प्रभाव

● डॉ० श्याम सुन्दर पुरोहित

प्रत्येक जीन विशिष्ट प्रकार के एन्जाइम संश्लेषण तथा उसकी क्रियाशीलता का नियन्त्रण करता है। सर्वप्रथम सिलवर्गर (1953) ने पादप हार्मोनों का कोशिकाओं के न्यूक्लिक अम्लों की संश्लेपण क्रिया पर होने वाले प्रभावों का अध्ययन किया। वर्तमान में पादप हार्मोनों के न्यूक्लिक अम्ल-उपापचय पर होने वाले प्रभावों को निम्नांकित रूप से अध्ययन किया जाता है।

(i) कोशिका विवर्धन तथा कैलस संवर्धन प्रवर्ध (process),

(ii) वियुक्त कोशिका (पत्तियों) की जीर्णता प्रवर्ध,

(iii) बीजों की वियुक्त ऐल्युरोन-परत में हाइड्रोलेज एन्जाइम की संश्लेषण क्रिया आदि पर।

पादप हार्मोनों के उपर्युक्त प्रवर्धों पर होने वाले प्रभावों को उन सभी निरोधक रासायनों की सहायता से कि जाते हैं जो कि कोशिकाओं के न्यूक्लिक अम्ल तथा प्रोटीन संश्लेषण के विशिष्ट पदों पर निरोधक प्रभावी होते हैं। इन निरोधक रासायनों में ऐक्टीनोमाइसिन-D, साइक्लो-हेक्सेमाइड (ऐक्टीडाइओन), क्लोरमफेनिकोल, प्यूरोमाइ-सिन, 8-ऐजाग्यूएनिन आदि मुख्य हैं, ये रासायन DNA स्तर पर क्रिया कर DNA निर्भर-RNA संश्लेषण को प्रभावित करते हैं जिससे RNA की बहुलीकरण प्रक्रिया पर निरोधक प्रभाव पड़ता है। अन्य रसायनों का भी DNA पर होने वाले प्रभावों पर अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला गया कि प्रोटीन संश्लेषण के निरोधक रसायन ट्रांसलेशन (DNA निर्भर—RNA संश्लेषण) तथा ट्रांस-क्रिपशन (राइबोसोम्स द्वारा प्रोटीन संश्लेषण) प्रक्रियाओं पर निरोधक प्रभाव डालते हैं।

पादप हार्मोन्स का DNA संश्लेषण पर प्रभाव

पादप हार्मोन्स कोशिकाओं के DNA से प्रत्यक्ष क्रिया कर उन पर प्रभावी होता है। जिब्रेलिन कोशिकाओं में संभवतः DNA से पारस्परिक क्रिया कर नव संश्लेषित DNA के क्षारकों को आधारीय संरचना में परिवर्तन उत्पन्न करता है जिससे DNA के रासायनिक व भौतिक गुणों में परिवर्तन उत्पन्न होता है। होम तथा की (1969) ने इस दिशा में गहन अध्ययन किये। इनके अनुसार FudR (फ्लुरोडाक्सी युरीडिन—DNA को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाला निरोधक रसायन) जिब्रेलिक अम्ल द्वारा प्रेरित सोयाबीन के बीज पत्राधर के दीर्घीकरण प्रवर्ध पर निरोधक प्रभाव दर्शाता है। FudR के ये निरोधक प्रभाव बीजपत्राधर के केवल शीर्षस्थ भाग में ही अध्ययन किये जा सके क्योंकि शीर्षस्थ भाग से नीचे वाली कोशिकाएं FudR-क्रिया से अप्रभावित रहती है, जब कि बीज पत्राधर के दोनों भाग जिब्रेलिन की अनुक्रिया दर्शाते हैं। होम तथा की ने इस भिन्नता का मुख्य कारण DNA संश्लेषण क्रिया बताया क्योंकि बीजपत्राधर के केवल शीर्षस्थ भाग में ही कोशिका विभाजन व DNA संश्लेषण क्रिया सम्पन्न होती है तथा शीर्षस्थ भाग से नीचे वाली कोशिकाएं उपर्युक्त क्रिया करने में असमर्थ होती है। अतः FudR सोयाबीन के केवल शीर्षस्थ भाग की दीर्घीकरण क्रिया पर निरोधक प्रभावी होता है। इस प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि पादप हार्मोनों कोशिकाओं में DNA स्तर तक पहुँच कर प्रभावी होते हैं।

डीगानी तथा एट्समोन (1970) द्वारा किये प्रयोगों ने इस तथ्य की ओर मान्यता व प्रमाणिकता प्रदान की है। उन्होंने बताया कि पादप हार्मोन (जिब्रेलिक अम्ल, इन्डोल

ऐसीटिक (अम्ल) ककम्बर के बीजपत्राधर की कोशिकाओं में DNA संश्लेषण क्रिया को प्रेरित कर कोशिकाओं के केन्द्रकों की संख्या में वृद्धि करता है जैसा कि तालिका 1 में दर्शाया गया है :—

तालिका—1

कुकुम्बर के बीजपत्राधर के संवहन पूल के अनुप्रस्थकाट में पादप हार्मोनों से केन्द्रकों की संख्या में होने वाली वृद्धि

क्र० सं०	पादप हार्मोन	केन्द्रों की संख्या
1	प्रारम्भिक अवस्था	308
2	अनुपचारित—48 घन्टे पश्चात्	327
3	GA से उपचारित—48 घन्टे पश्चात्	461
4	IAA से उपचारित—48 घन्टे पश्चात्	429

GA=जिब्रेलिक अम्ल; IAA=इंडोल ऐसीटिक अम्ल ।

यद्यपि, पादप हार्मोन कोशिकाओं में DNA संश्लेषण क्रिया को प्रेरित कर उनका परिवर्धन करते हैं लेकिन इस अवधारणा के कुछ महत्वपूर्ण पहल अभी तक अज्ञात है, जैसे—पादप हार्मोन से प्रेरित नव-संश्लेषित DNA, कोशिकाओं में पहले से ही विद्यमान DNA के समरूप होता है अथवा नहीं ?

ऐट्समोन (1970) के अनुसार नवसंश्लेपित-DNA उपापचयी-DNA के प्रकार का होता है ।

कोशिकाओं में ऑक्सिन की RNA से प्रतिक्रिया

सर्वप्रथम स्कूग (1954) ने बताया कि ऑक्सिन, न्यूक्लिक अम्ल के उपापचय प्रवर्ध को प्रभावित कर कोशिकाओं में वृद्धि का नियन्त्रण करता है। IAA 'आवीना' प्रांकुरचोल, सोयाबीन के बीज पत्राधर-ऊतक, मटर-स्तंभ काट की कोशिकाएं, नारियल दूध के केन्द्रकों आदि के RNA संश्लेषण प्रवर्ध को प्रेरित करता है। IAA नारियल दुग्ध तथा मटर के स्तंभ काट में न केवल RNA, DNA तथा प्रोटीन संश्लेषण क्रियाओं को ही प्रेरित करता है वरन् संश्लेषित RNA को कोशिका द्रव्य तक पहुँचाने में भी सहायक होता है। हाल ही में यह ज्ञात हुआ है कि IAA मटर की बीज पत्राधर कोशिकाओं के बहुत गुरु अणुओं से युग्मित हो जटिल-अणुओं का निर्माण करता है। ये जटिल अणु RNA स्वभाव के होते हैं। इस प्रकार के RNA को S—RNA से वर्णित किया जाता है।

इवान तथा रेय (1969) ने बताया कि ऑक्सिन द्वारा होने वाली कोशिकाओं की दीर्घीकरण क्रिया, संदेशवाहक-RNA तथा एन्जाइमी-प्रोटीन की संश्लेषण क्रिया से अप्रभावित रहती है। इन्हीं के अनुसार कोशिकाओं में ऑक्सिन प्रोटीन संश्लेषण के ट्रांसलेशन स्तर पर क्रिया कर कोशिका-भित्ति या कोशिका झिल्ली-प्रोटीन जैसे संरचनात्मक प्रोटीन संश्लेषण प्रवर्ध को प्रेरित करता है।

साइटोकाइनिन एवं न्यूक्लिक अम्ल उपापचय

यह अब सर्वविदित है कि कोशिकाओं में काइनेटिन (साइटोकाइनिन) किसी न किसी रूप से न्यूक्लिक अम्ल उपापचय से सम्बन्धित रहता है। सामान्यतः काइनेटिन ऑक्सिन की उपस्थिति में तम्बाकू ऊतक-संवर्धन (tissue culture) के दौरान DNA संश्लेषण प्रवर्ध को प्रेरित

करता है। प्याज के मूलाग्र को काइनेटिन से उपचारित करने के केवल 30 मिनटों पश्चात् ही उनमें RNA की मात्रा दुगुनी हो जाती है जबकि इन्हीं कोशिकाओं में DNA की मात्रा कम हो जाती है। आसर्बन (1962) के अनुसार काइनेटिन RNA की संश्लेषण क्रिया का नियन्त्रण करता है जो कि प्रोटीन संश्लेषण (ट्रांसक्रिपशन) एक महत्वपूर्ण पद है।

कोशिकाओं के RNA में दो प्रकार के वृद्धिकारी रसायनों—बेन्जकऐडेनीन तथा 6-मेथिल ऐडेनीन का समावेशन संभव होता है। फोक्स (1966) के अनुसार पादप कोशिकाओं में साइटोकाइनिन बहु-न्यूक्लिओटाइड में समावेशन कर प्रोटीन संश्लेषण क्रिया को प्रभावित करता है।

हॉल और साथियों (1966) ने यीस्ट के सीरीन-स्थानान्तरण RNA से अत्यधिक क्रियाशील साइटोकाइनिन [N^6—($\triangle^2$ आइसोपेन्टाइल ऐमीनो) प्यूरीन] की विविक्ति कर यह पूर्णत: सिद्ध कर दिया है कि कोशिकाओं में साइटोकाइनिन किसी न किसी रूप में RNA से सम्बन्धित रहता है।

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि पादप हार्मोन कोशिका में DNA व RNA स्तर पर प्रभावी होकर अपने प्रभाव दर्शाते हैं। ●

(पृष्ठ 9 का शेष भाग)

1945 में एटम बम बना लिया और अगस्त 1945 में हिरोशिमा एवं नागासाकी के विनाश में उसका उपयोग किया। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अटलांटिक पार बातचीत में प्रो० माइतनर की प्रशंसा की तथा उनकी तुलना महान मदाम क्यूरी से की। नाभिकीय ऊर्जा के इस विनाशकारी दुरुपयोग से प्रो० माइतनर को अत्यन्त दुख हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत में उन्होंने कहा था कि उन्होंने परमाणु के विखण्डन के कार्य में कभी भी यह नहीं सोचा था कि इससे विनाशकारी आयुध बनाये जायें। उनके विचार में ऊर्जा के इस स्रोत का उपयोग मनुष्य की प्रगति एवं समृद्धि के लिये किया जाना था। लेकिन उनकी खोज का युद्ध में जिस तरह उपयोग हुआ उससे उन्हें भारी आघात लगा।

अपने शोध कार्यों के लिये प्रो० माइतनर का विश्व-व्यापी सम्मान हुआ। उन्हें बर्लिन विज्ञान अकादमी का लीबनिज पदक (1924), आस्ट्रियन विज्ञान अकादमी का लीबेन पुरस्कार (1925), वियना नगर का विज्ञान पुरस्कार (1947), व प्लैंक पदक (1949) से सम्मानित किया गया। सन् 1955 में वे रायल सोसाइटी की फेलो चुनी गईं। सन् 1960 में वे कला एवं विज्ञान की अमेरिकन अकादमी की सदस्या चुनी गईं तथा सन् 1966 में अमरीकी परमाणु शक्ति आयोग के 50 हजार डालर के एनरिको फर्मी पुरस्कार की वह प्रो० हान व स्ट्रासमैन के साथ सहभागिनी थीं। स्वीडन, कोपेनहेगन, गोटबर्ग, वियना, बर्लिन, गोटिंजन की वैज्ञानिक अकादमियों की वे विदेशी सदस्या थीं। स्टाकहोम विज्ञान अकादमी की मादाम क्यूरी के बाद वे दूसरी महिला सदस्या थीं।

सन् 1958 में नोबेल संस्थान से अवकाश के बाद प्रो० माइतनर कैम्ब्रिज चली गईं जहां विश्वविद्यालय में डा० फ्रिश भौतिकी के प्रोफेसर थे। प्रो० माइतनर आजन्म अविवाहिता रहीं। कैम्ब्रिज में ही 27 अक्टूबर 1968 को इस यशस्वी महिला भौतिकीविद् का देहावसान हुआ। ●

विज्ञान वार्ता

● नाक में छिड़काव से सन्तति निरोध

आल इण्डिया इन्स्टीटयूट आफ मेडिकल साइंसेस, देहली ने एक ऐसी सन्तति निरोधक दवा का विकास किया है जिसे नाक में छिड़का जा सकता है। इस दवा का प्रभाव देखने के लिये वर्ल्ड हेल्थ आर्गनाइजेशन की ओर से आस्ट्रेलिया, मेक्सिको, पश्चिमी जर्मनी, स्वीडेन, ब्रिटेन, कोरिया तथा भारत की 50 महिलाओं पर प्रयोग करने का निर्णय लिया गया है। इस दवा में वही 'प्रोजेस्टेरोन' नामक हारमोन है जो 'पिल' में रहता है। 'पिल' को महीने में लगातार 21 दिन तक खाना पड़ता है और यह जिगर, पाचन अंग तथा रक्त धारा में होता हुआ हाइपोथैल्मस ग्रन्थि तक पहुँचता है जबकि इस छिड़काव द्वारा हारमोन सीधे इस ग्रन्थि तक पहुँचेगा और छिड़काव महीने में केवल 1 दिन तक करना पड़ेगा। 'पिल' में 350 माइक्रोग्राम हारमोन होता है जबकि इस दवा में केवल 35 माइक्रोग्राम की ही आवश्यकता पड़ेगी। भारत में बन्दरों पर प्रयोग किया जा चुका है। तीन महीने चलने वाले इस प्रयोग से यह निष्कर्ष निकाला जायगा कि इस दवा का कोई अन्य प्रभाव तो साथ साथ नहीं पड़ता।

● सूर्य से बिजली

राष्ट्रीय एअरोनाटिकल प्रयोगशाला बम्बई ने एक ऐसे टर्बो यंत्र का आविष्कार किया है जो सूर्य की ऊर्जा से विद्युत पैदा करता है। यह ग्रामीण क्षेत्रों में पानी खींचने और विद्युत उत्पादन के लिये लाभदायक हो सकता है।

प्रयोगशाला के अधिकारियों के अनुसार यह उपकरण विश्व में अपने प्रकार का है। यह उपकरण गर्मी और सर्दी दोनों मौसमों में कार्य कर सकता है। इसके लिये न्यूनतम 60° सें० ताप की आवश्यकता होती है। इतने तापमान से 1 किलोवाट बिजली आसानी से प्राप्त की जा सकती सकती है।

परम्परागत टरबाइनों में गर्म गैस का प्रयोग किया जाता है। नये टरबाइन में एसीटोन वाष्प, जिसका ताप 60° सें० होगा, से विद्युत उत्पादन किया जा सकेगा।

विशेषज्ञों द्वारा बनाये गये उपकरण में एसीटोन वाष्प में बदलता है, फिर यह गैस टरबाइन में प्रविष्ट होती है जहां वह प्रति मिनट 10 हजार चक्कर लगाने लगता है। इस उपकरण से गांवों में पेय जल तथा सिंचाई की समस्या हल की जा सकती है।

● ऊष्मा अवरोधी पदार्थ

शेनेक्टाडी, न्युयार्क, स्थित जनरल इलेक्ट्रिक रिसर्च एण्ड डेवलपमेन्ट सेन्टर के वैज्ञानिकों ने एक ऐसे पदार्थ का निर्माण किया है जिसमें धातु के गुणों के साथ साथ क्षरण तथा ताप अवरोधी गुण भी पाया जाता है। सिलिकन फिलर द्वारा पृथक्कृत सिलिकन कार्बाइड से बना यह पदार्थ 1372° सें० तक कार्य कर सकता है। इस पदार्थ का गैस टर्बाइनों, कोल गेसिफिरों तथा अन्य उच्च ताप पर कार्य करने वाली मशीनरियों में प्रयोग किया जायगा। ●

'विज्ञान भारती' विमोचित

प्रयाग से प्रकाशित होने वाली नवीन वैज्ञानिक द्वै-मासिक 'विज्ञान भारती' के प्रवेशाँक का विमोचन डा० आत्माराम, अध्यक्ष, राष्ट्रीय विज्ञान एवं औद्योगिकी समिति भारत सरकार के कर कमलों से 5 अगस्त, 78 को सायं 6-30 बजे विजयानगरम हाल (इलाहाबाद वि०वि०) में हुआ।

सुकदेव प्रसाद के साथ डॉ० आत्माराम

विमोचन के अवसर पर स्थानीय तथा बाहर के लगभग 100 वैज्ञानिक पत्रकार, अध्यापक एवं वैज्ञानिक गण उपस्थित थे। डा० आत्माराम ने 'विज्ञान भारती' की पहली प्रति डा० बाबू राम सक्सेना (भू० पू० उपकुलपति, प्रयाग वि० वि०) को भेंट कर विमोचन की परम्परा का निर्वाह किया।

उपस्थित जन समुदाय को सम्बोधित करते हुए डा० आत्माराम ने कहा कि, 'प्रसन्नता का विषय है कि जिस पत्रिका का विमोचन मैंने किया है, वह युवा विज्ञान पत्रकारों की निष्ठा एवं लगन का परिणाम है। वस्तुतः विज्ञान तभी लोक प्रिय होगा जब वह जन साधारण की भाषा में प्रस्तुत किया जावे। प्रसन्न हूँ कि युवा सम्पादक शुकदेव प्रसाद ने विज्ञान भारती के प्रकाशन से विज्ञान को लोकप्रिय बनाने की दिशा में स्वस्थ परम्परा की शुरुआत की है। प्रयाग की विज्ञानीय टीम का सत्यप्रयास तो सराहनीय है ही, हमारे लिए श्लाघनीय भी है, क्योंकि विज्ञान भारती का प्रकाशन उस पवित्र धरती से हुआ है जो वैज्ञानिकों एवं वैज्ञानिक साहित्यकारों के लिए प्रेरणा स्रोत रही है।

आज से 65 वर्ष पूर्व विज्ञान परिषद् ने हिन्दी माध्यम से देश में विज्ञान शिक्षण एवं पठन-पाठन का पर्याप्त वातावरण तैयार किया था। इस शृंखला को आगे बढ़ाने में इसी भूमि से अंकुरित नन्हा बिरवा फले-फूले, यही मेरी कामना है। ●

(शेष पृष्ठ 20 का)

अन्तर-राष्ट्रीय वैज्ञानिक परिषदों और सम्मेलनों के लिए डा०सद्गोपाल कई बार देश से बाहर गए 1. 1959 में सुगन्धित तैलों की कांग्रेस के लिए ग्रासे (Grasse), फ्रान्स में 2. पुर्तगाल '59 3. सोफिया, बलगेरिया '64 4. तेहरान '64 5. रोम, इटली 1965

डा० सद्गोपाल ने वैज्ञानिक विषयों पर मौलिक, आलोचनात्मक, और विविध उपयोग के शोध लेख, निबन्ध आदि बहु संख्या में लिखे—समस्त सूची 230 के लगभग होगी। अपने शोध-कार्यों के लिए अथवा परामर्श के लिये इन्होंने अनेक देशों में भ्रमण किया—बौरबॉन द्वीप, बर्मा, सीलन (श्री लंका), चीन, साइप्रस, इथिओपिया, फ्रान्स, फॉर्मोसा यूनान, हाँगकाँग, इण्डोनीशिआ, ईरान, आयरलैण्ड, इस्रायिल, इटली, जापान लेबानॉन, मलेशिया, नेपाल, नीदरलैण्ड, स्पेन, स्विट्जर लैण्ड, थाइलैण्ड, पूरब इंग्लैण्ड, अमरीका, जर्मनी, जंजिबार आदि।

सात वर्ष पुरानी बात है। डा० सद्गोपाल नागालैण्ड में उद्योग निदेशक के रूप में कार्य कर रहे थे, यहाँ से निवृत्त भी न हो पाये थे कि दिल्ली में इन्हें (जहाँ वे एक निमित्त-विशेष से आये थे) 24 नवम्बर 1971 को पक्षाघात आक्रमण हुआ। तब से ये दिल्ली रहने लगे—बोलने और लिखने में असमर्थ हो गये। जीवन के 6 वर्ष शारीरिक विवशतायें काटे। पिछले वर्ष (25 दिसम्बर 1977 को) दिल्ली में ही इनका देहावसान हो गया। ●

विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद-2

प्रधाचार्य । प्रधानाचार्या,

महोदय । महोदया,

विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद की 64 वर्ष पुरनी सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त संस्था है । हम इतने ही वर्षों से 'विज्ञान' नामक पत्रिका प्रकाशित करते आ रहे हैं । इस पत्रिका द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से विज्ञान का प्रचार-प्रसार करके विज्ञान के विभिन्न तथ्यों, नई नई खोजों एवं सरल सिद्धान्तों को जनजन तक पहुँचाने का प्रयास कर रहे हैं । प्रत्येक वर्ष एक विशेषांक निकाल कर किसी विषय विशेष की सम्पूर्ण जानकारी देने में भी प्रयत्नशील रहे हैं । स्कूल तथा कालेज के विद्यार्थियों के स्तर की सामग्री छाप कर उनकी ज्ञानवृद्धि करना हमारा मुख्य उद्देश्य है ।

अब हम एक नई योजना चलाने जा रहे हैं जिसके लिए हमें आपके सहयोग तथा सद्भाव की अपेक्षा है । इस योजना के अन्तर्गत स्कूल व कालेज के विद्यार्थियों द्वारा विज्ञान सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर विशेषज्ञों की सहायता से पत्रिका में प्रकाशित करेंगे । विद्यार्थी अपने प्रश्न सीधे हमारे कार्यालय में संपादक के नाम भेज सकते हैं । उनके नाम व पते भी प्रश्न व उत्तर के साथ प्रकाशित किए जायेंगे । वर्ष के अन्त में अच्छे प्रश्नकर्ताओं के कुछ चित्र भी पत्रिका में प्रकाशित किए जायेंगे तथा उन्हें पुरस्कृत भी किया जायेगा ।

इसके अतिरिक्त एक अन्य योजना के अन्तर्गत हम वैज्ञानिक निबन्ध प्रतियोगिताओं का आयोजन करेंगे । प्रथम, द्वितीय व तृतीय आने वाले विद्यार्थियों के लेख उनके चित्र सहित प्रकाशित किए जायेंगे तथा उन विद्यार्थियों को पुरस्कृत भी किया जायेगा । हम अपनी पत्रिका में 'स्कूल तथा कालेजों से' नामक स्तम्भ के अन्तर्गत प्रश्नों व लेखों को छापेंगे ।

एक तृतीय योजना यह है कि आपके कालेज के विज्ञान अध्यापक पठन, पाठन, प्रयोग प्रदर्शन, प्रदर्शिनी आदि से सम्बन्धित अपने अनुभव यदि हमें लिख भेजें तो उसे हम 'अनुभव' स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित करेंगे ।

हमारी उपर्युक्त योजनाओं की सफलता आपके, आपके अध्यापकों के तथा आपके विद्यार्थियों के सहयोग पर ही निर्भर करती है ।

विद्यार्थियों में रुचि जगाने के लिए इस योजना का योगदान होगा । अतएव आपसे निवेदन है कि आप अपनी पाठशाला के कक्षा 8 से 12 तक के विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को हमारी योजना के बारे में सम्पूर्ण जानकारी दें तथा उन्हें इसमें भाग लेने के लिये प्रेरित करें । हमारी पत्रिका मासिक है और वार्षिक चन्दा मात्र 6 रुपया है तथा प्रत्येक अंक का मूल्य 0·50 पैसा है । आपका कालेज, कोई प्राध्यापक या विद्यार्थी यदि सदस्य बनना चाहें तो उपरोक्त पते पर चन्दा भेजकर सदस्य बन सकते हैं उसे पत्रिका प्रत्येक मास मिलती रहेगी । "विज्ञान" पत्रिका की एक प्रति आपके पास अवलोकनार्थ भेजने का प्रबन्ध हो रहा है ।

भवदीय

शिव प्रकाश (संपादक)

स्वर्गीय डा० सद्गोपाल

● स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

जब से मैंने सन्यासाश्रम में प्रवेश किया, और यदाकदा दिल्ली आना-जांना हुआ, दिल्ली में मैं हनुमान रोड आर्य समाज में ठहरने लगा, और अब तो वेद प्रतिष्ठान ने इसी आर्यसमाज में दो कमरे किराये पर ले लिए हैं, जब दिल्ली जाता हूँ, इन्हीं कमरों में ठहरता हूँ। ये कमरे मेरा दूसरा हेडक्वार्टर बन गए हैं—यों तो मेरा हेडक्वार्टर आर्य समाज मन्दिर, कटरा, इलाहाबाद है। प्रयाग विश्वविद्यालय में मैंने अध्यापन कार्य 1930 ई० से प्रारम्भ किया था। इन दिनों प्रयाग के रसायन विभाग मेरी विशेष घनिष्ठता दो युवकों से हुई—आत्माराम और प्रेम प्रकाश। यह घनिष्ठता आत्मीयता में परिणत हो गयी। संयोग से दोनों का सम्बन्ध दिल्ली से हो गया। ये दोनों विख्यात रसायनज्ञ डा० शान्ति स्वरूप भटनागर के आगे चलकर प्रेम पात्र बने। आत्माराम कलकत्ते की प्रसिद्ध काँच-अनुसन्धान शाला के अध्यक्ष हो गए, फिर दिल्ली में काउन्सिल आव साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च के महानिदेशक बने और अब भी भारतीय सरकार की विज्ञान नीति परामर्श समिति के अध्यक्ष हैं। प्रेम प्रकाश नेशनल फिजिकल लेबरटरी के "मापतौल" (weight and measures) विभाग के अध्यक्ष बने, इसी विश्वविख्यात प्रयोगशाला के उपनिदेशक पद से सेवा मुक्त हुए हैं। सेवा मुक्ति के बाद ये कुछ वर्षों तेहरान गए, और फिर ब्राजिल। मैं दिल्ली में सन्यास से पूर्व श्री आत्मा राम और प्रेम प्रकाश के घर काफी ठहरा हूँ। इधर बहुत दिनों से प्रेम प्रकाश और उसके परिवार के व्यक्तियों का आग्रह था कि दिल्ली में कुछ दिन उनके यहाँ ठहरूँ।

ग्वालियर से मुझे 18 अप्रैल को दिल्ली आना था। मैंने प्रेम प्रकाश को तार दिया, और निजामुद्दीन स्टेशन से
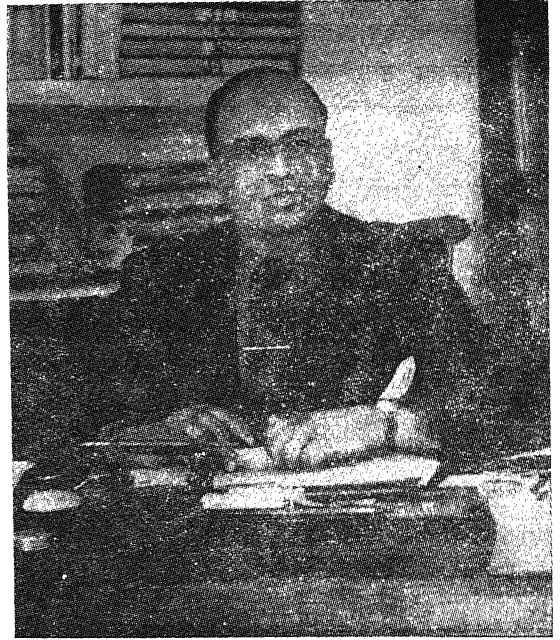
स्वर्गीय डा० सद्गोपाल

वह मुझे अपने घर पंजाबी बाग ले गया। उसके घर पर बैठक कर मैंने कलकत्ते में होने वाले नवम आर्य महा सम्मेलन के अंग्रेजी और हिन्दी अध्यक्षीय भाषणों की पाण्डु-लिपियाँ तैयार कीं।

प्रेम प्रकाश से मैंने कहा, बहुत दिनों से डा० सद्-गोपाल का मुझे समाचार नहीं मिला। पिछले दिनों जब डा० सद्गोपाल नागालैण्ड में सेवा कार्य पर थे और उन्हें पक्षाघात हो गया था, हम तुम उनके घर पर गए थे। प्रेम प्रकाश ने मुझे बताया कि डा० सद्गोपाल की मृत्यु हो

गयी। मालूम नहीं कि मुझे यह समाचार क्यों नहीं मिला था। जब से मैं सन्यासी होकर घुमक्कड़ बन गया हूँ, समाचारों और समाचार पत्रों से वंचित रह जाता हूँ।

मृत्यु का समाचार सुनकर पुरानी स्मृतियों का जागृत हो उठना स्वाभाविक है। मैंने प्रेम प्रकाश से पूछा—उनकी पत्नी कमला जी कहा है। मालूम हुआ कि मृत्यु से पूर्व सद्‌गोपाल जी ने दिल्ली में महारानी बाग के आगे कालिन्दी नाम की जो नई बस्ती है, उसमें एक जमीन ली और अपना घर बनवा लिया है। कमला जी के घर पहुँचने की बात निश्चित हो गयी। प्रेम प्रकाश और उनकी पत्नी शीला जी भी ब्रेजिल से लौटने पर कमला जी के घर नहीं जा पाये थे, अतः 20 अप्रैल को सन्ध्या समय हम लोग उनके घर पहुँच गए। अपने किसी मित्र का स्वर्गवास हो गया, और फिर उसकी पत्नी से मिला जाय, तो भावों को संयम रखना आसान काम नहीं है।

विज्ञान परिषद् की संस्थापन 1913 में हुई थी। 1938-39 में उसकी रजत जयन्ती हम लोगों ने बाबू सम्पूर्णानन्द जी की अध्यक्षता में धूमधाम से मनायी गयी थी। 1937 के 10 अक्टूबर को सद्‌गोपाल जी का विवाह कमला जी से हुआ था। रजत जयन्ती समारोह में भाग लेने के लिए कमला जी और डा० सद्‌गोपाल काशी से प्रयाग आये थे, और नये कटरे में मेरा गृहस्थी वाले मकान से कुछ ही अन्तराल पर वे सोनी-चोपड़ा परिवार में ठहरे थे। कमला जी से पहला परिचय विज्ञान परिषद् जयन्ती के अवसर पर ही मेरा हुआ। यह बात आज से चालीस वर्ष पुरानी है। दस वर्ष पूर्व 1968 में (26 मई) मैं उनके एक मात्र पुत्र डा० अनिल के विवाह में सम्मिलित होने दिल्ली आया था। अनिल का विवाह सेन फ्रान्सिसको की अमरीकन कन्या कुमारी मेरी बी० डैकिन से हुआ था। ये दोनों पति-पत्नी त्याग भावना से मध्यप्रदेश के बन्द और ग्रामीण स्थल में किशोर-भारती नामक संस्था के माध्यम से सेवा कार्य 1970 से कर रहे हैं। अनिल ने केलिफोर्निया के एक इन्सटीट्यूट में क्रोमोसोमल प्रोटीनों की रासायनिक संरचना पर अच्छा काम किया था, और पी० एच डी० की उपाधि प्राप्त की थी।

डा० सद्‌गोपाल ने मेरी प्रेरणा पर विज्ञान परिषद् के 1940 के वार्षिक अधिवेशन में **"हिन्दुस्तान में सौगन्धिक द्रव्यों का निर्माण"**, शीर्षक पर वार्षिक-भाषण दिया था जो फरवरी 1941 के अक में प्रकाशित हुआ।

अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के 1948 के अधिवेशन में होने वाली विज्ञान परिषद् के अध्यक्ष थे। इस अवसर पर उन्होंने महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला।

डा० सद्‌गोपाल का जन्म 26 अगस्त 1908 को थाजी (THAZI), बरमा, में हुआ, इस प्रकार डा० सद्‌गोपाल मुझसे 2 दिन कम पूरे 3 वर्ष छोटे थे। आपके पिताजी का नाम श्री दीवान चन्द और माता जी का नाम श्रीमती यश कौर था। लाहौर विश्वविद्यालय से 1925 में मेट्रिकुलेशन, 1927 में इंटरमीडिएट परीक्षा में उत्तीर्ण की, और 1929 में काशी विश्वविद्यालय से इन्होंने औद्योगिक रसायन में बी० एस० सी०, की उपाधि ली—औद्योगिक रसायन में इस परीक्षा में इन्हें राजा विजय चन्द पुरस्कार मिला। 1931 में इसी विद्यालय में इन्होंने एम० एम-सी, (टेक०) की उपाधि ली और समस्त एम० ए० और एम० एम-सी, छात्रों में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने के कारण इन्हें चान्सलर का स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ। 1940 में काशी से ही इन्होंने तैल-और साबुनों पर काम करके डी० एस० सी०, उपाधि प्राप्त की। 1944 में लण्डन के रॉयल इन्सटीट्यूट आफ केमिस्ट्री के ये फेलो निर्वाचित हुए।

1936 में "एरोमेटिक रिसोर्सेज आव इण्डिया" (सुरभि तैल सम्बन्धी भारतीय सम्पता) पर एक मोनोग्राफ लिखा जिस पर भारतीय शासन के बोर्ड आव साइण्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च ने औद्योगिक अनुसन्धान पुरस्कार दिया।

तैलों का अध्ययन डा० सद्‌गोपाल का मुख्य विषय रहा है। साधारणतया साहित्य में **तैल** शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में होता है—

(1) तिल आदि पदार्थों से निकले तैल जो वसीय

अम्लों के ग्लिसराइड होते हैं।

(2) अच्छी सुगन्ध देने वाले सौरभ तैल, ऐरोमेटिक तैल, जो विभिन्न रासायनिक संरचनात्मक होते हैं, और जिनमें तारणीय-वर्ग के तैल भी हैं।

(3) मिट्टी का या खनिज तैल, जो नाम से तो तैल है, किन्तु रासायनिक दृष्टि से विभिन्न हाइड्रोकार्बनों का मिश्रण है।

मुझे जगमल राजा का याद है। उनका इलाहाबाद, काँच का कारखाना था। शायद यह कारखाना नैनी में अब भी है। डा० सद्गोपाल के सम्पर्क में आकर राजा जगमल ने (जो कच्छ-काठियावाड़ी व्यापारी थे) सुगन्धित तैलों के व्यवसाय की बात सोची। बनारस, प्रयाग और बम्बई में 'हिन्दुस्तान ऐरोमेटिक्स कम्पनी' नाम की एक संस्था आयोजित की। डा० सद्गोपाल ने इस संस्था में 1936-46 तक दस वर्ष मैनेजिंग और टेकनिकल डाइरेक्टर के रूप में काम किया। इसके बाद डा० सद्गोपाल काशी विश्वविद्यालय के केमिकल टेकनोलॉजी विभाग में (तैल-साबुन-सुगन्ध विभाग में) सहकारी प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हो गये और अध्यापन का कार्य किया। यहाँ यह 1950 तक रहे। वन विज्ञान के सम्बन्ध में एशिया का सबसे बड़ा महाविद्यालय और अनुसन्धान विभाग देहरादून में है। 1950-57 तक इस फॉरेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट में सीनियर रिसर्च ऑफिसर होकर डा० सद्गोपाल रहे। नई दिल्ली में जब इण्डियन स्टैण्डर्ड्स इंस्टीट्यूशन (मानक भवन, की संस्थापना हो गयी, उसके रासायनिक द्रव्य-विभाग में डिप्टी डाइरेक्टर होकर डा० सद्गोपाल दिल्ली आ गए। यहाँ 9 वर्ष इन्होंने सेवा की (1957-66)। यहीं इनको इसी विभाग में डाइरेक्टर पद पर उन्नति हो गयी। 11 अप्रैल 1967 तक इस पद पर रहे। फिर पाँच महीने इसी मानक-संस्थान (ISI) से डिप्टी डाइरेक्टर जनरल के पद पर से इन्होंने सेवा-निवृत्ति प्राप्त की 25 अगस्त 1968 में) पूरी 60 वर्ष की आयु में।

सेवा निवृत्ति के बाद उद्योग-निदेशक के रूप में इन्हें 1 फरवरी 1969 को नागालैण्ड भेज दिया गया पर वहाँ। काम कर ही रहे थे कि सहसा इन्हें दिल्ली में (जहाँ वह किसी समारोह के लिए आये हुए थे) पक्षघात हो गया। 1971 के अन्त से प्राणान्त तक वे दिल्ली में रहे।

डा० सद्गोपाल अनेक संस्थाओं के आजीवन सदस्य थे—इण्डियन केमिकल सोसायटी, विज्ञान परिषद्, नागरी प्रचारिणी सभा, इण्डियन साइंस कांग्रेस एसोसियेशन, विश्वश्वरा नन्द वैदिक रिसर्च इन्सटीट्यूट होशियारपुर। कई वैज्ञानिक संस्थाओं के वे मूलतः सदस्य (फाउण्डेशन मेम्बर) थे, जैसे इण्डियन डेयरी साइंस एसोसियेशन, इन्सटीट्यूशन आव केमिस्ट्स, आर्ट इण्डस्ट्री एसोसियेशन कलकत्ता, आदि। साधारण सदस्यता तो उन्होंने देश विदेश में अनेक वैज्ञानिक संस्थाओं की लेखिनी थी। उनकी रुचि विभिन्न विषयों में थी, यह बात इन पद सदस्यताओं से व्यक्त होती है। लण्डन की ही कई संस्थाओं के वे सदस्य थे—केमिकल सोसायटी, सोसायटी आव केमिकल इण्डस्ट्री, रॉयल हॉर्टिकलचरल सोसायटी, नेशनल रोज सोसायटी आदि। तैल और सुगन्ध से सम्बन्ध रखने वाली देशी-विदेशी संस्थाओं से तो वे सम्बन्ध थे ही।

डा० सद्गोपाल भारत में अनेक शासकीय समितियों और उपसमितियों में परामर्श दाता या सदस्य भी समय समय पर रहे। शिक्षा मन्त्रालय में, वित्त मन्त्रालय में, खाद्य-कृषि मन्त्रालय में, स्वास्थ्य और परिवार नियोजन मन्त्रालय में, इस्पात-खनिज मन्त्रालय, आदि आदि।

इसी प्रकार डा० सद्गोपाल का सम्बन्ध उत्तर प्रदेश और नागालैण्ड की सरकार से भी रहा। लाख तैल-तारपीन व्यवसाय, इनके सम्बन्ध में जब कोई समिति बनती तो उसकी सदस्यता के लिए डा० सद्गोपाल का नाम लिया जाता। जब मैं उत्तर प्रदेश की साइंटिफिक रिसर्च कमेटी का सचिव था, तो संश्लेषित रबर के उद्योग के सम्बन्ध में एक उपसमिति बनायी गयी। डा० सद्गोपाल उसके भी सदस्य रहे। कौन्सिल आव साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली की तो अनेक समितियों-उप समितियों ने डा० सद्गोपाल की सदस्यता से लाभ उठाया। अनेक परिषदों और सम्मेलनों के संयोजक के रूप में भी डा० सद्गोपाल का योगदान महत्वपूर्ण रहा है।

(शेष पृष्ठ 16 पर देखें)

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ०/3/5/
भाग 115 संख्या 10 सं० 2034 विक्र० अक्टूबर 1978

सम्पादकीय

हमारे देश को स्वतंत्र हुये 31 वर्ष हो गये पर निरक्षरों की संख्या अब भी काफी है। सरकार की ओर से पुनः एक बार कदम उठाये जा रहे हैं कि निरक्षरों को साक्षर बनाया जाय। इस प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम को गांधी जयन्ती पर 2 अक्तूबर से आरम्भ किया गया। यह बहुत बड़ी योजना है जिस पर 200 करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे। इस कार्यक्रम को 10 वर्षों तक चलाया जायेगा और 15-35 वर्ष के आयु के सभी वर्गों के निरक्षरों को साक्षर बनाने का बीड़ा उठाया गया है। अधिकाधिक लोगों को इस योजना की ओर आकर्षित करने का प्रयास होगा और उन सभी के लिये, पुस्तकों, स्लेटों, जूट पट्टी आदि का प्रबन्ध पहले से ही कर लिया गया है। उत्तर प्रदेश में 6000 केन्द्र, उड़ीसा में 2000 केन्द्र और इसी प्रकार अन्य प्रान्तों में शिक्षा केन्द्र खोले जाँयगे। केवल उत्तर प्रदेश में 27 करोड़ व्यय किया जायगा जबकि कर्नाटक में पांच वर्षों में 29 करोड़ व्यय करके 77 लाख लोगों को साक्षर बनाया जायगा। आंकड़ों को देखते हुये लगता है कि यह एक महती योजना है जिसके सफल हो जाने पर देश में निरक्षरता लगभग दूर हो जायगी। क्या सरकार अकेले इस योजना को कार्यान्वित कर सकती है। सामाजिक संगठनों को अपना पूरा योगदान देना होगा। आवश्यकता इस बात की है कि इस दिशा में उन्हीं लोगों को यह काम सौंपा जाय जो निष्ठा व लगन से काम करने को तैयार हों। यह कार्यक्रम कागज पर ही न रह जाय इस पर कड़ी नजर रखनी पड़ेगी। इतने अधिक रुपयों का अपव्यय यदि हुआ तो कार्यक्रम के सफल होने की कोई भी संभावना नहीं रह जायेगी। महिलाओं को साक्षर बनाने पर अधिक बल देना चाहिये ताकि उस घर में बच्चे निरक्षर न रह जायेंगे। प्राथमिक शिक्षा की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। अभी तो स्थिति यह है कि ग्रामीण बच्चे पाठशाला में नाम तो लिखाते हैं परन्तु कोई एक वर्ष पढ़कर कोई 2 वर्ष पढ़ कर तो कोई 3 वर्ष पढ़ कर छोड़ देता है। इस प्रकार स्कूल छोड़ने वाले बच्चों का प्रतिशत 25 आंका गया है। यही बच्चे आगे चल कर निरक्षरों में गिने जाते हैं। शिक्षा के साथ ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये कि गांव वालों को उनके स्वास्थ्य, खेती बारी तथा अन्य आवश्यक बातों के बारे में रेडियो के माध्यम से शिक्षा दी जाय। किसान दिनभर के परिश्रम के बाद रात में कितने लगन से पढ़ पायेगा यह तो बाद में ही पता चल सकेगा। शिक्षा का लाभ समझाने का भी प्रबन्ध किया जाना चाहिये ताकि लोगों को साक्षरता के महत्व का आभास हो और वे अधिक से अधिक संख्या में इस योजना में भाग लेकर लाभान्वित हो सकें। इस योजना का सफल होना अत्यन्त आवश्यक है नहीं तो भविष्य में कोई भी बड़ी योजना चलाने के विचार पर बहुत बड़ा प्रश्न चिन्ह लग जायेगा।

● ●

गर्भ से बाहर गर्भाधान

• श्रीमती किरन

नारी की गोद का सूनी रह जाना भारतीय समाज में अभिशाप समझा जा रहा है। बिना शिशु को जन्म दिये माँ बनने का दर्द हर युवती को कचोटता रहता है जो दुर्भाग्य से माँ नहीं बन पाती। कुछ लोग बच्चे गोद ले लेते हैं तथा कुछ जानवरों व पक्षियों को पालकर उन्हीं से प्यार जताते हैं। माँ न बन पाने के कारणों में से एक कारण यह भी हो सकता है कि महिला डिंबनली (फेलोपियन ट्यूब) में किन्हीं कारणों से रुकावट पैदा हो गई हो। इस अभाव को दूर करने में वैज्ञानिकों का ध्यान वर्षों से लगा हुआ था और कितने ही शोध किये जा रहे थे। इस शोध का प्रथम घोषित परिणाम 25 जुलाई 1978 को ज्ञात हुआ जिसे जानकर इस नई खोज के प्रति वैज्ञानिक वृत्तों में जहां क्रांतिकारी परिवर्तन लाने की चर्चा उठ खड़ी हुई वहीं उन महिलाओं के हृदय में आशा की लहर भी दौड़ गई कि उनका मातृत्व का सपना अब पूरा हो सकता है और उनकी बगिया भी हरी भरी हो सकती है।

इंगलैंड के ओल्धम नगर में 30 वर्षीय महिला श्रीमती लेसली ब्राउन ने मंगलवार 25 जुलाई को एक कन्या को जन्म दिया जो "परखनली कन्या" के नाम से विश्व भर में प्रसिद्ध हो गई है। उस कन्या के पिता हैं 38 वर्षीय श्री गिल्बर्ट-जॉन ब्राउन जो ब्रिटिश रेल विभाग में एक ट्रक ड्राइवर हैं। लेसली, गिल्बर्ट की दूसरी पत्नी हैं। पहली पत्नी से 17 वर्ष की पुत्री है। इस नवजात् कन्या को "ब्राउन बेबी" भी कहा गया है क्योंकि उसके माता पिता श्रीमती व श्री ब्राउन हैं। वैसे तो इस कन्या को जन्म दिया है श्रीमती ब्राउन ने ही परन्तु इसे परखनली शिशु इसलिये कहा जा रहा है क्योंकि माँ के गर्भ में पलने, बढ़ने व जन्म लेने से पूर्व अपने भ्रूणावस्था के प्रथम 4 दिन उसने परखनली में बिताये हैं। इस कन्या का जन्म जीव विज्ञान तथा आयु विज्ञान की महान सफलता है जिसका श्रेय मिला है 65 वर्षीय प्रजनन क्रिया वैज्ञानिक डॉ पैट्रिक स्ट्रेप्टू तथा 52 वर्षीय शरीर क्रिया वैज्ञानिक डॉ० राबर्ट एडवर्ड को। डॉ स्ट्रेप्टू तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के डॉ० एडवर्ड ने धैर्य के साथ वर्षों इस दिशा में शोध कार्य किया तब जाकर कहीं उन्हें यह महान सफलता हाथ लगी। वैसे इस चौंकाने वाली घोषणा के शीघ्र ही बाद यह ज्ञात हुआ कि इटली के प्रोफेसर पेट्रीसी को 1958 में ही उनके इस प्रयोग में सफलता मिल गई थी और उन्होंने परखनली शिशुओं को जन्म देने में सहायता की थी परन्तु धार्मिक संस्थानों से विरोध के कारण उन्होंने अपनी खोज को घोषित नहीं किया। इंगलैन्ड के प्रोफेसर डगलस ब्रेविस ने भी यह बताया है कि उन्होंने दो परखनली शिशुओं को जन्म दिलाया है जिनमें से एक 12 महीने का व दूसरा 1½ वर्ष का हो चुका है। कौन पहला वैज्ञानिक सिद्ध होता है यह तो बाद की खोजों से ही पता चलेगा किन्तु इस समय तो डा० स्ट्रेप्टू तथा एडवर्ड को ही यह श्रेय दिया जा रहा है।

अभी हाल में अमरीका की जूरी ने डॉ० वाण्डवील पर 50 हजार डॉलर का जुर्माना किया है जो फ्लोरिडा की 34 वर्षीय महिला डोरिसडेल जियो को मिलेगा क्योंकि डा० वील ने इस महिला के साथ परखनली शिशु बनाने का प्रयोग आरम्भ किया था पर बाद में सारे प्रयोग को नष्ट कर दिया था क्योंकि उन्हें उनके अस्पताल से अनुमति नहीं मिली थी।

विचारक, लेखक वैज्ञानिक जूलियन आल्डुअस हक्सले ने अपने उपन्यास 'ब्रेव न्यूवर्ल्ड' में इस प्रकार के शिशुओं की

कल्पना की थी। यदि हक्सले आज जीवित होते तो उन्हें कितना हर्ष होता कि उनकी कल्पना कोरी कल्पना नहीं वरन् अब तो वह वास्तविक रूप लेकर विश्व के सम्मुख प्रस्तुत हो गई है। इन तर्कों से वैज्ञानिक सफलताओं को जो श्रेय मिलना चाहिये उसमें कमी नहीं आना चाहिये।

शुक्राणु तथा डिम्बाणु के समागम से गर्भ से वाहर गर्भ धारण करने पर अनुसंधान कार्य बहुत पहले से चल रहा है। इस संदर्भ में यह भी बता देना उचित है कि परखनली में शिशु निर्माण की पहली सफलता जीव में नही वरन् पौधों में मिली जब प्रोफेसर महेश्वरी की देख रेख में उनके प्रयोगशाला में इस योजना पर काम किया गया। वाद में चौपायों में भी इस दिशा में सफलता पाई गई। मानव शुक्राणु तथा डिम्बाणु का मिलन शरीर से वाहर करवाने में कोलम्बिया विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों को सफलता मिली थी। डॉ० जानराक तथा मेंकिन ने चार डिम्बाणुओं को निषेचित तो किया कृत्रिम रूप से पर उन्हें अधिक सफलता न मिल सकी।

डा० एडवर्ड ने, जो कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में शरीर क्रिया वैज्ञानिक हैं, निषेचन के वाद भ्रूण की विभाजन अवस्थाओं का गहन अध्ययन किया। इंगलैन्ड के ओल्वम नगर के ओल्वम जनरल अस्पताल के डा० पेट्रिक स्ट्रेप्टू तथा एडवर्ड ने मिलकर शोधकार्य आगे वढ़ाया डा० वेविस्टर, जो स्वंय भी कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के हैं इनके सहयोगी वने। इनके शोध कार्यों की घोषणा एक शोध पत्र के रूप में हुई। कृत्रिम गर्भाधान में सफलता मिलते ही इन वैज्ञानिकों को आगे वढ़ते रहने की प्रेरणा मिली।

श्रीमती व्राउन नौ वर्षों से प्रयत्नशील थीं कि उनके कोई सन्तान हो जाय। डिम्बनलिका व गर्भाशय के बीच रुकावट होने के कारण गर्भ धारण की उनकी सारी आशायें समाप्त हो चुकी थीं। उन्हें ऐसे विशेषज्ञ की आवश्यकता थी जो उनके मातृत्व का सपना पूरा कर सके और इन वैज्ञानिकों को ऐसे "मरीज़" की आवश्यकता थी जो किसी दोष के कारण गर्भाधारण न कर पा रहा हो और स्वयं को इस प्रयोग के लिये प्रस्तुत कर सके। दोनों पक्षों की मन चाही मुराद मिल गई। कुंये को प्यासा व प्यासे को कुआं मिल गया। डा० स्ट्रेप्टू तथा एडवर्ड ने अपने प्रयोग आरम्भ कर दिये। एक निश्चित समय पर डिम्बाणु उत्पादन करने के लिये श्रीमती व्राउन को हारमोन दिया गया और ठीक समय पर शोधकर्ताओं ने श्रीमती व्राउन के शरीर से एक डिम्वाणु पेरिस्कोप के प्रकार का यंत्र जिसमें खोखली सूई लगी थी (लेप्रेस्कोप)प्रयुक्त करके निकाला और उनके पति के शुक्राणु से उसका समागम करवाया जिसके फलस्वरूप डिश में ही निषेचन हो गया। निषेचन के लिये गर्भाशय के ही तरह का माध्यम बनाने में डा० वेविस्टर को सफलता मिल गई। इस प्रकार निषेचित भ्रूण परखनली में चार दिन रहा और तदुपरान्त उसे श्रीमती व्राउन के गर्भ में प्रतिस्थापित कर दिया गया। इस प्रकार आरम्भ के चार दिनों को छोड़कर और निषेचन की क्रिया शरीर के भीतर न होकर भी नौजात कन्या की माता का सारा उत्तरदायित्व पूरे समय तक श्रीमती व्राउन ने उसी प्रकार संभाला जैसा कि साधारणतया गर्भधारण से जन्म तक अन्य मातायें संभालती हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार नवजात शिशु को परखनली शिशु इस आधार पर नहीं कहा जा सकता कि उसका निषेचन परखनली में हुआ और पूरे समय तक वह परखनली में रह कर ही बढ़ा और उसका जन्म हुआ। वास्तव में दो अलग अलग कांच के यंत्र प्रयुक्त किये गये थे। एक में डिम्बाणु की वृद्धि और दूसरे में निषेचन क्रिया की गई। नली को अंधेरे में रखा गया और समय समय पर सूक्ष्मदर्शी की सहायता से परीक्षण किया जाता रहा कि निषेचित डिम्वाणु बढ़ रहा है कि नहीं और कोशिकाओं की संख्या में वृद्धि हो रही है कि नहीं। गर्भ में जो ताप रहता है उसी ताप को नियंत्रित किया गया और चार दिन के वाद उसके क्रोमोसोम-कोशिकाओं की जांच की गई जिसके कारण ही कोशिकायें शरीर में विभिन्न अंगों का निर्माण करती हैं। जब यह निश्चित हो गया कि निषेचित डिम्बाणु में किसी भी प्रकार की अपसमान्यता नहीं है और इससे एक सामान्य शिशु पनपेगा तो इस प्रकार परखनली में निषेचित डिम्बाणु को श्रीमती व्राउन के गर्भ में प्रतिस्थापित कर दिया गया। वाद के परीक्षणों में जन्म से पहले ही यह पता लगा लिया गया था कि यह प्रायोगिक शिशु कन्या है। पर श्रीमती व्राउन ने यह मना कर दिया था कि मुझे यह न बताया

जाय कि लड़का है या लडकी ताकि जन्म के समय जो असीम हर्ष होता है उससे मैं वंचित न रह जाऊँ। वास्तव में जन्म देने के पश्चात् श्रीमती ब्राउन की प्रसन्नता की कोई सीमा न रही। श्री ब्राउन को भी अत्यधिक हर्ष हुआ।

जहां वैज्ञानिक क्षेत्र में इस खोज और इसके परिणाम से तहलका मच गया वहीं पत्रकारिता के क्षेत्र में भी एक नया आयाम जुड़ा। लंदन के तथा अमरीका के अखबार वालों में होड़ सी मच गई कि ब्राउन दम्पति की कहानी छापने का पूर्ण अधिकार किसे प्राप्त हो यह अधिकार ब्राउन दम्पति की ओर से लंदन के 'डेली मेल' को प्राप्त हुआ जिसके लिये अखबार ने उन्हें लगभग 56 लाख रूपये दिये। भ्रूण प्रतिस्थापन के बाद से ओल्धम जनरल अस्पताल में श्रीमती ब्राउन के पास केवल उनके पति, सौतेली पुत्री डाक्टर तथा नर्स ही आ सकती थीं। टेलीविजन कैमरा वाले तथा रिपोर्टर उन तक नहीं पहुंच पाते थे। एक बार अस्पताल को उड़ा देने की धमकी भरा पत्र भी अस्पताल में मिला। तब ये सोचा गया था कि 'मरीज़' को वहां से हटा दिया जाय। परन्तु ऐसी दुर्घटना न होने पाई जिससे संसार इस महान वैज्ञानिक अन्वेषण से वंचित रह पाता। 25 जुलाई 1978 को सीजेरियन आपरेशन करके 5 पौंड 12 औंस की 'ब्राउन बेबी' को डाक्टरों ने संसार के समक्ष प्रथम परखनली शिशु के रूप में उपस्थित कर दिया।

जब समाचार पत्रों में आपसी द्वन्द चल रहा था और 'डेलीमेल' वाले किसी दूसरे समाचार पत्र वाले रिपोर्टरों को अस्पताल में श्रीमती ब्राउन से साक्षात्कार न करने में लगे हुये थे यह प्रश्न ब्रिटिश पार्लियामेंट में उठ खड़ा हुआ कि ऐसी चौंका देने वाली वैज्ञानिक खोज को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करने क्या में एक ही समाचार पत्र को अधिकार मिलेगा। इस पर सरकार ने यह निर्णय किया कि जनता के लाभ में ऐसी वैज्ञानिक जानकारी की तमाम सूचनायें सभी को दी जायेंगी। अभी तक डा० स्ट्रेप्टू का साक्षात्कार भी कहीं न छप सका है। निश्चय ही जब डा० स्ट्रेप्टू, डा० एडवर्ड श्री व श्रीमती ब्राउन का साक्षात्कार लिया जावेगा और हमारे सामने बहुत सारे तथ्य उपस्थित होंगे तो वैज्ञानिक तथ्य के अतिरिक्त भी ऐसी सूचनायें अपेक्षित हैं जिनसे सबको रोमांच हो सकता है। उधर डा० पेट्रोसी के खोजों की यदि पुष्टि होती है और उनके द्वारा जन्माए 50 बच्चे इस समय संसार में पाये गये तो किसे श्रेय दिया जाय इस पर भी होड़ लग जायेगी। अभी तो यह सारा श्रेय डा० स्ट्रेप्टू व एडवर्ड को ही दिया जाना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि 1969 में चन्द्रमा पर नील आर्मस्ट्रांग के चरण रखने की जो सूचना संसार को मिली थी और हर व्यक्ति ने जिस रोमांच का अनुभव किया था उससे किसी अर्थ में कम रोमांच इस खोज से नहीं हुआ है। निराश दम्पतियों के लिये रेगिस्तान में पानी मिलने जैसी आशा का आविर्भाव हुआ है।

'जीन' का संश्लेषण हो जाने के बाद वैज्ञानिक मनोवांक्षित शिशु को जन्म देने की दिशा में शोधरत् हैं। इस खोज के भी पक्ष व विपक्ष में विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं। 'नस्ल सुधार' का प्रश्न वैज्ञानिक होते हुये भी अब सामाजिक भी हो गया है। इसीलिये परखनली शिशु के जन्म के साथ ही वैज्ञानिकों व समाज शास्त्रियों ने नस्ल सुधार की धारणा पर बहस आरम्भ कर दिया है। इस दिशा में सोच समझकर कदम उठाने की जरूरत है। ●

पराबैंगनी किरणें

● शैलेन्द्र नाथ भटनागर

सर विलियम हर्षेल ने सन् 1800 में सर्व प्रथम इस बात का अनुभव किया कि अंतरिक्ष से निरंतर अनेकानेक विद्युत चुम्बकीय तरंगों का उत्सर्जन होता रहता है। अति सूक्ष्म तरंग दैर्घ्य को ये तरंगें अदृष्य होते हुए भी अपने तीव्र प्रभावकारी कार्यों से अपनी उपस्थिति का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

सामान्य प्रकाश का तरंग दैर्घ्य 0.4 म्यू से 0.7 म्यू तक होता है, जबकि परावैंगनी किरणों का तरंग दैर्घ्य 1 से० मी० के दस हजारवें भाग के तुल्य होता है सामान्य प्रकाश के तरंग दैर्घ्य की विभिन्नता उसका सात रंगों (बैगनी, आसमानी, नीले, हरे, पीले, नारंगी एवं लाल) के प्रकाश के मिश्रण होने के कारण होता है। यही कारण हैं कि जब एक भौतिक घटनाके कारण सामान्य प्रकाश का विक्षेपण होता हैं, तब वह एक रंगीन पट्टिका जिसे वर्ण पट्ट या स्पेक्ट्रम कहते हैं के रूप में बिखर जाता है। बाद की खोजों ने यह सिद्ध किया कि स्पेक्ट्रम का दृष्य भाग ही पूर्ण स्पेक्ट्रम नहीं है। इसके दोनों सिरों पर अदृष्य स्पेक्ट्रम भी हैं। लाल सिरे के ओर का अदृष्य स्पेक्ट्रम अवरक्त स्पेक्ट्रम तथा बैंगनी स्पेक्ट्रम कहलाता है। अवरक्त तरंगे बड़े तरंग दैर्घ्य की ऊष्मीय तरंगे होती हैं, जबकि पराबैंगनी किरणें तीव्र रासायनिक प्रभावयुक्त तरंगें होती हैं। यदि एक छायांकन पट्टिका (फोटोग्राफिक प्लेट) पराबैगनी (या अल्ट्रावायलेट) स्पेक्ट्रम के क्षेत्र में रखी जाए तो तत्काल ही उसमें रासायनिक परिवर्तन हो जाता है।

पराबैंगनी किरणों के प्रमाण देने का श्रेय जर्मन भौतिकविद् जॉन विल्हेम रिटन को प्राप्त है। उन्होंने उपरोक्त क्रिया सिल्वर क्लोराइड की संवेदनशील प्लेट पर देखी। चूंकि इन तरंगों का क्षेत्र दृष्य स्पेक्ट्रम के बैंगनी (वायलेट) से संलग्न है अतः उन्होंने इसे अल्ट्रावायलट (परावैंगनी) किरणें कहा।

इंगलैन्ड के भौतिकविद् जॉन जॉर्ज स्टोक्स ने सन् 1852 में इन किरणों के विषय में अनेक गवेषणाएं की। सन् 1892 में जर्मन भौतिकविद् सर विक्टर शूमैन ने उनके प्रयोगों को आगे बढ़ाया। उन्होंने फ्लोराइट लैन्सों एवं प्रिज्मों की सहायता से यह सिद्ध किया कि इन किरणों का तरंगान्तर 1200 से 1800 अंगस्ट्राम के मध्य हैं, जबकि 1 अंगस्ट्राम 1 से० मी० के 10 करोड़वें भाग के तुल्य होता है, थ्योडोर लीमैन ने परावैंनगी किरणों के अध्ययन के लिये सर्वप्रथम वर्णक्रममापी (स्पेक्ट्रोमीटर) का उपयोग किया, कैलीफोर्निया इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी के भौतिक विद् रावर्ट एन्ड्रूज मिलिकन ने अपने सहकर्मियों के साथ णरावैंगनी किरणों के विषय में कई महत्वपूर्ण अनुसंधान किये। रॉवर्ट मिलिकन को सन् 1923 में विद्युत के मूल आवेश एवं प्रकाश-विद्युत प्रभाव से सम्बन्धित महत्वपूर्ण गवेषणाओं के लिये भौतिकी का नोवल पुरस्कार के सम्मानित किया गया।

प्रकाश वैद्युत प्रभाव (फोटो इलेक्ट्रिक इफेक्ट) की खोज वास्तव में परावैंगनी किरणों के एक विशेष गुण के कारण संभव हो सकी। सर्वप्रथम इस घटना का अवलोकन 1888 में भौतिकविद् हालवारव ने किया। उन्होंने देखा कि जब कभी क्वार्ट्ज़ ट्यूब में रखी जस्ते (जिंक) की प्लेट पर परावैंगनी किरणें आपतित होती हैं, उससे इलेक्ट्रानों का उत्सर्जन होने लगता है, यह घटना ही फोटो-इलेक्ट्रिक प्रभाव कहलाती है। इस घटना की व्याख्या मैक्स प्लैंक इन्सटीट्यूट (तव केसर विल्हेम इन्सटीट्यूट)

जर्मनी के प्रख्यात भौतिकविद् सर अलबर्ट आइन्सटाइन ने की। आइन्सटाइन को इस कार्य के लिये सन् 1921 का भौतिकी में नोवल पुरस्कार देकर सम्मानित किया गया। परावैंगनी किरणों की देन 'फोटो इलेक्ट्रिक प्रभाव' एक क्रान्तिकारी गवेषण थी जिसने चल चित्रों (सिनेमैटोग्राफ) में ध्वनि अभिलेखन एवं पुनरुत्पादन तथा टेलीवीजन जैसे महत्वपूर्ण यंत्रों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया।

सौर्य विकिरण परावैंगनी किरणों के सर्वोत्म स्रोत हैं, परंतु इनसे इन किरणों का पृथक्करण सुगमता से संभव नहीं है। अतएव अनेकानेक प्रयोग शालीयीन विधियां इनमें प्रयुक्त होती हैं। प्रयोगशाला में इनका निर्माण प्रतिदीप्ति (फ्लोरेसेंट) की घटना पर आधारित है। प्रतिदीप्त पदार्थों की सहायता से 'शीतल धूप' के निर्माण हेतु फ्लोरेसेंट ट्यूब (या ट्यूब लाइटें) निर्मित की गई। (जब किसी पदार्थ पर कोई विकिरण आपतित होने पर वह पदार्थ तुरंत ही उतने समय तक परिवर्तित तरंग दैर्ध्य का विकिरण विकीर्ण करे, तो यह घटना प्रतिदीप्ति कहलाती है)।

प्रकृति की यह महती कृपा है कि बाह्य अंतरिक्ष से उत्सर्जित इन विकिरणों का एक सूक्ष्मांश ही हम तक पहुँच पाता हैं, वृहदांश तो वायुमंडल में ही शोपित हो जाता है। परावैंगनी किरणों की तीव्रता का अनुमान तो हमें तव ही लगता है, जवकि तेज धूप में शरीर तपता है। यह परावैगनी रश्मियों का ही चमत्कार है, जो कि सीधी रोशनी वहन करने वाले भूमध्यरेखीय प्रदेशों में लोग श्यामवर्ण के होते हैं। इस प्रकार की त्वचा वहां के लोगों के लिये प्रकृति का वरदान है। श्यामवर्णी त्वचा में परा-बैंगनी विकिरणों का निवेश कम होता है, इस तरह वह इन किरणों से उन लोगों पर होने वाले घातक प्रभाव में वहुत अधिक कमी कर देता है।

नियमित मात्रा में शरीर पर पड़कर ये किरणें शरीर में विटामिन डी-2 के निर्माण की प्रतिक्रिया तोव्र कर देती हैं। विटामिन डी के अभाव में दांत एवं शरीर की अन्य हड्डियों का समुचित विकास नहीं हो पाता। इसके विपरीत अनियमित रूप से अधिक धूप का सेवन करने से त्वचा का रंग परिवर्तित हो जाता है। यही कारण है कि जानकार व्यक्ति शरीर पर तेल लगाकर धूप का सेवन करते हैं। इस समय तेल की सतह परावैगनी किरणों की तीव्रता कम करती है।

अपनी तीव्र रासायनिक प्रतिक्रियाओं के कारण परावैंगनी रश्मियां मानव के सर्वोत्तम संवेदनशील अंग नेत्रों के लिये अत्यंत घातक हैं। परावैगनी रश्मियां नेत्रों के रवेदार (क्रिस्टलीय) नेत्र लैंस के प्रोटीन को नष्ट कर देती हैं। इससे नेत्रों में धुंधला दीखने की बीमारी हो जाती है। चूंकि सामान्य कांच इन रश्मियों का अवशोषण कर लेता हैं अतएव आर्क वेल्डिंग करने वाले कर्मचारो, पर्वतारोही, वायुयान चालक एवं ध्रुव प्रदेशों के वासी नेत्रों की रक्षा के लिये विशेष कांच के चश्मों का प्रयोग करते हैं। ध्रुव प्रदेश के वासियों को अंधेपन का खतरा अत्यधिक होता है, क्योंकि वर्फ से परावर्तित होकर परावैंगनी किरणें सीधी ही नेत्रों पर पड़ती हैं।

यह एक सामान्य अनुभव का प्रयोग है कि जब कोई खाद्य सामग्री धूप में छोड़ दी जाती हैं, तो कुछ समय पश्चात वह खाने के योग्य नहीं रहती। यह सूर्य रश्मियों में उपस्थित परावैगनी विकिरणों का ही तो चमत्कार है, परावैगनी किरणों में एक अद्भुत विशेषता देखी गई है। यदि इनका आपतन किसी वस्तु के ताप की न्यून दशा में होता है, तो ये एक उत्तम कीटाणु नाशक की भाँति कार्य करती हैं किन्तु जव वह ऊष्ण अवस्था में होती हैं, तो इन रश्मियों का विनाशक प्रभाव दीखता है। यही कारण है कि गेहूँ में शीतल स्थानों पर वैठे घुन एवं कीटाणुओं का नाश उन्हें धूप में सुखाने से हो जाता है जवकि धूप में ही रखने से रोटी या पनीर जैसी चीजे कुछ समय बाद स्वयं खराव हो जाती हैं।

कच्ची सब्जियों, फलों एवं विभिन्न शीतल पेयों (कोल्ड ड्रिन्क्स) तथा भोज्य सामग्री के कीटाणु नाशक में परावैगनी किरणों की महत्वपूर्ण अदाकारी है। पानी के आद्यौगिक शोधन में परावैगनी किरणों का ही उपयोग होता है। परावैंगनी विकिरण खुजली एवं दाद के इलाज में अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। अदृष्य रंग, धब्बे एवं कई प्रकार

(शेष पृष्ठ 9 पर देखें)

धान नाशकारक कीट और उनका नियंत्रण

● श्रीमती नीता श्रीवास्तव

भारत जैसे कृषि प्रधान देश में चावल एवं गेहूँ ही दो मुख्य खाद्य पदार्थ हैं। यद्यपि धान की खेती अधिक पानी वाले क्षेत्रों में ही सुगमता से होती है पर फिर भी सारे भारतवर्ष में चावल की खपत कुछ न कुछ मात्रा में होती ही है। पिछले दस वर्षों में धान की कई नई किस्में उपजाई जाने लगी हैं जिनमें बहुत सी किस्में तो यहां के लिए एकदम नई हैं। ये किस्में पैदावार की दृष्टि से बहुत ही अच्छी हैं। इस समय देश के समस्त खेती योग्य जमीन के 25 प्रतिशत भाग में धान की खेती होती है। यद्यपि किसानों के निरंतर प्रयास, सरकार की विभिन्न योजनाओं द्वारा किसानों को विविध सहायतायें तथा नई-नई तकनीकी जानकारियों द्वारा धान की उपज दिन पर दिन बढ़ती ही जा रही है पर तब भी धान पर लगने वाले कीड़े काफी मात्रा में इस फसल को नुकसान पहुँचाते हैं।

यों तो धान पर लगने वाले कीड़ों की संख्या लगभग 3 दर्जन से भी अधिक है परन्तु इनमें चार प्रमुख हैं जो धान की फसल को काफी नुकसान पहुँचाते हैं। (1) धान तना छेदक (Paddy Stem borer) (2) झुंड में निकलने वाले कैटरपिलर (Swarming catterpillar) (3) धान कीट (Rice bug) एवं (4) गाल मक्खी (gall fly).

धान तना छेदक (Paddy stem borer) धान के पौधे के तने को लगभग 1/2 दर्जन लेपिडाप्टेरा लार्वा Lepidoptera larvae) छेदते हैं और इनमें से भारत में धान की फसल को जो नुकसान पहुँचाता है उसका नाम ट्राइपाराइज़ा इनसर्टुलस (Tryporyzaincertulus) है। इसकी ख़ास बात यह है कि यह धान के पेड़ पर ही पाया जाता है और भारत के समस्त धान उपजाने वाले इलाकों में पाया जाता है। यह एक तितली के तरह का कुछ पीले रंग का कीड़ा होता है जिसके मादा के अग्रपंख पर एक काला धब्बा होता है। नर में यह धब्बा नहीं होता। मादा तितली छोटे-छोटे समूहों में अंडा देती है और इन अंडों से पहले चरण के लार्वा निकल कर कुछ समय के लिये पेड़ से लटके रहते हैं पर शीघ्र ही ये पेड़ के तने में छेद कर के अपने लार्वा एवं प्यूपा जीवन काल के लिये अन्दर घुस जाते हैं। प्यूपा बनने के पूर्व ये एक दूसरा छेद बनाते हैं जिससे पूर्ण विकसित कीड़ा बाहर निकलता है। ये कीड़े प्रकाश की ओर आकर्षित होते हैं।

यह कीड़ा यदि पौधा में लग जाता है तो पौधा मर जाता है और यदि थोड़ा बडे होने पर ये कीड़े लगते हैं तो धान का पौधा पीला पड़ जाता है और उसकी बाली में कुछ भी नहीं रह जाता। । यदि ये कीड़े पौधे के काफी बड़े होने पर लगते हैं तो धान का दाना काफी पतला हो जाता है।

इस कीड़े का सफाया करने के लिये सब से उपयुक्त समय वह है जब अंडें दिये गये हों। अंडों को पेड़ पर से हटाया जा सकता है तथा लार्वा को पेड़ में घुसने से पहले कीट नाशक द्वारा मारा जा सकता है।

झुंड में निकलने वाले कैटरपिलर (Swarming caterpillar) इसका नाम स्पोडाप्टेरामाउरीशिया (Spodoptera mauritia) है और जब ये बड़ी संख्या में धान पर लगते हैं तो काफी नुकसान पहुँचाते हैं। इनके कैटरपिलर (caterpillar) का झुंड का झुंड सारे खेत को चर डालता है और एक खेत के बाद दूसरे खेत पर सेना की

भाँति बढ़ता जाता है और इसीलिए इसे कभी-कभी सेना-कीट (armyworm) भी कहते हैं। ये बहुत चालाक होते हैं और कभी-कभी खेत से हट कर आस पास की घास में छिप जाते हैं और जब खेत तैयार हो जाता है तो एकदम से हमला बोल देते हैं।

ये मझोले कद के तितली नुमा कीड़े (moth) होते हैं जो भूरे रंग के होते हैं और इनके अगले पंख पर धब्बे होते हैं तथा किनारों पर कुछ लहरियादार डिजाइन रहती है। पिछले पंख लगभग सफेद होते हैं। ये कीड़े ढेरों अंड़े देते हैं और हरी पत्तियों पर आसानी से छिप जाते हैं। अंडों से निकल कर लार्वा तुरंत धान के पेड़ की पत्तियों को खाने लगता है। कीड़े रात में अपना काम करते हैं तथा दिन में छिप जाते हैं। इनका प्यूपा जमीन के अन्दर बनता है और कभी-कभी जब प्यूपा बनने के लिये कीड़े जमीन के भीतर चले जाते हैं तो किसान समझते हैं कि ये समाप्त हो गये पर यह उनकी भूल रहती है क्योंकि थोड़े समय बाद ढेरों कीड़े निकल कर फिर से फसल को बरबाद करने लगते हैं। इन कीड़ों को रोकने का सब से सही तरीका इनके अंडों का पूर्ण रूप से नाश करना है। अंडों का नाश करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि ये कीड़े न केवल खेतों में अंड़े देते हैं बल्कि आस पास के क्षेत्रों में भी अंड़े देते हैं। अतः सम्पूर्ण क्षेत्र के कीड़ों के अंड़ों का एक सामूहिक रूप से नाश करना चाहिये। यदि किसी कारण अंड़ों का नाश नहीं हो पाया और अंडों से कीड़े निकल पड़े तो इन्हें कीटनाशी द्वारा मारना चाहिये।

गंधी कीट (**Gundhi bug**) यह कीड़ा धान की फसल का सब से बड़ा शत्रु है। इस कीड़े के शरीर से एक बहुत ही तेज दुर्गंध निकलती है और इसी कारण इसको गंधी कीट कहते हैं। यह लम्बी टांगों वाला, कुछ हरा एवं भूरापन लिये हुये शरीर वाला कीड़ा होता है जो धान के खेतों में तथा उनके बाहर भी पत्तियों पर अंड़े देता है। अंड़े से निकलने के तुरन्त बाद यह पौधे का रस चूसने लगता है। यह मुख्यतः पौधों पर या धान की बाली में दाना पड़ने के समय आक्रमण करता है और इसके कारण सारे धान के दाने खोखले रह जाते हैं। पहले तो इनकी रोक थाम बहुत कठिन थी पर अब कीटनाशियों के प्रयोग से काफी हद तक इनका नियंत्रण हो जाता है और इसी कारण धान की पैदावार में वृद्धि हुई है।

गाल मक्खी (**Gall fly**) यह एक छोटी मक्खी होती है जिसकी बहुत पतली-पतली टांगे होती हैं और यह धान के पेड़ में लम्बी-लम्बी गाल (galls) बना देते हैं। इस मक्खी का अधिकतर जीवन काल इसी गाल के अंदर पूरा होता है और एक के बाद एक अनेक गाल बनते चले जाते हैं अन्ततः सारा पौधा गाल से भर जाता है और पौधे पर धान के नाम पर कुछ भी नहीं उगता। शरीर में तेज़ी से घुसने वाले कीटनाशी जैसे ओर्गेनोफास्फोरस (organophosphous) इसको मारने के लिये उपयुक्त हैं।

धान की फसल को कीड़ों से बचाने के लिये दो बातें ध्यान में रखनी चाहिये। सर्व प्रथम उन क्षेत्रों में जहां एक ही खेत में एक के बाद एक करके धान की 3 फसलें उगाई जाती हैं धान के कीड़ों को फैलने का बहुत अच्छा मौका मिलता है अतः ऐसे क्षेत्रों में कीड़ों का अच्छी तरह से उपचार करना चाहिये एवं खेत को कुछ समय के लिये खाली छोड़ना चाहिए। दूसरी बात जो बहुत महत्वपूर्ण है वह यह है कि धान के पौधे जब खेत में लगाये जाएं तो उसकी अच्छी तरह देख भाल कर लेनी चाहिये ताकि रोपने से पहले कीड़ों को समाप्त कर दिया जए। इससे समस्या काफी कम हो जाती है। एक अन्य बात जो ध्यान में रखने की है वह यह है कि केवल दो चार खेतों से कीड़ों को हटा देने से काम नहीं चल सकता बल्कि जब तक कि उस क्षेत्र के सभी किसान मिल कर कीड़ों का सामूहिक रूप से नाश नहीं करते तब तक कोई फायदा नहीं हो सकता।

धान की खेती करने वाले किसानों को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये।

1. चूंकि धान पर लगने वाले कीड़े अपने अंड़े खेत के चारों ओर उगने वाली जंगली घास पर ही देते हैं अतः खेत के आस पास की घास को एकदम साफ कर देना चाहिये।

2. धान रोपने के पहले खेत की अच्छी तरह से जुताई होनी चाहिये जिससे पहले से मौजूद लार्वा एवं प्यूपा का नाश हो जाए। खेत से पुराने पौधों को जिनमें कीड़ों के होने की संभावना हो, चुन-चुन कर निकाल देना चाहिये।

3. प्रकाश प्रवंच (light traps) का प्रयोग करना चाहिये या खेत के पास आग जला देना चाहिये जिससे कीड़े आग पर आकर जल जाते हैं।

4. शुरू से ही अंडों को पौधों पर से चुन-चुन कर मारते रहना चाहिये एवं उन पौधों को जिनमें कीड़े लगे हों निकाल कर दूर फेंक देना चाहिये।

5. पौधों को रोपने के पहले किसी कीटनाशी घोल जैसे पैराथियान (Parathion) से धो लेना चाहिये जिससे कि कीड़ों का नाश हो जाए। इसके अलावा फसल पर जाब कीड़े दिखाई पड़ने लगें तो 5 प्रतिशत बी० एच० सी० डस्ट (BHC dust) छिड़कना चाहिये। कभी-कभी पूरे खेत को कीटनाशी मिले पानी के घोल में पूरा डुबो देना चाहिये जिससे सारे कीड़े उसी में गिर कर मर जाए।

यद्यपि नये-नये उपकरणों, उर्वरकों, कीटनाशक दवाओं तथा नई-नई तकनीकी जानकारियों के कारण धान की पैदावार में काफी वृद्धि हुई है पर यदि ऊपर बताई गई बातों का ध्यान रक्खा जाए तो निसंदेह धान की पैदावार और बढ़ाई जा सकती है। इस स्थान पर किसानों के हित की एक बात और बतलाने योग्य है कि यद्यपि कीटनाशक औषधियों के उपयोग से खेती को नुकसान पहुँचाने वाले कीड़ों का नाश हो जाता है पर इन दवाओं के प्रयोग में बहुत सावधानी वर्तनी चाहिये। केवल उन्हीं दवाओं का प्रयोग करना चाहिये जो उस फसल के लिये उपयुक्त हो तथा उनकी सही मात्रा का भी ध्यान रखना चाहिये। केवल अंदाज़ से या आवश्यकता से अधिक दवाओं का प्रयोग तत्कालीन फायदा शायद जरूर दिखलाये पर भविष्य के लिये बहुत हानिकर है। धान की फसल पर प्रयोग होने वाली कीटनाशक दवाओं का संक्षिप्त व्योरा प्रस्तुत है।

धान पर एंड्रिन एवं पैराथियान सबसे उपयुक्त दवायें हैं। इनकी अनुपस्थिति में लिडेन फास्फेमिडान (Lindane Phosphamidon) डी० डी० टी० (DDT) बी० एच० सी (BHC) ट्राइथियान (Trithion) ट्राइक्लोरोफान (Trichlorophon) डाइमीथोनेट (Dimethonate) एवं मेनाज़ान (Menazon) का भी प्रयोग किया जा सकता है।

एंड्रिन का 0.03 प्रतिशत घोल 670 से 890 लिटर प्रति हेक्टो एकड़ के हिसाब से छिड़कना चाहिये।

पैराथियान का 0.025 प्रतिशत घोल 670 से 890 लिटर प्रति हेक्टो एकड़ में स्प्रे करना चाहिये। ●

(शेषांक पृष्ठ 6 का)

की लिखावटें तथा चिन्ह पराबैंगनी प्रकाश में स्पष्ट दीखने लगते हैं। अपराधी की अंगुलियों के चिन्हों के अध्ययन, अदृष्य संदेश को पढ़ने एवं नकली हस्ताक्षरों की पहचान में इसके अनुप्रयोगों ने इसकी दखल अपराध विज्ञान में भी पैदा कर दी है। सड़े अंडों से स्वस्थ अंडों की पहचान, असली एवं नकली दांतों में भेद, शुद्ध घी एवं वनस्पति घी में अन्तर पराबैंगनी किरणों की प्रतिदीपक क्षमता के कारण ज्ञात की जा सकती है। रक्त दाब के अध्ययन एवं सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) की विक्षेपण क्षमता में अभिवृद्धि में भी पराबैंगनी किरणें महत्वपूर्ण योगदान कर रही हैं।

उपरोक्त कार्यों के लिये पराबैंगनी किरणों का उत्पादन अनेक विधियों से किया जाता है। इसके लिये मुख्यतः दो विधियाँ प्रचलित हैं— क्वार्ट्ज ट्यूब में पारे की वाष्प (मरकरी वेपर) के वातावरण में धातु के विद्युत इलेक्ट्रोडों के बीच विद्युत विसर्जन से अथवा उसी ट्यूब में प्रतिदीप्त टंग्सटन के तंतु की उपस्थिति में विद्युत विसर्जन से पराबैंगनी किरणों का उत्सर्जन होता है। पारे की वाष्प भरे क्वार्टज़ ट्यूब का उपयोग प्रायः चिकित्सा कार्यों हेतु पराबैंगनी किरणें उपलब्ध कराने में होता है।

यह विज्ञान ही की सामर्थ्य है जो हम प्रकृति के हर अभिशाप को वरदान में परिवर्तित कर ही स्वीकार करते हैं। पराबैंगनी किरणों के विभिन्न उपयोग इस कथन के साक्षी हैं। ●

मलेरिया--वापसी क्यों ?

● अरविन्द मिश्र

भारत में मलेरिया के विरुद्ध सर्वप्रथम 1953 में राष्ट्रीय स्तर पर युद्ध छेड़ा गया। उस समय बड़ी ही भयावह स्थिति थी। 7.5 करोड़ व्यक्ति प्रत्येक वर्ष इस भयानक रोग से ग्रस्त हो रहे थे। 8 वर्षों तक मलेरिया का यह ताण्डव चलता ही रहा। लाखों लोग कालकवलित हो गये, जो वचे मलेरिया से उत्पन्न द्वितीयक प्रभावों से काल के ग्रास बन गये। जो फिर भी वच रहे, वो आज तक रक्ताल्पता जैसी व्याधियों के शिकार बने हुये हैं।

राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम; आँकड़े बोलते हैं। 1953 में स्थापित मलेरिया उन्मूलन अभियान का मुख्य कार्य था, मलेरिया में उत्पन्न मौत की विभीषिका से करोड़ों लोगों के प्राणों की रक्षा करना। इस अभियान के अनुसार कीटनाशक दवाओं जैसे डी. डी.टी. का छिड़काव व्यापक रूप से किया गया। इससे मलेरिया को सचमुच एक धक्का लगा और इससे हो रही मौतों में भारी कमी आ गयी। अभियान के प्रथम चरण की सफलता के वाद सरकार को प्रोत्साहन मिला और मलेरिया को इस देश से समूल नष्ट करने का बीड़ा सरकार ने उठा लिया। इसमें भारी सफलता मिली तथा मौतों पर नियन्त्रण पा लिया गया। परन्तु सन 65 के वाद मलेरिया पुनः यत्र कत्र दृष्टिगोचर होने लगा। लगभग 7 लाख लोग 1970 में मलेरिया के शिकार हो गये। इसी तरह 14 लाख लोग 1972 में 31.6 लाख लोग 1974 में तथा 51.6 लाख लोग 1975 में, मलेरिया से ग्रस्त रहे और रोग बढ़ता रहा।

सहनशीलता : वैज्ञानिकों का कहना है कि लगातार कीटनाशक दवाओं के छिड़काव के कारण मच्छरों में इसके प्रति सहनशक्ति विकसित हो गयी। गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश एवं हरयाना के कुछ भागों में मच्छर डी. डी. टी से प्रभावित ही नहीं होते। एक नये कीटनाशक बी. एच. सी (गैमक्सीन) को प्रयोग में लाया
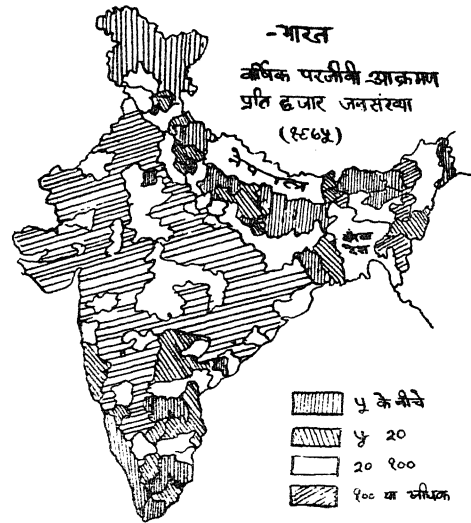
चित्र 1975 में मलेरिया से पीड़ित प्रान्त

गया। परन्तु जल्दी ही मच्छरों ने इसके प्रति भी सहनशीलता विकसित कर ली। एक नये कीटनाशक मैलाथियान ने कुछ दिनों अच्छा काम किया। लेकिन ये कीटनाशी वेहद ही मँहगे हैं और उनका असर अपेक्षाकृत कम ही होता है। अतः मच्छरों को मारने के लिये इन कीटनाशी दवाइयों की की भारी मात्रा का अपव्यय होता है। कुछ वैज्ञानिक यह भी कहते हैं कि इन कीटनाशियों का छिड़काव 3-4 वर्षों के लिये बन्द कर देना चाहिये जिससे मच्छर एक बार

फिर इनके प्रति सुग्राही हो जाँय। परन्तु प्रयोग की दृष्टि से यह नितान्त असम्भव है। क्योंकि फसलों को हानि पहुँचाने वाले हानिकारक कीट पतंगो के विनाश के लिए कीटनाशियों का प्रयोग अति आवश्यक है।

दवाओं के प्रति प्रतिरोधात्मकता मलेरिया के पुन: आगमन का एक कारण यह भी है कि मलेरिया रोगकारक 'प्लाज़्मोडियम' में दवाइयों के प्रति आश्चर्यजनक ढ़ंग से प्रतिरोधात्मकता पैदा हो गयी। कुनैन, मलेरिया की परंपरागत दवा थी। कालान्तर में, क्लोरोक्वीन के आविष्कार के बाद इसका प्रयोग बन्द कर दिया गया। क्लोरोक्वीन की मात्र एक भरपूर खुराक मलेरिया को दूर करने में सक्षम है। लेकिन मलेरिया की एक खतरनाक प्रजाति 'प्लाज्मोडियम फैल्सीपेरम' जो इलाहाबाद में भी सक्रिय है, क्लोरोक्वीन से भी पूर्णरुपेण प्रभावित नहीं होती।

मलेरिया की वापसी का एक अन्य कारण यह भी है कि एक बार इसका उन्मूलन हो जाने के बाद लोगों में इसके प्रति उदासीनता व लापरवाही व्याप्त हो गयी। डी.डी.टी. का छिड़काव व अन्य रोकथाम के साधन शिथिल पड़ गये। मलेरिया की वापसी का यह भी एक महत्वपूर्ण कारण है।

वास्तव में हजारों ज्वर पीड़ितों में कुछ ही व्यक्ति मलेरिया से प्रभावित रहते हैं। परन्तु यदि इसका शीघ्र उपचार न किया जाय या इसकी रोकथाम में थोड़ी सी भी ढ़ील या शिथिलता बरती जाय तो यह रोग बड़ी तीव्रता से फैल जाता है। दिन दूना रात चौगुना बढ़ने के कारण इस रोग पर नियन्त्रण रखना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

सामाजिक कारण : इसके अतिरिक्त कई सामाजिक कारण भी हैं, जिससे मलेरिया जैसे खतरनाक रोग ने पुन: मानव जीवन पर अपना अधिपत्य बना लिया। कुछ क्षेत्रों में लोग अपने घरों पर धार्मिक अनुष्टानों के उपलक्ष्य में जल्दी जल्दी मिट्टी का लेप करवाते हैं। इससे कीटनाशक दवाओं का प्रभाव खत्म हो जाता है। घुमक्कड़ बनजारे खानाबदोश जातियों तथा दूर दराज से आने वाले लोग मलेरिया को एक जगह से दूसरे जगह तक फैलाने में सहायक होते हैं। तीसरा मुख्य कारण यह है कि बड़ी संख्या में हो रहे विकास कार्यों के कारण विभिन्न स्थानों से मजदूर आकर एक जगह इकट्ठा होते हैं। जनसंख्या का यह संकेन्द्रण रोग फैलाने में सहायक होता है।

भारत में मलेरिया की स्थिति के सही प्रारूप को जानने के लिये भारत सरकार ने दो समितियों का गठन किया था। इन दोनों समितियों ने 1974 में ही अपनी रिपोर्ट सरकार के समक्ष प्रस्तुत कर दी थी। इस प्रतिवेदन के आधार पर कुछ भावी कार्यक्रम अभी शीघ्र ही निर्धारित किये गये हैं, जो शीघ्र ही लागू किये जायेंगें।

जन सहयोग; लौट आये मलेरिया को भगाइये : सरकारी प्रयास ही केवल पर्याप्त नहीं है। मलेरिया मनुष्य की स्वयं की अपनी बनायी हुई समस्या है। मनुष्य ने मलेरिया की स्थिति, स्वयं अपने लिये, पानी के गन्दे गडढ़ों व नालियों की तरफ समुचित ध्यान न देकर तैयार की है। जब तक कि एक भारी जनसमुदाय सरकार के द्वारा लागू कार्यक्रमों में पूरा सहयोग नहीं देता, मलेरिया का भारत से जाना लगभग असम्भव है।

मलेरिया के टीके : मलेरिया के लिये टीकों का आविष्कार भी हो चुका है और देश विदेश के वैज्ञानिक इसकी सार्थकता पर शोध कर रहे हैं। प्रयोग के जन्तुओं जैसे बन्दरों, चूहों पर इस टीके का प्रयोग किया जा रहा है। यही नही, चण्डीगढ़ के मेडिकल इन्स्टटीट्यूट में तो मलेरिया के टीकों पर संसार में सबसे अधिक कार्य हुआ है और अभी भी शोध कार्य चल रहा है। वह दिन दूर नहीं जब चेचक, टी. बी. पोलियो आदि भयंकर रोगों की तरह मलेरिया के भी टीकों का प्रयोग मानव जाति पर होने लगेगा और हम इस भयंकर रोग से मुक्त हो जायेंगें। ●

जीवनी

बुन्सन ज्वालक के आविष्कारक—राबर्ट बुन्सन

● नरेश चन्द्र 'पुष्प'

विज्ञान के सभी छात्रों ने अपनी रसायन की प्रयोगशाला में स्प्रिट लैम्प और बुन्सन ज्वालक को तो अच्छी तरह देखा होगा और इन्हें उपयोग में भी लाते होंगे। बुन्सन ज्वालक को प्रयोगशाला में मिट्टी के तेल की गैस, पेट्रोल गैस, कोल गैस या अन्य किसी ज्वलनशील गैस के द्वारा जलाया जाता है। प्रत्येक प्रयोगशाला के लिए बुन्सन ज्वालक एक अत्यन्त महत्वपूर्ण चीज है। इसके बिना प्रत्येक प्रयोगशाला सूनी सूनी सी हो जाती है क्योंकि बिना ज्वालक के रासायनिक परीक्षण बहुत ही कठिन हो जाता है। अत: यह बुन्सन ज्वालक बहुत ही उपयोगी चीज है लेकिन बहुत कम छात्र ही इस ज्वालक के अविष्कारक के बारे में जानते होंगे। बुन्सन ज्वालक का अविष्कार जर्मनी के प्रसिद्ध रसायनज्ञ डा० रार्बट बुन्सन ने किया था। आज रार्बट बुन्सन को वैश्लेषिक रसायन का प्रेणता कहा जाता है। रार्बट बुन्सन ने रसायन के क्षेत्र में कार्बनिक-अकार्बनिक रसायनज्ञ के रूप में प्रवेश किया था। लेकिन बाद में रार्बट बुन्सन ने कार्बनिक रसायन से धीरे धीरे मुख मोड़ लिया और अपना सारा अध्ययन और शोधकार्य अकार्बनिक रसायन और वैश्लेषिक रसायन पर केन्द्रित किया।

राबर्ट बुन्सन का जन्म 1811 में गॉटिनजेन (जर्मनी) में हुआ था। बुन्सन बचपन से ही बहुत हठी और शरारती लड़का था। उसके माता-पिता सदा ही उससे परेशान रहते। विद्यालय में बुन्सन अपने शिक्षकों को भी बहुत परेशान करता था। इसी कारण वह अपने विद्यालय में शरारती बालक के रूप में ही काफी प्रसिद्ध था। रार्बट बुन्सन ने विद्यालय में गणित, रसायन, धातु कर्म और कार्य की अध्ययन किया और उन्नीस वर्ष की छोटी सी उम्र में ही डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त कर ली। उन दिनों जर्मनी में एक रिवाज था कि बिना अन्य द्वीपों की यात्रा किये हुये शिक्षा को अधूरा माना जाता था। अत: शिक्षा समाप्त होते ही वे अन्य द्वीपों की यात्रा के लिये जर्मनी से चल दिया और दो वर्षों तक अन्य देशों में घूमते रहे। इस यात्रा के मध्य राबर्ट बुन्सन ने अन्य देशों में विज्ञान का अध्ययन किया और काफी अनुभव प्राप्त किया। यात्रा के वापस आने पर राबर्ट बुन्सन गॉटिनजेन में प्रवक्ता के पद पर कार्य करने लग गये। प्रवक्ता के पद पर आते ही उन्होंने एक ओर शिक्षण का कार्य आरम्भ किया और दूसरी ओर स्वतन्त्ररूप से अनुसंधान कार्यों में लग गये। इस बीच उन्होंने जलीय आयन ऑकसाइड की खोज थी। यह उनकी प्रथम और अत्यधिक महत्वपूर्ण खोज थी। जलीय आयरन ऑकसाइड आर्सेनिक विषों का सेवन अच्छा एण्टीडोट है। इस खोज के पश्चात् से आज तक आर्सेनिक विष का अन्य दूसरा उपयोगी एण्टीडोट नहीं खोजा जा सका है। इसके पश्चात् 1836 में रार्बट बुन्सन को कैसल के हॉयर ट्रेड स्कूल का उत्तराधिकारी बनाया गया और इसके पश्चात 1841 में वे मर्बर्ग विश्वविद्यालय के प्रध्यापक बनाये गये। यहां राबर्ट बुन्सन ने आर्सेनिक युक्त द्रवों और रबर को जमाने की प्रक्रिया से अपना अनुसन्धान कार्य आरम्भ किया। इन्हीं अनुसन्धानों के मध्य उन्होंने अनेकों विशैले और विस्फोटक रसायनों की खोज की। इस क्षेत्र में उन्हें काफी सफलता मिली जिसके कारण इन्हें स्वयं ही काफी प्रोत्साहन मिला। लेकिन इसका उन्हें

काफी मूल्य भी चुकाना पड़ा। एक विस्फोट के कारण उनकी एक आंख खराब हो गयी जिसके कारण उन्हें मृत्यु तक काफी कष्ट उठाना पड़ा। ये अनुसन्धान चल ही रहे थे कि उन्होंने अपनी एक वैज्ञानिक यात्रा करने का निर्णय लिया और 1846 में वे अपनी इस यात्रा पर निकल पड़े और विभिन्न स्थानों पर घूमते रहे। यात्रा समाप्त करके लौटे तब उनके पास अनेकों ज्वालामुखी से निकली गैसों और अन्य स्त्रोतों से प्राप्त गैसों के 100 से अधिक सैम्पुल थे। रार्बट बुन्सन ने इन गैसों का अपनी प्रयोगशाला में काफी अध्ययन किया और इनका रासायनिक विश्लेषण किया। इसी बीच एक घटना और घटी। रावर्ट बुन्सन को 1852 में मावर्ग विश्वविद्यालय से हिडलवर्ग विश्वविद्यालय भेज दिया गया इस नये विश्वविद्यालय में रार्बट बुन्सन ने अपना जीवन अकार्बनिक और वैश्लेपिक रसायनज्ञ के रूप में व्यतीत करने का निश्चय किया। यहां उन्हें एक सफलता और प्राप्त हुई। उन्होने क्रोमियम और मैंग्नीज को शुद्ध रूप में प्राप्त करने की विधि की खोज की। बुन्सन ने क्रोमियम और मैंग्नीज को उनके पिघले क्लोराइडों से विद्युत विश्लेषण को विधि से प्राप्त किया था। उन्होंने विद्युत विश्लेपण की क्रिया को और महत्वपूर्ण बनाने में भी काफी योगदान किया था।

दो नये तत्वों का आविष्कार : प्रसिद्ध वैज्ञानिक शीले ने तत्वों की रासायनिक परीक्षा के लिये ज्वाला परीक्षणों का सुझाव दिया था। आज भी अनेकों तत्वों की साधारण परीक्षा ज्वाला परीक्षण के माध्यम से की जाती है। रार्बट बुन्सन ने इस क्षेत्र का और विस्तार किया और तत्वों की वर्णक्रम विश्लेषण परीक्षा का सुझाव दिया। यह एक अत्यन्त नयी और महत्वपूर्ण चीज थी। यह नयी चीज रार्बट बुन्सन के लिए बहुत ही भाग्यशाली सिद्ध हुई क्योंकि इस माध्यम से उन्होंने दो अन्य नये तत्वों की खोज कर दी जिसके बारे में तब तक कोई नहीं जानता था। रार्बट बुन्सन ने इस बीच 44000 किलोमीटर की यात्रा की और एक झील से पानी का सैम्पुल लेकर वापस आये। इस पानी से ही उन्होंने वर्णक्रम विश्लेषण विधि के माध्यम से दो नये तत्वों-रूवीडियम और सीज़ियम का आविष्कार किया।

रार्बट बुन्सन ने अपने जीवन में कई पुस्तकें लिखी। रार्बट बुन्सन ने डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त करने के लिए 'न्यूमेरेटियो एल डिस्क्रिप्टियों हाइड्रोमिट्रोइक' नाम की शोध पुस्तक लिखी थी। इसके पश्चात 1860 में एक अन्य पुस्तक 'केमीकल एनालाइसिस थ्रू आबजरवेशन आॅव दी स्पेक्ट्रम' गस्टॉव किरकॉफ के साथ मिल कर लिखी। इसके पश्चात 1880 में रार्बट बुन्सन की एक तीसरी पुस्तक 'फ्लेम रियेक्शन' प्रकाशित हुई।

शिक्षक के रूप में : रार्बट बुन्सन वैज्ञानिक और आविष्कारक के साथ साथ एक ख्याति प्राप्त शिक्षक भी थे। उन्होंने विद्यार्थियों के साथ एक मधुर सम्बन्ध कायम कर लिया था। उनके शिक्षण का ढंग अन्य शिक्षकों से काफी अलग था और विज्ञान शिक्षा पर उनके अलग स्वतंत्र विचार थे। वे अपने छात्रों को उदाहरणों, परिक्षणों और प्रयोगों के माध्यम से विज्ञान पढ़ाते थे। उनका कहना था कि प्रत्येक विद्यार्थी का केवल यही कर्तव्य नहीं है कि विज्ञान पुस्तक में लिखी प्रत्येक बात को वह समझ लें और उसे याद कर लें। वलिक प्रत्येक विद्यार्थी को चाहिये कि यह स्वयं ही विज्ञान की प्रत्येक बात पर स्वतन्त्र विचार रखे और आविष्कार करने की भावना जाग्रत करे। इस बात के लिए कभी कभी बुन्सन अपने विद्यार्थियों को पढ़ाते पढ़ाते या प्रयोग कराते समय गलत जगह ले आता और फिर क्षात्र को इस बात पर विवश करते कि वह गलत जगह से सही जगह जाने के लिए विचार करे और कुछ सोचने पर विवश हो। इन सभी बातों के साथ साथ बुन्सन का कहना था कि प्रत्येक क्षण में प्रयोगशाला में कार्य करने की तीव्र इच्छा होनी चाहिये।

रावर्ट बुन्सन 78 वर्ष की आयु पर विश्वविद्यालय से रिटायर कर दिये गये और 1899 में उनकी मृत्यु हो गयी। ●

पपीता-एक बहुउपयोगी फल

• मुरारी मोहन राय

भारतीय फलों में पपीता एक महत्व पूर्ण फल है। वनस्पतिशास्त्री इसे केरिक पेपया (कुल-केरिकेसी) कहते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार इस पौधे की जन्मभूमि वेस्टइंडीज या मेक्सिको है। आजकल इसकी खेती विभिन्न देशों जैसे—भारत, जावा, न्यूजीलैन्ड, आस्ट्रेलिया, मलाया, श्रीलंका केलीफोर्निया, फ्लोरिडा आदि जगहों में की जाती है। इसकी खेती बहुत आसान होने के साथ साथ इसमें फल भी बहुत जल्दी (लगभग 1 वर्ष में) आने शुरु हो जाते है। इन्ही कारणो से यह फल व्यावसायिक रूप से भी काफी महत्वपूर्ण है। भारतवर्य में इसकी खेती मुख्यतया महाराष्ट्र, गुजरात, बिहार, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, आसाम, आदि प्रांतो में होती है। कुछ प्राचीन मान्यताओं के कारण यह फल दक्षिणी भारत में अधिक प्रचलित नही हैं।

पपीते का पौधा सदाबहार एवं काफी लम्बालगमग 25 फुट का होता है। इसकी पत्तियों लम्बी, कई भागों में विभाजित एवं तने के शीर्ष से निकलती है। प्रायः पपीते के नर एवं मादा वृक्ष अलग अलग होते है एवं फल केवल मादा वृक्षों पर ही लगते है। इसका फल नारंगी पीले रंग का बेरी होता है। फल पत्तियों के छत्रक के नीचे निकले लम्बे डंठलों पर लगे होते हैं। इनके फूलों का रंग पीला होता हैं।

पपीते की खेती मुख्यतया बीजों से की जाती है। बोने के लिए बीज अच्छे एवं बड़े फलों से लिए जाते है। बीज प्रायः जून से अक्टूबर के मध्य बोए जाते है एवं पौधो में 12 से 14 महीनो के बीच फल आने शुरु हो जाते हैं। एक बार की खेती से लगभग 3 साल तक आसानी से फव प्राप्त किए जा सकते है।

विभन्न प्रकाग पपीते के विभिन्न बोई जाने वाली प्रकारों में आस्ट्रेलिया प्रकार, नीला जावा प्रकार, न्यूजीलैन्ड प्रकार, गुजरात प्रकार, मडगास्कर प्रकार, राँची प्रकार, सिंगापुर प्रकार, बंगलौर प्रकार, वाशिंगटन प्रकार, एवं हनीडयू प्रकार प्रमुख हैं। परन्तु भारतवर्ष में मुख्यतया तीन किस्में—वाशिंगटन प्रकार, गुजरात प्रकार एवं हनीडयू प्रकार ही बोई जाती है।

वाशिंगटन प्रकार का पौधा काफी छोटा होता है एवं इसके फूलों का रंग गहरा पीला होता है। फल का गूदा काफी मीठा एवं अच्छे फ्लेवर युक्त होता है।

गुजरात प्रकार का पौधा मध्यम ऊँचाई का होता है है एवं इसके फूलों का रंग खेत होता है। इसके फल का आकार वाशिंगटन प्रकार से बड़ा होता है परन्तु फल का गूदा कम मीठा हो है। इसके फल से एक हल्की सी दुर्गन्ध सी आती है।

हनीडयू प्रकार का पौधा भी मध्यम ऊँचाई का होता है एवं इसके भी फूलों का रंग खेत होता है। इसके फल का आकार बड़ा होने के साथ साथ इसका गूदा काफी मीठा एवं सबसे अच्छा फ्लेवर वाला होता है। इसी कारण इसकी खेती को बढ़ावा मिल रहा है।

उपयोग पपीते का कच्चा फल शरीर की पाचन क्षमता को बढ़ाता है क्योकि इसमें एक प्रकार का बिकर पेपेन पाया जाता है जोकि प्रोटीन अणुओं विखंडित त करने की क्षमता रखता है। परन्तु पपीते के पके फल में पेपेन की मात्रा बहुत कम लगभग नही के बराबर हो जाती है। पपीते का पका हुआ फल काफी पौष्टिक एवं स्वादिष्ट होता

(शेष पृष्ठ 17 पर देखें)

मानव को प्रकृति का उपहार

● मृदुला श्रीवास्तव

वनस्पति और मनुष्य का चोली दामन का साथ है। दोनों एक ही आयाम के दो भिन्न पहलू है। वनस्पति का तात्पर्य पेड़ पौधों से है। पेड़ पौधों में भी जीवन के स्पन्दन में उन पर सर्दी गर्मी का प्रभाव पड़ता है तथा अन्य प्राणियों के समान उन्हें भी भूख प्यास लगती है। वे भी मनुष्य की भाँति सुखी और दुखी रहते हैं। वे भी बाहरी स्पर्श से प्रभावित होते हैं और सजीव प्राणियों की तरह उत्तर देते हैं। पेड़-पौधे भी खाते पीते और सोते हैं काम करते हैं, आराम करते हैं, और मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र वसु अपने प्रयोगों के द्वारा पहले ही यह सिद्ध कर चुके हैं कि पेड़ पौधे भी सजीव प्राणियों की भाँति संवेदन शील होते हैं। उन्होंने यन्त्रों द्वारा वनस्पतियों की संवेदना को प्रत्यक्ष अंकित करके भी दिखाया।

अब अगर हम वनस्पतियों की ओर एक नजर यह सोचकर डालें कि इनसे मनुष्यों को क्या लाभ है तो हमें मालूम होगा कि इसका क्षेत्र बहुत ही विशाल एवं असीमित है। अधिकांश वस्तुएँ जो प्रतिदिन हमारे उपयोग में आती है किसी न किसी प्रकार पौधों से ही प्राप्त होती हैं। आज के संसार का समस्त जीवन पौधों पर ही निर्भर है। यह ज्ञात ही है, कि जन्तु-आक्सीजन की अनुपस्थिति में जीवित नहीं रह सकते परन्तु इस पृथ्वी के वायुमण्डल में आक्सीजन की मात्रा सीमित है। पौधों के हरे भाग सूर्य के प्रकाश में प्रकाश संश्लेषण की क्रिया द्वारा कार्बन डाई आक्साइड वायुमण्डल से अवशोषित करके भोजन का निर्माण करते हैं। तथा आक्सीजन बाहर निकाल देते हैं जिससे वायुमण्डल में आक्सीजन की कमी पूरी होती रहती है। आप सोचिये अगर पेड़ पौधे न होते तो क्या पृथ्वी पर जन्तुओं की सृष्टि हो सकती थी? आर्थिक महत्व की दृष्टि से वनस्पति निम्नलिखित प्रकार से हमारे लिए उपयोगी है—

खाद्य पदार्थ : खाद्य पदार्थों से ही हमारे शरीर को प्रतिदिन के कार्यों को करने की शक्ति प्राप्त होती है। जो खाद्य पदार्थ हमारे काम आते हैं मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं—प्रोटीन, विटामिन, वसा और कार्बोहाइड्रेट। ये सभी पौधों में पाए जाते हैं। पौधों के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से कार्बन डाई आक्साइड और पानी की सहायता से प्रकाश तथा क्लोरोफिल की उपस्थिति में ऊपर लिखे पदार्थ संश्लेषित नहीं किए जा सकते हैं। उपर्युक्त चार प्रकार के खाद्य पदार्थ हमें निम्नलिखित प्रकार के पौधों से प्राप्त होते हैं—

धान्य : जैसे गेहूँ, जौ, बाजरा, मक्का, ज्वार चावल इत्यादि इनमें स्टार्च और प्रोटीन बहुतायत में होती है।

दालें : जैसे अरहर, चना, मसूर, मूँग, उड़द, मटर आदि दालों में प्रोटीन की मात्रा अधिक होती है जो शरीर की वृद्धि के लिए आवश्यक है।

सब्जी : जो शाक व तरकारियाँ हम प्रतिदिन उपयोग में लाते हैं वह पौधों के किसी न किसी भाग से ही प्राप्त होती है। शाकों में विटामिन तथा खनिज-लवण बहुतायत से होते हैं और शरीर की वृद्धि के लिए आवश्यक है।

फल : स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभदायक होते हैं। इनमें खनिज लवणों, विटामिनों और शर्करा की बहुतायत होती है।

वसा और तेल : तेल हमारे किसी न किसी काम में आता रहता है। कुछ तेलों का उपयोग दवा के रूप में भी होता है। नारियल व जैतून आदि के तेलों से साबुन तैयार होता है। सभी प्रकार के तेल पौधों से प्राप्त होते हैं और बीज में एकत्रित रहते हैं।

चीनी : चीनी गन्ना से प्राप्त की जाती है। ताड़ की मिश्री और अंगूर की चीनी दवा के काम आती है। योरोप में चीनी चुकन्दर से प्राप्त होती है।

मसाले : मसाले पौधों के ही भाग होते हैं। मेथी, राई, सरसों आदि बीज है। धनियाँ, जीरा, मिर्च, इलायची जायफल आदि फल है। हल्दी, अदरख, सोंठ, तने के सम्परिवर्तित रूप हैं। लौंग पौधे की पुष्प कलिकाएँ हैं। तेजपत्ता पौधे की पत्ती तथा दाल चीनी तने की छाल है। अधिकतर मसाले गर्म देशों में ही उत्पन्न होते हैं।

पेय वस्तुएँ : चाय, काफी, शराब, कोको आदि सभी पेय वस्तुएँ पौधों से ही प्राप्त होती हैं।

तन्तुमय पदार्थ : शरीर को ढकने के लिए कपड़ा एक आवश्यक वस्तु है। सूती कपड़े (गौसिनिचम अरबेरियम) रूई से बनते हैं। रूई कपास के पौधे बीज के ऊपर पैदा होती है। रूई के अतिरिक्त लिनेन नकली रेशम केले के पौधों के रेशों से बनता है। (कारकोरस ओलिटोरियल) जूट से बोरियाँ बनाई जाती है। नारियल की जटाओं से चटाइयाँ तथा रस्सियाँ बनती है।

ईंधन : भोजन पकाने के लिए आग की आवश्यकता होती है। आग जलाने के लिए अधिकतर वृक्षों की सूखी लकड़ियाँ, कोयले और कंडे आदि प्रयुक्त होते हैं। लकड़ियाँ वृक्षों के सूखे तने तथा शाखाएँ होती हैं। पेट्रोल तथा मिट्टी का तेल भी विभिन्न रासायनिक क्रियाओं द्वारा उन पौधों से प्राप्त होता है जो बहुत समय पहले भूमि में दबे थे।

निर्माण पदार्थ : मकानों तथा बड़ी-बड़ी इमारतों को बनाने के लिए भी पौधे लाभदायक होते हैं। शीशम, सागौन, शाल, महोगनी, जामुन, आम आदि। वृक्षों की लम्बी शाखाएँ काट कर शहतीरें बनाई जाती हैं। बांस (बेमबूसा अरनडिनेसिया) से खपरैल की छतें बनती हैं। लकड़ियों से अनेक प्रकार के फर्नीचर (मेज, कुर्सी आदि) नाव, जहाज, रेल के डिब्बे, पंखे, स्टिक,, पेटियाँ आदि अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती है।

चारा : पौधों के बचे हुए भाग हैं जिनको मनुष्य अपने काम में नहीं लाता पशुओं को खाद्य पदार्थ के रूप में दिए जाते हैं।

अम्ल : बहुत से पौधों से कई प्रकार के अम्ल प्राप्त होते हैं।

औषधियाँ : लगभग सभी आयुर्वेदिक और यूनानी औषधियों में पौधे ही प्रयुक्त होते हैं। इन पौधों के फल, पुष्प, पत्तियाँ, जड़ें और छालें काम में लाई जाती हैं। तुलसी, हड़, पीपल, आंवला, सौंफ, हींग, अमलताश आदि पौधे दवा में बहुत काम आते हैं। बहुत सी एलोपैथिक दवाइयाँ भी पौधों से प्राप्त होती है। सिनकोना (सिनकोना कैलिसाया सिनकोना औफिसिनैलिस) से कुनैन निकाली जाती है। जो मलेरिया बुखार की बहुत अच्छी दवा है। मार्फिया नामक दवा पोस्त से प्राप्त होती है। पेनिसिलियम नोटेटम नामक कवक से पेनिसिलीन बनाई जाती है जो अनेक रोगों में फायदा पहुँचाती है और बुखार को कम करती है।

इत्र : इत्र गुलाब, चमेली, केवड़ा, हिना, बेला, केसर आदि के फूलों तथा लाइकेनों से निकाले जाते हैं। खस की जड़ और चंदन के तने से भी इत्र प्राप्त किया जाता है। इसकी सुगंध वायु को शुद्ध करती है और शरीर में ताज़गी लाती है।

रंग : होली के अवसर पर टेसु (ब्युटिया-मोनोस्पर्मा) के फूलों का पीला रंग काफी उपयोग में लाया जाता है। कत्थे के वृक्ष की छाल से कत्थई रंग और हर सिंगार के फूलों से गाढ़ा पीला रंग निकलता है। नागफनी के फल पकने पर लाल रंग से भर-भर जाते हैं। इस रंग को लोग स्याही के स्थान पर उपयोग करते हैं। नील (इनडिगोफोश टिन्कटोरिया) एक प्रकार का पौधा है जिससे नीला रंग निकलता है।

रबर : कटहल, गूलर, मदार, करौंदा, आदि के पौधों को काटने पर सफेद रंग का दूध या लैटेक्स निकलता है। इससे कई प्रकार की औषधियाँ तथा रबर बनाया जाता है। रबर से मोटर साइकिलों के टायर, जूते, बरसाती, बिजली के तार के इनसूलेटर आदि बनते हैं। रबर कई पौधों से प्राप्त होता है जिनमें अधिकांश वृक्ष है। इन वृक्षों की छाल कटने से आक्षीर निकलता है। इसको सुखाते है। और फिर साफ करके रबर बनाते हैं।

सेलुलोज : सेलुलोज पौधों की कोशा-भित्तियों में विशेष रूप से पाया जाता है। इसमें गनकॉटन गैस मेन्टल बिजली के बल्बों के धागे, नकली रेशम, फोटो की फिल्म आदि वस्तुएँ निर्मित की जाती हैं। आइवरी पाम नामक वृक्ष का सेलुलोज बहुत कठोर होता है इससे गेदें बनती हैं। कागज भी सेलुलोज से बनाया जाता है। रूई, कपड़े, घास, बांस आदि को सड़ाकर ही कागज का निर्माण होता है। इन सभी वस्तुओं में सेलुलोज की बहुतायत होती है।

खाद : खाद पत्तियों तथा पौधो के बचे हुए भागों को सड़ाकर बनाई जातो है। बहुत पौधों (जैसे सन आदि) को धरती में लगाने से पृथ्वी में खाद की मात्रा बढ़ जाती है और फिर जो भी फ़सल ऐसी धरती में बोई जाती है उससे बहुत अच्छी पैदावार होती हैं।

विविध लाभ : पौधों से वायु मण्डल साफ और शुद्ध होता है तथा ये वायु की तेजी को कम करके मकान आदि को नुकसान होने से बचाते हैं। गर्मियों की धूप में इनकी छाया बहुत शीतल तथा भली मालूम होती है। इसी कारण बहुत से वृक्ष सड़कों के दोनों ओर लगाए जाते हैं। नीम तथा बबूल की दातून दाँतों तथा मसूढ़ों के लिए बहुत लाभप्रद होती है। नीम, बबूल ढाक आदि वृक्षों से गोंद निकलता है जो कागज चिपकाने तथा खाने के काम आता है। कत्था, बेहड़ा, आँवला, सुपारी पेट की खराबियों को दूर करते हैं। और इसी कारण इनका उपयोग पान और अन्य खाने की वस्तुओं में किया जाता है।

अन्तोगत्वा हम कह सकते हैं कि वनस्पति ही जीवन का माध्यम है। वनस्पति और मनुष्य दोनों ही एक दूसरे के परिपूरक है तथा एक दूसरे पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में वनस्पति वह बहुमूल्य हीरा है जिसे तराशकर नगीने की तरह हर क्षेत्र में किसी भी रूप में जड़ा जा सकता है। अतः हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम इस अमूल्य धरोहर को सदैव संजोकर रखे, इसे नष्ट न होने दे, इसके हर रूप को देखे, समझे, पहचाने और उससे निकटता का अनुभव करें। ●

(शेषांक पृष्ठ 14 का)

है। इसमें विटामिन ए, विटामिन बी$_1$, विटामिन बी$_2$ एवं विटामिन सी प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। पपीते के फल का रासायनिक संगठन आगे सारणी में दिखाया गया है।

यकृतीय रोगों में पपीते का फल विशेष रूप से उपयोगी होता है। इसके फल को सलाद एवं अचार अचार अदि के रूप में भी प्रयोग किया जाता है। इसके अलावा पपीते के कच्चे फल से निकलने वाले दूध जैसे पदार्थ से व्यावसायिक पेपेन का निर्माण किया जाता है।

पपीते के फल का रासायनिक संगठन

तत्व	प्रतिशत
जल	90.75
प्रोटीन	0.80
कार्बोहाइड्रेट	6.32
वसा	0.10
रेशा	1.09
अन्य	0.94
योग	100.00

सूची वेध—इलाज सुइयों से

● डा० जयकृष्ण खन्ना

चीनी लोग, हज़ारों वर्षों से रोगों की चिकित्सा के लिये सुइयों का प्रयोग करते आ रहे हैं परन्तु इस चिकित्सा पद्धति को विश्व मान्यता मिली राजनैतिक कारणों से, न कि वैज्ञानिक उत्सुकता के कारण जब दशकों के सम्बन्ध विच्छेद के पश्चात् वर्ष 1971 में अमरीका के राष्ट्रपति निक्सन ने चीन की यात्रा की। उनके काफिले के साथ गये दो प्रसिद्ध डाक्टरों ने सुइयों के माध्यम से स्पर्श शून्य कर, पींकिंग के एक अस्पताल में तीन आपरेशनों— 67 वर्षीय लगभग पूर्णतः अन्धे वृद्ध पुरुष की आँख के मोतियाबिन्दु, 37 वर्षीय महिला के गर्भाशय व एक नवयुवती की थायरायड ग्रंथि में उत्पन्न ट्यूमर-को देखा। विभिन्न अंगों को आपरेशन हेतु चेतना शून्य करने के लिये वृद्ध पुरुष व नवयुवती के कानों में सुइयाँ प्रविष्ट की गईं तो गर्भाशय के आपरेशन वाली महिला की नाक के दोनों ओर व ऊपरी होठ में सुइयाँ प्रविष्ट की गईं तीनों ही रोगी आपरेशन के मध्य जागृत अवस्था में व सचेत रहे। जब सर्जनों ने अपना कार्य पूर्ण कर लिया टाँके लगा दिये गये तब मरीज आपरेशन टेबल से स्वयं उठकर चले गये।

तद्परांत पश्चिमी संचार माध्यमों के व्यापक प्रचार से विश्व भर के चिकित्सकों में इस प्राचीन चीनी चकित्सा प्रणाली के प्रति उत्सुकता बढ़ी। आज हमारे देश के भी बड़े नगरों में सूची वेध क्लीनिक खुल गये हैं।

खोज व इतिहास : एक चीनी कहावत के अनुसार सूचीवेध की खोज एक योद्धा सम्राट ने उस समय की जब कि उसने एक सैनिक, जिसके युद्ध में तीर लग गया था, के शरीर में तीर लगने के स्थान से दूर कुछ अंगों को स्पर्श शून्य पाया। सूची वेध का प्रथम लिखित उद्धरण ईसा से लगभग 2000 वर्ष पूर्व लिखी पुस्तक 'दि येलो इम्परांस क्लासिक आव इंटरनल मेडिसिन' में मिलता है— पुरातत्व शास्त्रियों ने भी पत्थर की बनी प्राचीन सुईयों के मिलने का उल्लेख किया है। पश्चिमी जगत को इस पद्धति की प्रथम सूचना 17 वीं सदी में 7 सुदूर पूर्व से लौटे योरोपीय मिशनरियों से मिली। सूची वेध का अंग्रेजी शब्द एक्यूपंचर भी लैटिन शब्द एकुस अर्थात् सुई व 'पँगेरे' अर्थात् डंक मारना या चुभोना से मिलकर बना है। चीनी भाषा पद्धति का नाम 'चेन-चियूय' अर्थात् सुई वा गर्मी है जिससे आभास मिलता है कि सुई चिकित्सा पद्धति में, कभी-कभी शरीर के यथोचित हिस्से पर या उसके नजदीक जड़ी बूटियों को जलाकर उष्मा भी प्रदान करनी पड़ती है।

19 वीं सदी में, पाश्चात्य प्रभाव में आकर, यह पद्धति अपने ही देश में घृणा की निगाहों से देखी जाने लगी। सम्पन्न व शिक्षित चीनी समाज इसकी मजाक उड़ाता। क्योमिंटांग, जो 1928 में सत्ता में आये, उन्होंने सूची वेध चिकित्सा पद्धति को सामन्त शाही विगत का अन्धविश्वास करार दिया। परन्तु दो वर्ष बाद ही चीनी कम्युनिस्टों ने धारा का रुख राष्ट्रीय स्वाभिमान व वक्त की जरुरत को ध्यान में रखते हुये बदल दिया। माओत्से तुंग की गुरिल्ला सेना में पश्चिमी पद्धति की दवाओं की भीषण कमी थी व डाक्टरों के पास इस परम्परागत पद्धति का अनुसरण करने के अतिरिक्त और कोई दूसरा रास्ता न रह गया था। वर्ष 1949 में. सूची वेध चिकित्सा को चीन में राजकीय मान्यता प्राप्त हुई। नवीनतम उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार चीन में, गत 7 वर्षों में लगभग 4 लाख रोगियों को इस पद्धति से स्पर्श शून्य कर आपरेशन किया-प्रति 10 रोगियों में से 9 में पद्धति को सफल पाया गया। जिसमें एक सप्ताह से कम

आयु के बच्चों से लेकर 80 वर्ष तक की आयु के पुरुष, जिनके आपरेशन में 6 घंटे तक का समय लगा– शामिल हैं।

चीनी डाक्टरों का विश्वास है कि सूची वेध कर त्वचा स्पर्श शून्य कर आपरेशन करने से मरीज का बाद में पूर्णतः स्वस्थ होने का समय कम हो जाता है। कीमती व जटिल यंत्रों को आवश्यकता कम पड़ती है। इस पद्धति से उन मरीजों के भी आपरेशन संभव हैं जिन्हें अवस्था व कमजोरी के कारण प्रचलित चेतनाशून्य करने की दवायें नहीं दी जा सकतीं। इसके अलावा प्रचलित चेतनाशून्य करने की प्रक्रिया में मृत्यु हो जाने की संभावना जो आज भी प्रति तीन हजार मरीजों में हैं पूर्णतः समाप्त हो जाती है। सूची वेध पद्धति द्वारा स्पर्श शून्य मरीज को उल्टी या जी मिचलाना जैसी शिकायतें भी नहीं होतीं। आपरेशन के बाद पाश्चात्य प्रचलित पद्धति की अपेक्षा कहीं कम दर्द का अनुभव होता है। आपरेशन के मध्य मरीज पूर्णतः चेतनाशून्य नहीं होता। मरीज दर्द का अनुभव नही करता परन्तु आपरेशन के दौरान भली भाँति देख व सुन सकता है। आपरेशन टेबुल पर लेटे हुये शरीर के अन्य हिस्सों पर हल्के से हल्के स्पर्श व दवाब का अनुभव कर सकता है। सर्जन को अपने आपरेशन को सफलता को जानने के लिये घंटों इंतजार नहीं करना पड़ता। इससे चिकित्सक व रोगी के सगे सम्बधियों व मित्रों को बड़े आपरेशन के बाद जब तक मरीज होश में नहीं आ जाता, के बीच उत्पन्न होने वाली स्वाभाविक दुश्चिन्ता से भी मुक्ति मिल जाती है।

प्राकृतिक नियमों के तारतम्य में : सूची वेध चिकित्सा पद्धति चीन में पिछले दो हजार वर्षों से अधिक प्राचीन दर्शन, "ताओस्मि" पर आधारित है। ताओ का अर्थ है रास्ता। इस दर्शन के अनुयायी प्रकृति के साथ तारतम्य से जीने का रास्ता ढूँढते हैं। यह तारतम्य दो स्वभाव में विपरीत, प्राकृतिक सिद्धांतों "यिन" व "यैन्ग" के मध्य समायोजन द्वारा प्राप्त किया जाता है। जिस प्रकार छाया व रोशनी, मूलतः एक दूसरे के विपरीत हैं परन्तु एक के प्रभाव में दूसरे की उपस्थिति निर्भर करता है।

"यिन-यैन्ग" के समायोजन को मूल सिद्धांत मानते हुये ताओस्मि अनुयायी शरीर का पूर्ण रूप से अध्ययन करते हैं जबकि पश्चिमी चिकित्सा पद्धति में शरीर के विभिन्न हिस्सों का अलग अलग अध्ययन कर निदान निष्कर्ष निकाला जाता है। जब कोई पश्चिमी पद्धति का चिकित्सक मरीज का परीक्षण करता है तो सर्वप्रथम "तकलीफ कहाँ पर" जानने की कोशिश करता है। एक बार निदान पूर्ण कर लेने के उपरान्त अपना सम्पूर्ण ध्यान प्रभावित तकलीफ देने वाले अंग के उपचार में लगाता है। इसके विपरीत परम्परागत सूची वेध चिकित्सक मानव शरीर का प्रकृति के एक अतिसूक्ष्म अंग के रूप में अवलोकन करता है–

मानव शरीर को मूल जीवनी शक्ति, जिसे चीनी भाषा में "ची" कहते हैं, का रक्षक मानता है। यह जीवन शक्ति "ची" मानव शरीर में विपरीत स्वभाव की शक्तियों यिन व यैन्ग के माध्यम से बँटी होती है, व शरीर में विभिन्न अंगों के माध्यम से निरंतर बहती रहती है। सभी शारीरिक रोग, इस जीवनी शक्ति के शरीर के विभिन्न अंगो में अल्पकालिक असंतुलन के कारण उत्पन्न होते हैं। शरीर के किन्ही विशिष्ट स्थानों पर, शूची वेध कर, चिकित्सक का उद्देश्य जीवनी शक्ति के वहाव को अधिक व कम कर, संतुलन को पुनः स्थापित करना होता है। जीवन शक्ति का संतुलन स्थापित होते ही मरीज रोगमुक्त हो जाता है।

सुई किस धातु की : अधिकांश सूची वेध चिकित्सकों का मत है कि सुई किसी भी धातु की हो सकती है, बशर्ते धातु के सिर को बाल के समान बारीक व मुड़ सकने योग्य बनाया जा सके। सामान्तयाः सुई आधा इंच से छः व सात इंच तक लम्बी प्रयोग में लाई जाती है। संसार के कुछ हिस्सों में कीमती धातुओं सोना व चाँदी की सुइयों का प्रयोग होता है परन्तु मुख्यभूमि चीन के चिकित्सक, स्टेनलेस स्टील से बनी सुईयों का प्रयोग अपेक्षाकृत सस्ता व मजबूत होने के कारण करते हैं।

रोग निदान : आयुर्वेद, होमियोपैथिक, एलौपैथिक व यूनानी चिकित्सा पद्धतियों के समान इस पद्धति में प्रथम चरण रोग का निदान होता है। रोगी का परीक्षण करते समय, सूचीवेध चिकित्सक अपने मस्तिष्क में रोगी के संपूर्ण शरीर का "वायरिंग डायग्राम" "मिरिडियन चित्र" सामने

रखता है। यह चित्र सूची वेध पर लिखी गई लगभग सभी पुस्तकों में प्राप्य है। इसके अनुसार पूर्ण मानव शरीर में जीवनी शक्ति "ची" का संचार रास्तों या मीरिडियन्स के माध्यम से होता है। सिर के ऊपरी भाग से लेकर पाँव के पंजों तक, व हाथों के ऊपर व नीचे की ओर, लम्बवत 14 मिरीडियन होती हैं। इनमें से बारह मिरीडियन, शरीर के दोनों भागों में, जोड़े से होती हैं व शरीर के भीतरी अंगों पर नियंत्रण रखती हैं। शेष दो मिरीडियन्न शरीर के बीचो बीच ऊपर से नीचे, व नीचे से ऊपर की ओर दौड़ती हैं व ऊपरी तौर पर सम्पूर्ण शरीर की देखभाल रखती हैं। अनेक क्षैतिज मिरीडियन, इन 14 लम्बवत शिराओं को आपस में शरीर के मांसल भागों व त्वचा की सतह से मिलाती हैं। ध्यान रहे कि यह "वायरिंग डायग्राम" शरीर के स्नायु, तंत्र व मीलों लम्बे धमनियों व शिराओं के तंत्र जो कि हृदय से रक्त को शरीर के विभिन्न अंगों तक पहुंचाता व वापस लाता है, से कतई भिन्न होता है।

चूंकि मिरीडियन में निरंतर प्रवाहित जीवनी शक्ति के असंतुलन का ठीक ठीक पता लगाना केवल "स्पर्श अनुभव" के द्वारा संभव नहीं होता, इसलिये सूचीवेध चिकित्सक रोगी की मुखाकृति का गहन अध्ययन करता है। उसके शरीर के अंगों के हिलाने डुलाने व दैनिक कार्यों की गतिविधियों व अनुभवों के संबन्ध में अनेक प्रश्न करता है। तद्परांत रोगी की दोनों कलाइयों पर, बारी बारी से अपने दाहिने हाथ की अंगुलियों द्वारा रक्त संचार का अध्ययन करता है। कलाई पर हाथ रखकर नाड़ी का ज्ञान ऐलोपैथिक चिकित्सक भी करते हैं परन्तु सूचीवेध चिकित्सक के अध्ययन में गम्भीर भिन्नता होती है। जहाँ एक ओर ऐलोपैथिक चिकित्सक नाड़ी परीक्षा से केवल तीन चीजें दृश्य की गति, लय तथा शक्ति का पता लगाता है सूचीवेध चिकित्सक, जिसे नाड़ी परीक्षा में आमतौर पर 5 से 10 मिनट तक का समय लगता है; प्रत्येक कलाई से छः विभिन्न संकेतों का पता लगाने का दावा करते हैं, जिससे उन्हें शरीर के बारह अंगों की दशा का ज्ञान हो जाता है। तत्पश्चात् मस्तिष्क में गणना कर सूचीवेध चिकित्सक उस तिथि पर सुई चुभोने के स्थान का निर्णय लेता है।

सूची वेधन कहाँ : मिरीडियन के साथ साथ शरीर में सैकड़ों विशिष्ट विन्दु होते हैं जहाँ से शरीर के विभिन्न अंगों में जीवनी शक्ति के संचार पर नियंत्रण किया जा सकता है। छात्र सूचीवेध चिकित्सक इन विन्दुओं के सही स्थानों व रोगों से संबंध को लय में रटकर याद रखते हैं। सूची-वेध स्थल आवश्यक नहीं कि रोगित अंग के समीप ही हो। उदाहरण के तौर पर, यकृत रोग को ठीक करने के लिये सूचीवेध चिकित्सक, रोगी के दाहिने पंजे पर सुई चुभाने का निर्णय ले सकता है। इस पर आश्चर्य न होना चाहिये।

सुई सही स्थान पर ही चुभोई जा रही है इसका निर्णय करने के लिये चिकित्सक रोगी के वाह्य आकार को ध्यान में रखते हुये तुरन्त गणना कर लेता है। सभी वेध विन्दुओं की स्थिति का मरीज के शरीर के आकार से घनिष्ठ संबन्ध होता है।

शरीर के कुछ स्थलों जैसे स्त्री स्तन की घुंडी, गर्भवती महिला के गर्भाशय, नवजात शिशु के सिर पर स्थित अति कोमल स्थल पर सूची वेध निषिद्ध है। इसके अतिरिक्त कई अन्य निषिद्ध स्थल हैं जिन पर सूची वेध करने से रोगी को चोट लगने व मृत्यु तक हो जाने की संभावना रहती है।

सूची वेधन का तरीका अस्पताल की नर्स द्वारा सुई लगाने के तरीके से बिलकुल भिन्न होता है। सूची वेधन कई ढंग से किया जाता है, व इन तरीकों का पद्धति की सफलता से सीधा संबन्ध होता है। कहीं सुई को इस प्रकार घुसेड़ना होता है जिस प्रकार दरजी कपड़े की महीन तुरपाई को सुई डालता है तो किन्हीं रोगों में सुई को धीमे 2 त्वचा मे घुमाते हुये घुसेड़ना होता है। दो से पन्द्रह मिनट के अन्तराल के पश्चात् चिकित्सक सुई को त्वचा से बाहर निकाल लेता है उस समय त्वचा पर, खून व खरोंच का कोई चिन्ह शेष नहीं रहता। कभी कभी, कुछ समय के लिये छोटा सा लाल धब्बा दिखलाई पड़ता है। सुई निकाल लेने के कुछ समय पश्चात् रोगी को सूची वेध स्थल पर रक्त के तीव्र संचार का अनुभव होता है।

सफलतायें व सीमायें : सूची वेध चिकित्सक डायरिया, कब्ज, सिर में चक्कर आना, जी मचलाना, कानों

(शेष पृष्ठ 22 पर देखें)

स्वास्थ्य चर्चा

● हुकवर्म

'एनसिलोस्टोमा इयुडिनेल', जिसे 'हुकवर्म' भी कहते हैं, एक ऐसा कृमि है जो काफी भयानक सिद्ध हो सकता है। इसके प्रभाव से रक्त अल्पता तथा सांस फूलने जैसे रोग हो जाते हैं। इस भूरे सफेद रंग के धागे जैसे कृमि का मादा 125 मि० मी० तथा नर 8 मि० मी० होता है। इसका जीवन चक्र मानव शरीर में ही पूरा होता है। यह मनुष्य के पेट में अण्डे देते हैं जो मल के साथ बाहर निकलते हैं। प्रत्येक अण्डे से अगले 48 घन्टों में मिट्टी में 250 माइक्रो मीटर का लार्वा 'रेहे ब्रीटिफार्म' निकलता है जो दो बार कवच बदल कर आठ दस दिन में 500-600 माइक्रो मीटर लम्बा हो जाता है। इसे 'फाइलेरिफार्म लार्वा' कहते हैं। यह लारवा अब अपने नये शिकार पर आक्रमण कर सकता है। अपना कवच बदल कर, मनुष्य की त्वचा पार करके यह शरीर में पहुंचता है। छोटी रक्त शिराओं तथा लिम्फ नलियों में प्रवेश करके ये हृदय में प्रवेश कर जाते हैं। यहाँ से फेफड़ा में घुसते हुये श्वास नलिका में प्रवेश कर जाते हैं और गले में पहुँच कर पेट में निगल लिये जाते हैं। त्वचा से प्रवेश से लेकर पेट तक पहुँचने में 10 दिन का समय लगता है। वहां से छोटी आंत में जब यह पहुँचते हैं तो प्रौढ़ परजीवी बन जाते हैं। 3-4 सप्ताह में मादा अण्डे देना प्रारम्भ कर देती है जो मल द्वारा बाहर निकलते हैं। नंगे पैर चलने वाले, बगीचों व खानों में काम करने वालों की त्वचा से शरीर में पहुँचने की सम्भावना सदैव बनी रहती है। कभी-कभी पीने के पानी में उपस्थित होने के कारण सीधे आहार नली में भी पहुँच सकते हैं।

जहां से यह लारवा त्वचा में प्रवेश करते हैं उस स्थान पर सूजन, खुजली तथा लाल निशान पड़ जाते हैं। फेफड़ों में पहुँचकर यह निमोनिया जैसी बीमारी पैदा कर देते हैं जिससे रोगी को बुखार व खांसी हो जाती है और श्वास फूलने लगती है। प्रौढ़ परजीवी छोटी आंत में चिपक कर रक्त चूसते हैं और कुछ ही समय में मनुष्य को एनीमिया हो जाता है।

● शीघ्रता से रोगों की पहचान करने वाली विधि का विकास

कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय की लोस एलामोस साइंटिफिक लैबोरेटरी LASL के वैज्ञानिकों ने एक ऐसी विधि का विकास किया है जिसके द्वारा पशुओं की उन बीमारियों को शीघ्र पहचाना जा सकता है जिनसे मनुष्यों को नुकसान पहुँचने की सम्भावना होती है। इस विधि को 'एन्जाइम-लेवल्ड एण्टीबोडीज' ELA परीक्षण की संज्ञा प्रदान की गई है।

इस विधि का विकास इसलिए किया गया था, जिससे सुअरों में कचकृमि रोग (ट्रिकनासिस), परजीवियाँ (पैरासिटिक) आदि की शीघ्रता से जांच की जा सके। बाद में, यह विधि सुअरों के हैजा रोग की पहचान में भी काफी प्रभावकारी सिद्ध हुई। यह रोग 1976 में न्यूजर्सी में प्रबल रूप से फैला था। LASL के एक वैज्ञानिक ने अकेले ही सुअरों के हैजा के नमूनों की ELA नामक इस नवीन परीक्षण विधि से उतनी मात्रा में जांच की जितनी अन्य द्वारा तीन व्यक्ति कर पाते।

'LASL' के वैज्ञानिकों का कहना है कि वे इस विधि में इस प्रकार सुधार करने में सफल हो गये हैं कि पशु-रोगों के परीक्षण सरलता से, केवल 30 मिनट में ही सम्पन्न किये जा सकते हैं। चार-चरण में सम्पन्न होने वाला यह परीक्षण अब पूर्णतः स्वचालित है।

'ELA' की इस विधि में थोड़े से परिवर्तन के उपरान्त, पशुओं अथवा मानवों की अन्य बीमारियों के परीक्षण में भी इसे प्रयुक्त करना सम्भव हो सकता है। पशु चिकित्सक डा० जौर्ज सौण्डर्स के अनुसार, इससे पशुओं अथवा मानवों के बहु-रोगों का पता लगाना सम्भव हो सकता है।

डा० सौण्डर्स का कहना है कि वह और उनके साथी डा० एल्वा विलनार्ड और डा० मैरी लुइस बर्टलेट विषाणुओं, परजीवियों अथवा जीवाणुओं सम्बन्धी रोगों के 96 नमूनों तक का एक बार में परीक्षण कर सकने में समर्थ हैं। 'USDA' के वैज्ञानिकों के साथ मिल कर वे अनेक रोगों की पहचान के लिए प्रयत्नशील हैं।

डा० सौण्डर्स के अनुसार, 'LASL' के सिद्धान्त पर विकसित स्वचालित उपकरणों द्वारा एक घंटे में 240 नमूनों तक की जांच की जा सकती है। इस उपकरण में प्रति घन्टे 480 नमूनों तक जांच कर पाने की क्षमता है। मांस तैयार करने वालों के लिए ये उपकरण बहुत उपयोगी हैं।

बधशालाओं के पशु-रोगों की जांच के अतिरिक्त इस उपकरण द्वारा कुछ विशेष भोजन-विष की उपस्थिति और मात्रा की जांच करना भी सम्भव होगा। साथ ही, मृत पशुओं, कैन्सर उत्पन्न करने वाले कारकों, कृमियों और प्रतिरोधी औषधियों की अधिक मात्रा की उपस्थिति, जो मनुष्यों के लिए हानिकारक हो सकती है, आदि का भी पता 'ELA' विधि द्वारा लगाया जा सकता है।

डा० सौण्डर्स के अनुसार, 'ELA' परीक्षण विधि द्वारा मनुष्यों के भी कुछ विशेष रोगों की जांच कर पाना सम्भव है। विशेष बात यह है कि इस विधि में रेडियो-सक्रिय आइसोटोपों का प्रयोग नहीं किया जाता है।

चार चरणों में स्वचालित ढंग से परीक्षण सम्पन्न करने वाली यह विधि अन्य प्रचलित विधियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। इसमें धन और समय, दोनों की काफी बचत होती है। ●

(शेषांक पृष्ठ 20 का)

में सनसनाहट का होना, मासिक धर्म संवन्धित रोगों, बचपन की एलर्जी नशों के सेवन की लत दीर्घकालिक रोग जैसे गठिया को आसानी से ठीक कर लेने में समर्थ होते है।

वे रोग, जिसमें सूची वेध चिकित्सा पद्धति असफल रहती है, सर्वप्रथम कैन्सर रोग (किसी प्रकार का) आता है। वे रोग जो कि वायरस अथवा वैक्टीरिया के कारण उत्पन्न होते हैं। उनमें सूची वेध चिकित्सा न तो एण्टीवायटिक औषधि के समान विशिष्ट है और न ही सुरक्षात्मक टीकों "वैक्सीन" की भाँति रोग से रक्षा करने में समर्थ है। चिकित्सक, इतना अवश्य दावा करते हैं कि सूची वेधन तरीकों से कभी 2 रोगी की जीवनी शक्ति "ची" को संचित कर, रोग के कीटाणुओं से रक्षा करने में समर्थ बनाया जा सकता है।

चीन व पाश्चात्य जगत में सूची वेध चिकित्सा पद्धति की सफलताओं ने यह दर्शा दिया है कि हमें अपने देश में प्राचीनकाल से गांवों में प्रचिलित व सफल नुस्खों को महज गंवारू, अवैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति कहकर न ठुकराना चाहिये वल्कि खुले दिमाग से इन परम्परागत आदिवासी जातियों में प्रचलित ग्रामीण चिकित्सा की खोज कर, सस्ती सुलभ चिकित्सा प्रदान करने के साथ वैज्ञानिक आधार देकर विश्व मान्यता दिलाने का यत्न करना चाहिये ●

● मच्छर जो रात में सोने नहीं देते

तुमने रोज ही यह अनुभव किया होगा कि सोते समय एक कीड़ा कानों के पास भनभन करता है और जहाँ तहाँ शरीर में अपना नश्तर चुभो जाता है। क्या कभी यह सोचा है कि नित्य ही परेशान करने वाला यह कीट क्या है, कैसे पलता बढ़ता है और उसके काटने का क्या प्रभाव पड़ता है।

मच्छर डिप्टेरा क्रम के कीट हैं। इनकी विभिन्न जातियाँ संसार के प्राय: सभी भागों में मिलती हैं किन्तु ये उष्ण कटिबन्ध में पाये जाते हैं। मच्छरों की लगभग 1600 जातियाँ होती हैं। क्युलेक्स, एनाफलीज, स्टीगोमीया, निसोरिकोसान चार जातियाँ हमारे देश में पायी जाती हैं इनमें प्रथम दो अधिक मिलते हैं और एनाफलीज ही मलेरिया फैलाते हैं। नर मच्छर वनस्पतियों के रस पर अपना निर्वाह करते हैं परन्तु मादा मनुष्य तथा स्तनधारियों का रक्त चूसती हैं तथा रोग वाहक का कार्य करती हैं।
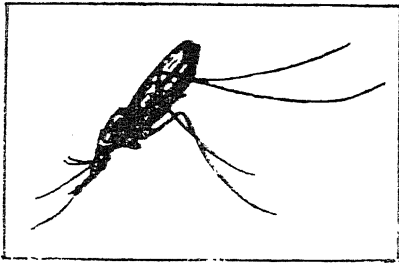
मलेरिया फैलाने वाला मच्छर

एनाफलीज मच्छर स्वच्छ एवं अलवण जल में 40-100 अण्डे देते हैं। इनके अण्डे नाव के आकार के होते हैं और अलग-अलग पानी के तल पर उतराते रहते हैं। इसके प्यूपा का रंग हरा होता है। प्रौढ़ का शरीर भूरा और बालदार होता है तथा शरीर एवं पंखों पर धब्बे होते हैं। जब प्रौढ़ बैठते हैं तो इनका शरीर विश्राम स्थल की सतह के साथ न्यून कोण बनाता है जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है। ये मलेरिया परजीवी के वाहक होते हैं।

मच्छर दो पंख वाले कीट होते हैं तथा इनके मुख अंग छेद करने और रक्त चूसने के उपयुक्त होते हैं। इनका शरीर सिर, वक्ष तथा उदर में विभक्त होता है। मादा मच्छर तालाव, पोखर, नाली, दलदल बरसाती पानी के गड्ढों तथा फूल के गमलों में अण्डे देती है। मच्छर चार भयानक रोग—मलेरिया, डेंगू, पाण्डुज्वर तथा फील पाँव फैलाते हैं।

एनाफलीज मच्छर की मादा मलेरिया फैलाती है। उसे अण्डों के विकास के लिये रक्त के भोजन की आवश्यकता होती है। अत: जब यह किसी व्यक्ति के खून चूसने के लिये काटती हैं और वह व्यक्ति मलेरिया से पीड़ित होता है तो रक्त के साथ मलेरिया परजीवी भी मादा मच्छर ले लेती है। मादा के पेट में इन परजीवियों की संख्या बढ़ती है और 10 दिन के बाद उसके सिर के निकट थूक की ग्रंथियों (सैलिवरी ग्लैण्ड) में दिखाई पड़ते हैं। जब मादा मच्छर किसी को काटती है तो मलेरिया परजीवी उसके शरीर में छोड़ देती है। इसी तरह मलेरिया फैलता है।

विज्ञान वार्ता

वायु संदूषण जानने के लिये ध्वनिक रेडार : जापान में कम्प्यूटर पर आधारित एक ऐसा रेडार बनाया गया है जो वायु संदूषण का पता लगा सकता है। यह रेडार वातावरण में संदूषण स्तर की उपस्थिति, उसकी ऊंचाई और गति की दिशा का अवलोकन करने के लिये 0.8 से 5 किलो हर्टज की ध्वनि तरंगें उत्सर्जित करता है। ये तरंगे कुछ सेकण्ड के अंतर से पुनः भेजी जाती हैं। जब वे वायु संदूषण स्तर तक पहुंच जाती हैं तरंगों का एक छोटा सा अंश पृथ्वी को परावर्तित होता है जहाँ उसे एक कम्प्यूटर द्वारा प्रर्वधित और उपचारित करके संदूषण स्तर की ऊंचाई और बहाव गति मालूम कर ली जाती है।

इलेक्ट्रानीय अंडा : चिड़ियों के घोसलों के भीतरी वातावरण की और अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये ब्रिटेन के एक वैज्ञानिक ने ऐसा इलेक्ट्रानीय अंडा विकसित किया है जिससे ताप, नमी, और रोशनी मापने के लिये और चिड़ियों के व्यवहार की जांच के लिये ट्रांसड्यूसर लगे हैं। सचमुच के अंडे जैसा रेशे का बना यह अंडा एक छोटे रिसीवर को सूचना भेजता है जो घोंसले के नीचे लगा रहता है। यह उपकरण इस सूचना को प्रयोगशाला में लगे एक रिसीवर को भेजता है जहां एक कागज के चार्ट और चुम्बकीय टेप पर आंकड़े अंकित कर दिये जाते हैं। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि इस प्रकार जमा की गई सूचना से इस बात का पता चल सकता है कि चिड़ियां अंडा सेने में लगभग 95% सफलता कैसे पाती हैं जबकि इन्क्यूबेटर में बनावटी तरीके से अंडा सेने में 50% से भी कम सफलता मिलती है।

ग्रामीण विकास के लिये आविष्कार : बंगलौर स्थित नेशनल एयरोनाटिकल प्रयोगशाला में विकसित पवन चक्की WP-2 देश के 60 विभिन्न स्थानों पर लगाई गई है जो अनेक कार्यों के लिये प्रयुक्त की जा रही है। भारतीय संदर्भ में पवन ऊर्जा का काफी महत्व है और इस प्रकार की पवन चक्की गांवों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। इसके आरम्भ में कुछ धन लग जाने पर बाद में कोई विशेष व्यय नहीं होता। ईंधन पर कोई व्यय ही नहीं, प्रदूषण कोई प्रभाव नही और रख रखाव के आसान होने के कारण किसानों के लिये ऊर्जा का यह स्रोत लाभप्रद भी है। यह चक्की 8 कि०मी० प्रति घण्टा की अति न्यून चाल से चल रही वायु से भी गतिशील हो उठती है। गावों को पीने का पानी पहुंचाने की योजना में विशेष लाभकारी है। इसके रोटर का व्यास 4.87 मीटर है जिसमें 12 ब्लेड लगे होते हैं। 9·76 मीटर ऊंचा टावर चार स्तम्भों पर खड़ा रहता है। वैसे तो इसे लगभग 15 वर्ष पूर्व ही बना लिया गया था पर पिछले तीन सालों से इसे और भी विकसित करके इसका अधिकाधिक उपयोग किया जाने लगा है। WP-2 के अतिरिक्त ऊर्ध्वाधिर-अक्ष पवन चक्की तथा 10-मीटर पाल पवन चक्की भी विकसित की गयी है। WP-2 को 25-30 वर्षों तक प्रयुक्त किया जा सकता है। इन चक्कियों की कीमत घटाने के लिये बराबर सुधार किया जाता रहता है। ●

□ **थर्मल फोटो ग्राफी :** सोवियत वैज्ञानिकों तथा तकनी शियनों ने एक ऐसी नई युक्ति विकसित की है जिससे मानव शरीर के ऊष्मा विकिरण की सूचना प्राप्त की जा सकती है। इस युक्ति की सहायता से बनाये गये 'टेम्परेचर चार्ट', जिसमें शरीर के विभिन्न अंगों के बारे में सूचना रहती है, को देख कर डाक्टर विभिन्न रोगों का निदान कर सकते हैं। इस प्रविधि को 'थर्मल फोटोग्राफी' कहते हैं और इसमें केवल 10-15 मिनट लगते हैं और विशेष बात यह है कि रोगी को कोई हानि नहीं पहुंचती। ●

पान खाइये दांतों को बचाइये : डेण्टल कालेज, लखनऊ के डॉ० सतीश चन्द्र के अनुसार यदि पान खाने की आदत डाल ली जाय तो दांतों को नष्ट होने से बचाया जा सकता है। कत्था व चूना पान के मुख्य अवयव हैं। कत्था में कुछ एल्कलॉयड पाये जाते हैं जो दांतों की जड़ों में बने अम्ल को उदासीन कर देते हैं। दांतों के इनेमेल व डेण्टाइन में अकार्बनिक लवणों के कैल्सियम रहित होने से भी बचाते हैं। चूने की क्षारीय प्रकृति होने के कारण यह भी अम्ल को उदासीन करता है और दंत क्षय से मुक्त करता है। पान के पत्ते में जो हरा क्लोरोफिल होता है जल में विलेय होता है वह बैक्टीरिया के प्रभाव को समाप्त करके दांतों की रक्षा करता है।

चावल से फलों का रस : जापान के एक वैज्ञानिक मसोनोरी शिनोजाकी ने चावल से फलों का रस बनाने की तरकीब निकाली है। इस विधि में चावल का खमीर उठाकर उसमें मिठास लाने वाली एक विशेष प्रकार की फुन्गी मिलाकर चावल से बढ़िया रस बनाया जा सकता है। जो रस बनता है उसका स्वाद अनन्नास तथा आडू के शर्बतों को मिश्रित करने पर जैसा स्वाद आता है उस प्रकार का होता है। चावल का यह रस विलेय होता है और जल्दी पच जाता है। इसमें प्रोटीन 4% तथा ग्लूकोस 16% तथा अन्य पदार्थ होते हैं।

लेखकों से बालोपयोगी लेख आमंत्रित हैं। रचना चित्रों के साथ भेजें। चित्र काली स्याही से बने हों और स्पष्ट हों। विद्यार्थी भी अपने लेख भेजें तो हम यथा संभव रचना को प्रकाशित करेंगे। लेखों पर पुरस्कार की घोषणा पहले ही की जा चुकी है।

विज्ञान परिषद की वार्षिक रिपोर्ट (1977-78)

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का 65वां वार्षिक साधारण अधिवेशन शनिवार दिनांक 9 सितम्बर, 1978 को श्री राम सहाय जी की अध्यक्षता में निम्नलिखित सदस्यों की उपस्थिति में हुआ —

1. श्री राम सहाय जी 2. श्री श्रीकृष्ण श्रीवास्तव
3. डा० जटाधारी पाण्डेय 4. डा० पूरनचन्द्र गुप्ता
5. डा० ओमप्रकाश 6. डा० विहारीलाल
7. श्री प्रमोद झा 'पथिक' 8. डा० शिवप्रकाश
9. श्री अशोककुमार 10. श्री अनिलप्रकाश त्रिपाठी
11. डा० शिवगोपाल मिश्र

सन् 1978-79 के लिए निर्वाचित पदाधिकारियों एवं अंतरंगियों के निम्नलिखित नामों की घोषणा की गयी।

1.	प्रो० कृष्णजी	सभापति
2.	डा० बाबूराम सक्सेना	पदेन उपसभापति
3.	डा० नीलरत्नधर	,,
4.	प्रो० फूलदेवसहाय वर्मा	,,
5.	श्री केशवदेव मालवीय	,,
6.	स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती	,,
7.	डा० रामधर मिश्र	,,
8.	श्री राम सहाय जी	,,
9.	डा० रामदास तिवारी	उपसभापति
10.	डा० रविप्रकाश	,,
11.	डा० शिवगोपाल मिश्र	प्रधान मन्त्री
12.	डा० उमाशंकर श्रीवास्तव	मंत्री (भवनफण्ड)
13.	डा० पूरनचन्द्र गुप्ता	कोषाध्यक्ष
14.	डा० सुधीरचन्द्र	संयुक्त मंत्री
15.	डा० ओमप्रकाश	,,
16.	डा० शिवप्रकाश	संपादक विज्ञान
17.	डा० जटाधारी पाण्डेय	पुस्तकालयाध्यक्ष
18.	श्री नीलाम्बर श्रीवास्तव	आय-व्यय निरीक्षक
19.	श्री श्रीकृष्ण श्रीवास्तव	स्थानीय अंतरंगी
20.	प्रो० हीरालाल निगम	,,
21.	श्री रामावतार शर्मा	,,
22.	श्री लोकमणिलाल जी	,,
23.	डा० ब्रजमोहन, वाराणसी	बाह्य अंतरंगी
24.	प्रो० रामचरण मेहरोत्रा, दिल्ली	,,
25.	डा० रमेशचन्द्र कपूर, जोधपुर	,,
26.	श्री नित्यानन्द, लखनऊ	,,
27.	श्री अजितराम वर्मा, दिल्ली	,,
28.	डा० सद्गुरुशरण निगम, सागर	,,
29.	प्रो० मनमोहन मनोहर ललोरिया, इन्दौर	,,
30.	प्रो० आर० सी० पाल, चण्डीगढ़	,,
31.	डा० सत्येन्द्र सिंघल, नागपुर	,,
32.	डा० चन्द्रिकाप्रसाद, रुड़की	,,
33.	डा० गोविन्दराम तोशनीवाल, अजमेर	,,
34.	डा० हरिनारायण, वाराणसी,	,,

2. प्रधान मन्त्री डा० शिवगोपाल मिश्र द्वारा सन् 1977-78 की संक्षिप्त वार्षिक रिपोर्ट निम्नलिखित रूप में पढ़ी गई एवं सर्वसम्मति से स्वीकृत हुई।

वार्षिक रिपोर्ट 1977-78

समीक्षा वर्ष के प्रारम्भ में, 15 सितम्बर, 1977 को परिषद् के वार्षिक अधिवेशन के समय परिषद् के भूतपूर्व सभापति स्वामी सत्यप्रकाश जी को उनकी अनुपम सेवाओं के लिए एक अभिनन्दन ग्रन्थ (वैज्ञानिक परिव्राजक) भेंट किया गया। परिषद् के एक प्रस्ताव के अनुसार यह ग्रन्थ

'विज्ञान' तथा अनुसन्धान-पत्रिका के संयुक्त विशेषांक के रूप में प्रकाशित किया गया और दोनों मदों से व्यय किया गया।

समीक्षावर्ष में एक सर्वथा नवीन कार्य सम्पन्न हुआ। एक प्रस्ताव के अनुसार परिषद् की व्याख्यानशाला को पूरा कराने के उद्देश्य से टेंडर मंगाए गए और अन्त में मेसर्स बचऊ एण्ड सन्स, अटाला, इलाहाबाद को 2 लाख 35 हजार का ठेका दिया गया। निर्माण कार्य 7 फरवरी, 1978 को प्रारम्भ हुआ। आशा है अगले 3-4 मास में यह कार्य पूरा हो जायेगा। पूरा होने पर यह एक अपूर्व-व्याख्यानशाला होगी जिससे वैज्ञानिक व्याख्यानों को आयोजित किए जाने की सुविधा हो जावेगी। लेकिन परिषद् के साधन सीमित हैं, उसने 1 लाख 20 हजार रुपए संग्रहीत किए हैं। हमारे अंतरंगियों ने भी पांच-पांच सौ रुपए एकत्र करने का वचन दिया है। इनमें से श्री अशोककुमार जी ने धन-संग्रह करके रसीद बुक लौटा दी है किन्तु अन्य अंतरंगियों को अभी भी यह काम करना शेष है। यह तो अपने प्रयास हैं। हमें शेष 1 लाख 50 हजार रुपए संग्रह करने के लिए दान-दाताओं से मिलना होगा जिससे समय से धन संचित हो सके।

जनवरी-फरवरी 1978 में सी० एस० आई० आर०, नई दिल्ली-1 ने परिषद् को सूचित किया था कि वह 'विज्ञान' तथा 'अनुसन्धान पत्रिका' के प्रकाशन के लिए परिषद् को अब आगे अनुदान नहीं देगा। लेकिन पत्र-व्यवहार के बाद सन् 1978-79 के लिए प्रकाशन-अनुदान पूर्ववत चालू रहने की स्वीकृति मिल गई है।

विज्ञान तथा अनुसन्धान पत्रिका को आत्म निर्भर बनाने के लिए प्रयत्न किए गए किन्तु 'विज्ञान' के ग्राहकों में उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हो सकी। इस समय परिषद् के आजीवन सदस्यों की संख्या 75 एवं सदस्यों की संख्या 76, विज्ञान के ग्राहकों की संख्या 435 एवं अनुसन्धान पत्रिका के ग्राहकों की संख्या 307 है। इस वर्ष जिन ग्राहकों तथा सभ्यों के चन्दे नहीं आ रहे थे उन्हें स्मरण पत्र भेजे गए जिसका परिणाम अच्छा रहा है। इससे कुछ अधिक चन्दा एकत्रित हो सका है। हम दृढ़ प्रतिज्ञ हैं कि हम ग्राहकों की संख्या बढ़ायेंगे। इसके लिए स्कूलों तथा कालेजों की सूची मंगाई गई है और उनसे पत्र-व्यवहार किया जावेगा। खेद है कि प्रेस की कठिनाई से जनवरी, 1978 के बाद विज्ञान के अंक समय से नहीं निकल पाए, उनमें त्रुटियां भी बहुत चली गई हैं और हम अपने पूर्व निश्चय को, कि विज्ञान में इण्टर तक के छात्रों के लिए उपयोगी सामग्री रहेगी, को कार्यान्वित नहीं कर पाए हैं। हमारे अध्यक्ष जी ने असम से निकलने वाली 'विज्ञान-ज्योति' के अनुकरण पर 'विज्ञान' को फिर से सुनियोजित करने का आदेश दिया है जिस पर हमें कार्यवाही करनी है।

गत वर्ष अनुसन्धान पत्रिका का प्रकाशन समय से हुआ। उसके ग्राहकों की संख्या में कुछ सुधार हुआ, है। इस वर्ष सी० एस० आई० आर०, नई दिल्ली ने हमारी पुरानी योजना के सम्बन्ध में अपनी रुचि दिखाई है अतः यदि सहायता मिली तो हम समीक्षा-लेखों को भी प्रकाशित कर सकेंगे।

परिषद् ने भूतपूर्व सभापतियों, एवं प्रधान मंत्रियों की नामावली के पट्ट तैयार कराए और प्रकाशनों के प्रदर्शन हेतु एक शोकेश भी बनवाया है। यह परिषद् के प्रचार-तन्त्र के आवश्यक अंग की पूर्ति के अन्तर्गत हुआ है।

परिषद् में अपना फोन लगे, स्वामी जी की ऐसी इच्छा रही है। इसके कार्यान्वयन हेतु एक आवेदन पत्र टेलीफोन विभाग भेजा गया जहां से फोन लगवाने की स्वीकृति मिल चुकी है।

परिषद् ने विनिमय से प्राप्त होने वाले शोध-जर्नलों को विश्वविद्यालय के शोधार्थियों के उपयोग किए जाने के उद्देश्य से पुस्तकालय प्रारम्भ किया था, उसमें बँधी जिल्दों की वृद्धि हुई है और अध्ययन के लिए आने वाले शोधछात्रों की संख्या निरंतर बढ़ती रही है, किन्तु परिषद् के सीमित साधन होने से, पुस्तकालय में स्थानाभाव होने तथा रेकों की कमी से पुस्तकालय का विकास रुका हुआ है। पुस्तकालय में कम से कम 4 रेंक और चाहिए तथा एक ऐसे कर्मचारी की नियुक्ति हो जो पुस्तकों की देख-रेख, जर्नलों का हिसाब

इत्यादि रख सके। कार्यालय के प्रभारी के लिए दिनोंदिन पुस्तकालय को संभालना कठिन होता जा रहा है।

परिषद् ने 1961 के पूर्व जो भी प्रकाशन किए थे वे पुराने पड़ गए हैं। परिस्थितियों को देखते हुए प्रकाशन का कार्य प्रचार हेतु अपेक्षित है किन्तु धनाभाव के कारण इसमें हाथ नहीं लगाया जा सकता। हमने प्रौढ़-शिक्षा के अन्तर्गत भारत सरकार से 100 छोटी-छोटी विज्ञान सम्बन्धी पुस्तिकाओं के लिखाने एवं प्रकाशित करने की 3 लाख 50 हजार की एक योजना भेजी है। यदि यह स्वीकृत हो जाती है तो परिषद् एक बार फिर वैज्ञानिक सक्रियता का केन्द्र बन सकेगा। स्पष्ट है कि परिषद् को नए साधनों की खोज करनी है और अपना प्रकाशन चालू करना है।

आय-व्यय लेखा

विज्ञान परिषद्, प्रयाग (1977-78)

आय

1.	शेष रोकड़ 1976-77 :—	
	पोस्ट आफिस सेविंग खाता	165-00
	स्टेट बैंक आफ इण्डिया एफ० डी०	686-00
	स्टेट बैंक आफ इण्डिया करेन्ट	64-12
	पोस्टेज हाथ में	21-07
	नकद हाथ में	261-85
	चेक हाथ में	117-00
2.	ग्राहक शुल्क	1339-75
3.	अनुदान	380-00
4.	आजीवन सभ्य शुल्क	412-00
5.	सभ्य शुल्क	222-00
6.	अनुदान शिक्षा विभाग (उ० प्र०)	2000-00
7.	अनुदान सी० एस० आई० आर० दिल्ली	10000-00
8.	वैज्ञानिक परिव्राजक	52-25
9.	उपयोगी नुसखे	10-00
10.	प्रवेश शुल्क	54-00
11.	वाचनालय शुल्क	10-00

व्यय

1.	कागज खरीदा	1537-50
2.	छपाई खर्च	4202-50
3.	पेकिंग खर्च	335-00
4.	ब्लाक खर्च	659-56
5.	ऋण बिल्डिंग फण्ड	279-14
6.	डाक-व्यय	498-64
7.	वेतन	3185-05
8.	बाइंडिंग खर्च	62-50
9.	बिजली खर्च	528-95
10.	मिश्रित व्यय	818-58
11.	साइकिल खरीदा	215-00
12.	जल कर	300-00
13.	स्टेशनरी	204-15
14.	आडिट फी	150-00
15.	बैंक कमीशन	24-50
16.	लेखकों का पारिश्रमिक	285-00
17.	ग्रेच्युइटी (छोटेलाल)	15-00
18.	शेष रोकड़	1493-97
	पोस्ट आ० से० बैं० ग्रे०	480-00
	स्टेट बैंक फी० डि० ग्रे०	686-00
	स्टेट बैंक करन्ट अ०	178-39
	पोस्टेज हाथ में	2-43
	नकद हाथ में	147-15

आय का योग	रु० 15, 795-04
व्यय का योग	रु० 15, 795-04

वर्ष के अन्त में देना शेष रहा :—

1.	सम्पादक का मनादेय	रु० 600-00
2.	लेखकों का पारिश्रमिक	रु० 220-00
3.	रामनाथ बुक बाइन्डर	रु० 503-00
	योग	रु० 1323-00

गंगाधर तिवारी — कार्यालय-प्रभारी

पूरनचन्द्र गुप्ता — कोषाध्यक्ष

शिवगोपाल मिश्र — प्रधान मंत्री

घनश्यामदास — चार्टर्ड अकाउन्टेट

विज्ञान परिषद् अनुसन्धान पत्रिका (1977-78)

आय

1.	शेष रोकड़ (1976-77) :—	
	स्टेट बैंक आफ इण्डिया	1166-06
	स्टेट बैंक आफ इण्डिया एफ० डि०	2031-00
	पोस्ट आफिस से० बैंक (ग्रेच्युइटी)	630-00
	पोस्टेज हाथ में	66-15
	नकद हाथ में	38-95
2.	अनुदान सी० एस० आई० आर० दिल्ली	1000-00
3.	अनुदान, स्टेट कौन्सिल आफ साइन्स एण्ड टेकनालाजी उ० प्र० लखनऊ	10000-00
4.	ग्राहक शुल्क	2566-00
5.	अन्य (महाबीर)	50-00

व्यय

1.	डाक-व्यय	1753-35
2.	वेतन	4140-00
3.	आडिट फी	150-00
4.	मिश्रित व्यय	127-00
5.	अनुवाद व्यय	795-00
6.	कागज खरीदा	6339-54
7.	छपाई खर्च	6913-00
8.	सम्पादक का मानदेय	1200-00
9.	अनुसन्धान गोष्ठी व्यय	298-60
10.	स्टेशनरी	108-00
11.	शेष रोकड़	4723-67
	स्टेट बैंक आफ इण्डिया	1666-52
	स्टेट बैंक डि० ग्रे०	2031-00
	पोस्ट आफिस से० बैं० ग्रे०	975-00
	पोस्टेज हाथ में	12-80
	नकद हाथ में	38-35

आय का योग	रु० 26, 548-16
व्यय का योग	रु० 26, 548-16

वर्ष के अन्त में देना शेष रहा :—

प्रसाद मुद्रणालय बिल नं० 669	रु० 2069-75
,, ,, बिल नं० 630	रु० 2229-20
योग	रु० 4298-95

गंगाधर तिवारी
कार्यालय-प्रभारी

पूरनचन्द्र गुप्ता
कोषाध्यक्ष

शिवगोपाल मिश्र
प्रधान मन्त्री

घनश्यामदास
चार्टर्ड अकाउन्टेट

भवन निर्माण के अर्थ संग्रह के सम्बन्ध में निश्चय हुआ कि केन्द्रीय सरकार तथा प्रादेशिक सरकार से धन प्राप्त करने का यत्न किया जाय।

विज्ञान के सुधार पर विचार हुआ। योग सम्बन्धी सामग्री भी विज्ञान में प्रकाशित करने का निश्चय किया गया।

इसके पश्चात् सभापति जी को धन्यवाद देकर बैठक विसर्जित हुई।

शिवगोपाल मिश्र
प्रधान मन्त्री

विज्ञान लेखकों को 'विज्ञान सरस्वती पुरस्कार'

दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 11 अगस्त, 78 को 'अखिल भारतीय विज्ञान सम्मेलन' का आयोजन किया। जिसमें चर्चा का विषय था—देहातों के लिए विज्ञान। सम्मेलन का उद्घाटन डा० प्रताप चन्द्र चन्दर, शिक्षा मन्त्री भारत सरकार ने किया तथा अध्यक्ष थे—डा० आत्माराम।

गाँवों के लिए विज्ञान का प्रारूप क्या हो ? विज्ञान को किस रूप में प्रस्तुत किया जावे, इसी विषय पर तमाम वैज्ञानिक पत्रकारों ने अपने निबन्ध पढ़े।

इसी अवसर पर सायं 5.30 सप्रू हाउस में दिल्ली हिन्दी सम्मेलन ने विविध भारतीय भाषाओं के 14 लेखकों को विज्ञान सरस्वती' पुरस्कार से सम्मानित किया। एक ही मन्च से सभी क्षेत्रीय भाषाओं के लेखकों को पुरस्कृत करने का यह प्रथम प्रयास है। सम्मानित लेखकों के नाम इस प्रकार हैं :

डा० शिव गोपाल मिश्र (हिन्दी); श्री सुरेश सिंह (हिन्दी); श्री राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह (हिन्दी); श्री रमेश वेदी (हिन्दी); श्री मन मोहन सरल (हिन्दी); श्री जगदीश प्रसाद राजवंशी (हिन्दी); श्री आनन्द माधव लेलो (मराठी); डा० छोटू भाई सुथार (गुजराती); श्री इन्द्रजीत लाल (उर्दू); डा० जे० आर० लक्ष्मण राव (कन्नड़); डा० बी० के० नायर (मलयालम); श्रीमती राज अम्मल पी० देवदास (तमिल); तथा श्री समर जीत कर (बंगला)।

सभी पुरस्कृत विज्ञान लेखकों को हमारी बधाई।

⊙⊙⊙

सूचना

डा० गोरख प्रसाद पुरस्कार

विज्ञान के लेखकों को जानकर प्रसन्नता होगी कि 1978 से प्रतिवर्ष विज्ञान परिषद् ने 'विज्ञान' में वर्ष भर में प्रकाशित उत्तम लेखों पर तीन पुरस्कार देने का निर्णय किया है। ये पुरस्कार 'डा० गोरख प्रसाद पुरस्कार' कहलावेंगे। पुरस्कारों की राशि निम्नप्रकार रखी गयी है :—

प्रथम	**125 रु०**
द्वितीय	**75 रु०**
तृतीय	**50 रु०**

लेखकों को आमंत्रित किया जाता है कि वे विविध वैज्ञानिक विषयों पर उत्तमोत्तम लेख भेजकर पुरस्कार प्रतियोगिता में भाग लें।

प्रधान मंत्री
विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ०/3/5/

भाग 115 संख्या 11
सं० 2034 विक्र०
नवम्बर 1978

विषय सूची

कहा जाता है कि जितने ही प्रयोग शिक्षा के क्षेत्र में किये जाते रहते हैं उतनी ही जटिलता आती है और शिक्षा अर्थहीन होती जाती है। स्वतन्त्रता के बाद से कई बार परिवर्तन किये गये परन्तु किसी निश्चित मंजिल पर हम पहुँच नहीं पाये। कुछ समय पूर्व सरकार ने वर्कशाप बुलाकर, समितियाँ गठित करके 10+2+3 शिक्षा प्रणाणी का निर्णय लिया था। इसके अन्तर्गत 10 के बाद 2 वर्षों में ऐसी भी शिक्षा देने का आयोजन था जिसमें विद्यार्थियों को ऐसा प्रशिक्षण दिया जाय कि उसे पूरा करने के पश्चात् नौकरी करने के बजाय स्वयं वह धंधा करने में लग जायं। इधर सत्ता परिवर्तन के बाद पुनः विचार विमर्श हुआ। शिक्षा मंत्रियों व शिक्षाशास्त्रियों का सम्मेलन हुआ यह विचार करने के लिये कि इस प्रणाली को अपनाया जाय अथवा नहीं। कई प्रान्त तो इसे आरम्भ भी कर चुके थे। अब निर्णय यह लिया गया है कि प्रान्तों पर छोड़ दिया जाय जैसा निर्णय वह लेना चाहें लें। परिणाम यह होगा कि सारे देश में समानता लाने का जो ध्येय था वह तो अब पूरा न हो सकेगा। वैसे समानता लाने का प्रयत्न भी नहीं करना चाहिये। सभी स्कूल, कालेज या विश्वविद्यालय एक स्तर के हो भी नहीं सकते। हरयाणा ने घोषणा भी कर दिया कि वह पुरानी ही प्रणाली को अपनायेगा। पिछले वर्ष मध्य प्रदेश के विश्वविद्यालय में 'ग्रेडिंग' प्रणाली अपनाई गई थी। अब सुनने में आता है कि इस प्रणाली को त्याग कर पुनः अंक देने की प्रणाली अपनाई जायगी और पिछले वर्ष दिये गये 'ग्रेड' को भी अब अंकों में बदला जा रहा है। राजस्थान विश्व-विद्यालय में 'आन्तरिक मूल्यांकन' पद्धति अपनाई गई तो वहाँ प्रथम श्रेणी में उतीर्ण होने वाले परीक्षार्थियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो गई। अब वहाँ भी इसे त्याग कर पुरानी पद्धति अपनाने की बात चल रही है। इधर विद्यार्थियों में यह मत ज़ोर पकड़ता जा रहा है कि इस पढ़ाई से लाभ ही क्या जब नौकरी मिलनी ही नहीं। अधिकांश विश्वविद्यालय में नये सत्र का अभी शुभारम्भ भी नहीं हो पाया है। क्या हमारी शिक्षा प्रणाली ऐसे मोड़ पर नहीं पहुँच गई है जहाँ यदि समय रहते ध्यान न दिया गया और कुछ किया न गया तो सारा ढांचा ही विखरने का डर हो जाय ?

सुदूर संवेदन एवं खनिजों की खोज

● विजय कान्त

सुदूर संवेदन का अर्थ होता है दूर से ही बिना स्पर्श किये संवेदना से किसी वस्तु का पता लगाना। इस कार्य के लिए टेलिस्कोप, वायवीय कैमरा, राडार तथा अन्य अनेक यंत्रों का उपयोग किया जाता है। यह तो सर्वविदित है कि हमारे चारों ओर बिद्युतचुम्बकीय ऊर्जा विकिरण के रूप में विभिन्न तरंगदैर्ध्यों में विद्यमान है। सुदूर संवेदन की प्रक्रिया में इच्छित वस्तु द्वारा प्रकीर्णित या परावर्तित किरणों का पता लगाना, संग्रह् करना, मापना तथा उसका विश्लेषण किया जाता है। इस प्रकार इकट्ठा किये गये आँकड़ों के विश्लेषण से अनेक पदार्थों का पता लगाया जाता है।

सुदूर संवेदकों के प्रकार : दो प्रमुख प्रकार के सुदूर संवेदक पाये जाते हैं (1) प्रत्यक्ष (2) अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष संवेदन में विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा का निश्चित तरंग किसी क्षेत्र या इच्छित वस्तु पर डाली जाती है। क्षेत्र से या वस्तु से इस ऊर्जा का कुछ भाग परिस्थितियों के अनुसार, परावर्तित होकर स्रोत पर पहुँच जाता है, यहाँ किरणों को पहचान करके संग्रहित किया जाता है तथा इनका माप तथा विश्लेषण उपयुक्त यंत्रों द्वारा किया जाता है। अप्रत्यक्ष संवेदन में किसी प्रकार के कृत्रिम स्रोत का उपयोग नहीं किया जाता है। इस विधि में ऊर्जा का स्रोत सूर्य होता है। सूर्य की किरण क्षेत्र से या पदार्थ से परावर्तित होती है, इच्छित दिशा में उपयुक्त यंत्र द्वारा इन किरणों का पहचान किया जाता है, संग्रह किया जाता है तथा विश्लेषण किया जाता है।

सुदूर संवेदन की विधियाँ : (1) सुदूर संवेदन की सर्व प्रमुख विधि वायवीय चित्रण है। इस विधि में विशेष वायुयान में विशेष ढंग के बने कैमरे को लगा कर इच्छित क्षेत्र या वस्तु का फोटोग्राफ निश्चित दिशा में लिया जाता है। फोटोग्राफ इस निश्चित दिशा तथा क्रम में लिये जाते हैं कि इनमें केन्द्रीय बिम्ब प्राप्त हो तथा दो फोटो को मिलाकर देखने से वस्तु को तीनों विमा अर्थात् लम्बाई चौड़ाई तथा मोटाई में देखा जा सके। इस प्रकार का चित्रण या तो दृश्य रूपों में (0·4 से 0·7 माइक्रान तक) या इन्फ्रारेड क्षेत्र में (0·7 से 1·0 माइक्रान तक) में लिया जा सकता है। चित्र रंगीन या श्वेत-श्याम में खींचा जा सकता है।

इन चित्रों में धूसर रंगों में क्षेत्रीय चीजों का चित्र आ जाता है। इस प्रकार के फोटोग्राफ के अध्ययन में विभिन्न विधियों से पदार्थों का विश्लेषण किया जाता है। विन्यास, रंग, रूप, आकार, प्रकार, रचना, तथा साथ के वस्तुओं के अध्ययन से किसी पदार्थ का निर्धारण किया जाता है। फोटोग्राफ चाहे रंगीन हो या श्याम, श्वेत विश्लेषण के तरीके समान ही रहते हैं। रंगीन चित्रों में पदार्थ का विश्लेषण रंग द्वारा और आसानी से किया जा सकता है। परन्तु कभी कभी रंगीन फोटोग्राफ में क्षेत्र के अन्य चीजों का पता नहीं लग पाता है।

इन्फ्रारेड के समान फोटोग्राफी : इन्फ्रारेड क्षेत्र वाले फिल्मों पर इस प्रकार की फोटोग्राफी की जाती है। इस प्रकार के चित्रों से पदार्थ का विश्लेषण सुविधाजनक हो जाता है। इस प्रकार के चित्रों से सूखी तथा गीली जमीन तथा विभिन्न प्रकार के वनस्पतियों का विश्लेषण अधिक आसान हो जाता है। परन्तु इस प्रकार के फोटोग्राफ से मानचित्रण नहीं हो पाता है।

इन्फ्रारेड रेखीय विश्लेषण : प्रायः 3·5 से 14 माइ-

क्रान तक के ऊष्मीय ऊर्जा को फोटोग्राफ फिल्म पर संग्रहित नहीं किया जा सकता क्योंकि 1·00 माइक्रान से अधिक संवेदन वाले पायस उपलब्ध नहीं हैं।

इन्फ्रारेड संवेदक में विशेष प्रकार का घूर्णन करने वाला दर्पण प्रयोग किया जाता है। इस दर्पण में वायुयान के चलने के लम्बवत् चित्र खिंचते जाते हैं। दर्पण से बिम्ब विश्लेषक यंत्र पर टकराती है इसमें इन्फ्रारेड सूचक होते हैं। इस प्रकार उत्पन्न किरणों को या तो चुम्बकीय पट्टे पर संग्रहित किया जाता है या कैथोड किरणों द्वारा बदल दिया जाता है या किसी फिल्म पर संग्रहित किया जाता है। फिल्म पर रेखीय क्रम में पूरा चित्र उभर आता है। इस प्रकार के चित्र वायवीय चित्रों की भाँति होते हैं परन्तु इनमें केन्द्र का पता नहीं होता। दर्पण इस प्रकार घूमता है कि इसमें तिरछे चित्र आते हैं। इसके कारण उड़ान की दिशा में माप भी समान बना रहता है परन्तु लम्बवत् माप बदलता जाता है। इसके अलावा इस प्रकार के चित्रों में पदार्थ द्वारा छोड़ी गयी ऊष्मित ऊर्जा या परावर्तित ऊर्जा का ही चित्र बन पाता है जब कि वायवीय चित्रों में पदार्थ के रंग, आकार, प्रकार, रचना आदि का प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के चित्रों में गर्म चीज हल्की लगेगी तथा ठंडी चीज भारी लगेगी। इन चित्रों का विश्लेषण कठिन कार्य है।

फिर वातावरण का भी इस पर असर पड़ता है। विभिन्न किरणों के शोषक तरंगदैर्ध्य अलग अलग होते हैं। इस कारण न्यूनतम शोषण वाले तरंगदैर्ध्य प्रयोग किये जाते हैं। इन तरंगदैर्ध्य वाले किरणों को 'एटमासफेरिक विन्डो' कहा जाता है, इनके तरंग दैर्ध्य 1·1, 1·4, 2·0, 3·3, 4·0, 4·4-5·0 तथा 8-14 माइक्रान वाले होते हैं।

राडार कल्पना : वातावरण की कमी को राडार कल्पना से पूरा किया जाता है। राडार विधि में 1 सेमी० से 3 मी० तरंगदैर्ध्य वाले विद्युतचुम्बकीय किरणों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के तरंग दैर्ध्य से चौबीसों घंटे तथा हर मौसम में चित्रण किया जा सकता है। राडार के एंटिना से पृथ्वी पर निश्चित मात्रा में तरंग छोड़ी जाती है। इस तरंग का कुछ भाग परावर्तित होता है। कैथोड किरणों द्वारा सूचना प्राप्त होती है तथा इन्हीं से सतत् चित्रण होता जाता है।

दो प्रकार के राडार है (1) प्लान पाजिटिव इंडिकेटर (P. P. I) तथा (2) साइड लुकिंग एयरवोर्न राडार (SLAR)। पहले में केन्द्र से वायुयान की स्थिति का पता चलता है, इसमें चतुर्दिक बिम्ब बनते जाते हैं। दूसरे में उर्जा वायुयान के दोनों तरफ जाती है, दोनों तरफ एंटिना लगा रहता है।

दूसरे विधि से अच्छे चित्र उतरते हैं। राडार वाले चित्र भी किसी हद तक वायवीय चित्रों के भाँति होते हैं। परन्तु इससे तीनों विमा वाले बिम्ब नहीं प्राप्त होते। फिर, राडार किरणें पृथ्वी पर अल्प कोण बनाती हैं इससे आकृतियाँ विकृत हो जाती हैं।

उपग्रहीय चित्र : सुदूर संवेदन की प्रक्रिया में उपग्रहों से टेलिविजन कैमरे से लिए गये चित्रों से क्रांति हो गई है। यद्यपि इस प्रकार के चित्र भी अन्य विधियों से लिये गये चित्रों की भाँति ही होते हैं परन्तु इनसे विस्तृत क्षेत्र की जानकारी प्राप्त होती है, तथा अत्यधिक आँकड़े एक ही चित्र से प्राप्त होते हैं।

विविध वर्णीय चित्र : दो या अधिक वायवीय चित्रों से एक साथ ही विभिन्न प्रकार के विधियों से चित्र उतारा जा सकता है। इस प्रकार के चित्र विभिन्न विधि से लिये जाते हैं, विभिन्न प्रक्रिया तथा विभिन्न कोणों से लिये जाते हैं। इस विधि को स्पेक्ट्राजोनल फोटोग्राफी विधि कही जाती है। इन चित्रों से तीनों विमा में बिम्ब प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न रंगों का अध्यारोपण भी किया जाता है। तीन प्राथमिक रंगों-लाल, नीला तथा हरा रंग का एक दूसरे पर अध्यारोपण करके भी चित्र लिया जाता है। इस विधि को 'इलेक्ट्रानिक कलर कोडिंग' विधि कहा जाता है। नंगी आँखों से 30 प्रकार के रंगों का मान हो सकता है जबकि इस विधि से 200 के ऊपर रंगों का मान ज्ञात किया जाता है।

विविध वर्णीय विश्लेषण : उपर्युक्त विधि का ही एक

रूप विविध वर्णीय विश्लेषण है। इस विधि में साथ साथ संवेदक का प्रयोग किया जाता है परन्तु इस विधि में इतने अधिक आँकड़े प्राप्त होते हैं कि विश्लेषण के लिए संगणक का प्रयोग किया जाता है।

खनिजों की खोज : सुदूर संवेदन की विधियाँ कोई स्वंतत्र नहीं है परन्तु इन विधियों से खोज कार्य में अत्यन्त अधिक एवं महत्वपूर्ण सहायता प्राप्त होती है। इस प्रकार की विधियों से प्राप्त किये गये चित्रों के अध्ययन से किसी भी क्षेत्र की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। क्षेत्रीय जानकारी प्राप्त हो जाने पर आगे का खोज कार्य अधिक आसान हो जाता है। खनिजों की खोज में क्षेत्रीय मान चित्रण अत्यन्त प्रधान है। इन चित्रों से उस क्षेत्र में पायी जाने वाली शिलाओं का ज्ञान हो जाता है। क्षेत्रीय रचना भूविवर्तन तथा शिलाओं की प्रधान रचना का ज्ञान भी इन चित्रों से हो जाता है। इस प्रकार के वायवीय चित्रों से भू-वैज्ञानिक खनिजों के प्राप्ति के स्थानों का निर्धारण अपने प्रयोगशाला में ही कर सकता है तथा आगे का प्रोग्राम बना सकता है। क्षेत्रीय भ्रंशो, लिनियामेन्ट तथा अन्य प्रधान रचनाओं का ज्ञान क्षेत्रीय मानचित्रण से अधिक अच्छी प्रकार चित्रों के विश्लेषण से किया जाता है। आकाशीय चित्रों के विश्लेषण से तो पूरे क्षेत्र का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार भू-वैज्ञानिक को अपने कार्य में बड़ी सुविधा होती है, अनावश्यक मेहनत से बचत होती है। समय का अपव्यय बच जाता है तथा खोज कार्य निश्चित स्थान पर हो सकता है। जिन स्थानों पर खनिजों के प्राप्ति का ज्ञान है वहाँ के रंगीन चित्रों में खनिज प्राप्ति स्थान जैसे गोसान् आदि का पता चल सकता है।

ऊष्मीय चित्र, विविध वर्णीय चित्र तथा राडार कल्पना में शिलाओं का निरूपण तथा रचना का विश्लेषण आसानी से किया जा सकता है। किसी किसी चित्रों में खनिजों का विशेष रूप प्राप्त होता है। उष्मीय चित्रों का उपयोग अधिक सूक्ष्म मानचित्रण तथा खनिज गवेषण में किया जाता है। इन चित्रों से भ्रंश क्षेत्र, आक्सीकरण क्षेत्र तथा शिला निर्धारण आसानी से हो जाता है। SLAR चित्रों से खनिज प्राप्ति स्थान का निर्धारण सुगमता से किया जा सकता है। इन चित्रों में धात्वीय तथा आधात्वीय खनिजों का भिन्न भिन्न रूप प्राप्त होता है। बाक्साइट, लोहा, टिटेनिया, तथा आणविक खनिज की विद्यमानता का ज्ञान इन चित्रों से सुगमता पूर्वक हो जाता है।

विविध वर्णीय चित्रों से बनस्पतियों का अन्तर पता चल जाता है। बनस्पतियों से भी खनिजों का पता लगाया जाता है। ताम्र क्षेत्रों में वाल्सम फिर प्राय: होता है, यह तथ्य इन चित्रों में आसानी से परिलक्षित होता है। परन्तु इन विधियों की अपनी कमियाँ भी हैं। इन चित्रों से आयु का निर्धारण नहीं हो पाता है। चौथी विमा का बिम्ब इससे नहीं बन पाता। शिलाओं की रचना, विन्यास, आकार, प्रकार तथा अन्य वैज्ञानिक तत्थों का ज्ञान इन चित्रों से नहीं हो पाता है। खनिजीय वृद्धि, उत्पत्ति, भित्ति परिवर्तन आदि भूवैज्ञानिक तथ्यों का पता इन चित्रों से नहीं चल पाता है।

सुदूर संवेदन की सभी विधियाँ खर्चीली हैं। भारत जैसे देश के लिए सभी विधियों का प्रयोग कठिन है। अभी वायवीय चित्रों का उपयोग लगभग हर क्षेत्र में किया जा रहा है तथा धीरे धीरे अन्य विधियों का उपयोग भी सभी क्षेत्रों में किया जायेगा। खनिजों की खोज के लिए इन विधियों का उपयोग बहुत जरूरी है परन्तु इनमें खर्च बहुत है फिर भी धीरे धीरे इनका उपयोग हर क्षेत्र में किया जा रहा है।

अवरक्त किरणें

● शैलेन्द्र नाथ भटनागर

वर्ण विक्षेपण एवं सौर्य वर्णपट्ट के अध्ययन में रत सर बिलियम हर्षेल ने यह देखा कि इस वर्ण पट्ट में सात रंगों के वर्णपट्ट के अलावा भी इनके सिरों पर कुछ विशेष एवं आश्चर्यजनक भौतिक एवं रासायनिक क्रियाएं होती हैं। यदि एक तापमापी इस वर्णपट्ट के बैंगनी सिरे से लाल सिरे की ओर लाया जाय तो उसमें लगातार तापक्रम की वृद्धि दृष्टिगोचर होती है। यह वृद्धि वर्णपट्ट के लाल सिरे की ओर एक स्थान पर अधिकतम हो जाती है। यह तथा इसके आसपास का क्षेत्र अवरक्त वर्णपट्ट कहलाता है। अवरक्त वर्णपट्ट का अध्ययन तथा इसके गुणों का अध्ययन सर विलियम हर्षेल के उपरोक्त प्रयोग के पश्चात वैज्ञानिक रीति से प्रारंभ हुआ। इसके पूर्व इन किरणों का अप्रत्यक्ष उपयोग बहुत पूर्व से होता चला आ रहा है। चिकित्सा विज्ञान का प्राचीन इतिहास गवाह है कि चीन एवं न्यूजीलैन्ड में लाल कपडों की सहायता से अनेक दुः साध्य रोगों का इलाज होता था। इसके अलावा गले की बीमारियों की रोकथाम के लिये वे लाल कपड़ों, मोतियों या सीपियों का उपयोग करते थे। सभ्यता के विकास के साथ ही लाल किरणों की उपयोगिता के विषय में और अधिक अनुसंधान हुए। आधुनिक सभ्यता में इसके सर्व प्रथम उपयोग का उल्लेख 'रोसा एन्जेलिका' नामक किताब में है। यह पुस्तक इंगलैन्ड के शासक एडवर्ड द्वितीय के प्रमुख चिकित्सक डॉ. जॉन के ऑफ गडेसन ने सन् 1314 में लिखी एवं सन् 1482 में इसका प्रकाशन हुआ। इसमें आपने चेचक उन्मूलन में लाल किरणों (अवरक्त किरणों) के विषय में सविस्तार व्याख्या की है। इनके विषय में डॉ. फिनसन ने भी भौतिक गवेषणाएं प्रस्तुत कीं।

आधुनिक अवरक्त किरण चिकित्सा के विकास का सबसे अधिक श्रेय जर्मनी के चिकित्सक डा. अरोना को प्राप्त है।

अवरक्त किरणों का सबसे सरल उत्पादन टंग्सटन लैम्प में होता है। 500 बार का टंग्सटन लैम्प 3000°K तापक्रम पर 53 प्रतिशत अवरक्त किरणों का उत्सर्जन करता है। अवरक्त किरणों के उत्पादन का वैज्ञानिक कारण किसी पदार्थ के अणुओं की हलचल (एजीटेशन) एवं परमाणु में इलेक्ट्रानों की उपस्थिति को माना गया है। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध होता है कि अवरक्त किरणों का तरंग दैर्ध्य 8000 Å से अधिक होता है।

वास्तव में अवरक्त किरणों के विलक्षण गुण ही इसके उपयोगों के असीमित क्षेत्र तैयार करने के उत्तरदायी हैं। ये किरणें बहुत मोटी बादलों की तहों एवं वायु के द्वारा अवशोषित नहीं होतीं जबकि साधारण दृष्य प्रकाश इनसे अवशोषित हो जाता है। यही कारण है कि सामान्य प्रकाश में कार्य करने वाले कैमरे बादलों के पार के फोटोग्राफ प्राप्त करने में व्यर्थ सिद्ध होते हैं। इनके लिये अवरक्त किरण वाले कैमरों का उपयोग किया जाता है। इन कैमरों में एक अवरक्त छन्नक (फिल्टर) का उपयोग किया जाता है। यह छन्नक एल्कोहल में बना आयोडीन का विलयन होता है। यह विलयन सामान्य दृष्य प्रकाश के लिये अपारगम्य एवं अवरक्त किरणों के लिये पारगम्य होता है। अवरक्त किरण छायांकन (इन्फारेड फोटोग्राफी) का द्वितीय विश्वयुद्ध में अत्यधिक उपयोग किया गया! जर्मनी के टैंकों एवं सिपाहियों को प्रदान किये गए इन विशेष यन्त्रों से वे धुँये एवं धुन्ध में छिपे शत्रु सैनिकों का पता लगाते थे। यह विधि अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध हुई।

अवरक्त किरणें ऊर्जा युक्त होती हैं। इनके ऊष्मीय प्रभाव का बड़े पैमाने पर उपयोग होता है। इनकी सहायता से अति शीघ्र ही किसी नम स्थल, यंत्र या भोज्य सामग्री को शुष्क (निर्जलीकृत) किया जा सकता है। यह विधि आद्योगिक प्रतिष्ठानों में नमी के द्वारा लौह मशीनों में जारण (जंग लगना) रोकने में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई। द्वितीय विश्व युद्ध में इनका उपयोग आलुओं के निर्जलीकरण हेतु किया गया था।

अवरक्त किरणों की भेदन क्षमता एवं ऊष्मीय प्रभाव का अत्यधिक महत्वपूर्ण उपयोग चिकित्सा विज्ञान में होता है। ये किरणें रोग ग्रस्त अंग पर पड़ती हैं तो तंतुओं के भेदन के द्वारा स्थानीय ताप पैदा करती हैं। ट्यूमर का इलाज उसके इसी गुण पर आधारित है। उपरोक्त अवस्था में उत्पन्न ताप रक्त संचार बढ़ा देता है। जिस जगह पर रक्त संचार में अधिकता होती है वहाँ पर अंग की प्रतिरोधकता में वृद्धि हो जाती है। अवरक्त किरणें ऊष्मीय चिकित्सा का एक अति उपयोगी आयाम है। चर्मरोगों, शारीरिक दर्द, बालों के झड़ने तथा खुजली इत्यादि बीमारियों में आजकल इन किरणों का प्रचुरता से उपयोग हो रहा है। चेहरे की सुन्दरता में अभिवृद्धि हेतु इसके उपयोग की सलाह अनेक बड़े डॉक्टर देते हैं। लेकिन इस हेतु पर्याप्त सावधानी बरतना आवश्यक है। जहाँ एक ओर इसका सीमित उपयोग त्वचा की प्रतिरोधकता, लावण्यता एवं स्वच्छता बढ़ाता है, वहीं इसके असीमित उपयोग से यह प्रतिरोधकता ही नहीं समाप्त हो जाती अपितु कभी-कभी दानों के उठने का भी भय रहता है।

अवरक्त किरणों के औद्योगिक उपयोग में एक विशेष उपयोग 'अवरक्त किरण-संकेतक' है। इसके द्वारा इस्पात के कारखानों में उपयुक्त तापक्रम तक इस्पात का तापन संभव किया जा सकता है। इनका उपयोग रेल पथों पर इंजनों के अतितप्त बक्सों से राख गिराने की स्वचालित प्रणाली में भी होता है।

वास्तव में अवरक्त किरणों ने चिकित्सा एवं उद्योगों में जो योगदान दिया है वह काफी नहीं कहा जा सकता किन्तु फिर भी इसकी उपयोगिता से इन्कार भी तो नहीं किया जा सकता। भविष्य में शायद यह और भी अधिक उपयोगी सिद्ध हो सके। ● ●

सूचना

वर्ष 1979 को 'अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष' के रूप में मनाया जा रहा है। इस अवसर पर हम एक बाल विशेषांक निकालने की योजना बना रहे हैं। लेखकों से, विशेषकर विद्यार्थी लेखकों से, अनुरोध है कि वे अपनी रचनायें (चित्रों सहित) 31 दिसम्बर 1978 तक हमारे कार्यालय में भेज दें। विद्यार्थियों के लेखों के साथ हम उनके चित्र भी छापेंगे। अत: वह पासपोर्ट साइज में अपना एक फोटोग्राफ भी लेख के साथ अवश्य भेजें। कुछ चुने हुये लेखों पर पुरस्कार भी प्रदान किया जायगा।

—सम्पादक

अगले जन्म में आप क्या होंगे ?

● दुर्गापद कुइति

अगर आप पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं और इस जीवन में सुखी नहीं हैं तो स्वाभाविक है कि आप अगला जन्म ऐसा पसन्द करेंगे जिसमें इस जन्म की सभी कष्ट-दायक परिस्थितियां न हों। यदि आप अपने भाग्य से अत्यधिक परेशान हो गये हैं तो आप अवश्य किसी न किसी साधु महात्मा या ज्योतिषी से मिलेंगे और वे अपने-अपने धन्धों एवं योग्यताओं से आपको कुछ न कुछ सुझाव देंगे। अगर आपको किसी ने बताया कि आप इस जन्म में अत्यधिक पाप कार्य कर रहे हैं इसके परिणाम स्वरूप आपको अगले जन्म में अत्यधिक गरीब व्यक्ति, गधा, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली इत्यादि में से एक होना पड़ेगा तो यह निश्चय है कि आपको यह पसन्द नहीं आयेगा और इससे बचने के लिये आपको यदि कठिन से कठिन कार्य भी करना पड़े तो आप राजी हो जायेंगे। सुख प्राप्ति के लिये लोग क्या-क्या करते रहते हैं, जैसे—प्रतिदिन गंगा स्नान, गरीबों को दान, परोपकार, मन्दिरों में जाना इत्यादि। पंडित ने यदि पत्रा देखकर यह बता दिया कि आप एक दिन बहुत बड़े आदमी होंगे, अगाध संपदा के स्वामी होंगे, एवं अगले जन्म में भी आप बहुत बड़े वैज्ञानिक होंगे, तो हर कोई खुशी से उछल पड़ेगा तथा उस पंडित को दुगनी दक्षिणा दे देगा। समस्यायें जब घिर आती है तो स्त्रियां 'सन्तोषी मां' का व्रत प्रारम्भ कर देती हैं या अनेक बाबाओं में से किसी एक की भक्तिन बन जाती हैं।

क्या वास्तव में पुनर्जन्म होता है? हमारे धर्मग्रन्थों में पुनर्जन्म के विषय में अनेक बातें लिखी हैं। उदाहरणार्थ सतयुग में नरसिंह, त्रेता में राम, द्वापर में कृष्ण, एवं कलयुग में कलंकी अवतार, ये चारों भगवान के रूप बताये गये हैं। कर्ण के जन्म के विषय में अत्यधिक रोचक कथा प्रचलित है, ऐसा कहा जाता है कि सूर्य भगवान की कृपा से कु० कुन्ती को कर्ण पैदा हुए। इस प्रकार की अनेक

घटनायें हमारे धर्मग्रन्थों जैसे—रामायण, महाभारत, आदि में मिलती हैं जो आज के वर्तमान युग में हम सभी को पुनर्जन्म में आस्था पैदा करने के लिये काफी हैं।

वर्तमान युग में कई एक ऐसी घटनायें सामने आयी हैं जिसके परिणाम स्वरूप पुनर्जन्म से इन्कार नहीं किया जा सकता है। कई एक बच्चे चार पांच वर्ष की आयु में अपने पुराने घर जहां वह पिछले जन्म में पैदा हुये थे की कई एक विशेषताएं बताने लगे। जब उस घर के लोगों से पता किया गया तो उनके मृत्यु से पहले तक की सारी घटनाएं शतप्रतिशत ठीक निकली हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि वे बालक जब कभी उस घर तो क्या उस गांव तक

नहीं गये तो फिर उन्हें कैसे उस घर की सारी बातें मालूम हैं? कई बार तो ऐसा भी हो गया कि लोग सही बात का पता लगाने के लिये बालक को उसके पिछले जन्म वाले घर में ले गये, जब सभी बातें उस घर के लोगों से बालक के सम्बन्ध में पूछने पर सत्य प्रमाणित हो गयीं तब पिछले जन्म के रिश्तेदारों ने बच्चे को अपने घर ही रख लेना चाहा, किन्तु इस प्रकार का कोई वैज्ञानिक नियम न होने के कारण पिछले जन्म के रिश्तेदारों को निराश होना पड़ा।

पृथ्वी की आयु 46000 लाख वर्ष के करीब है, एवं अनुमानतः 23000 लाख वर्ष पहले जीव की उत्पति पृथ्वी पर हुई थी। जीव की उत्पति के विषय में मुख्य रूप से दो प्रकार की धारणायें आज भी विद्यमान हैं। एक तो ब्रह्मा अथवा दैविक शक्ति ने सृष्टि का निर्माण किया तथा दूसरा रासायनिक प्रक्रिया द्वारा जीव की उत्पत्ति हुई, यह स्वतः जननप्रक्रिया के नाम से प्रसिद्ध है। आधुनिक परिकल्पना के अनुसार आरंभ में तापमान अधिक होने के कारण पृथ्वी पर केवल सरल कार्बनिक यौगिक उपस्थित थे, जो पानी में घुले हुये थे। बाद में जटिल कार्बनिक अणुओं तथा न्यूक्लीयो-प्रोटीन का निर्माण हुआ। इन सभी पदार्थों से आदिकोशिका का उद्भव हुआ। इन कोशिकाओं ने उत्परिवर्तन तथा उद्विका से विभिन्न प्रकार के वनस्पति एवं जीव जगत का विकास किया। सम्भवतः जीवन का प्रादुर्भाव समुद्र में हुआ। नोबल पुरस्कार विजेता डा० हर-गोविन्द खुराना ने '77' 'न्यूक्लीओटाइड्स,' को एक निश्चित क्रम में जोड़कर टेस्टट्यूब में 'डी० एन० ए०' अणु का संश्लेषण किया एवं प्रकृति निर्मित्त जीन्स या न्यूक्लिक अम्लों का संश्लेषण 'न्यूक्लिओटइड्स' के विभिन्न क्रमों में संयोजित होने से हुआ है, इस बात की पुष्टि की। ब्रिटेन के सृष्टि वैज्ञानिक सर फेडहायल एवं युनिवर्सिटी कालेज के प्रोफेसर चन्द्रविक्रम सिन्धे का विश्वास है कि पृथ्वी पर जीवन का उद्भव सम्भव नहीं है। जीवन का उद्भव करने वाले परमाणुओं का निर्माण अन्तरिक्ष में हुआ है, और ये अन्तरिक्ष से पृथ्वी पर अवतरित हुये हैं। इन दोनों वैज्ञानिकों के अनुसार यह प्रक्रिया आज भी जारी है।

भूवैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी की जन्मपत्री जो लिखी हुई है, उसके अब नष्ट होने के बाद भी काफी मात्रा में विकास के विवरण उपलब्ध हैं प्राचीन युग के जीवों के जो अवशेष मिले हैं उससे जीवों के विकास को सम्भवतः पूर्ण रूप से अध्ययन कर लिया गया है। इसके विकास की शृंखला को तैयार करने के लिये कहीं कहीं पर थोड़े अनुमान का भी सहारा लिया गया है। आरम्भ में जीवों में हड्डी न होने के कारण तथा अवसादीय चट्टानों के परिवर्तित हो जाने से उसमें जो भी जीवों के अवशेष थे वे नष्ट हो गये। वर्तमान समय से 2300 लाख वर्ष पूर्व अर्थात् मध्य जीविक युग में रेपटाइल्स, डाइनोसोर एवं फिर उसके बाद स्तनधारी तथा फिर धीरे धीरे अनेक पुराने बड़े बड़े जानवर नये आकार के जीवों को जन्म देकर लुप्त हो गये। पहले के जानवर बहुत बड़े बड़े होते थे जैसे—डायनोसोर, स्टेगोसारस, ब्रोण्टोसर्स, रेप्टाइल, डिप्लोडोक्स, ब्रेकियोसारस मोसासार आदि के वजन हजार मन से भी ऊपर होते थे। जबकि वर्तमान समय में केवल हाथी, ऊंट, गेंडा आदि को छोड़कर कोई भी बड़ा जानवर दिखाई नहीं देता।

अनुमानतः 250 लाख वर्ष पूर्व अर्थात् नवपूर्वतर काल या मध्य नव काल के आरम्भ से मानव अपने निजी अस्तित्व में आने लगा। मानव के पूर्वज जिसे ऐपिज के नाम से जाना जाता है। उसका विकास होने लगा। आधु-निक युग में जो भी अल्प मात्रा में गुरिल्ला एवं चिम्पैंजी हैं वे सभी मानव जाति के पूवर्ज हैं। आज भी दादा पर दादा या राजा महाराजाओं ने जिन जानवरों का शिकार किया था, तथा जिनके खाल, सींग, आदि आज भी घरों, अजायब घरों में देखने को मिलते हैं वे या तो समाप्त हो गये हैं या उनकी संख्या अब नगण्य है। पहले के मानव कद में छोटे होते थे, पूरे शरीर में खूब बाल होते थे मुख की आकृति भी करीब करीब गोल होती थी। आदि मानव की ऊंचाई 1.2 मीटर थी आज से दस लाख वर्ष पूर्व भी मानव की ऊंचाई औसतन 1.5 मीटर थी। नाक की ऊंचाई कम थी, कपाल नहीं के बराबर था, कपाल साधारणतः पीछे की ओर झुका हुआ होता था, तथा मुंह में दाँत सबसे आगे होते थे। तेज बुद्धि वाले एवं बड़े दिमाग वाले मानव आज

से करीब दो हजार वर्ष पूर्व पैदा हुये थे। आज के युग के स्त्री पुरुष दोनों के कद को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कुछ बढ़ोत्तरी हुयी है। दादी एवं दादा से नाती एवं नतिनी का कद आम तौर पर अधिक पाया जाता है। शरीर के बाल एवं औसत आयु दोनों पहले की अपेक्षा कम हुये हैं।

पुराने जानकारी की संख्या तो घट रही है किन्तु इसके स्थान पर कौन से नये जीव उत्पन्न हो रहें हैं? अथवा केवल पुराने जीव लुप्त हो रहे हैं? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है। क्या इस सन्दर्भ से जनसंख्या को जोड़ा जा सकता है जिसकी अत्यधिक वृद्धि हुई है?

मानव अपने भविष्य के विषय में लगातार शोध के पश्चात, अभी भी निश्चित परिणाम से काफी दूर है। वास्तव में इस सम्पूर्ण परिवर्तनशील परिवेश में मानव के भविष्य के रूप क्या होंगे यह कहना अत्यधिक मुश्किल है। तथा यह भी एक दुष्कर कार्य है कि इसे प्रयोग द्वारा करके इसके परिणामों से सर्वसाधारण को सचेत किया जा सके। अब तक की पृथ्वी की परिस्थितियों एवं जीवों के विकास के आधार पर कुछ वैज्ञानिकों ने अपने विचार दिये गये हैं।

1—सौराष्ट्र विश्वविद्यालय के डा० पाण्डेय के अनुसार वायुमंडल के कार्बनडाईआक्साइड के बढ़ने से पृथ्वी गर्म हो रही है एवं मानव को इस परिस्थिति में जीवित रहने के लिये शहरों को छोड़कर पानी में रहना पड़ेगा।

2—अमेरिका के एच० एल० सेपिरो के अनुसार मस्तिष्क का आकार और भी बड़ा हो जायेगा तथा सिर पर बाल नहीं के बराबर होंगे। सम्भवतः भविष्य में पैर का अंगूठा भी नहीं होगा।

3—रूस के वैज्ञानिक ए० पी० बिस्टोव के अनुसार मानव का विकास बहुत दिन पहले ही रुक गया है।

पृथ्वी ठंडी हो रही है या गर्म हो रही है इस विषय में भी वैज्ञानिकों में मतभेद है। आर० ए० लिटिलटन के अनुसार, आदि पृथ्वी की नाभिक ठंडी थी एवं रेडियो सक्रिय पदार्थ के विघटन के फलस्वरूप तापमान काफी ऊँचा पहुँच गया जो अभी भी बढ़ रहा है। इस तापमान का भविष्य के जलवायु पर निश्चय ही असर पड़ेगा। पृथ्वी को उष्मा एवं प्रकाश प्रदान करने वाला सूरज भी एक दिन निस्तेज हो जायेगा तब वह परिस्थिति निश्चय ही जीवों के विकास

(शेष पृष्ठ 17 पर देखें)

संगणक (कम्प्यूटर) के उपयोग

● मनीषी बरनवाल

संगणक आजकल प्रयोग में आने वाले आधुनिक यन्त्रों में से बहुचर्चित यन्त्र है। प्रत्येक मनुष्य के प्रतिदिन के जीवन में इसका प्रयोग किसी न किसी प्रकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से होता है। पिछले कुछ वर्षों में संगणक ने हमारे जीवन वृत्त को बदलने में काफी प्रभाव डाला है संगणक का विकास और उसकी उपयोगिता उसी गति से बढ़ी है जिस तीव्र गति से यह कार्य करता है। पिछले कुछ वर्षों में "लार्ज स्केल इन्टीग्रेटेड सर्किट" तकनीक के विकास के कारण इनका मूल्य इतना कम हो गया है कि यह साधारण उपयोगकर्ता द्वारा आसानी से खरीदे जा सकते हैं। बहुप्रचलित इलेक्ट्रानिक कल्कुलेटर अथवा गणक ने पुराने यांत्रिक गणक का स्थान ग्रहण कर लिया है, जो एक प्रकार से मिनीसंगणक कहा जा सकता है। संगणक के विभिन्न वाणिज्य संस्थानों में एवं वैज्ञानिक और तकनीकी शोधकार्यों व प्रतिदिन के कार्यों में अनेक में से कुछ का वर्णन नीचे किया गया है।

1. **वैज्ञानिक शोध कार्य** : जैसा कि विदित है प्रकाश में राकेटों का संचालन एवं अन्तरिक्षयानों का चन्द्रमा पर उतरना एवं वापस पृथ्वी पर आना बिना संगणक के असम्भव है। अलग-अलग स्तरों पर गणनाओं का बहुत ही कम समय में हल और उनकी परिशुद्धता जिसके ऊपर अन्तरिक्ष में भेजे जाने वाले खगोल यात्रियों का जीवन निर्भर करता है, बिना इन संगणकों की मदद से असम्भव है। इसी प्रकार से विज्ञान की अन्य शाखाओं में वैज्ञानिक शोध कार्य वर्तमान समय में इन संगणकों द्वारा गणनाओं को अति तीव्र गति से करने के ऊपर ही निर्भर करता है। वैज्ञानिक कम्प्यूटर मॉडलों द्वारा प्रस्तुत परिकल्पना के आधार पर वास्तविक समस्याओं का समाधान करते हैं। इसके अतिरिक्त किसी भी शोध कार्य के लिये बड़ी मात्रा में आंकड़ों को संग्रहीत करके उनका विश्लेषण किया जाना केवल संगणक द्वारा ही संभव है।

2. **शिक्षण-मशीनें** : शिक्षण मशीनें विशेष प्रकार के कार्यक्रमों पर आधारित हैं जिसमें एक विशेष सूचना दर्शाई होती है। कार्यक्रम इस प्रकार बनाये जाते हैं कि सूचना के बाद रिक्त स्थान होते हैं जिनकी पूर्ति विद्यार्थी करते हैं। विद्यार्थी द्वारा उत्तर देने के बाद संगणक द्वारा सही उत्तर दिया जाता है और यह कार्यक्रम एक निश्चित अनुक्रम के अनुसार प्रगति करता है। एक दूसरे कार्यक्रम में एक विद्यार्थी द्वारा कई एक प्रश्नों के उत्तर देने के पश्चात उत्तरों के आधार पर कार्यक्रम का अगला हिस्सा विद्यार्थी को दिया जाता है। एक कम्प्यूटर कई एक डेस्क कन्सोलों से जुड़ा हो सकता है और प्रत्येक कन्सोल पर एक विद्यार्थी निर्देशों को प्राप्त करता हैं एवं टंकन द्वारा उत्तर संगणक को देता है। इस प्रकार अलग-अलग विद्यार्थी अपनी प्रगति के अनुसार निश्चित कार्यक्रम के विभिन्न स्तरों पर कार्यशील रहते हैं।

3. **भाषा सम्बन्धी शोध कार्य** : किसी लेखक या पुस्तक में वर्णानुक्रमण से मुख्य शब्दों या विषयों की सप्रसंग व्यवस्था एवं लेखन शैली की आलोचना या किसी पुस्तक के मूल लेखक के बारे में सत्यता का पता लगाने आदि के कार्य में संगणक का योग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। लेखन शैली में बहुत ही सूक्ष्म परिवर्तन या विश्लेषण संगणक द्वारा किया जा सकता है और लेखक की मूल रचना का पता लगाया जा सकता है। इस प्रकार का अध्ययन पॉलनी की साहि-

त्यिक रचनाओं के बारे में ग्लासगो युनिवर्सिटी के प्रोफेसर द्वारा एक संगणक पर किये गये जिसके द्वारा उन्होंने यह पता लगाया कि चौदह में से पाँच रचनायें एक व्यक्ति द्वारा और बाकी नौ रचनायें किसी अन्य व्यक्ति द्वारा लिखी गयी हैं।

4. **चरम पथ विश्लेषण :** चरम पथ विश्लेषण एक तकनीक है जिसका उपयोग एक प्रोजेक्ट के नियोजन एवं नियंत्रण करने में किया जाता है। एक बहुत बड़े प्रोजेक्ट में एक संगणक की मदद के बिना नियंत्रण असंभव सा प्रतीत होता है। इसका दूसरा नाम 'पर्ट प्रोजेक्ट इवेल्युएशन एवं रिव्यू टेक्नीक, है। इसका दूसरा नाम 'नेट वर्क प्लानिंग' अर्थात कुल केन्द्र का नियोजन है। इस तकनीक का उपयोग उन प्रोजेक्टों के नियोजन में किया जाता है जिनके संयोजन के विभिन्न समयों पर साधनों की परिवर्ती मात्रा की आवश्यकता का अध्ययन घटनाओं एवं कार्यकलापों से सम्बन्धित होता है।

प्रारम्भ में इन घटनाओं व कार्य कलापों के कुछ केन्द्र बना लेते हैं। प्रत्येक घटना एक वृत्त द्वारा प्रदर्शित करते हैं; इन वृत्तों को तीर द्वारा आपस में जोड़ देते हैं जो कि कार्य कलाप को दर्शाते हैं। दिये गये समय में किसी कार्य का पूरा होना उस घटना के पहले के सब कार्यकलापों के पूरे होने पर निर्भर करता है। बहुत ही साधारण तौर पर एक किताब का पढ़ना नीचे दिये गये चित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है।
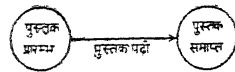
चित्र नं० 1- कार्यकलाप और घटना

साधारण तौर पर प्रथम और आखिरी घटना के बीच में कई और घटनायें होती हैं। प्रत्येक घटना कार्य-कलापों द्वारा प्रारंभ, एवं दूसरे कार्यकलापों में समाप्त होती हैं अर्थात पहली घटना को छोड़कर अन्य घटनायें कुछ दूसरे कार्यकलापों के ऊपर निर्भर होती हैं और अन्य शेष कार्यकलापों पर नियंत्रण रखती हैं। प्रत्येक कार्यकलाप को एक अनुमानित समय दिया जाता है और प्रत्येक घटना को एक संख्या दी जाती है। इस प्रकार का एक जाल-सूत्र एक कार्यालय का आधुनीकरण करने के लिये चित्र 2 में दिया गया है।

अभी तक जाल सूत्रों का बनाना नियोजक द्वारा हाथ से किया जाता था। एक बड़े प्रोजेक्ट के लिये विभिन्न कार्यकलापों के बीच में सम्बन्ध का विश्लेषण संगणक के प्रयोग द्वारा आसान हो गया है।
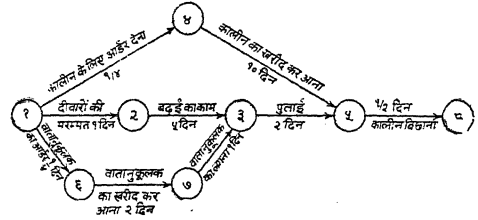
चित्र नं० 2-चरम पथ जालसूत्र-कार्यकलाप का आधुनीकरण

एक विशाल प्रोजेक्ट कितने समय में पूरा किया जा सकता है इसका पता ठीक प्रकार से संगणक के प्रयोग द्वारा लगाया जा सकता है। चरम पथ की गणना प्रत्येक घटना में सम्भावित समय के योग द्वारा निकाला जा सकता है। प्रस्तुत उदाहरण में चरम पथ घटना 1 से 4, 4 से 5, 5 से 8 तक जाती है और कुल $19\frac{3}{4}$ दिन का समय लगता है। यदि किन्हीं कारणोंवश कार्यकलाप 2 एवं 3 में अधिक समय लग जाता है तब चरम पथ 1 से, 2 से, 3 से 5 से 8 होगा और कार्यकलाप 3 से 5 को जल्दी करना होगा जिससे कि कार्य पूर्व निर्धारित समय में समाप्त किया जा सके।

इस प्रकार यह विदित हो जाता है कि यदि किसी कार्य-कलाप में पूर्व निर्धारित समय से अधिक समय चरम पथ में लगता है तब प्रोजेक्ट को पूरा होने में अधिक समय लगेगा। परन्तु यदि वह कार्यकलाप चरम पथ पर नहीं आते हैं तब थोड़े समय के लिये कार्य में देरी होने पर भी प्रोजेक्ट पूर्व निर्धारित समय में पूरा हो सकता है। उदाहरण में दिये गये छोटे एवं सरल जल-सूत्र का विश्लेषण बिना संगणक के किया जा सकता है परन्तु एक विशाल प्रोजेक्ट के लिये जिसमें सैकड़ों घटनायें एवं कार्यकलाप शामिल हों उसका विश्लेषण आयोजन बिना संगणक के सम्भव न होगा और

प्रोजेक्ट पर पूर्ण नियंत्रण एवं नियोजन पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार न हो सकेगा।

5. **वस्तु-सूची नियंत्रण** : संगणक के उपयोग द्वारा स्टाक में वस्तुओं का सहीरेकार्ड रखकर उसका परीक्षण किया जा सकता है। इसके आधार पर दिये गये आर्डर का उत्पादन, चालान बनाना, वस्तुओं की कमी की रिपोर्ट और स्टाक की मात्रा इत्यादि पर नियंत्रण द्वारा आर्थिक लाभ बढ़ाया जा सकता है। वस्तुओं की माँग और डिलीवरी के सही रेकार्ड द्वारा स्टाक की सही मात्रा रखकर खर्च में कमी की जा सकती है। वस्तुओं का सही स्टाक उचित मात्रा में रखने से पूंजी का सही उपयोग किया जा सकता है। वस्तुओं की मांग की भविष्यवाणी और उसके अनुसार उसका उत्पादन पुराने रेकार्डों के आधार पर किया जा सकता है।

6, **कर्मचारी-वर्ग का रेकार्ड एवं वेतन चिट्ठा** : नियोजन एवं प्रशासनिक कर्मचारियों के रेकार्ड- वेतन चिटठा बनाने के लिये या दूसरी सूचनाओं को संगृहीत करने के लिये संगणक का उपयोग किया जाता है। वेतन चिट्ठा बनाने के लिये कई जटिल गणनाओं का करना आवश्यक होता है; यह गणनायें जैसे ओवर-टाइम, इन्कम टैक्स, मंहगाई भत्ता, प्राविडेन्ट फन्ड, मकान भत्ता, नगर भत्ता इत्यादि वेतन से संबधित होती हैं। इन गणनाओं का संगणक द्वारा हल निकलने से लिपिकों का काम कम किया जा सकता है और गल्तियों को समाप्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कर्मचारियों के दूसरे रेकार्ड जैसे उनकी योग्यता, कार्यकाल, अनुभव और दूसरे प्रशासनिक ब्यौरे जैसे घर का पता, इत्यादि सुनियोजित ढंग से संग्रहीत किये जा सकते हैं। इसके साथ साथ उनके द्वारा उपयोग की गई छुट्टियाँ, कुछ बाकी छुट्टियों का हिसाब इत्यादि भी संग्रहीत किये जा सकते हैं। इन आंकड़ों का उपयोग नियोजन एवं प्रशासनिक कार्यों के लिये, जिनका इन आंकड़ों से सीधा सम्बन्ध होता है, प्रयुक्त करके कोई कम्पनी लाभ उठा सकती है।

7. **उत्पादन नियंत्रण** : उत्पादन नियंत्रण से संगणक से माल के वितरण, शेष माल में फंसी पूंजी में कमी, मजदूर में कमी और संयन्त्र का पूरी तरह से उपयोग इत्यादि में सहायता प्राप्त होती है। बिक्री के बारे में भविष्यवाणी के अतिरिक्त एक संगणक विघटन इकाइयों के लिये आवश्यक वस्तुयें, कच्चे माल की आवश्यकता इत्यादि बता सकता है। प्रत्येक उत्पादन के लिये कुल आवश्यक वस्तुओं की गणना और प्रत्येक वस्तु की कुल आवश्यकता वर्तमान स्टाक को देखते हुये एवं चल रहे काम की प्रगति को ध्यान में रखते हुये आदि की सूचनायें संगणक गणना से ज्ञात करता है। आर्थिक दृष्टि से कुल आवश्यकताओं को संगणक द्वारा उत्पादन और सप्लाई में सामंजस्य स्थापित करने में प्रयोग में लाया जा सकता है। एक बार उत्पादन की आवश्यकतायें एवं कच्चे माल का संबंध पता लगने पर फैक्टरी में काम के प्रवाह की योजना बनायी जा सकती है। इस प्रकार कई गणनाओं द्वारा संयन्त्र की क्षमता और आवश्यक मजदूरों की संख्या को किसी संयन्त्र की उपइकाइयों में वितरण के सम्बन्ध को निकाला जा सकता है जिससे कि उत्पादन आर्थिक दृष्टि से लाभदायक हो। प्रत्येक घन्टे में किसी उत्पादन इकाई पर कितना भार है, और इन इकाइयों का दूसरी इकाइयों से सम्बन्ध एव क्षमता, का पता लगाया जा सकता है। निर्धारित कार्यक्रम और इन कार्यक्रमों में कौन सी इकाई कार्यक्रम से पीछे है और उसका कुल संयन्त्र पर उसके प्रभाव के सम्वन्ध का पता लगाया जा सकता है।

ऊपर दिये गए कुछ उपयोगों के अतिरिक्त संगणक अनुवाद करने, कविता लिखने, शतरंज खेलने, ताश खेलने, यातायात का नियंत्रण करने, जनगणना का विश्लेषण करने, चिकित्सा निदान में, मौसम की भविष्यवाणी करने, अणुओं की संरचना ज्ञात करने इत्यादि में विशेषकर लाभदायक है। इसके अतिरिक्त हजारों अन्य कार्यों में संगणक का प्रतिदिन में इतना अधिक योगदान है कि इसके बिना अनेक कार्य असंभव प्रतीत होते हैं। ● ●

समुद्र स्थित तेल-गैस भण्डारों की खोज में गोताखोरों की भूमिका

● संकलित

एक 48 वर्षीय युवा अमरीकी गोताखोर वाल्टर थामस को अब भी याद है कि 1964 में उसने लीबिया के समुद्र तट से कुछ दूरी पर गहरे समुद्र में लगभग 158 मीटर की गहराई तक गोता लगाया था। 158 मीटर की गहराई तक पहुँचने में उसे मुश्किल से 5 मिनट लगे थे। इसके उपरान्त, उस गहराई पर जांच पड़ताल और अन्वेषण करने में उसे 25 मिनट का समय लगा था। लेकिन समुद्र-गर्भ में 30 मिनट तक यह काम पूरा कर समुद्र की सतह पर वापस लौटने में उसे 9 घण्टे से भी अधिक समय लगा था क्योंकि सुरक्षित रूप से पानी के ऊपर आने के लिये गोताखोरों को बहुत धीरे धीरे ऊपर आना पड़ता था।

इस वर्ष इसी गोताखोर ने चुम्बकीय उत्तरी ध्रुव से 30 कि० मी० की दूरी पर हिमाच्छादित समुद्र के गर्भ में 272 मीटर की गहराई तक गोता लगाया। 3 से 272 मीटर की गहराई तक पहुँचने में उसे 15 मिनट लगे। वह लगभग 6 घण्टे तक समुद्र तल में अन्वेषण कार्य करता रहा तथा अपना काम पूरा करके उसे ऊपरी सतह पर लौटने में भी केवल 15 मिनट लगे। ऊपर आने में समय की यह भारी बचत नवीन टेक्नोलोजी के विकास के कारण ही सम्भव हो सकी है। इस टेक्नोलोजी के विकास के कारण अब गोताखोरों का काम अत्यन्त सरल हो गया और साथ साथ सुरक्षा भी बढ़ गई है। इसके साथ ही गहरे समुद्र में स्थित तेल भण्डारों की खोज करने के उद्योग को भी प्रोत्साहन मिला है।

ओश्नोग्राफिक इन्सटीटयूशन (मसाचूसेट्स) के वैज्ञानिक के० ओ० एमरी के अनुसार भूमि पर तेल और गैस का उत्पादन लगभग अपने चरम बिन्दु पर पहुँच चुका है परन्तु समुद्र-गर्भा में स्थित तेल और गैस भण्डारों की दोहन क्षमता का पूरी तरह विकास और उपयोग करने में अभी कम से कम 10 वर्ष का समय लगेगा। वैज्ञानिकों के अनुमान के अनुसार 1980 में विश्व के कुल तेल उत्पादन में समुद्र गर्भ स्थित तेल-भण्डारों में प्राप्त तेल और गैस का अनुपात लगभग 30% तक पहुँच जायगा। इस समय यह अनुपात केवल 19% ही है।

समुद्र गर्भ स्थित तेल और गैस साधनों के दोहन की आवश्यकता तथा इस महत्वपूर्ण कार्य में गोताखोरों की सहायता की आवश्यकता के कारण गोताखोरों की सहायता के लिये विगत कुछ वर्षों में नये नये उपकरणों और यन्त्रों का आविष्कार और निर्माण हुआ है। निकट भविष्य में वह समय भी आने वाला है जब मानव गोताखोरों को समुद्र में गोता मारने की जरुरत नहीं पड़ेगी तथा यह कार्य यान्त्रिक गोताखोरों द्वारा सम्पन्न किया जाने लगेगा।

इस समय समुद्र गर्भ में स्थित तेल भण्डारों और गैस भण्डारों का पता लगाने के लिये केवल गोताखोरों पर अमेरिकी तेल कम्पनियों द्वारा प्रतिवर्ष लगभग 20 करोड़ डालर की धनराशि व्यय की जा रही है। विगत 5 वर्षों में इस कार्य पर व्यय होने वाली धन राशि में लगभग 5 गुना वृद्धि हुई है।

समुद्र-गर्भ स्थित तेल भण्डारों के दोहन के लिये जब 'ड्रिलिंग' का कार्य शुरू होता है तब गोता खोरों का उपयोग समुद्र के अन्दर ड्रिलिंग मशीन के टूटे तारों को जोड़ने तथा अन्य ऐसे उपकरणों की मरम्मत करने के लिये किया जाता है जो जल में डूबे रहते हैं। इसके अलावा जल गर्भ में भारी उपकरणों और मशीनों को सुरक्षित ढंग से उतारने में भी ये गोताखोर मदद करते हैं। समुद्र गर्भ में तेल की पाइप लाइन के निर्माण में जल के ऊपर तेल कुंओं से तेल निकालने की मशीनों को फिट करने हेतु प्लेटफार्म तैयार करने तथा जल में डूबे उपकरणों और यन्त्रों को इस प्लेटफार्म से

जोड़ने का कार्य भी गोताखोरों द्वारा किया जाता है। समुद्र में डूबी हुई तेल की पाइप लाइनों का निरीक्षण करने, प्लेट-फार्म के जल में डूबे पाइपों की सफाई करने आदि का कार्य भी इन्हीं से लिया जाता है।

इन गोताखोरों की सबसे कठिनाई यह होती है कि जल के अन्दर काम करते समय उन्हें कृत्रिम प्रकाश का सहारा लेना पड़ता है क्योंकि वहाँ तक सूर्य की रोशनी नही पहुँच पाती है। कभी कभी उसे चीजों को छूकर भी सही स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। कई बार तो ऐसा होता है कि अंधकार के कारण गोताखोर को अपने आस पास की स्थिति व परिस्थितियों का ज्ञान नहीं रह जाता। समुद्र के गर्भ में बहने वाली शक्तिशाली धाराएं भी गोताखोरों के लिये परेशानी पैदा कर सकती हैं। उन्हें कभी कभी बहुत ठंडे जल में अपना कार्य करना पड़ता है जिससे उनका मष्तिक तक बिल्कुल सुन्न पड़ जाता है। समुद्र के अन्दर घूमने वाली मछलियां गोताखोरों की उंगलियां व कानों को कुतरने की कोशिश करती हैं और कभी 2 तो खतरनांक मछलियों के हमलों से उनके प्राण भी संकट में पड़ जाते हैं। तेल की खोज में गोताखोर समुद्र गर्भ में जितनी ही अधिक गहराई तक उतरते हैं उनकी समस्यायें और कठिनाइयां उतनी ही अधिक बढ़ जाती हैं। तेल उत्पादक कम्पनियां अब अधिकाधिक गहरे जल में उत्पादन प्लेटफार्म स्थापित करने लगी हैं। उदाहरणार्थ, ऐक्सोन कार्पोरेशन 255 मीटर गहरे जल में तथा शेल आयल कं० 300 मीटर गहरे जल में प्लेट-फार्म खड़े करने के लिये प्रयत्नशील हैं।

अभी तक गोताखोर समुद्र गर्भ में तेल के भण्डारों की खोज करने वाले उद्योग की आवश्यकताओं और मांगों को पूरा करने में सक्षम और समर्थ है। फ्रांसीसी गोताखोरों ने गत वर्ष 330 मीटर गहराई तक गोता लगाया था। पेन्सिल-वानिया विश्वविद्यालय के चिकित्सा अनुसन्धानकर्ताओं के अनुसार गोताखोर 480 मीटर की गहराई तक प्रभाव-शाली ढंग से अपना कार्य कर सकते हैं। गोताखोरी से सम्बन्धित टेक्नोलोजी में जिस तेजी से सुधार और विकास हो रहा है उसको देखते हुये तो यह विश्वास करने के पर्याप्त कारण है कि भविष्य के गोताखोर 1500 मीटर की गहराई तक पहुँच सकेंगे।

अमेरिका में ग्लास-फाइबर से गोताखोरों के लिये ऐसा नया सूट तैयार किया गया है जिसकी लम्बाई 2 मीटर और जिसका कुल वजन 1100 पौण्ड है। 'जिम' नामक इस सूट का वजन जल के अन्दर पहुँचने पर केवल 60 पौण्ड रह जाता है। श्री थामस ने जिस सूट को धारण कर, ध्रुवीय समुद्र में 272 मीटर की गहराई तक गोता लगाया था उसका 450 मीटर की गहराई तक प्रयोग किया जा सकता है। 'सैम' नामक एक और गोताखोरी-सूट तैयार किया जा रहा है जिसे धारण कर गोताखोर 900 मीटर की गहराई तक पहुँच सकेगा। इन सूटों को तैयार करने का श्रेय ओशियनरिंग इण्टरनेशनल इनकार्पोरेटेड को है। 'जिम' नामक इस सूट की सबसे बड़ी विशेषता यह होगी कि इसको धारण करने वाले गोताखोर के शरीर पर उतना ही दबाव पड़ेगा जितना जल के बाहर पृथ्वी के वायुमण्डल का पड़ता है।

इधर गोताखोरी के कार्य के लिये छोटी पनडुब्बियों, जैसे जलवाहनों का भी प्रयोग होने लगा है। इनका आकार लगभग 9 मीटर का होता है तथा इसमें 4-5 गोताखोर बैठ सकते हैं और उसमें बैठे रहकर ही जल गर्भ में डूबी पाइप लाइनों तथा अन्य उपकरणों का निरीक्षण कर सकते हैं। यदि निरीक्षण के दौरान उन्हें कोई गड़बडी नजर आती है तो दो या तीन गोताखोर पनडुब्बी के एक विशेष कक्ष में उतर जाते हैं और विशेष यांत्रिक विधि द्वारा उसका दर-वाजा खोलकर बाहर आ जाते हैं। मरम्मत का काम पूरा कर वह फिर उसी काम में वाँपस लौट आते हैं, यांत्रिक विधि को चालू कर कक्ष को बन्द कर मुख्य कक्ष में चले जाते हैं।

गोताखोरों के जीवन को भी खतरा रहता है उसे देखते हुये उन्हें वेतन भी बहुत अच्छा मिलता है। किसी-किसी गोता-खोर को कार्य के दौरान जान से भी हाथ धोना पड़ता है। उत्तरी ध्रुवसागर में विगत 5 वर्षों में लगभग 24 गोताखोर अपने प्राणों से हाथ धो चुके हैं। ● ●

('वाल स्ट्रीट जर्नल' से साभार)

प्राकृतिक उर्वरक फैक्टरियों का उद्भव

● संकलित

अगले दस वर्षों के अन्दर ही पौधों और जीवाणुओं के रूप में ऐसी अनेक 'लघु उर्वरक' फैक्टिरियाँ अस्तित्व में आ जायेंगी जिनसे खेतों में खड़ी फसलों को सीधे पर्याप्त मात्रा में आवश्यक उर्वरक प्राप्त हो सकेंगे।

अमेरिका के कई प्रमुख जीवाणुशास्त्रियों ने उक्त सम्भावना प्रकट की है। इनके अलावा, मियामी विश्वविद्यालय में आयोजित एक सम्मेलन में भाग लेने वाले अनुवंशिकी वैज्ञानिक कृपिशास्त्री और जीवशास्त्री इस बारे में परस्पर सहमत हुये थे कि सूर्य के प्रकाश और वायु को (वातावरण में मौजूद नाइट्रोजन) प्रकृति की संपरिवर्तन प्रक्रिया को अधिक गतिशील बनाकर नाइट्रोजन उर्वरक के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है और इस प्रकार प्रोटीनबहुल अन्न का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है।

डैविस स्थिति कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के एक वैज्ञानिक श्री रेमाण्ड सी० वैलेनटाइन का कथन है कि इस क्षेत्र में प्रगति की गति बहुत तेज रही है। उनका विश्वास है कि अगले कुछ वर्षों में ही कारखानों में तैयार होने वाले नाइट्रोजन उर्वरक का प्राकृतिक विकल्प सुलभ हो जायगा।

नाइट्रोजन उर्वरक में अमोनिया पर्याप्त परिमाण में विद्यमान रहता है। अनाज में प्रोटीन का अंश बढ़ाने के लिये इस तत्व की विशेष आवश्यकता रहती है। यह अनुमान लगाया गया है कि सन् 2000 तक संसार में नाइट्रोजन उर्वरक की मांग 4 करोड़ मीट्रिक टन (1974) से बढ़कर 16 करोड़ टन तक पहुँच जायेगी। पेट्रोलियम की कीमत में वृद्धि होने के साथ ही रासायनिक उर्वरक की लागत में भी निरन्तर वृद्धि होती जा रही है।

इस सन्दर्भ में यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि पौधे नाइट्रोजन उर्वरक का पूरी तरह प्रयोग नहीं कर पाते। खेतों में जो नाइट्रोजन खाद डाली जाती है उसका केवल 50 प्रतिशत भाग मक्का तथा गेहूँ के पौधों द्वारा शोषित किया जाता है जबकि धान के पौधे 30 से लेकर 40 प्रतिशत भाग तक ही शोषित कर पाते हैं।

नेशनल साइंस फाउंडेशन, अमरीका इस सम्बन्ध में भी अनुसन्धान कर रहा है कि किस प्रकार पौधे नाइट्रोजन उर्वरक को और अधिक अच्छी तरह शोषित कर सकते हैं। इसके साथ ही वह इस सम्बन्ध में भी अनुसन्धान कर रहा है कि अमोनिया (नाइट्रोजन उर्वरक) उत्पादन सम्बन्धी प्रकृति की प्रक्रिया को किस प्रकार और अधिक गतिशील बनाया जा सकता है।

'एन एस एफ' के वैज्ञानिक अपने प्रयोगों में, वायु से नाइट्रोजन लेते हैं नाइट्रोजन को खण्डित कर उसे अमोनिया में परिवर्तित कर लते हैं। N_2 खण्डित होकर हाइड्रोजन के साथ मिलकर अमोनिया का सृजन करता है। हाइड्रोजन पौधों द्वारा उपलब्ध किया जाता है। रासायनिक उर्वरकों का निर्माण करने वाले कारखानों में, नाइट्रोजन को खण्डित करने के लिये काफी ऊँचे तापमान की आवश्यकता पड़ती है तथा पेट्रोलियम का उपयोग हाइड्रोजन स्रोत के रूप में किया जाता है।

डॉ० वैलनटाइन और उनके शिष्य स्टैनली स्ट्राइकर ने (आजकल वह मेसाच्सेट्ट इंसटीट्यूट औव् टैक्नोलाजी में कार्यरत हैं) बैक्टीरिया की उस वंशागत कुंजी या जीन की खोज की थी जो नाइट्रोजन को अमोनिया में परिवर्तित करने का कार्य करती है। इस जीन की खोज के उपरान्त अन्य जीवाणुओं में इसको तथा इसकी क्रिया को स्थानान्तरित करना सम्भव हो गया। सामान्य तौर पर वातावरण में नाइट्रोजन का अमोनिया की पर्याप्त मात्रा हो जाने पर बैक्टीरिया द्वारा अमोनिया का उत्पादन बन्द कर दिया जाता है।

डा० वैलेनटाइन की टोली ने सफलतापूर्वक 'बैक्टीरिया', 'केल्विसेला न्यूमोनियाई' की 'जीन' में इस प्रकार का परि-

वर्तन कर दिया जिससे वह वातावरण में पर्याप्त मात्रा में अमोनिया मौजूद रहने पर भी उसका उत्पादन जारी रख सके। अब 'नीली-हरी एल्गी' पर भी इसी लक्ष्य को दृष्टि में रख कर परीक्षण किये जा रहे हैं। कैलिफोर्निया की वैज्ञानिक टोली ने नीली-हरी एल्गी को प्रयोग के लिये इसलिये चुना है क्योंकि इन पर प्रयोग करने में उन्हें बहुत सुविधा रहती है।

इसके बाद, एक और बड़ी बाधा शेष रह जाती है। यह बाधा है 'एजोला' पौधों में इतनी प्रतिरोध या सहारक क्षमता उत्पन्न करना ताकि धान के खेत में उगने वाले अन्य एल्गी पौधों के मुकाबले में वह ठहर सकें। यह सहारक या प्रतिरोध क्षमता पैदा करने में 3 या 4 वर्ष का समय और लग सकता है। नाइट्रोजन का सृजन करने वाली बैक्टीरिया से युक्त 'ऐजोला' पौधों में पर्याप्त सहारक क्षमता आ जाने पर यह पौधा स्वत: नाइट्रोजन का सृजन करने वाली एक सूक्ष्म प्राकृतिक फैक्टरी का काम करने लगेगा। तब इसे फसलों के साथ खेतों में और खेतों की सिंचाई करने वाली नहरों में बड़े पैमाने पर उगाया जा सकेगा।

नीली-हरी एल्गी की 'जीन' में परिवर्तन करना डा० वैलनटाइन की टोली के अनेक लक्ष्यों में एक है। उसका एक और लक्ष्य सेम जाति के पौधों की प्राकृतिक नाइट्रोजन उत्पन्न करने सम्बन्धी क्षमता में भी वृद्धि करना है। इन पौधों में नाइट्रोजन का सृजन करने वाले सूक्ष्म जीवाणु (बैक्टीरिया) पौधों की जड़ों पर हमला करते हैं जिसके फलस्वरूप ग्रन्थियों के आकार में वृद्धि होने लगती है। उस प्रक्रिया में, बैक्टीरिया पौधों में मौजूद शर्करा पर पलती हैं तथा पौधों को अमोनिया (उर्वरक) सुलभ करती है। इससे सम्बन्धित अनुसन्धान का लक्ष्य उस शर्करा के परिमाण में वृद्धि करना है जो पौधों द्वारा उन ग्रन्थियों तक पहुँचाई जाती है, जहाँ बैक्टीरिया निवास करते हैं। साथ ही, वैज्ञानिक इस बात का भी प्रयत्न कर रहे हैं कि ग्रन्थियों में मौजूद सूक्ष्म जीवाणुओं द्वारा सुलभ शर्करा का और अधिक उत्तम ढंग से प्रयोग किया जाये। इससे फसल की उपज में उल्लेखनीय वृद्धि हो सकेगी।

विगत वर्षों में वैज्ञानिकों ने यह मालूम कर लिया है कि ग्रन्थिकाओं में कौन सी प्रक्रिया सक्रिय रहती है। उदाहरणार्थ, अब हम हिसाब लगा सकते हैं कि बैक्टीरिया कितनी ऊर्जा का प्रयोग कितनी कुशलतापूर्वक करते हैं। ●

(पृष्ठ 10 का शेष)

को प्रभावित करेगी। वर्तमान युग में हम अगर विभिन्न प्रान्त के लोगों को ध्यान पूर्वक देखें तो कई एक भिन्नतायें सामने आती हैं। अण्डमान निकोबार द्वीप पुंज जैसे स्थान के लोग तथा नेपाल जैसे ठंडे एवं पहाड़ी स्थान के लोगों में काफी अन्तर है। कद, आँख, ओठ, नाक, बाल, हाथ एवं पैर की अंगुलियां एक दूसरे से काफी भिन्न है। आकार, रंग रूप इत्यादि में विश्व के प्रत्येक प्रान्त में भिन्नतायें दृष्टिगोचर होती हैं। महादेशीय गति एवं पट्ट विन्यास मूलक के सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए यह सोचना होगा कि इन महाद्वीपों के और भी टुकड़े होंगे और दूर दूर तक फैल जायेंगे, या कई एक महाद्वीप एक साथ जुड़ जायेंगे एवं वहां की जलवायु कैसी होगी? मिटियोराइड्स जो कुछ हो महीने पहले गुजरात में गिरे, इससे यह भी प्रमाणित हो गया कि ब्रह्मांड में होने वाले उथल पुथल का असर पृथ्वी पर पड़ेगा। विश्व भर में जिस परिमाण में परमाणु बम का परीक्षण आरम्भ हो गया है उससे वायुमंडल की संरचना काफी प्रभावित हुई है। कुछ चिकित्सों का मत है कि इन्हीं कारणों से कैंन्सर, हृदयरोग, टीबी आदि प्राणघातक बीमारियां दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। इन परिस्थितियों में जीवित रहने के लिये मानव में आमूल परिवर्तन आवश्यक होगा। ● ●

जब जाड़ा जून में पड़ेगा

● सत्येन्द्र उत्सव

क्या आप जानते हैं कि आज से लगभग 13000 सालों वाद पृथ्वी का मौसम कैसा होगा ? आप शायद यह सुनकर आश्चर्य करेंगे कि उस समय का मौसम आज का ठीक उल्टा होगा, यानि उत्तरी गोलार्ध में मई-जून के महीनों में कड़ाके की सर्दी पड़ेगी जबकि इन्हीं महीनों में दक्षिणी गोलार्ध वालों का गर्मी के मारे जीना दूभर हो जायेगा। अभी जो वर्षा हमारे यहां जुलाई-अगस्त में होती है तब फरवरी-मार्च में होगी और आज के वर्षा के दिनों में वसन्त लहलहा रहा होगा।

और तो और, आज से लगभग इतने ही साल पहले ऐसा ही मौमम था। इतना पुराना इतिहास तो ज्ञात नहीं है कि मैं अपने दावे की पुष्टि कर सकूं, लेकिन मेरी बात अक्षरशः सत्य है। 'रामायण' और 'महाभारत' काल को यदि ऐतिहासिक माना जाय तो वह आज से लगभग 4500 वर्ष पहले की घटनाएं हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार इस समय के जून जैसी गर्मी उस समय के अप्रैल में ही पड़ती रही होगी। उस काल में मई-जून आजकल के जुलाई-अगस्त की तरह घोर वर्षा के महीने रहे होंगे।

पृथ्वी के मौसमों में ऐसा परिवर्तन किसी प्राकृतिक आपदा से नहीं होगा। न ही एकाएक ऐसा कुछ हो जायेगा, वरन समय बीतने के साथ ही ये परिवर्तन धीरे-धीरे स्वयं होते जायेंगे और हमें भान तक नहीं होगा। यह बात कोई नयी भी नहीं है। अरबों-खरबों सालों से होती आ रही है।

इस प्रकार आज से लगभग 13000 सालों बाद उत्तरी गोलार्द्ध में जून में भयंकर सर्दी पड़ेगी किन्तु उसके भी इतने ही दिनों बाद यानि आज से लगभग 26000 सालों बाद फिर जून गर्म होगी।

जानते हैं ऐसा क्यों होता है ? सभी जानते होंगे कि पृथ्वी अपने भ्रमण मार्ग पर लम्ब न होकर उसपर 66·5 अंश का कोण बनाती है। इस प्रकार पृथ्वी के घूमने का अक्ष 'भ्रमण-तल के लम्ब' पर 3·5 अंश झुका हुआ है। पृथ्वी के घूर्णन की वजह से अक्ष का यह झुकाव हमेशा एक ही दिशा में रहता है जिससे दोनों गोलार्धों में मौसम बदलते रहते हैं। इस समय पृथ्वी के घूर्णन-अक्ष का झुकाव ऐसी दिशा में है कि 'ध्रुव तारा' ठीक उत्तरी ध्रुव के ऊपर दिखता है।

किन्तु पृथ्वी का यह घूर्णन-अक्ष हमेशा एक ही दिशा में नहीं रहता अपितु 'भ्रमण-तल पर लम्ब' के चारों ओर 23·5 अंश का अर्द्ध-ठोस कोण वाला एक शंकु बनाते हुए घूमता रहता है। यह दूसरी बात है कि इसके घूमने की गति बहुत धीमी है और इसका एक चक्कर पूरा होने में 25780 वर्ष लग जाते हैं। इसी धीमी गति के कारण ही हमें इस घूर्णन का मान ही ज्ञात नहीं हो पाता, दूसरे शब्दों में इस तथ्य को इस तरह समझा जा सकता है कि उत्तरी ध्रुव पृथ्वी के 'भ्रमण-तल पर लम्ब' के चारों ओर धीरे-धीरे घूमता रहता है। इस प्रकार 25780 वर्षों बाद पृथ्वी के घूर्णन-अक्ष का झुकाव फिर उसी दिशा में हो जाता है।

आपने प्राय: देखा होगा कि तेजी से नाचता हुआ लट्टू चाल कम हो जाने पर सीधा खड़ा होकर नहीं नाचता वरन् उसके नाचने का अक्ष पृथ्वी पर झुक जाता है और एक शंकु का निर्माण करने लगता है। जैसे-जैसे लट्टू की चाल कम होती जाती है, लट्टू के अक्ष का पृथ्वी से झुकाव कम होता जाता है और अन्त में लट्टू गिर पड़ता है ठीक यही हालत पृथ्वी के भी घूमने का है।

(शेष पृष्ठ 20 पर देखें)

क्या आप जानते हैं ?

● अजय शंकर

- 1727 ई० में स्टेफैन हेल्स ने बताया कि पौधे संभवतः स्वयं वायु से कुछ खाद्य पदार्थ लेते हैं।

- 1772 ई० में प्रीस्टले ने प्रयोग द्वारा बताया कि मोमबत्ती के जलने से जो वायु दूषित हो जाती है उसे पौधे पुनः शुद्ध कर लेते हैं।

- 1779 ई० में गेनहाज ने बताया कि वायु शुद्धीकरण की क्रिया पौधे केवल प्रकाश में ही करते हैं और केवल हरे भाग में ही यह क्षमता होती है।

- 1837 ई० में डुट्रोरोट ने प्रकाश संश्लेषण की क्रिया में पर्णहरित की क्रिया विधि बताई।

- 1840 ई० में लीविग ने प्रकाश संश्लेषण की अभिक्रिया में वायु के कार्बन डाई आक्साइड का कार्बन स्रोत के रूप में महत्व बताया।

- 1919 ई०में बाइवर्ग ने पौधों के हरे भाग में होने वाली दो विभिन्न प्रतिक्रियाओं का अध्ययन किया।

- 1928 में क्लूयेवर ने प्रकाश संश्लेषण में पानी के आक्सीकरण का समीकरण निम्नलिखित रूप में दिया।

$$CO_2 + 2H_2O \dashrightarrow (CH_2O) + H_2O + O_2$$

- 1966 में बटलर ने बताया कि रंजक क्लोरोफिल-ए दो रूपों में मिलता है एक का अधिक से अधिक अवशोषण 673 मिली माइक्रान तथा दूसरे का अधिक से अधिक अवशोषण 683 मिली माइक्रान होता है।

- 1966 में ही क्लेटान ने क्लोरोफिल-ए का एक और नया रूप बताया जिसकी अवशोषण क्षमता अधिक से अधिक 700 मिलीमाइक्रान थी इसे क्लोरोफिल 'पी 700' कहते हैं।

- 1964 में पार्क तथा बिगन्स ने थैलाकायड में 'क्वान्टासोम' की खोज की।

- हरित कोशिकाओं में 'क्लोरोप्लास्ट' की उपस्थिति सर्वप्रथम सैकस तथा साई थिमफर ने बताई थी।
- 1917 में पेलेतिए तथा केवेन्तो ने 'क्लोरोप्लास्ट' को पत्तियों से सर्वप्रथम संश्लेषित किया।
- 1959 में वान वाटस्टीन ने क्लोरोप्लास्ट के उत्पत्ति का विस्तृत अध्ययन किया।
- 1960 ई० में मेनकी ने 'थैलाकायड' का नामकरण किया।
- 1961 ई० में टी० आई० ईयर ने बताया कि ग्रैन को आपस में जोड़ने वाली नलिकाएँ 'क्रिप्स' होती हैं।
- सन 1962 ई० में जे० डब्लू लायट्टलीटान ने क्लोरोप्लास्ट मैट्रिक्स से सर्वप्रथम आर० एन० ए० संश्लेपित किया। ● ●

(पृष्ठ 18 का शेष)

किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि पृथ्वी का भी घूमना अब लट्टू की ही भांति रुकने वाला है। दरअसल बात यह है कि लट्टू में तो ऐसा धरती के प्रबल गुरुत्वाकर्षण के कारण हो रहा था लेकिन यहां यह मुख्यतः पृथ्वी के ध्रुवों पर चपटी और विषुवत् रेखा पर झुकी होने, चन्द्रमा और सूर्य से इसका घूर्णन-तल भिन्न होने और स्वयं इसके अपने अक्ष पर घूमने की वजह से है। अवश्य ही थोड़ा-बहुत प्रभाव अन्य ग्रहों का भी पड़ता होगा।

हम जानते हैं कि पृथ्वी का मौसम इसके घूर्णन-अक्ष के झुकाव पर ही निर्भर करता है जो गोलार्ध सूर्य की ओर झुका रहेगा, वहां गर्मी की ऋतु होगी और दूसरे में जाड़े की, जून में हम जनवरी की अपेक्षा सूर्य से काफी दूर हो जाते हैं लेकिन उस समय चूंकि उत्तरी गोलार्ध सूर्योन्मुख रहता है, अतः हमारे यहां भयंकर गर्मी पड़ती है। अब यदि ऐसा हो कि जून में उत्तरी गोलार्ध सूर्य की ओर न झुककर दक्षिणी गोलार्ध की ओर झुक जाय तो हमारे यहां जून में भी कड़ाके की सर्दी पड़ेगी। आज के लगभग 13000 सालों बाद यही होगा, क्योंकि उस समय पृथ्वी के अक्ष का झुकाव आज की विपरीत दिशा में होगा। सच तो यह है कि हर वर्ष मौसम कुछ न कुछ खिसक जाता है। लेकिन यह इतना नगण्य होता है कि हमें मान ही नहीं होता। आज जो स्थिति जून में है वहीं कई हजार सालों बाद जुलाई और अगस्त में होगी।

हम कह ही चुके हैं कि यह क्रम करोड़ों अरबों वर्षों से चला आ रहा है, शायद पृथ्वी के जन्म के साथ से ही, इस अवधि को एक 'मौसम-चक्र' कहते हैं प्रत्येक ग्रह के लिये 'मौसम-चक्र' का समय अलग-अलग होता है। चन्द्रमा के लिये तो यह मात्र कुछ ही वर्षों का है।

खैर, हम या आप तो इतने वर्षों तक 'जून का जाड़ा' देखने के लिये बैठे नहीं रहेंगे लेकिन यदि हमारी भावी पीढ़ियां इतनी दीर्घ अवधि तक सकुशल अस्तित्व में रहीं तो वे वह दिन अवश्य ही देखेंगी। बड़ा मजा आयेगा तब, दिसम्बर-जनवरी में लोग पसीने से तर-बतर रहेंगे और मई-जून में जाड़े की वजह से घर से भी निकलना दूभर हो जायेगा। ● ●

बैलेनाइट्स राख्सबर्धाई

● नरेश चन्द्र 'पुष्प'

डायोस्जेनिन, एक स्टेरायडल सैपोजेनिन है, जिसे स्टेरायडल हारमोनों के निर्माण में, अग्रिम पदार्थ के रूप में प्रयुक्त किया जाता है और आगामी प्रक्रियाओं के द्वारा इससे गर्भ निरोधक औषधियों का निर्माण किया जाता है। गर्भ निरोधक औषधियों में उपस्थित एस्ट्रोजेन और प्रोजेस्ट्रोजेन स्टेरायडल हारमोन होते हैं जो महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं और स्त्रियों का स्वाभाविक अण्डोत्सर्ग प्रक्रिया को रोक देते हैं। परिणाम स्वरूप गर्भधारण करने की संभावना समाप्त हो जाती है।

विश्व की जनसंख्या तीव्रता से वृद्धि करती जा रही है। अतः इस व्यापक समस्या से जूझने के लिए समस्त देशों में परिवार नियोजन की नितांत आवश्यकता अनुभव की जा रही है। परिवार नियोजन के कार्यक्रमों का तीव्रता से विस्तार किया जा रहा है और गर्भ निरोधक गोलियों की आवश्यकता और खपत लगातार बढ़ती ही जा रही है। गर्भ निरोधक गोलियों की अत्यधिक खपत और आवश्यकता के कारण डायोस्जेनिन की मांग लगातार बढ़ती जा रही है।इसके परिणाम स्वरूप आज समस्त विश्व में डायोस्जेनिन की कमी अनुभव की जा रही हैं। डायोस्जेनिन की इतनी अधिक मांग एक जटिल समस्या है जिसका शीघ्र से शीघ्र समाधान परम आवश्यक है।

भारत में डायोस्जेनिन मुख्य रूप से जंगली तौर पर उगी हुई **डायोस्कोरया** प्रजाति के पौधों (रतालू), मुख्यतया **डा० डेल्टोंपडिया, डा० प्राजेरी; डा० फ्लोरीबुन्डा** और **डा एस्कुलेन्टा** आदि से प्राप्त की जाती है और गर्भ निरोधक गोलियों का निर्माण किया जाता है। लेकिन वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुये कहा जा सकता है कि डायोस्जेनिन की निरन्तर बढ़तों हुई कमी को अब केवल जंगली तौर पर उगे हुये **डायोस्कोरिया** के पौधों से पूरा करना संभव नहीं रह गया है। इसका मूल कारण है कि भारत में व्यवसायिक दृष्टिकोण से **डायोस्कोरिया** की कृषि कहीं भी नहीं की जाती, दूसरी और प्राकृतिक रूप से उगे पौधों का निर्ममता पूर्वक प्रयोग किया जा रहा है और बड़ी मात्रा में विदेशों को निर्यात किया जा रहा है। अतः डायोस्जेनिन की पर्याप्त मात्रा को सुचारू रूप से प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि इस दिशा में विशेष कार्य किये जायें। इस क्षेत्र में दो प्रकार से कार्य किया जा रहा है। प्रथम, डायोस्जेनिन प्राप्त करने के लिये **डायोस्कोरिया** प्रजातियों की व्यापक पैमाने पर खेती करने के लिये वैज्ञानिक प्रयास किये जा रहे हैं। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली; राष्ट्रीय वनस्पति उद्यान-लखनऊ, तथा क्षेत्रीय अनुसंधान प्रयोगशाला-जम्मू-तवी आदि में **डायोस्कोरिया** की अनेक प्रजातियों की कृषि आदि पर प्रयोग किये जा रहे हैं। दूसरी ओर डायोस्जेनिन के अन्य स्त्रोत खोजे जा रहे हैं और इसे प्रयोगशाला में संश्लेषित करने के प्रयास किये जा रहे हैं। डायोस्जेनिन के कुछ नवीन स्त्रोतों की खोज की गयी है जिसमें **कॉस्टस स्पीयासस** स्मिथ, **ट्रीबूलस टेरेस्ट्रीस** लिन, (गोखरू). **ट्रीगोनेला फोनम**-ग्रीकम (मेंथी) और **बैलेनाइट्स राख्सबर्धाई** प्लन्च का नाम आता है। डायोस्जेनिन की प्राप्ति की दिशा में किये जा रहे प्रयासों में **बैलेनाइट्स राख्सबर्धाई** प्लन्च का लघु वृक्ष डायोस्जेनिन का एक महत्वपूर्ण स्त्रोत प्रमाणित हो सकता है।

बैलेनाइट्स राख्सबर्धाई के लघु वृक्ष मुख्य रूप से भारत

यूनान, यूगांडा, मिश्र और वर्मा के शुष्क भागों में पाये जाते है। भारत में इनके वृक्ष दक्षिणी पंजाब और दिल्ली से लेकर सिक्किम तक, हरियाणा, गुजरात, मध्य और दक्षिणी भारत तथा खानदेश में बहुतायत से पाये जाते हैं। इनके वृक्ष काली कपास मिट्टी में भली प्रकार वृद्धि करते हैं, किन्तु पहाड़ी भागों में सुगमता से विकसित नहीं हो पाते।

सन् 1960 में यूनेस्को द्वारा किये गये अध्ययन से प्राप्त परिणामों के आधार पर कहा गया है कि **बैलेनाइट्स राक्सबर्घाई** के वृक्ष शुष्क प्रदेशों के लिए आर्थिक लाभ प्रदान करने वाला वृक्ष हो सकता है। इस वृक्ष के बीजों के गूदे में बड़ी मात्रा में पोषक पदार्थ पाये जाते हैं। इसमें 54-56 प्रतिशत प्रोटीन, 36-42 प्रतिशत वसा तेल और बड़ी मात्रा में शुष्क लाइसीन उपस्थित होता है। बीच के गूदे में 0.61 प्रतिशत डायोस्जेनिन पाया जाता है। इसकी जड़ों के विस्तृत अध्ययन से प्राप्त परिणाम काफी उत्साहवर्धक हैं। 6.5से०मी० पतली व सूखी हुई जड़ों में 2.20 प्रतिशत डायोस्जेनिन और यामोजेनिन 9:1 के अनुपात में पाया गया है।

बैलेनाइट्स राक्सबर्घाई बड़ी सुगमता से और बड़ी मात्रा में भारत में पाया जाता है तथा इसमें पर्याप्त मात्रा में डायोस्जेनिन भी उपस्थित है। अतः यह वृक्ष कम से कम भारत में डायोस्जेनिन का महत्वपूर्ण स्त्रोत और **डायस्कोरया** का सहायक सिद्ध हो सकता है।

इस वृक्ष की जड़ों को मिट्टी हटा कर बिड़ो आसानी से एकत्रित किया जा सकता है। मुख्य जड़ से लगी हुई पतली जड़ों को काट कर पृथक कर दिया जाता है जिसे आगामी वर्ष नये वृक्षों को तैयार करने के लिये उपयोग किया जाता है। इसके फलों को प्रोटीन और वसा तेल प्राप्त करने के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है। फलों में अल्पमात्रा में डायोस्जेनिन होता है अतः इन्हें डायोस्जेनिन के सहायक स्त्रोत के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। अतः इस वृक्ष का रोपण, संग्रह और उपयोग भारत के लिये अत्यन्त लाभकारी है।

वानस्पतिक विवरण : भारत में बैलेनाइट्स की केवल एक प्रजाति पायी जाती है। इसका वनस्पतिक नाम **बैलेनाइट्स राक्सबर्घाई** प्लन्च, है। कुछ वनस्पतिबिद् इस वृक्ष की अफ्रीकी जाति **बैलेनाइट्स इजिप्टसिया** लिन० डेलिल० के समान बताते हैं और **बै० राक्सबर्घाई** को **बै० इजिटप्सिया** ही स्वीकार करते हैं। कीव गार्डेन, इंग्लैन्ड में हुये नवीनतम अनुसंधानों के आधार पर सिद्ध किया गया है कि **बै० राक्सबर्घाई** एक भिन्न वृक्ष है तथा अफ्रीकी प्रजाति **बै० इजिप्टसिया** से सर्वथा अलग है। यह वृक्ष 'सिमेरूबेसी' कुल के अन्तर्गत आता है।

यह एक छोटा कांटेदार वृक्ष है जो आमतौर से 6 मी० तक ऊँचा होता है। इसकी पत्तियाँ द्विपत्रक होती हैं। इनका रंग आसमानी नीला रंग लिए हुए हरा होता है। इसका फल वेर के समान, 5 से०मी० लम्बा, अण्डाकार अष्ठिफल होता है। फल शीत काल में पकता है। फल का गूदा मुलायम व मीठा होता है किन्तु इसका स्वाद अरुचिकर होता है। फल के भीतर केवल एक बीज होता है जो कठोर, काष्ठीय तथा तेलीय होता है। बीज का गूदा पोषक पदार्थों से युक्त होता है।

उपयोग : इस वृक्ष से प्राचीन भारतीय भली-भाँति परिचित थे और सन्यासी तपस्वी लोग इसके बीजों के तेल को प्रकाश करने के लिये उपयोग में लाया करते थे। इसे आयुर्वेदिक तथा देशी औषधियों में भी स्थान प्राप्त था और वृक्ष को 'हिंगोट' के नाम से जाना जाता था। कहा जाता है कि इस वृक्ष की पत्तियाँ, छाल, कच्चे फल तथा बीज कीटनाशी और रेचक गुणों से युक्त होते हैं। बीज कफनिस्सारक होता है और उदरशूल व बलगम में औषधि की भाँति उपयोग किया जाता है। श्वसन दोषों में इसके तेल की मालिश की जाती है व जलने पर त्वचा पर लगाया जाता है। सूडान और मिश्र में इसे पौष्टिक शाँतिदायक तथा पाचक की भाँति उपयोग किया जाता है। इसे दमा रक्त दाब तथा मूत्ररोगों के उपचार में इस्तेमाल किया जाता है। बीजों के निष्कर्ष को हाइपोटेन्सिव एक्टिव प्रिंसीपल की भाँति उपयोग किया जाता है। पश्चिमी भारत में इसकी छाल को पशुओं के लिये कीटनाशी की भाँति उपयोग किया जाता है तथा बम्बई में मतस्य विष की भाँति प्रयुक्त किया जाता है। फलों का गूदा मीठा और खाने योग्य होता है तथा

स्वास्थ्य चर्चा

क्या बालों के परीक्षण से शरीर की व्याधियाँ ज्ञात हो सकती हैं?

● डा० अरुण कुमार सक्सेना

रोगों का पता लगाने के लिए चिकित्सकों के लिए यह परम आवश्यक होता है कि वे रोगी के रक्त, मल, मूत्र तथा थूक आदि का सावधानी से परीक्षण करें। इन्ही परीक्षणों के आधार पर वे रोगी की व्याधियों का सही अनुमान लगा लेते हैं और फिर उसी दिशा में औषधियों द्वारा रोग निवारण का प्रयास करते हैं।

अमेरिका स्थित एटलान्टा के इमोरो युनिवर्सिटी स्कूल आफ में मेडिसिन के एक शोधकर्त्ता डा० ए० सी० ब्राउन रोगग्रस्त रोगियों के बालों का परीक्षण कर रहे हैं और इस शोध कार्य के फलस्वरूप वे रोगों से बालों का सीधा सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं।

डा० ब्राउन के अनुसार बाल शरीर का सबसे तेज उगने वाला ऊतक है और विशेषतः विभिन्न प्रकार के प्रोटीन से मिल कर निर्मित होता है। डा० ब्राउन तथा उनके एक और सहयोगी डा० आर० जे० गर्डेस ने$_8$ जो कि जार्जिया में फिजिकल केमिस्ट हैं, अनेकों व्याधियों का पता लगाया है जिनका प्रभाव बालों पर पड़ता है।

इस प्रकार के शोधकार्य एक विशेष प्रकार के क्रमवीक्षण सूक्ष्मदर्शी की सहायता से किए जाते हैं। यह सूक्ष्मदर्शी किसी भी वस्तु को 100,000 गुना बड़ा कर दिखाता है। साथ ही साथ इस बड़े आकार में तृतीय विमा भी विद्यमान रहता है।

जैसे कि मछली के शरीर पर सुफने होते हैं वैसे ही बालों के भी चारों ओर सुफने से होते हैं। बालों की आकृति को सजे हुये खप्रैल की संज्ञा दी जा सकती है। बाल वास्तव में आँखों से देखने पर चिकने सुन्दर दिखाई देते हैं। स्वस्थ बालों की मोटाई प्रत्येक स्थान पर एक सी रहती है किन्तु अस्वस्थ बालों की मोटाई विभिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न रहती है।

डा० ब्राउन तथा डा० गर्डेस ने व्याधियों से ग्रस्त रोगियों के चित्र लेकर परीक्षण किये और ज्ञात किया कि **आरजिनीनोसक्सी-नियासिडयरिया** नामक रोग में जिसमें कि आरजिनीन नामक अमीनो अम्ल की क्रिया विधि में कुछ त्रुटि आ जाती है, बालों की सुफने वाली रचना में परिवर्तन हो जाता है अर्थात् सुफने कम हो जाते हैं। बालों के सुफने गिरने का कारण भी इन दोनो वैज्ञानिकों ने ज्ञात किया है। सुफने की कमी गंधक से युक्त एक विशेष प्रकार के अमीनो अम्ल के कारण होती है। कार्टिलेज हेयर हाईपोपलासिया नामक रोग से बौनापन आ जाता है तथा गुर्दे तथा हड्डियों पर विभिन्न प्रकार के हानिकारक प्रभाव पड़ते हैं, इस विधि द्वारा इस रोग का पता सरलतापूर्वक चल जाता है। इस रोग से ग्रस्त रोगी के बालों का यदि परीक्षण किया जाय और उनके बालों की मोटाई नापी जाय तो विशेष जानकारी मिलती है। साधारणतः स्वस्थ बाल की मोटाई 120 माईक्रान होती है। इससे ग्रस्त रोगी के बालों की मोटाई 120 माईक्रान से घट कर 15 से 60 माईक्रान तक पाई जाती है।

इसी प्रकार एक और रोग है जिसे मोनीलीथिक्स के नाम से पुकारते हैं। इसमें बाल माला के सामान दिखाई देने लगते हैं। वास्तव में इस प्रकार से बालों के परीक्षण के द्वारा रोगों को ज्ञात करने की यह विधि आज अपनी शैशव अवस्था में है। भविष्य में यह जब पूर्ण विकसित हो जायेगी तो कुछ ही क्षणों में रोगों को ज्ञात कर लिया जा सकेगा।

विज्ञान वार्ता

बालों के रंगने से कैंसर का खतरा

बाल सफेद हो जाने पर कुछ लोग उसे रंग कर काला बनाने की चेष्टा करते हैं। ऐसा करने के लिये बाजार में तरह तरह के रंजक बिकते हैं। बाल रंगने का यह शौक खतरनाक सिद्ध हो सकता है। इसका कारण यह है कि बालों को रंगने वाले रंजकों में एक प्रमुख रासायनिक पदार्थ कैंसर को जन्म देता है। अमरीका के नेशनल कैंसर इन्स्टीट्यूट ने इस विषय पर अनुसन्धान किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि बालों के रंजकों में काम आने वाली औषधियों में खतरनाक वस्तुयें शामिल होती हैं। वहां के वैज्ञानिकों का कहना है कि यह रसायन खोपड़ी से होकर शरीर के अन्दर पहुँच जाता है।

टूटी हड्डी जोड़िये : टूटी हुई हड्डी को जोड़ने के लिये फोम का एक ऐसा प्लास्टर बनाया गया है जिसका भार प्लास्टर आफ पेरिस के भार से काफी कम होता है। इसे आसानी से लगाया जा सकता है और पानी का प्रभाव इस पर नहीं पड़ता। यह एक्सरे के लिये अपारदर्शक होता है। इस प्लास्टर को बनाकर एक गर्म मोजा नुमा कपड़े में डाल दिया जाता है जिसे आकार के अनुसार काटा जा सकता है। यह ड्रेसिंग लोचदार होती है और इसे टूटी हड्डी पर आकार के आधार पर लगाया जा सकता हैं। यह ड्रेसिंग आधे घण्टे में तैयार हो जाती है। विशेष बात यह है कि काटने के बजाय इसे खोल लेने के लिये एक जिप भी लगाई जा सकती है।

कृत्रिम रक्त : अमरीका के एक रसायनशास्त्री, प्रो० वक्तो० एस० शार्ट्स ने वे कृत्रिम रक्त बनाने में सफलता प्राप्त की है। इसका परीक्षण चूहों पर किया गया। प्रो० शार्ट्स का कहना है कि यदि मानव पर इसका सफल प्रयोग हो गया तो ऑपरेशन कक्ष से लड़ाई के क्षेत्र तक सभी घायल मनुष्यों के जीवन की रक्षा की जा सकेगी। ऐसी धारणा है कि कृत्रिम रक्त को अनिश्चित समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है। खोज अभी जारी है।

शिशुओं की श्वसन क्रिया की मानीटरिंग : स्वीडेन में एक ऐसा तरीका विकसित किया गया है जो शिशुओं की श्वसन क्रिया का लगातार मानीटरिंग करेगा। वास्तव में अनेक नवजात शिशुओं के फेफड़ों की तन्यता में परिवर्तन आ जाता है, फलस्वरूप उनकी श्वसन क्रिया सुचारु ढंग से नहीं होती और ये शिशु ठीक तरह से सांस नहीं ले पाते। शिशुओं को इस श्वास कष्ट से बचाने के लिये स्वीडेन में गोथेनबर्ग स्थित चामर्स इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नोलॉजी में विकसित यह नया तरीका नवजात शिशु की श्वसन क्रिया को एक लघु कम्प्युटर की सहायता से लगातार प्रबोधित करता रहता है। यह कम्प्युटर शिशु द्वारा श्वास को भीतर खींचने और बाहर निकालने से सम्बधित विभिन्न आंकड़ों की गणना करके उनका प्रदर्शन करता है ताकि आवश्यकता पड़ते ही उसे कष्ट से बचाने की कार्यवाही की जा सके। इस विधि के कारण शिशु की दैनिक देखभाल में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

कम शोर व कम ईंधन वाला डीजल इंजन : ट्रकों के लिये बनाये गये एक नये आघूर्ण डीजल इंजन की विशेषता यह है कि इसमें ईंधन की बचत होने के अलावा इंजन की टूट फूट बहुत कम होती हैं। स्वीडेन के सब-स्केनिया ग्रुप के स्केनिया ट्रक डिवीजन द्वारा विकसित यह नया 14 लीटर इंजन 2000 चक्र प्रति मिनट पर 385 अश्वशक्ति विकसित करता है। इसकी बनावट की विशेषता कम गियर परिवर्तनों के साथ अधिक औसत गति उत्पन्न करना है जिससे इंजन की टूट फूट में कमी तो होती ही है, ईंधन की बचत भी होती है। इसमें लगा एक नई तरह का सिलिंडर शीर्ष उन्नत कुशलता सुनिश्चित करता है, जबकि इसके

विशेष प्रकार के बने हुये अंर्तग्रहण छिद्र ऊर्जा का उत्तम उपयोग सुनिश्चित करते हैं।

कीटाणु शक्ति : एक अमरीकन वैज्ञानिक के अनुसार बैंगनी रंग के एक कीटाणु से सूर्य द्वारा सीधे विद्युत उत्पादित की जा सकती है। कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के लारेंस बर्कले प्रयोगशाला में शोधरत लेस्टर पैकर ने इस कीटाणु युक्त विलयन को सूर्य के प्रकाश से उद्भासित करके इतनी विद्युत उत्पन्न की है जिससे एक छोटे बल्ब को 10 मिनट तक जलाया जा सकता है। समुद्री पानी के अलवणीकरण अथवा भीलों व समुद्रों से रसायनों के सान्द्रण करने में इस युक्ति को प्रयुक्त किया जा सकता है। ● ●

(शेष पृष्ठ 22 का)

सूती व सिल्क वस्त्रों को धोने के लिये इस्तेमाल किया जाता है। फलों में छेद करके विस्फोटक पदार्थ भर दिया जाता है और इस प्रकार पटाखा बनाया जाता है। वृक्ष की काष्ट पीताभ-श्वेत और कठोर होता है। इसे मुख्य रूप से छड़ी बनाने के लिये तथा ईंधन की भाँति इस्तेमाल किया जाता है।

रसायन : इस वृक्ष के बीजों में 54-56 प्रतिशत प्रोटीन, 36-42 प्रतिशत वसातेल और बड़ी मात्रा में लाइसीन उपस्थित होता है। बीज के गूदे में 0.61 प्रतिशत डायोस्जेनिन होता है। यह सैपोजेनिन के टेट्राग्लाइकोसाइड के रूप में होता है। इसल जलीकरण करने पर नाइट्रोजेनिन प्राप्त होता है। यह एक सक्रिय हीमोलाइटिक एजेन्ट होता है। यह मेढ़कों के टैडपोल पर विषैला प्रभाव डालता है। फलों के गूदे में अल्प मात्रा में सैपोनिन विद्यमान होता है। बीजों के गूदे में पाया जाने वाला तेल स्वादहीन एवं मृदु पीताभ होता है। इस तेल का विशिष्ट गुरुत्व—0.9185, साबुनीकरण मान—195.2, आयोडीनमान—88.3, होता है। यूगांडा में पाये जाने वाले इस वृक्ष के बीजों के गूदे में 46.8 प्रतिशत पीले रंग का तेल होता है। इस तेल को साबुन उद्योग में इस्तेमाल किया का सकता है। लेकिन इसका फल अत्यधिक चिपचिपा होता है। अतः फलों से बीजों को पृथक करना कठिन होता है। इसके साथ ही बीजों का छिलका भी मोटे रेशेदार होता है जिससे बीज का गूदा पृथक करना मुश्किल होता है। इन कठिनाइयों का समाधान 1972 में हार्डमैन तथा सोफोवारा ने कर लिया है।

बै० राखसबर्धाई : भारत के अधिकांश भागों में बहुतायत से पाया जाता है और इसमें पर्याप्त मात्रा में डायोस्जेनिन विद्यमान है। अतः डायोस्जेनिन की निरन्तर बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिये इस वृक्ष का उपयोग किया जा सकता है। व्यापक पैमाने पर इनके वृक्षों का वैज्ञानिक रोपण, संग्रह तथा उपयोग महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है। इसके साथ ही इसे प्रोटीन और वसा तेल के अच्छे स्रोत के रूप में भी उपयोग किया जा सकता है। वृक्ष के शेष भागों को ईंधन के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। ● ●

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ०/3/5/

भाग 115 संख्या 12
सं० 2034 विक्र०
दिसम्बर 1978

विषय सूची

अक्तूबर व नवम्बर में रहस्यमयी संघातक बीमारी के प्रकोप में आसाम, बंगाल, बिहार व उत्तर प्रदेश में लगभग एक हजार व्यक्तियों की जानों के जाने के साथ स्वास्थ्य एवं चिकित्सा वैज्ञानिकों के सम्मुख एक बहुत बड़ी चुनौती खडी हो गई। देखते देखते यह रोग लोगों को अपना ग्रास बनाता गया और सिवा इसके कि इसे भविष्य में न होने देने के उपाय करने के कोई कुछ न कर सका। इन्सेफेलाइटिस का टीका केवल जापान में बनाया गया है और वह भी इतनी संख्या में उपलब्ध नहीं। भारत जैसे विशाल देश में जहां जन सम्पर्क पर कोई रोक भी लगा पाना बड़ा कठिन है किसी क्षेत्र को निषिद्ध घोषित करके भी रोक थाम नहीं की जा सकती। गोरखपुर में 694 रोगियों में से 186, देवरिया में 573 में 162 से बलिया में 193 में से 51 मृत्यें 7 नवम्बर तक ही हो चुकी थीं। इसी प्रकार अन्य जिलों में भी इस रोग का भयंकर प्रभाव बढ़ता रहा। आवश्यकता इस बात की है कि इसे गम्भीरता से लिया जाय और शोध करके ऐसी औषधि को खोज निकाला जाय जो न केवल रोक थाम कर सके वरन् रोग से छुटकारा दिलाने में भी हमारी सहायता करे। यहाँ पर एलोपैथी, होम्योपैथी, आयुर्वेदिक तथा यूनानी सभी पद्धतियों के विशेषज्ञों को एकजुट होकर लग जाना चाहिये। अभी तक मलेरिया व फाइलेरिया के पीछे ही सरकारी तन्त्र का समय व धन व्यय होता रहा है और अब मच्छरों द्वारा फैलने वाले रोगों में इन्सेफेलाइटिस का नाम भी जुड़ गया है। गाय, भैंस, सुअर, कौआ, बत्तखें आदि इस रोग के वाइरस के भण्डार का काम करते हैं। यह पशु, पक्षी रहेंगे ही इसलिये वाइरस भी रहेगा और रोग भी बना रहेगा। 60 साल पहले आरम्भ हुआ यह रोग अब भारत में अपनी जड़ें मजबूत कर रहा है अतः वैज्ञानिकों, चिकित्सकों व सरकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि इस रोग के निदान की अचूक औषधि ढूँढ़ निकालने की पूरी पूरी कोशिश करे ताकि हजारों को मौत के मुँह में जाने से रोका जा सके। संतोष की बात है कि सरकार ने इस बात का निर्णय ले लिया है कि इन्सेफेलाइटिस के टीके भारत में ही बनाए जाएँगे और इसके लिए समुचित धन की भी व्यवस्था की जा रही है।

इन्सेफेलाइटिस

● आनन्द प्रकाश

बाढ़, भूचाल, सूखा जैसी प्राकृतिक विपदायें जन जीवन को अस्त व्यस्त कर देती हैं। महामारी फैलने से अनेकों की मृत्यु हो जाती है और धीरे धीरे ही कहीं इन समस्याओं का कुछ निदान निकल पाता है। परन्तु ऐसी महामारी यदि फैल जाय जिसका कोई इलाज ही न हो तो इस दैवी प्रकोप का सामना करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इधर पिछले 6 महीनों के भीतर आसाम, पं० बंगाल, बिहार तथा उत्तर प्रदेश में एक महामारी-इन्सेफेलाइटिस-बड़े जोरों में फैल गई। उत्तर प्रदेश में तो इसका भयंकर प्रकोप रहा और उसमें गोरखपुर व देवरिया जिलों में तो इस रोग का जैसे ताण्डव नृत्य ही होता रहा। काफी समय तो लग गया यह निर्धारित करने में ही कि यह कौन सा रोग है जिससे नित्य इतने लोग मरते जा रहे हैं।

उत्तर प्रदेश सरकार के अनुरोध पर राष्ट्रीय संक्रमण रोग संस्थान, देहली, तथा राष्ट्रीय वाइरस विज्ञान (Virology) संस्थान, पूना, के विशेषज्ञों की टोली व लखनऊ मेडिकल कालेज के डाक्टरों की टोली रोग ग्रस्त क्षेत्र में परीक्षण के निमित्त पहुंची और वहां के रोगियों पर परीक्षण आरम्भ किया गया। परीक्षण के बाद ही यह पता चला कि यह रोग वाइरस से फैला है। रोगियों के रक्त की जांच करने पर यह निश्चित हो गया कि उनके रक्त में जापानी वाइरस मौजूद है अतः यह जापानी इन्सेफेलाइटिस ही है।

यह रोग भारत में पहली बार नहीं आया। 1918 में यह रोग फैला था पर 1924 के बाद फिर नहीं फैला। 1971 में पुनः तमिलनाडु व कर्नाटक में फैला था। वैसे 1920 के आस पास जब यह रोग जापान में फैला था तो हज़ार से अधिक व्यक्ति मर गये थे। अन्य किसी देश में इस रोग की औषधि का निर्माण नहीं हुआ। जापान में ही इसके टीके बनाये गये पर यह टीके भी पूर्ण रुप से रोग को समाप्त करने में सक्षम नहीं हैं। जापान ने काफी संख्या में टीका देने का प्रस्ताव स्वयं रखा पर टीकों के पहुंचने में काफी समय लग गया।

परीक्षण से पता चला कि मच्छर ही इस रोग के लिये उत्तरदायी हैं। और मच्छर में भी 'क्युलेक्स विश्नुई' मच्छर के कारण यह रोग पनपता है। जांच करने पर इस रोग के वाइरस गदहों, भैंसों, सुअरों और चिड़ियों में पाये गये हैं। स्थान बदलने वाली चिड़ियां, जैसे हेरन आदि इस वाइरस को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाने में मददगार होती हैं। जब मच्छर इन्हें या गाय, भैंस या सुअरों को काटता है तो यह वाइरस मच्छर में आ जाता है और फिर जब वह मच्छर मनुष्य को काटता है तो यह वाइरस मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट कर जाता है। वेल्लोर में जब यह रोग फैला था तो कौओं में यह वाइरस पाया गया था और जब तिरुनेलवेली में फैला था तो हेरन तथा बत्तख में यह वाइरस पाया गया था। 1971 में आन्ध्र प्रदेश में 200 से अधिक जंगली पक्षियों को पकड़ा गया था तो उनमें से लगभग आधे में यह जापानी वाइरस पाया गया था। आइ० सी० एम० आर० के एक वैज्ञानिक के अनुसार कबूतर भी इस वाइरस के वाहक पाये गये हैं।

जापानी इन्सेफेलाइटिस एक बार मेक्सिको से उत्तरी अमरीका की ओर बढ़ रहा था। अमरीका के पास इस रोग के टीके की इतनी कमी थी कि सभी घोड़ों को उससे बचाया नहीं जा सकता था अतः सरकार ने निषिद्ध क्षेत्र घोषित कर दिया और जहां तक रोग फैला था वहां से आगे के क्षेत्र में

बचाव का पूरा प्रबन्ध किया। निषिद्ध क्षेत्र के सभी घोड़ों को टीका लगा दिया गया। चूंकि यह क्षेत्र इतना बड़ा था कि उसकी तुलना में संक्रामक मच्छरों की उड़ान दूरी बहुत कम थी अतः रोग को आगे फैलने से रोकने में पूरी सफलता मिल गई। अतः यह आवश्यक होता है कि जहां रोग फैला हो उस क्षेत्र के पशुओं व मनुष्यों को दूसरे स्थान न तो जाने दिया जाय और न ही दूसरे क्षेत्र के पशु व मनुष्य उस क्षेत्र में जांय। प्रभावित क्षेत्र के लोगों को जापानी इन्सेफेलाइटिस के टीके लगा देने चाहिये।

वाइरस है क्या

वाइरस जन्य रोगों को समाप्त करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वाइरस को किसी भी रसायन द्वारा नष्ट करना सम्भव नहीं है। वैक्टीरिया तो रसायनों द्वारा नष्ट भी किये जा सकते हैं। कुछ विज्ञान वेत्ता तो यह भी कहते हैं कि वाइरस वैक्टीरिया के ही सूक्ष्मरूप हैं। वैक्टीरिया सेन्टीमीटर के दस हजारवें भाग के बराबर होता है जबकि वाइरस सेन्टीमीटर के 25 हजारवें भाग से लेकर 5 लाखवें भाग तक हो सकता है। वाइरस जीवित कोशिका से वाहर निष्क्रिय रहते हैं और धूल, हवा व पानी के साधन से कोशिका तक पहुंचते हैं। वाइरस मनुष्यों, पशुओं व पक्षियों आदि की कोशिकाओं में घुसकर रोग पैदा कर देते हैं। वाइरस जन्य रोगों में पीला ज्वर, खसरा, चेचक आदि हैं। सबसे साधारण वाइरस जन्य रोग जुकाम है परन्तु इसके लिये भी कोई प्रभावी औषधि नहीं बनाई जा सकी है। भयंकर से भयंकर रोगों का इलाज हो सकता है परन्तु जुकाम जैसे प्रत्यक्ष रूप में साधरण दिखने वाले रोग का कोई टीका या कोई औषधि नहीं निर्मित हो सकी है। वाइरस की संरचना अत्यन्त सरल होती है। इसके केन्द्रक में डी० एन० ए० होता है और उसके ऊपर प्रोटीन की एक परत। लिपिड तथा शर्करा भी कुछ विशेष प्रकार के वाइरसों में पाये गये हैं। इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी की खोज के बाद से वाइरस के हमारे ज्ञान में अत्यधिक वृद्धि हुई है।

चेचक का रोग बहुत पुराना है और वाइरस के कारण होता है। एडवर्ड जेनर ने अट्ठारहवीं शती में पहला टीका बनाया था और अपने पुत्र का टाका लगाकर उसकी पुष्टि की थी। उल्लेखनीय बात यह है कि तब लोगों को वाइरस के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं था। 1884 में लुई पास्त्र ने कुत्ते के लार में पाये जाने वाले रेबीज वाइरस को निष्क्रिय करके उसका इलाज सफलतापूर्वक किया। तब से जीवित वाइरसों की वैक्सीन का टीका, जर्मन खसरा, पोलियोलाइटिस, गलसुआ आदि में लगाया जाता है। इन-फ्लुएंजा तथा रेबीज़ के टीके भी बनाये गये हैं।

रोग के लक्षण

इन्सेफेलाइटिस रोग का लक्षण यह है कि रोगी को पहले कंपकंपी के साथ ठंढा लगता है, फिर तेज बुखार चढ़ जाता है। सर में दर्द, बदन में दर्द तथा ऐंठन असह्य हो जाता है। गर्दन कठोर हो जाती है। कैं भी हो जाती है। इसमें लकवा जैसा प्रभाव होता है फिर रोगी बेहोश हो जाता है। बोल पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। बच्चों में झटके भी आते हैं या फिर फिट आ जाता है। यह सारे लक्षण तेजी के साथ प्रकट होते हैं और 2 या 3 दिन में मृत्यु हो जाती है। मृत्यु दर काफी उच्च लगभग 50-60% है जबकि बच्चों में यह दर और भी उच्च है! सौभाग्य से इधर हमारे देश में जो रोग फैला उसमें यह मृत्यु दर अधिक ऊंचा नहीं था। ढाई हजार से अधिक लोग केवल उत्तर प्रदेश में इस रोग के शिकार हुये और उनमें से 637 की मृत्यु हो गई (7 नवम्बर तक प्राप्त सूचना के अनुसार)। उ० प्र० के 30 जिलों में यह रोग फैला था जबकि बिहार के 14 जिलों में। बिहार में तब तक मृत्यु की संख्या 99 पाई गई थी।

मच्छरों को नष्ट करें

चूँकि यह रोग मच्छरों से फैलता है और मच्छर गंदगी में ही पनपते हैं अतः यह परम आवश्यक हो जाता है कि गंदगी को दूर किया जाय। जमा हुआ पानी न रहे। आस-पास के वातावरण को स्वच्छ रखा जाय। मच्छरदानी तथा ओडोमॉस जैसी क्रीम का उपयोग किया जाय। तालाबों, दलदलों व कीचड़ युक्त पानी के गढ्ढों को सुखा

देना चाहिये। मच्छरों को नष्ट करने का हर सम्भव उपाय करना चाहिये । इसीलिये उत्तर प्रदेश सरकार ने मच्छरों को समाप्त करने के लिये बी० एच० सी, गमेक्सीन व डी० डी० टी० के छिडकाव का प्रबन्ध किया। विश्व स्वास्थ संगठन से अनुरोध किया गया कि छिड़काव करने वाली मशीनें वह भारत भेजे। इसके अतिरिक्त 10 लाख रुपयों से कई मशीनें खरीदने का भी आर्डर दिया गया। मैलेथियोन के छिडकावकी आज्ञा नहीं मिली क्योंकि यह अत्यधिक विषैला होता है।

रोग का निदान

इस रोग की कोई भी अचूक दवा नहीं है। जो भी दवायें दी जाती हैं वह लक्षण के अनुसार रोग को रोकने में प्रभावी हो सकती हैं। जापान में जो टीका बनाया गया वह भी अचूक नहीं है उससे केवल रोक थाम की जा सकती है। स्वास्थ सेवा के निदेशक डॉ के० एन० टण्डन ने बताया कि इन्सेफेलाइटिस के टीके के निर्माण का कार्य हाफकिन इन्सटीट्यूट, बम्बई को सौंपा जायेगा। चारों ओर से सुझाव यह आया कि होम्योपैथी, एलोपैथी, यूनानी तथा आयुर्वेदिक सभी पद्धतियों के विशेषज्ञों को यह काम सौंपा जाय जो रोग के रोक थाम का समुचित निदान कर सकें। होम्योपैथी के डाक्टर टी० सी बनर्जी का कहना था कि 'चायना 200' इस रोग में बहुत ज्यादा प्रभावी है। उन्होंने बताया कि डॉ० यामचल बिलियन्थेल, जो कैलिफोर्निया (यू० एस० ए०) के हैं, ने अपनी पुस्तक 'होम्योपैथिक थेरापेटिक' के पृष्ठ 706-709 पर इस रोग का वर्णन करके उसके लिये दवा सुझाई है। 'चायना 200' तथा 'अर्जेण्टम' से रोकथाम हो सकती है तथा 'जेलिसीनियम' से रोग से छुटकारा पाया जा सकता है।

इन्सेफेलाइटिस एक भयंकर रोग है। वाइरस से फैलने वाले रोग यों भी चिन्तनीय होते हैं। वाइरस वैसे तो मृत प्रायः से होते हैं पर मानव या पशु शरीर में पहुँच कर जीवित हो उठते हैं। स्वास्थ अधिकारियों के सम्मुख एक विकट समस्या खड़ी हो गई है कि किस प्रकार रोग पर नियंत्रण किया जाय। सरकार ने कोई भी कसर उठा न छोड़ी फिर भी बहुत से लोगों को जान से हाथ धोना पड़ा। इधर हाल में नदियों में बाढ़ भी बहुत आई थी बहुत कुछ संभावना इस बात की भी है कि बाढ़ के बाद ही यह रोग फैल गया तो क्यों न इसका प्रमुख कारण बाढ़ ही हो। जो भी हो इस महामारी से जितना शीघ्र लोगों को बचाया जा सके उतना ही अच्छा होगा। आयुर्वेदिक, यूनानी, होम्योपैथिक औषधियों की खोज होनी चाहिये जो रोग पर नियंत्रण पाने में सफलता प्राप्त कर सके। माधव निदान, जो 15 वीं शताब्दी में लिखी गई आयुर्वेद की महत्वपूर्ण पुस्तक मानी जाती है, उसमें लिखे श्लोकों में इस प्रकार के रोग के लक्षण दिये गये हैं। चरक, सुश्रुत तथा वागभट्ट में भी ऐसे रोग के रोगथाम व निदान का वर्णन पाया जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि शोध करके इन औषधियों के निर्धारण व निर्माण की व्यवस्था की जाय।

(शेष पृष्ठ 7 का)

जाता है। तनों में बड़ी मात्रा में स्टार्च, ग्लूकोस, सुक्रोज और फ्रुक्टोज पाया जाता है। ग्लूकोस और फ्रुक्टोज की अपेक्षा सुक्रोज अधिक मात्रा में होता है। फ्रुक्टोज की मात्रा ग्लूकोस की अपेक्षा 5--10 गुना अधिक होती है।

आज समस्त विश्व में नियोजित परिवार की आवश्यकता अनुभव की जा रही है अतः गर्भ निरोधक गोलियों का उपयोग और खपत लगातार तीव्रता से बढ़ती जा रही है। परिणाम स्वरूप इतनी अधिक मात्रा में गर्भ निरोधक गोलियों का निर्माण करने के लिए आज सारे विश्व में डायोस्जेनिन की कमी अनुभव की जा रही है। इस कमी को कुछ साधारण सीमा तक करने में तथा स्टेरायडल औषधियों के निर्माण में गोखरू का पौधा सहायक सिद्ध हो सकता है।

गोखरू : डायोस्जेनिन का नवीन स्रोत

● नरेश चन्द्र 'पुष्प'

गोखरू के पौधों से हम भली भांति परिचित हैं। विचित्र आकृति वाले इनके फल देखने में बहुत ही आकर्षक लगते हैं। फलों पर अनेक काँटे पाये जाते हैं। प्रायः देहाती क्षेत्रों में घूमते समय इनके फलों को इधर-उधर फैले हुए बहुतायत से देखा जा सकता है। जरा सी असावधानी से ये फल कपड़ों पर बुरी तरह से चिपक जाते हैं और फिर इनको छुड़ाने में बड़ी कठिनाई हो जाती है। घूमते-फिरते पशुओं-जानवरों की पूँछों और देह व बैलगाड़ियों की पहियों में ये फल बड़ी संख्या में चिपके रहते है। सायकिल के पहियों में पन्चर करने वाली वस्तुओं में गोखरू के फल भी शामिल हैं।

गोखरू अत्यन्त प्राचीन व महत्वपूर्ण पौधा है जिसके समस्त भागों में, मुख्यतया फलों और जड़ों में, औषधीय गुण विद्यमान हैं। इस पौधे के औषधीय गुणों से प्राचीन भारतीय भली प्रकार परिचित थे और इसे हिन्दू चिकित्सा पद्धति तथा देशी औषधियों में स्थान प्राप्त था। संस्कृत साहित्य में इस पौधे का उल्लेख मिलता है। संस्कृत साहित्य में वर्णित 'दशमूल क्वाथ' में दस वनस्पतिक पदार्थों में एक गोखरू भी है। इस पौधे से प्राचीन ग्रीकवासी भी परिचित थे। दक्षिण यूरोप में इसे रेचक के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। लेकिन अब इस पौधे पर किये गये नवीन अनुसन्धानों से प्राप्त परिणामों से इसका महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। आशा की जाती है कि अब इस पौधे का उपयोग और खपत बहुत अधिक बढ़ जायेगी।

नवीन अनुसन्धानों से ज्ञात हुआ है कि इस पौधे में डायोस्जेनिन विद्यमान होता है। डायोस्जेनिन, एक स्टेरायडल सैपोजेनिन है जिसे कार्टीज़ोन तथा अन्य स्टेरायडल हारमोनों के निर्माण में आरम्भिक पदार्थ के रूप में उपयोग किया जाता है। स्टेरायडल हारमोनों के द्वारा गर्भ निरोधक गोलियों का निर्माण किया जाता है। कार्टीजोन एक नया स्टेरायडल हारमोन है जो मानव में पाये जाने वाले अनेक रोगों, जैसे गठिया, एलर्जी, रक्तरोग और अन्तःस्रावी ग्रंथियों की गड़बड़ी से उत्पन्न रोगों के उपचार में महत्वपूर्ण औषधि पाई गई है। कार्टीजोन और इसके अन्य व्युत्पाद रसायन मुख्य रूप से प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट की चयापचय प्रक्रिया पर व्यापक प्रभाव डालते हैं। यह प्रोटीन के स्थान पर अमीनो अम्लों को शर्करा में परिवर्तित कर देता है। इस प्रकार कार्टीज़ोन को प्रति-उपचयन कारक (एण्टी-एनाबोलिक एजेन्ट) कहा जा सकता है।
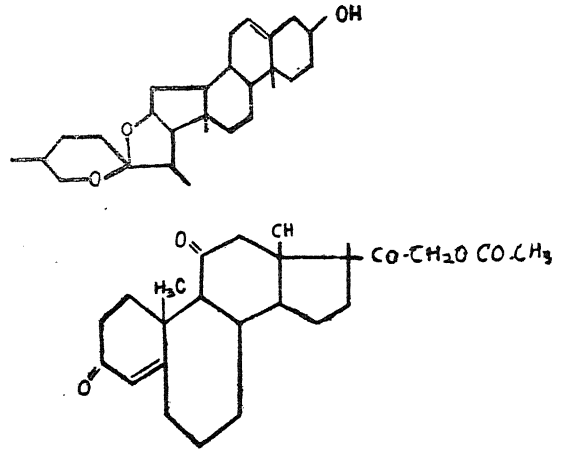
भारत में स्टेरायडल औषधियों की मांग बड़ी तीव्रता

से बढ़ती जा रही है। प्रयोगशालाओं में इन औषधियों का संश्लेषण करने पर भारी लागत आती है जो एक बड़ी समस्या है। अतः इन औषधियों के निर्माण के लिये डायोस्जेनिन के नये प्राणी और वनस्पतिक स्रोत खोजे जा रहे हैं। डायोस्जेनिन के अब तक खोजे गये वनस्पतिक स्रोतों में गोखरू का पौधा अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है। गोखरू से डायोस्जेनिन को आसानी से बिलगाने की एक विधि का हाल ही में इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एक्स्पेरीमेंटल मेडिसिन, कलकत्ता में विकास किया गया है।

वनस्पतिक परिचय

गोखरू 'जाइगोफाइलेसी' कुल का एक वर्षीय या बहुवर्षीय, भूमि पर फैलने वाला, भूरे रंग का खूबसूरत पौधा है। इसका वनस्पतिक नाम 'ट्रीबुलस टेरेस्ट्रिस' लिन० है। इसके सम्पूर्ण पौधे पर सूक्ष्म रोम पाये जाते हैं। इसकी पत्तियां छोटी, विपरीत, लगभग 8 से 12 मि० मी० लम्बी होती हैं। इसमें प्रायः 4 से 7 जोड़ी पत्रक होते हैं। फूल कक्ष में लगे, एकाकी, 1—1·5 सें० मी० व्यास के, पीताभ और छोटे वृन्त वाले होते हैं। फल बड़े, काष्ठीय व पंच कोणी होते हैं। प्रत्येक कोण पर काँटे लगे होते हैं। फलों में पांच अण्डय होते हैं।

वितरण

गोखरू के पौधे सम्पूर्ण भारत, श्रीलंका और पाकिस्तान में, मुख्यतया शुष्क भागों में बहुतायत से पाये जाते हैं। भारत में इनके पौधे 3000 मीटर की ऊंचाई तक कश्मीर में मिलते हैं! भारत के कुछ भागों में इसकी खेती भी की जाती है।

औषधीय गुण

औषधि के रूप में गोखरू के सम्पूर्ण पौधे का उपयोग किया जाता है किन्तु सर्वाधिक उपयोग इनके फलों और जड़ों का होता है। फल और जड़ों में एक समान औषधीय गुण पाये जाते हैं। इनके फल शीतल, मूत्रविरेचक, पौष्टिक, स्वेदग्राही, रेचक और शांतिदायक होते हैं। इसे मूत्रत्याग में होने वाली पीड़ा तथा अन्य मूत्र सम्बन्धी रोगों, मूत्राशय रोग, गुर्दे के रोग, पथरी, जलन्धर, यौन दुर्बलता, वीर्यपात, सुजाक, मवाद (पीप), हृदय योगों, बलगम तथा जनन अंगों के रोगों में लाभकारी समझा जाता है। इसे बच्चों के जन्म में होने वाली कुछ गड़बड़ियों में दिया जाता है और विश्वास किया जाता है कि यह महिलाओं की उर्वरक क्षमता को स्थायित्व प्रदान करता है। गोखरू के पौधों, फलों और जड़ों को आमतौर से क्वाथ (काढ़ा) के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। कुछ लोग गोखरू के फलों को चावल के साथ उबाल कर उपयोग करते हैं। क्वाथ का अधिक मात्रा में उपयोग किया जाता है। फलों का क्वाथ कच्चे पोटेसियम कार्बोनेट या मोतियों की भस्म के साथ मिलाकर पीड़ाकारी मूत्र त्याग में उपयोग किया जाता है और मुख्यतया इसी रोग के लिए गोखरू का अधिक उपयोग होता है। पौधे को जल में पीस कर लेप तैयार किया जाता है जिसे पौष्टिक और शांतिदायिनी औषधि के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। यह लेप सुजाक में भी लाभकारी माना जाता है। फलों का क्वाथ फोड़ों से प्रभावित मसूढ़ों, गला सूखने के रोग तथा मुख के भीतर की अनेक पीड़ाकारी दशाओं में लाभकारी है। इसके लिए क्वाथ का कुल्ला किया जाता है।

कुछ लोगों के अनुसार फलों के बीज स्कन्दक होते हैं और नाक से तथा अन्य रक्त स्रावों में लाभकारी माना जाता है। शारीरिक दुर्बलता में इसे दूध के साथ मिला कर पिया जाता है।

फलों के एल्कोहली निष्कर्ष को लेकर अनेक प्रयोग किये गये हैं जिससे सिद्ध होता है कि इसमें मूत्र विरेचन गुण विद्यमान है। लेकिन ब्रिटिश फार्माकोपिया की अन्य औषधियों की अपेक्षा इसका प्रभाव कम होता है। औषधि के मूत्रविरेचक गुण बीजों में उपस्थित सुगंध तेल और नाइट्रेट के कारण होते हैं।

रसायन

डायोस्जेनिन के साथ-साथ पौधे में कई दूसरे रसायन पाये जाते हैं। फलों में 0·001 प्रतिशत एल्कलायड, 3·5 प्रतिशत स्थिर तेल, सुगंध तेल, रेजिन और नाइट्रेट पाया

शेषांश पृष्ठ 5 पर

क्या आप जानते हैं

कु० मृदुला

- पशु कभी अपने मौसम नहीं भूलते।
- अधिकांश स्तनपाइयों (मैमेलियन) का स्थिर दैहिक ताप 37-38° सेंटीग्रेड होता है।
- मांसभक्षी पशुओं के सिवा सभी पशु नमक की आवश्यकता का अनुभव करते हैं।
- ऊँट अपने कोहान (रिजरवायर) में अत्यधिक मात्रा में बसा एकत्र कर लेता है और इसके बाद रेगिस्तान में दस दिन तक या इससे भी अधिक बिना खाये पिये रह सकता है। इसके कोहान में लगभग 200 किलो से ज्यादा बसा एकत्र हो सकती है।
- सील मछली की नींद हलकी और सतर्कता पूर्ण होती है। यह हर चार पाँच मिनट में अंतर्जात प्रतिवर्त के कारण अपनी आँखें खोलती है।
- आमतौर पर आदमियों के चेहरों और आकृतियों के बारे में कौओं की याददाश्त बहुत अच्छी होती है और उन लोगों को खासकर याद रखते है जो उनको हानि पहुंचाते हैं।
- अगर कीटों की शृंगिकाओं पर पैराफिन की परत चढ़ा दी जाये तो वे भोजन का पता लगाने की अपनी सारी क्षमता गंवा देते हैं चाहे उसकी गंध कितनी ही तेज क्यों न हो।
- बहुत से जन्तु अपने शरीर से एक साथ कई रंग के प्रकाश उत्सर्जित करते हैं, जैसे गहरे समुद्र की हचेट मछली, कुछ स्किवड, फ्रिक्सोथ्रिक्स आदि। फ्रिक्सोथ्रिक्स के लार्वा के दोनों ओर प्रकाश बिन्दु के ग्यारह जोड़े होते हैं जो हरा प्रकाश उत्पन्न करते हैं। सर पर दो प्रकाश बिन्दु होते हैं जो लाल रंग का प्रकाश उत्सर्जित करते हैं।
- जन्तुओं में प्रकाश उत्पादन एक रासायनिक क्रिया है। इसमें एक पदार्थ ल्यूसीफैरिन आक्सीजन से क्रिया करके प्रकाश उत्पन्न करता है। इस क्रिया को ल्यूसीफेरस नामक एक एंजाइम उत्प्रेरित करता है।
- समुद्री जन्तु ओडोटोसिलिस (केचुआ वर्ग की) मादा पूर्णमासी के बाद छोटे 2 वृत्तों से चमकीला हरा प्रकाश उत्सर्जित करती हुई सतह पर तैरती है। इसमें आकर्षित होकर नर प्रकाश उत्सर्जित करते हुये मादा की ओर जाते हैं। इस प्रकार उत्सर्जित प्रकाश की सहायता से निषेचन क्रिया सम्भव होती है।

परमाणवीय वर्णक्रम का प्रारम्भिक विकास

● राजमल कोठारी

वर्णक्रम की उत्पत्ति : एक स्वतंत्र परमाणु सामान्य अवस्था में रहता है या ऊर्जा की निम्नतम अवस्था में पाया जाता है। अब यदि परमाणु को विकिरण उत्सर्जित करने की स्थिति में लाया जावे तो इसके लिये इसे किसी भी प्रकार से ऊर्जा की उच्चत्तम अवस्था में भेजा जाना चाहिये। यह क्रिया तब सम्भव हो सकती है जब परमाणु को पर्याप्त प्रबल विद्युत-क्षेत्र में स्थापित किया जावे या उच्च शक्ति के इलेक्ट्रॉन से टकराया जावे या फिर दूसरे परमाणुओं के साथ तेजी से टक्कर कराई जावे। उक्त प्रक्रमों में परमाणु का एक इलेक्ट्रॉन अपने सामान्य कक्ष से विस्थापित होकर अपने बाहर वाले कक्ष में स्थान ग्रहण करता है और जब यह विस्थापित इलेक्ट्रॉन वापस अपने सामान्य कक्ष या किसी अन्दर वाले कक्ष में गिरता है, तो यह अपने पूर्व प्रक्रमों में संचित की हुई ऊर्जा को विकिरण के रूप में विसर्जित करता है।

प्रतिदीप्तशील गैस या वाष्प से जो प्रकाश प्राप्त होता है, वह अलग अलग परमाणुओं में इस प्रकार के लाखों प्रक्रमों का ही परिणाम है। किसी इलेक्ट्रॉन के एक कक्ष से दूसरे कक्ष में संक्रमण होने के लिये कुछ निश्चित संक्रमण ही दूसरों की तुलना में श्रेष्ठ हैं। कुछ निशिचित संक्रमण बार-बार होते हैं और कुछ को स्वीकार नहीं किया जाता है। प्रत्येक संक्रमण में ऊर्जा की निश्चित मात्रा अवशोषित की जाती है या छोड़ी जाती है। इसलिये प्रत्येक संक्रमण एक निश्चित स्पेक्ट्रमी रेखा से जुड़ा होता है। स्पेक्ट्रमी रेखा की तीव्रता संक्रमण की प्रायिकता पर निर्भर करती है।

वर्णक्रम के उपयोग हेतु प्रकाश उत्पन्न करने की मुख्य दो विधियाँ हैं। पहली है ताप विकिरण और दूसरी है संदीप्तता। ताप विकिरण विधि में पदार्थ के परमाणु या अणु जाँच के दौरान प्रकाश उत्सर्जित करने के लिये उत्तेजित किये जाते हैं जो या तो दूसरे अणु या परमाणुओं के साथ टकराते हैं। अणु या परमाणुओं में उत्तेजन प्रक्रम में ऊर्जा टकराये जाने वाले कणों की गतिज ऊर्जा से ली जाती है। जैसा कि हम जानते हैं गतिज ऊर्जा ताप पर निर्भर करती है, इसलिये वर्णक्रमीय उपयोग के लिये प्रकाश उत्पन्न करने के लिये इस विधि में उच्च ताप की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार के उत्सर्जन के उदाहरण हैं—ज्वाला और कोई विद्युत-भट्टी में उच्च ताप पर उत्तेजित गैस।

संदीप्तता की विधि में वे सभी प्रकाश उत्पादन के साधन शामिल हैं जिनमें उत्तेजन दूसरे अणुओं या परमाणुओं के गतिज ऊर्जा के कारण नहीं होता है। संदीप्तता को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है—

(क) **विद्युत संदीप्तता :** इस विधि में उत्तेजना के लिए ऊर्जा इलेक्ट्रॉन और आयन की गतिज ऊर्जा से ली जाती है जो लगाये गये विद्युत-क्षेत्र से ऊर्जा प्राप्त करते हैं (यहाँ लगाया गया विद्युत-क्षेत्र इलेक्ट्रॉन और आयन को त्वरित करता है और ये आयन या इलेक्ट्रॉन किसी पदार्थ के अणुओं या परमाणुओं से टकराये जाते हैं, इस प्रकार अणु या परमाणु को उत्तेजित करने के लिये गतिज ऊर्जा पहुँचायी जाती है) विद्युत-संदीप्तता के उदाहरण हैं—सभी प्रकार के विद्युत-विसर्जन जैसे—चिनगारियाँ, आर्क या गैसलर नलिका इत्यादि।

(ख) रासायनिक संदीप्तता—इस प्रकार का प्रकाश उत्पादन विधि में रासायनिक क्रिया में प्रकट हुई ऊर्जा परमाणुओं को उत्तेजित करती है जिसके फलस्वरूप प्रकाश उत्पन्न होता है।

(ग) **प्रकाश संदीप्तता :** इस विधि में उत्तेजन के लिये ऊर्जा प्रकाश अवशोषण द्वारा ली जाती है।

यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि किसी दिये हुए तत्व का स्पेक्ट्रम उसके उत्तेजन रीति पर निर्भर करता है। यदि कार्बन छड़ों के मध्य आर्क के वर्णक्रम का अध्ययन किया जाय तो सभी रेखाएँ उदासीन सोडियम परमाणु की वजह से प्राप्त होती हैं। कई तत्वों के लिए यह लगभग सही है—इसलिये किसी उदासीन परमाणु के वर्णक्रम को आर्क-वर्णक्रम के नाम से पुकारा जाता है। यदि किसी पदार्थ के ध्रुवों के बीच उच्च तनाव वाला विसर्जन गुजार कर किसी तत्व से ऊर्जा उत्सर्जित की जाय तो इसे स्फुलिंग वर्णक्रम कहा जायगा। इसका तात्पर्य यह है कि स्फुलिंग-स्पेक्ट्रम आयनित परमाणु के कारण मिलता है। यदि स्फुलिंग-स्पेक्ट्रम एकल आयनित परमाणु के कारण हुआ है तो इसे साधारणतया स्फुलिंग स्पेक्ट्रम (आयनिक स्पेक्ट्रम) के नाम से जाना जाता है और यदि द्विक आयनित परमाणु के कारण है तो इसे युगल स्फुलिंग वर्णक्रम पुकारा जाता है।

वर्णक्रम के प्रकार : वर्णक्रम को मुख्यतः दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—

1. उत्सर्जन-स्पेक्ट्रम 2. अवशोषण-स्पेक्ट्रम

1. उत्सर्जन स्पेक्ट्रम : उत्सर्जन स्पेक्ट्रम वे स्पेक्ट्रम हैं जो प्रकाश स्रोत से उत्पन्न होते हैं जब इसकी सीधे वर्णक्रमदर्शी से जाँच की जाती है। इस प्रकार के वर्णक्रम या तो ताप विकिरण से या किसी भी प्रकार की संदीप्तता से प्राप्त किये जा सकते हैं। उपरोक्त दो प्रकार के वर्णक्रमों को और भी दो भागों में उनकी आवृति के अनुसार बाँटा गया है :

(क) सतत स्पेक्ट्रम और (ख) असतत स्पेक्ट्रम

(क) **सतत स्पेक्ट्रम :** गर्म पदार्थ से सदैव विकिरण उत्सर्जित होता रहता है और वह हमारे पास विकिरण विधि द्वारा पहुँचता है—जैसे हमें सूर्य से उष्मा प्राप्त होती है या अंगीठी के पास बैठने पर हमें गर्मी महसूस होती है। यदि वस्तु अधिक ताप पर है तो वह हमें उष्मा ही प्रदान नहीं करती वरन् चमकीली भी दिखाई देती है। उदाहरणतः बिजली के बल्व का तंतु, सूर्य, जलता हुआ कोयला, तप्त लोहा इत्यादि। बिजली के बल्ब का ताप उसमें प्रवाहित बिजली की धारा पर निर्भर करता है। यदि धारा के मान को हम धीरे-धीरे बढ़ायें तो तन्तु से उत्सर्जित प्रकाश का रंग परिवर्तित होता हुआ दिखाई देता है। तन्तु का ताप जब करीब 1000°K होता है तो उससे लाल रंग का प्रकाश उत्सर्जित होता है। इसके बाद करीब 2000°K पर पीला प्रकाश और अन्त में लगभग 3000°K पर तन्तु से सफेद प्रकाश दिखाई देता है। इससे स्पष्ट है कि तन्तु से उत्सर्जित प्रकाश एक प्रकार की विकिरण ऊर्जा है। यह ऊर्जा अपने स्रोत से प्रकाश तरंगों के रूप में गमन करती है। इस तप्त तन्तु के वर्णक्रम में हमें वे सब रंग दिखाई देते हैं जो कि सूर्य के प्रकाश से प्राप्त होते हैं। वर्णक्रम में सातों रंगों का होना किसी भी तप्त पदार्थ का विशिष्ट गुण है। ये रंग परस्पर सटे हुए रहते हैं तथा इनके छोर स्पष्ट नहीं होते हैं। इस प्रकार का स्पेक्ट्रम विद्युत बल्ब के तन्तु, बुन्सन दीप की ज्वाला, मोमबत्ती की लौ आदि से प्राप्त होता है।

सतत स्पेक्ट्रम के कुछ महत्वपूर्ण गुणधर्म इस प्रकार हैं :

1. स्पेक्ट्रम में एक लम्बी परास में सतत तरंग दैर्ध्य की रेखाएँ होती हैं जो अविभाज्य होती हैं।
2. किसी भी ठोस के सतत स्पेक्ट्रम में तीव्रता, उसके पूर्ण दृश्य स्पेक्ट्रम में समान रूप से बँटी हुई नहीं होती है। किसी विशिष्ट तरंगदैर्ध्य पर तीव्रता

अधिकतम् होती है और अधिकतम तीव्रता वाले बिन्दु से दोनों ओर कम होती जाती है। अधिक-तम तीव्रता वाला बिन्दु बैंगनी छोर की ओर हटता जाता है, ज्यों ज्यों ठोस का ताप बढ़ाया जाता है। यह 'वेन' के विस्थापन नियम से भी समझा जा सकता है :

$$\lambda T = \text{स्थिरांक}$$

T ताप तथा λ तरंग दैर्ध्य है

3. किसी भी सतत स्पेक्ट्रम का व्यापक आकार उसके प्रकाश स्रोत पर निर्भर नहीं करता, यदि पदार्थ सतत स्पेक्ट्रम उत्सर्जित करने की अवस्था में हो।

(ख) **असतत स्पेक्ट्रम :** इसे पुनः दो भागों में बाँटा गया है।

I रेखिल स्पेक्ट्रम : यदि हम सोडियम दीप से उत्सर्जित प्रकाश का स्पेक्ट्रम किसी शक्तिशाली स्पेक्ट्रोमीटर से देखें तो पीले रंग की दो स्पष्ट चमकीली रेखाऐं पास-पास दिखाई देती हैं। इसी प्रकार मरकरी दीप से हरे रंग की चमकीली रेखाएँ दिखाई देती हैं। इसी प्रकार यदि हम बुन्सेन बर्नर की ज्वाला में किसी तत्व के लवण, जैसे साधा-रण नमक, कैल्शियम क्लोराइड, स्ट्रॉंशियम या बेरियम क्लोराइड आदि रखें तो वे शीघ्र वाष्प अवस्था में आ जाते हैं और उस तत्व के वाष्प के स्पेक्ट्रम में चमकीली रेखाएँ भिन्न 2 रंग में दिखाई देती हैं। प्रत्येक रेखा विशिष्ट लवण के वाष्प से प्राप्त होती है। इसी प्रकार मरकरी आर्क तथा लोहे की आर्क से भी विशिष्ट (चमकीली) रेखिल स्पेक्ट्रम प्राप्त होता है। ये रेखाएँ विस्तार में अधिक स्पष्ट होती हैं। रेखिल स्पेक्ट्रम के कुछ महत्वपूर्ण लक्षण इस प्रकार हैं—

(i) रेखिल स्पेक्ट्रम सम्बन्धित परमाणु की विशेष-ताएँ बतलाता है। चाहे परमाणु किसी भी अवस्था में क्यों न हो, वह अपने विशेष प्रकार का विकिरण उत्सर्जित करेगा। यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि यौगिक की भिन्न प्रकार की प्रकृति होते हुए भी परमाणु की प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

(ii) रेखाएँ नियमित रूप से व्यवस्थित होती हैं लेकिन तीव्रता में भिन्नता होती है इसकी जाँच किसी शक्तिशाली विभेदन क्षमता वाले यंत्र से की जा सकती है। जब अलग 2 वस्तुओं से किसी एक निश्चित परमाणु से रेखा उत्सर्जित होती है तो सदैव एक ही स्थान ग्रहण करती है।

(iii) किसी स्पेक्ट्रम की भिन्न 2 रेखाएँ बहुगुण भी प्रदर्शित करती हैं और उनकी संरचना सूक्ष्म और अति सूक्ष्म भी होती है।

(iv) परमाणवीय स्पेक्ट्रम में या तो चमकीले पृष्ठ पर काली रेखाएँ या काले पृष्ठ पर चमकीली रेखाएँ दिखाई देती हैं।

(v) साधारण रेखिल स्पेक्ट्रम की दूसरी विशेषता यह है कि रेखाओं को एक श्रेणी के झुण्ड में रखा जा सकता है। किसी श्रेणी में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई रेखाओं के मध्य अन्तराल धीरे 2 घटता जाता हैं जो कि स्पेक्ट्रम में बैंगनी रंग के छोर की ओर होता है अर्थात् कम तरंग दैर्ध्य की ओर।

जब किसी तत्व के परमाणु स्वतन्त्र अवस्था में विद्य-मान होते हैं तो उनसे हमें रेखिल स्पेक्ट्रम प्राप्त होता है। इस प्रकार का स्पेक्ट्रम प्राप्त करने के लिए हम उस तत्व के वाष्प में कम दाब पर ऊँचा विद्युत विसरण करते हैं तो उनमें सदैव एकवर्णी प्रकाश प्राप्त होता है। इस प्रकार किसी तत्व से विकिरण ऊर्जा के प्राप्त होने का सफल सिद्धान्त सर्वप्रथम 1913 ई० में 'नील्स बोर' ने प्रतिपादित किया। उन्होंने प्लांक के क्वांटम सिद्धान्त का उपयोग परमाणु संरचना में किया और बताया कि जब एक इलेक्ट्रॉन विशिष्ट ऊर्जा के एक स्तर से कम ऊर्जा वाले विशिष्ट स्तर की ओर संक्रमण करता है तो उसमें विद्यमान ऊर्जा का ह्रास होता है। ऊर्जा संरक्षण

नियम के अनुसार यह ऊर्जा, विकिरण ऊर्जा के रूप में प्राप्त होती है और हमें उस तत्व द्वारा उत्सर्जित चमकीली रेखाएँ दिखाई देती हैं। यह ऊर्जा सदैव तरंग की आवृति के समानुपाती होती है : $E=h\nu$ (h—प्लांक का नियतांक ν—प्रकाश की तीव्रता) विकरण ऊर्जा निश्चित परिमाण में ही प्राप्त होती है और उसके फलस्वरूप स्पेक्ट्रम में विशिष्ट चमकीली रेखाएँ दिखाई देती हैं।

II बैण्ड स्पेक्ट्रम : यदि प्रकाश के स्रोत में किसी तत्व अथवा यौगिक के अणु स्वतन्त्र रूप में विद्यमान हैं तो हमें उनका विशिष्ट स्पेक्ट्रम बैण्ड (पट्टिका) के रूप में दिखाई देता है। वास्तव में किसी भी बैण्ड में कई चमकीली रेखाएँ परस्पर सटी हुई होती हैं। बैण्ड स्पेक्ट्रम तत्व अथवा यौगिक की आणविक अवस्था का द्योतक है। प्रत्येक बैण्ड का एक किनारा अधिक चमकीला और दूसरा कम चमकीला होता है। इसी किनारे से दूसरे बैण्ड का चमकीला भाग आरम्भ होता है। परमाणु की तरह जब अणु भी अधिक ऊर्जा वाले स्तर से कम ऊर्जा वाले स्तर की ओर संक्रमण करता है तो ह्रास हुई ऊर्जा बैण्ड स्पेक्ट्रम के रूप में प्राप्त होती है। इस अवस्था में रेखाएँ प्राप्त नहीं होती हैं, क्योंकि अणु का संक्रमण एक साथ कई प्रकार से होता है।

बैण्ड स्पेक्ट्रम के विशिष्ट लक्षण इस प्रकार हैं—

(i) बैण्ड स्पेक्ट्रम काले प्रदेश (Back ground) में दिखाई देते हैं और वे नियमित अनुक्रम में व्यवस्थित होते हैं :

(ii) बैण्ड का समुदाय यदि नियमित रूप से व्यवस्थित होता है तो यह एक प्रकार से बैण्ड पद्धति बनाता है। किसी आणविक स्पेक्ट्रम में इस प्रकार की बैण्ड पद्धतियाँ मौजूद होती हैं। किन्हीं स्पेक्ट्रम में बैण्ड पद्धतियाँ एक दूसरे को अतिव्याप्त कर लेती हैं।

(iii) प्रत्येक बैण्ड में कई रेखाएँ होती हैं जो एक दूसरे से पृथक्कृत होती हैं। एक तरफ रेखाएँ बहुत नजदीक होती हैं और दूसरी तरफ बहुत दूर-दूर होती हैं। प्रत्येक बैण्ड में तीव्रता किसी निश्चित सीमा से कम हो जाती है। दूसरे किनारे पर तीव्रता अस्पष्ट होती है जिससे बैण्ड स्पेक्ट्रम बहुत क्षीण दिखाई देते हैं।

(iv) किसी भी बैण्ड स्पेक्ट्रम में रेखाओं का होना अणुओं की विशिष्टता प्रदर्शित करता है जो कि दोलन विधि पर निर्भर करता है। किसी निश्चित बैण्ड की रेखाएँ कभी-कभी दूसरे बैण्ड की रेखाओं पर पड़ती हैं।

(v) चूंकि बैण्ड स्पेक्ट्रम अणुओं के विशिष्ट स्पेक्ट्रम हैं इसलिये जब अणुओं की प्रकृति बदलती है, स्पेक्ट्रम भी बदले हुए दिखाई देते हैं।

अवशोषण स्पेक्ट्रम

साधारणतया सूर्य के प्रकाश में हमें विभिन्न वस्तुएँ विशिष्ट रंग की दिखाई देती हैं। उदाहरण के लिये चांदी सफेद, वृक्ष की पत्तियाँ हरी, सोना चमकीला, नारंगी पीले रंग की इत्यादि। ये विभिन्न वस्तुएँ प्रकाश के वातावरण में अलग अलग रंग की भी दिखाई देती हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि जब सफेद प्रकाश इनके धरातल से परावर्तित होता है तो उसके अधिकांश रंग वस्तुओं द्वारा अवशोषित हो जाते हैं और परावर्तित किरणों में विशेष रंग ही विद्यमान होते हैं जिससे हमें उस वस्तु का धरातल विशिष्ट रंग से युक्त दिखाई देता है। सोने की चद्दर से परावर्तित किरण में अधिकांश नीला, लाल और नारंगी रंग होता है। इसीलिए उसका मिश्रित प्रभाव पीला है। यदि सोने की चद्दर बहुत ही पतली हो तो निर्गत किरणावली भी देखी जा सकती है, और वह हरी दिखाई देती है।

इसी प्रकार यदि सफेद प्रकाश, लाल रंग के पतले कांच की सतह पर गिरे तो निर्गत किरण लाल रंग की होती है और परावर्तित किरण सफेद ही दिखाई देती है।

इससे स्पष्ट है कि निर्गत किरण में लाल रंग के अलावा सारे रंग उस काँच के द्वारा या तो अवशोषित या परावर्तित कर दिये गये हैं। यदि हम किसी पदार्थ की सतह को परावर्तित प्रकाश में देखें तो सतह का रंग उसके द्वारा परावर्तित प्रकाश के रंग पर निर्भर करता है और यदि निर्गत प्रकाश में देखें तो उसकी सतह का रंग विभिन्न होगा क्योंकि निर्गत किरणावली में विभिन्न प्रकार के रंग उपस्थित हैं जैसा कि सोने की चद्दर की सतह के रंग से स्पष्ट किया गया है।

किसी तप्त ठोस पदार्थ के स्पेक्ट्रम में सात रंग दिखाई देते हैं लेकिन यदि इस स्रोत के सम्मुख कोई रंगीन यथा नीला काँच रखकर उससे निर्गत प्रकाश का स्पेक्ट्रम देखें तो उसमें सब रंग उपस्थित नहीं होगा, केवल नीले रंग की बाहुल्यता होगी। इससे स्पष्ट है कि अन्य रंग, नीले काँच द्वारा अवशोषित अथवा परावर्तित हो गये। यह स्पेक्ट्रम जिसमें सब रंग उपस्थित नहीं हैं सतत अवशोषण स्पेक्ट्रम कहलाता है। क्राउन काँच, जिसके लैंस आदि बनाये जाते हैं, भी विद्युत चुम्बकीय विकिरण के कुछ अंश को अवशोषित करता है। वह पराबैंगनी और अवरक्त क्षेत्र के अधिकांश भाग (अवरक्त क्षेत्र 25000 A° से अधिक तरंग-दैर्ध्य वाली तरंगे और पराबैंगनी क्षेत्र 3800 A° से कम तरंगदैर्ध्य वाली तरंगे) अवशोषित करता है। अतएव दृश्य स्पेक्ट्रम इस भाग के स्पेक्ट्रम को नहीं दर्शाता है। इस क्षेत्र के लिए हम अन्य पदार्थ के लैंस अथवा प्रिज्म लेते हैं। अवरक्त क्षेत्र के लिए रॉक साल्ट के प्रिज्म तथा पराबैंगनी क्षेत्र के लिए क्वार्टज के प्रिज्म लेते हैं।

रेखिल अवशोषण स्पेक्ट्रम : यदि हम कार्बन आर्क से उत्सर्जित प्रकाश को सोडियम वाष्प में से गुजारें और फिर निर्गत प्रकाश के स्पेक्ट्रम को किसी प्रिज़्म स्पेक्ट्रोमीटर से देखें तो पीले रंग के क्षेत्र में दो सोडियम की काली रेखाएँ D_1 और D_2 दिखाई देती हैं यदि हम एक लम्बी फोटोग्राफिक प्लेट का उपयोग करें तो पीले क्षेत्र में उपस्थित काली रेखाओं के अलावा पराबैंगनी क्षेत्र में भी कई काली रेखाएँ प्लेट पर दिखाई देती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि स्रोत (कार्बन-आर्क) से उत्सर्जित विकिरण ऊर्जा इन विशिष्ट स्थानों पर नहीं पहुँचती है, वह ऊर्जा सोडियम वाष्प द्वारा अवशोषित हो गयी। यदि हम सोडियम वाष्प के स्थान पर अन्य तत्व की वाष्प रखें तो अब अन्य विशिष्ट काली-रेखाएँ दृश्य अथवा अदृश्य क्षेत्र में उपस्थित होती हैं। प्रत्येक तत्व विशिष्ट ऊर्जा अवशोषित करता है और उसके कारण स्पेक्ट्रम में विशिष्ट काली रेखाएँ दिखाई देती हैं। यदि हम स्रोत कार्बन-आर्क के स्थान पर सोडियम दीप का उपयोग करें तो उत्सर्जन स्पेक्ट्रम में पहले जहाँ दो चमकीली रेखाएँ विद्यमान थीं, अब काली रेखाएँ उपस्थित होंगी। ● ●

आई० सी० एम० आर० द्वारा 12 वैज्ञानिकों को पुरस्कार

इण्डियन कौंसिल आफ मेडिकल रिसर्च (आई० सी० एम० आर०) ने 1978 के वार्षिक पुरस्कार के लिये 12 जैव चिकित्सा वैज्ञानिकों को उनके आधारभूत खोजों तथा विभिन्न क्षेत्रों में उनके योगदान के लिये चुना है। इनके नाम इस प्रकार हैं :

डॉ० शान्ति घोष : देहली	बाल चिकित्सा के क्षेत्र में सामुदायिक कार्य
डॉ० पी० मुदानी : बम्बई	बाल चिकित्सा
डॉ० एस० कामेश्वरन : मद्रास	दक्षिण भारत में ध्वनि प्रदूषण
डॉ० विनोदिनी रेड्डी : हैदराबाद	पोषण विज्ञान
डॉ० एस० पी० गेथोस्कर : बम्बई	कैंसर शोध
डॉ० राज नारायण : मद्रास	तपेदिक की रोक थाम
डॉ० के० एस० चुघ : चन्दीगढ़	वृक्क दोष
डॉ० महारानी चक्रवर्ती : वाराणसी	हॉस्टिरस अन्योन्यक्रिया

40 वर्ष की अवस्था से कम के वैज्ञानिक

डॉ० के० ए० वी० आर० कृष्णामचारी	खाद्य तथा पर्यावरण टॉक्सिन
डॉ० प्रदीप सेठ	कैंसर सेरविक्स, हरपेक्स सिम्पलेक्स विषाणु
डॉ० एस० के० भट्टाचार्य	सी० एन० एस० फार्मोकोलॉजी
डॉ० सी० धस्करन	पोषण विज्ञान

पारिख पुरस्कार

अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के भौतिकविद् तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० डी० एस० कोठारी को 1978 का जी० डी० पारिख मेमोरियल पुरस्कार प्रदान किया गया है। 5000 का यह पुरस्कार उन्हें शिक्षा क्षेत्र में उनके योगदान के लिये दिया गया है।

फान प्रिकेट पुरस्कार

डॉ० ए० एन० मालविया को उनके लाक्षणिक प्रतिरक्षा विज्ञान व एलर्जी पर शोध कार्य के लिये उन्हें 1978 का फान प्रिकेट स्वर्ण पदक प्रदान किया गया है। यह पुरस्कार विश्व विख्यात प्रतिरक्षा वैज्ञानिक डॉ० फान प्रिकेट के नाम पर दिया जाता है। इन्डियन कालेज आफ एलर्जी एण्ड एप्लाइड इमुनोलोजी के 12 वें वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर स्वास्थ मन्त्री श्री जगदम्बी प्रसाद यादव ने यह पुरस्कार डॉ० मालविया को दिया।

शरीर विकास के लिए पोषक तत्वों की आवश्यकता

● कु० पूनम

मानव शरीर एक यन्त्र के समान है, उसके विभिन्न अंग यान्त्रिक कलपुर्जों के समान सदैव क्रियाशील रहते हैं। यन्त्र के कलपुर्जों को सदैव क्रियाशील बनाये रखने के लिये ईंधन की आवश्यकता होती है। ठीक उसी प्रकार शरीर को सुचारु रूप से कार्य करने के लिये भोजन की आवश्यकता होती है। शरीर के अंगों के कार्य करते रहने के कारण शक्ति व ऊर्जा व्यय होती है तथा कोषाणु नष्ट होते हैं। इसके अतिरिक्त इस सजीव शरीर में विकास भी निरन्तर होता रहता है। इसी कारण मानव की सदैव ही भोजन के उपभोग, शरीर द्वारा उसका अभिशोषण तथा शरीर पर पड़ने वाले उसके प्रभाव आदि के विषय में जानने की उत्सुकता एवं रुचि रही है।

आधुनिक शताब्दी के प्रारम्भ से ही पोषण विज्ञान प्रारम्भिक रूप से ऊर्जा, ऊर्जा के लिये आवश्यक भोज्य पदार्थों—काबोज, वसा तथा प्रोटीन—के तुलनात्मक मूल्य से ही सम्बन्धित है। इसके उपरान्त ही विभिन्न स्रोतों से प्राप्त प्रोटीनों में महत्वपूर्ण अन्तर पाया गया और इस प्रकार पोषण विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान व विकास का नवीन युग प्रारम्भ हुआ। परिणामतः खनिज लवणों और विटामिनों की खोज हुई।

आज कल भी प्रोटीन, खनिज लवण तथा विटामिनों से सम्बन्धित नवीन खोजें की जा रही हैं। पोषण की कहानी अभी पूर्ण नहीं हुई है। उसमें कई नाटकीय परिवर्तन तथा नवीन महत्वपूर्ण खोजों की आशा की जा रही है। सामान्यतः यह माना जाता है कि पोषण विज्ञान ने बहुत कम समय में, विशेषकर हाल ही के कुछ वर्षों में, अपेक्षाकृत अधिक प्रगति एवं उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं जिनका चिकित्सा विज्ञान में महत्वपूर्ण स्थान है। चिकित्सा विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य जो भी भोजन करता है वह सैद्धान्तिक रूप से उसके स्वास्थ्य, आन्तरिक बल, तन्त्रिका-तन्त्र, नैतिकता तथा मानसिक प्रक्रिया को प्रभावित करता है। यह बालक के सामान्य विकास तथा स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

हमारे शरीर के निर्माण में हाइड्रोजन, आक्सीजन तथा नाइट्रोजन आदि तत्वों का प्रमुख कार्य रहता है। लेकिन इन तत्वों के अतिरिक्त कुछ अन्य तत्व भी हमारे शरीर में अत्यन्त अल्प मात्रा में उपस्थित रहते हैं। शरीर की सामान्य प्रक्रियाओं के लिये उनकी उपस्थिति अनिवार्य है। ये तत्व रासायनिक लवण कहलाते हैं।

कुल मिलाकर 20 तत्व ऐसे हैं जिनमें से 10 का शरीर के निर्माण व उसके सुचारु रूप से संचालन व नियमन के लिये शरीर में होना बहुत आवश्यक है। ये रक्षात्मक भोज्य पदार्थों के अन्तर्गत आते हैं। शरीर का 1/25 भाग इन्हीं तत्व से वना होता है। यह रासायनिक तत्व निम्नलिखित हैं।

कैल्सियम, फास्फोरस, पोटेशियम, सल्फर, सोडियम, क्लोरीन, मैग्नीशियम, आयरन, आयोडीन, ताँबा।

शरीर में खनिज लवणों की बहुत ही न्यून मात्रा की आवश्यकता होती है। तथा यह किसी भी पौष्टिक आहार से पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो सकते हैं।

निम्नलिखित तालिका से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न तत्व भिन्न 2 मात्रा में हमारे शरीर में विद्यमान रहते हैं—

तालिका 1

तत्व	शरीर में मात्रा प्रतिशत	प्रति 45 किलो ग्राम में	विरल-तत्व	शरीर में मात्रा प्रतिशत	प्रति 45 किलोग्राम में
कैल्शियम	1·5 से 2·2	675 से 990 ग्रा०			
फास्फोरस	0·8 से 1·2	360 से 540 ग्रा०	मैंगनीज कॉपर	0·0003 0·00015	0·155 ग्राम 0·0675 "
पोटेशियम	0·35	157·5 ग्रा०	आयोडीन	0·0004	0·018 "
सल्फर	0·25	112·5 "	कोबाल्ट	न्यून मात्रा	न्यून मात्रा
सोडियम	0·15	67·5 "	ज़िंक	न्यून मात्रा	न्यून मात्रा
क्लोरीन	0·15	67·5 "	फ्लोरीन	न्यून मात्रा	न्यून मात्रा
मैग्नीशियम	0·05	22·5 "			
आयरन	0·004	1·8 "			

कैल्शियम : शरीर का जितना भाग खनिज लवण से बना है उसका लगभग 1/2 भाग कैल्शियम से बना होता है। शरीर में 1400 ग्राम कैल्शियम होता है। 17% मात्रा हड्डियों और दाँतों में निहित रहती है तथा शेष मात्रा रक्त और शरीर के अन्य तरल रसों में घुलनशील रूप में विद्यमान रहती है।

कैल्शियम शरीर में अस्थि तथा दाँतों के निर्माण एवं स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। अन्य खनिज लवणों के साथ मिलकर यह तत्व अस्थियों एवं दाँतों को स्थिरता प्रदान करता है। अस्थियों में स्थिरता न होने से वे शरीर को आश्रय नहीं दे सकतीं। कैल्शियम और फास्फोरस कोलजन नामक प्रोटीन से मिलकर दाँतों का निर्माण करते हैं। दाँतों के बाहरी भाग में पाये जाने वाले सीमेंट पदार्थ में 99% खनिज लवण हैं जिनमें 36% कैल्शियम है। अस्थियों की पूर्णरूपेण वृद्धि हो जाने पर भी क्षतिपूर्ति तथा पुराने घिसे हुए तन्तुओं की मरम्मत के लिये कैल्शियम की आवश्यकता होती है। कैल्शियम हमारे शरीर में अनेक नियामक कार्य करता है जैसे:

(अ) रक्त का थक्का जमाने में सहायता प्रदान करना।

(ब) हृदय की गति को नियन्त्रित करना।

(स) स्नायुओं को स्वस्थ रखना।

(द) मांसपेशियों की क्रियाशीलता को बनाये रखना।

दूध कैल्शियम की प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट माध्यम है। दूध से प्राप्त कैल्शियम समुचित रूप से अवशोषित कर लिया जाता है। बढ़ते हुए बच्चे जिन्हें वयस्कों की अपेक्षा अधिक मात्रा में कैल्शियम की आवश्यकता होती है अपना कैल्शियम मुख्यतः दूध से ही प्राप्त करते हैं। जब तक बच्चे वयस्क न हो जायें तब तक उन्हें 4 से 6 प्याले दूध किसी भी रूप में प्रतिदिन मिलना चाहिये। दूध में कैल्शियम तथा फास्फोरस का उचित अनुपात रहता है जिससे कैल्शियम का शोषण ठीक प्रकार से होता है। दूध में लैक्टोस भी होता है जो कैल्शियम के शोषण में सहायता देता है। गेहूँ, चावल, आलू, मूली, शलजम, शकरकन्द, माँस ; प्राणिज चर्बियों तथा वनस्पतिक तेल आदि कैल्शियम की प्राप्ति के स्रोत हैं।

कैल्शियम की न्यूनता के परिणाम स्वरूप बच्चों की बाढ़ रुक जाती है दाँत कमजोर हो जाते हैं तथा हड्डियाँ निर्बल हो जाती हैं। बच्चों को अस्थि विकृति तथा बड़ों को आस्टोमलेशिया नामक रोग कैल्शियम की हीनता के कारण ही हो जाते हैं। इस रोग में कैल्शियम फास्फेट की मात्रा कम हो जाती है जिससे अस्थियों में दृढ़ता नहीं रह पाती। परिणाम स्वरूप वह शरीर के भार के कारण विकृत हो जाती हैं। वृद्धावस्था में कैल्शियम की कमी से हड्डियों के जोड़ों में दर्द होने लगता है तथा कमजोरी आ जाती है। दैनिक आहार में कैल्शियम की मात्रा बढ़ा देने से उक्त रोगों में अपेक्षाकृत कमी हो जाती है। कैल्शियम की कमी, से ताँन्त्रिक उत्तेजना, माँसपेशियों की सक्रियता में कमी, दमा तथा चर्म रोगों की उत्पत्ति, शरीर के समुचित विकास में कमी तथा शक्तिहीनता आदि रोग हो जाते हैं।

कैल्शियम की अधिकता से हाइपरकैल्शिमिया नामक रोग हो जाता है। रक्त तथा माँसपेशियों में कैल्शियम की अधिक मात्रा होने से यह रोग हो जाता है। इससे उच्च रक्त दाब, (High blood Pressure) व आमाशय तथा आँतों में रक्त स्राव होने लगता है। यह रोग उन्हें अधिक होता है जिन रोगियों को पैप्टिक फोड़े के समय दूध तथा क्षारीय औषधियाँ अधिक मात्रा में दी जाती हैं।

फास्फोरस : शरीर के विभिन्न अंगों तथा तन्तुओं के निर्माण में फास्फोरस सहायक होता है। शरीर में 1% भाग फास्फोरस होता है। जन्तु तथा वनस्पति दोनों ही समूहों में फास्फोरस अधिक मात्रा में मिलता है। इसके अलावा दूध व अण्डे में भी फास्फोरस उचित मात्रा में होता है। जिन अनाजों में पालिश नहीं की जाती है उनमें भी फास्फोरस मिलता है। लेकिन फल तथा तरकारियों में फास्फोरस की मात्रा नहीं के बराबर होती है।

फास्फोरस हमारे शरीर में महत्वपूर्ण कार्य करता है। यह कैल्शियम के साथ मिलकर कैल्शियम फास्फेट बनाता है जो अस्थियों तथा दाँतों में दृढ़ता प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त कैल्शियम के अधिशोषण में भी फास्फोरस सहायक होता है। सन्तानोत्पत्ति एवं वंशानुगत विशेषतायें, जो कि पीढ़ी दर पीढ़ी चलती हैं, न्यूक्लियो प्रोटीन के कारण होती हैं! इस न्यूक्लियो प्रोटीन के निर्माण में फास्फोरस का विशेष हाथ होता है। न्यूक्लियो प्रोटीन सभी कोशों में पाया जाता है और उसका निर्माण फास्फोरस के द्वारा होता है।

लोहा : लोहा हमारे शरीर में बहुत ही अल्पमात्रा में पाया जाता है लेकिन फिर भी शरीर में इसकी उपस्थिति अनिवार्य होती है। लोहा 5 रूपों में शरीर में पाया जाता है।

(अ) लाल रक्त कण में पाई जाने वाली हीमोग्लोबीन में यह उपस्थित रहता है। हीमोग्लोबीन द्वारा शरीर में अपचोपचयन क्रियाओं को करने में लोहा का विशेष हाथ होता है। शरीर में पाई जाने वाली लोहे की मात्रा का सबसे बड़ा भाग हीमोग्लोबीन में होता है।

(ब) माँसपेशियों में पाई जाने वाली हीमोग्लोबीन में भी लोहा होता है। माँसपेशियों में पाई जाने वाली हीमोग्लोबीन को मायोग्लोबीन भी कहते हैं। यह आक्सीकारक तथा अवकारक की क्रिया को नियन्त्रित रखता है।

(स) लोहा प्रत्येक कोशों में उपस्थित क्रोमेटीन का आवश्यक तत्व होता है।

(द) शरीर में पाये जाने वाले कुछ एन्जाइमों में भी लोहा रहता है।

(य) लोहा तन्तुओं के आक्सीकारक तथा अवकारक क्रियाओं में उत्प्रेरक का कार्य करता है।

लोहे का प्रमुख कार्य हमारे शरीर में हीमोग्लोबीन का निर्माण करना है। हीमोग्लोबीन नामक तत्व लोहा तथा प्रोटीन से मिलकर बना होता है। इसमें एक कण लोहे का तथा 1 कण ग्लोबीन नामक प्रोटीन का मिलकर हीमोग्लोबीन बनाता है। लोहा की कमी से हीमोग्लोवीन का निर्माण असम्भव होता है। आक्सीजन को फेफड़े तक

पहुँचाने तथा फेफड़े से अन्य अंगों तक पहुँचाने में हीमोग्लोबीन का विशेष कार्य होता है। यह आक्सीजन से मिलकर आक्सी-हीमोग्लोबीन बनाता है और पूरे शरीर में आक्सीजन पहुँचाता है। इस प्रकार हीमोग्लोबीन के द्वारा आक्सीजन का परिभ्रमण नियमित रूप से चलता जाता है।

लोहे की सबसे अधिक मात्रा लिवर में पाई जाती है। इसके अतिरिक्त माँस, अण्डे की जर्दी, सूखे मेवे, हरी पत्तेदार सब्जियाँ, गन्ने का रस आदि इसके प्रमुख स्रोत हैं।

शरीर में लोहे की हीनता के कई कारण हैं जैसे, भोजन में लोहे की कम मात्रा का लेना, शरीर में से रक्त की अधिक मात्रा का निकल जाना तथा भोजन के साथ लिए गये लोहे का उचित प्रकार से अधिशोषण न होना आदि। इसकी कमी से आँतों से सम्बन्धित रोग जैसे, दस्त आना तथा आमाशय में रस की कमी का सामना करना पड़ता है। शरीर में लोहे की कमी होने से इसके रोग के लक्षण दिखाई नहीं पड़ते हैं। परन्तु भीतरी अंगों को इसकी हीनता का सामना करना पड़ता है। लोहे की कमी से ऐनीमिया नामक रोग हो जाता है। ऐनीमिया में रोगी थकावट का अनुभव करता है, चिड़चिड़ा हो जाता है। ऐनीमिया से दिल की धड़कन बढ़ जाती है और अधिक कमजोरी लगने लगती है।

आयोडीन : खनिज लवणों में आयोडीन का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि शरीर में आयोडीन की कमी बहुत कम देखने को मिलती है फिर भी इसकी उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक है। खनिज लवणों में आयोडीन ही एक ऐसा तत्व हैं जो थायरायड ग्लैण्ड को क्रियाशील बनाता है इसकी कमी से घेंघा नामक रोग हो जाता हैं। आयोडीन हमारे शरीर में निम्नलिखित कार्य करता है।

शरीर के कोशों में होने वाली उपचयन की क्रिया की दर को थायराक्सिन प्रभावित करता है। जब थायराक्सिन आवश्यकता से अधिक मात्रा में बनने लगती है तब शरीर की ऊर्जा शक्ति अधिक बढ़ जाती है और शरीर दुबला हो जाता है। इसके अलावा थायराक्सिन की अधिकता से शरीर की शक्ति कम हो जाती है और शरीर मोटा होने लगता है। आयोडीन की कमी से बच्चों में बौनेपन (Cretinism) का रोग हो जाता हैं। बच्चों की वृद्धि तथा शारीरिक एवं मानसिक विकास में बाधा होती है। इस रोग में बच्चों के ओठ इतने मोटे हो जाते हैं कि उनको बन्द करना कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त बड़ों में आयोडीन की कमी से निक्सोडिमा रोग हो जाता है। हाथ, पैर तथा चेहरे पर सूजन आ जाती है। रोगी व्यक्ति आलसी तथा सुस्त हो जाता है।

आयोडीन की कमी से जानवरों तथा मनुष्यों दोनों की सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो जाती है तथा बालों की वृद्धि रुक जाती है।

साधारणतः भोजन में आयोडीन बहुत कम मात्रा में पाई जाती है। वनस्पति, जलवायु तथा पानी से इसकी प्राप्ति होती है।

आयोडीन की कमी हो जाने से थायराक्सिन निष्कासन कम हो जाता है जिससे शरीर की वृद्धि में बाधा पड़ती है।

सोडियम : सोडियम रक्तवारि में कोशों की दीवारों को तरल रखने और अतिरिक्त कोशों को गीला रखने में सहायता पहुँचाता है। इसके अलावा सोडियम का कुछ अंश अस्थियों में उपस्थित रहता है। सोडियम अम्ल तथा क्षार की मात्रा के सन्तुलन को बनाये रखता है। शरीर में पाये जाने वाले समस्त खनिज लवणों में कुछ क्षार के गुण तथा कुछ अम्ल के गुण रहते हैं। जब ये दोनों एक निश्चित अनुपात में शरीर में रहते हैं तो शरीर की रासायनिक क्रिया भी ठीक प्रकार से चलती है। इसकी कमी या अधिकता से शरीर पर इनका प्रभाव पड़ता है। रसाकर्षण दाब में भी सोडियम सहायक होता है। शरीर में पानी के सन्तुलन को बनाये रखने के लिए भी सोडियम आवश्यक होता है। माँसपेशियों के संकोचन के लिए भी सोडियम आवश्यक होता है। सोडियम की 2 से 6 ग्राम तक मात्रा प्रतिदिन लेनी आवश्यक है।

सोडियम साधारणतः नमक में पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त कम या अधिक मात्रा में ये सभी भोज्य पदार्थों में पाया जाता हैं। इसकी कमी या अधिकता से अति रुधिर तनाव हो जाता है।

सोडियम की भाँति क्लोरीन भी रक्तवारि तथा बाह्य कोशिका रस में पाई जाती है। क्लोरीन भी शरीर में अम्ल तथा क्षार के सन्तुलन को बनाये रखती है। इसके अलावा क्लोरीन रसाकर्षण दाब में भी सहायक होती है। आमाशय के रस में क्लोराइड पाया जाता है जो क्लोरीन के साथ मिलकर हाइड्रोक्लोरिक अम्ल बनाने में सहायक होता है। क्लोरीन भी सोडियम की तरह साधारण नमक से कुछ मात्रा में प्राप्त हो जाती है इसके अलावा सुअर के मांस, अण्डा, पनीर में अधिक पायी जाती है। तरकारियों में क्लोरीन कम अंश में होती है इसलिए इसकी बहुत कम हीनता देखने को मिलती है। क्लोरीन की हीनता से शारीरिक वृद्धि पर प्रभाव पड़ता है।

पोटैसियम : पोटेसियम भी रक्तवारि तथा अन्तः कोशिका में पाया जाता है। मनुष्य शरीर में यह लाल रक्त-कण तथा कोशिकाओं में उपस्थित होता है। सोडियम तथा क्लोरीन की भाँति पोटेसियम भी रसाकर्षण दाब तथा अम्ल और क्षार की मात्रा को सन्तुलित बनाये रखता है। शरीर में उत्तम कैल्शियम के संग्रहण के लिए पोटेसियम की आवश्यकता पड़ती है। मांस-पेशियों के संकोचन, विमोचन तथा हृदय की गति को नियमित ढंग से बनाये रखने के लिए पोटेसियम की आवश्यकता पड़ती है। 1-3 मिलीग्राम पोटेशियम प्रतिदिन की आवश्यकता की पूर्ति करता है। पोटेशियम सभी प्रकार के भोज्य पदार्थों में पाया जाता है। पशु जगत तथा वनस्पति जगत से प्राप्त होने वाले पदार्थों में पोटेसियम होता है। चाय, काफी, मसाले, चीनी का शीरा, आलू के चिप्स में भी पोटेसियम पाया जाता है। साधारण स्थिति में पोटेसियम की हीनता शरीर में नहीं पाई जाती है। साधारणतः रोग की अवस्था में तथा शरीर का कोई भी भाग जल जाने पर पोटेसियम की हीनता आ जाती है। शरीर की मांस-पेशियाँ कमजोर हो जाती हैं।

अन्य : सल्फर कोशों के संगठन में विशेष कार्य करता है। वारि-रस, पित्त-रस तथा इन्सुलिन में भी सल्फर पाया जाता है। सल्फर प्रोटीन के पाचन, शोषण तथा उपापचयन में सहायता करता है। सल्फर की कमी से जानवरों में तथा मनुष्यों में बालों की वृद्धि ठीक प्रकार से नहीं हो पाती है।

मैग्नीशियम, कार्बोहाइड्रेट के मेटाबालिजम की क्रिया में भाग लेने वाले एन्जाइम की क्रियाओं को तीव्र कर देता है तथा कैल्शियम और फास्फोरस के उपापचयन में भी मैग्नीशियम सहायता करता है। मैग्नीशियम की कमी से जानवरों की वृद्धि रुक जाती है। मैग्नीशियम की हीनता से संज्ञाहीनता हो जाती है। ये प्रायः शराब पीने वाले व्यक्तियों में अधिकता से देखने को मिलती है।

मैग्नीज प्रोटीन व कार्बोहाइड्रेट के मैटाबालिजम में भाग लेने वाले एन्जाइम की क्रिया को तेज कर देता है। मैग्नीज की कमी से चूहों की शारीरिक वृद्धि रुक जाती है। आवश्यकता से अधिक प्रयोग करने पर शरीर में विष उत्पन्न हो जाता है। ये रोग अधिकतर खानों में काम करने वाले लोगों को अधिकता से होता है तथा चेहरे का भाव विगड़ जाता हैं।

ताँबा लोहे के साथ मिलकर हीमोग्लोबीन का निर्माण करता है तथा लाल रक्त-कण के उचित संगठन के लिए भी ताँबा आवश्यक होता है। यह यकृत, मूँगफली में अधिकता से पाया जाता है।

प्रोटीन की पाचन क्रिया में भाग लेने वाले एन्जाइम का निर्माण जिंक की उपस्थिति में होता है। इसके अलावा नलिका विहीन ग्रन्थियों में से निकलने वाले रस की क्रियाशीलता के लिए जिंक आवश्यक होता है। विशेषकर क्लोम ग्रन्थि से निकलने वाले इन्सुलिन नामक रस को क्रियाशील रखने के लिए जिंक की अति आवश्यकता होती है। जिंक की कमी से त्वचा फट जाती है। आवश्यकता से अधिक जिंक की मात्रा यदि शरीर में हो जाती है तो शरीर में उपापचयन की क्रिया में विघ्न उत्पन्न होता है तथा ताँबा और लोहा मिलकर जो हीमोग्लोबीन का निर्माण करता है वह क्रिया शरीर में ठीक से नहीं हो पाती जिसके परिणाम स्वरूप एनीमिया नामक रोग हो जाता है। ●

1978 के नोबेल पुरस्कार

औषधि विज्ञान

आनुवंशिक इंजीनियरिंग के जटिल परन्तु अत्यन्त उपयोगी क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान देने के उपलक्ष में तीन वैज्ञानिकों को औषधि विज्ञान का नोबेल पुरस्कार दिया गया है। इनमें से एक स्विटज़रलैण्ड का निवासी है व दो अमरीका के रहने वाले हैं। इनके नाम हैं प्रोफेसर वार्नर आर्बर जो बासल विश्वविद्यालय (स्विटज़रलैण्ड) में, तथा हैमिल्टन स्मिथ और डैनियल नाथन्स जो जान हापकिन्स विश्वविद्यालय, बाल्टीमोर (अमरीका) में कार्यरत हैं। प्रोफेसर आर्बर ने एक ऐसे रसायन एन्जाइम की खोज की है जिसकी सहायता से वैज्ञानिक जीव में आनुवांशिक द्रव्य को खण्डित या परिवर्तित कर सकते हैं और नया जीव निर्मित कर सकते हैं। इस कार्य की पुष्टि प्रोफेसर स्मिथ ने किया जबकि प्रोफेसर नाथन्स ने केवल चार वर्ष पूर्व इस तकनीक का सफल एवं महत्वपूर्ण उपयोग करके दिखाया। इस तकनीक की विशेषता यह है कि इसके द्वारा आनुवंशिक रोगों और संभवतः कैंसर की रोक थाम की जा सकती है, महंगी दवाओं को सस्ता किया जा सकता है तथा मानव को अधिक अच्छा भोजन देने की दृष्टि से फसल के पौधों को परिवर्तित किया जा सकता है।

अर्थशास्त्र : 62 वर्षीय अमेरिकी प्रोफेसर हर्बर्ट ए० साइमन को 165000 डालर के नोबेल पुरस्कार के लिये चुना गया है। 'अर्थशास्त्रीय संगठन में निर्णय विधि' पर महत्वपूर्ण कार्य करने के लिये उन्हें यह पुरस्कार प्रदान किया गया है। प्रोफेसर साइमन, पिट्सबर्ग, पेन्सिलवानिया (अमरीका) के कार्नेजी-मेलन विश्वविद्यालय में कार्यरत हैं। प्रोफेसर साइमन के कार्य से अनुप्रायोगिक गणित, सांख्यिकी, ऑपरेशन एनॉलिसिस, अर्थशास्त्र तथा व्यवसाय प्रशासन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति हो सकी है। उनके प्रकाशनों का सम्बन्ध संरचना तथा अर्थशास्त्र संगठन मै निर्णय नीति के बिल्कुल नये क्षेत्र से है।

रसायन शास्त्र : ब्रिटिश रसायन शास्त्री डॉ० पीटर मिचेल को नोबेल पुरस्कार देने की घोषणा की गई है। 58 वर्षीय डॉ० मिचेल ब्रिटेन में कोर्नवाल के नगर बोडमिन में स्थित ग्लिन रिसर्च इन्सटीट्यूट में कार्य करते हैं। डॉ० मिचेल ने रसायन परासरण सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जिसकी सहायता से जैविक ऊर्जा स्थानान्तरण को समझाया जा सकता है।

भौतिकी : स्वेडेन की रॉयल एकेडेमी की घोषणा के अनुसार तीन भौतिकविदों को नोबेल पुरस्कार दिया जायगा जिनमें से एक रूसी तथा दो अमरीकी वैज्ञानिक हैं। मास्को के सुविख्यात भौतिक शास्त्री प्रोफेसर प्योत्र ल्योतेविच कपिट्जा को निम्न ताप भौतिकी के आधारभूत शोधों के लिए पुरस्कृत किया गया है। शेष आधे पुरस्कार को न्युजर्सी स्थित बेल टेलिफोन लैबोरेट्री में कार्यरत डॉ० आर्नो ए० पेंजियास तथा डॉ० राबर्ट डब्लू० विल्सन को कास्मिक लघु तरंग पृष्ट भूमि विकिरण की खोज के लिए प्रदान किया गया है।

दूसरा परखनली शिशु भारत में

कलकत्ता के एक नर्सिंग होम में 3 अक्तूबर को एक दूसरी परख नली कन्या का जन्म हुआ। आधिकारिक सूचना के अनुसार ओल्धम, इंगलैंड में 25 जुलाई 1978 को जन्मी कन्या लुइसी को प्रथम परखनली शिशु माना जाता है जिसका श्रेय डॉ० पेट्रिक स्ट्रेप्टू तथा डॉ राबर्ट एडवर्ड को दिया जाता है। गिल्बर्ट ब्राउन तथा श्रीमती ब्राउन की इस कन्या के जन्म के बाद इटली में सूचना दी गई थी कि इसके पूर्व भी परखनली शिशुओं को जन्म दिलवाया गया था। इस घोषणा के बाद यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि क्या ओल्धम की लुइसी ही वास्तव में प्रथम परखनली शिशु है। अभी यह समस्या थी ही कि भारतीय वैज्ञानिकों ने भारत की प्रथम व विश्व की दूसरी परखनली कन्या को जन्मा कर भारतीय विज्ञान को एक नया आयाम प्रदान किया। भारतीय वैज्ञानिकों के नाम हैं : डॉ० सरोज कान्ती भट्टाचार्या प्रसूति विज्ञान विशेषज्ञ जो कलकत्ता मेडिकल कालेज में कार्यरत हैं, डॉ० सुभाष मुकर्जी, शरीर विज्ञान विशेषज्ञ, बांकुरा सम्मिलानी मेडिकल कालेज तथा डॉ० सुनीत मुकर्जी कोशिका जीव वैज्ञानिक जो जादवपुर विश्वविद्यालय में शोधरत हैं।

श्री बेला अग्रवाल इस नई कन्या की माता हैं तथा श्री पी० के० अग्रवाल पिता हैं। इस दम्पति का विवाह 16 वर्ष पूर्व हुआ था और उनके अभी तक कोई सन्तान नहीं जन्मी थी। 3 किलो 350 ग्राम की यह कन्या, जिसका नाम दुर्गा रखा गया है, श्री व श्रीमती अग्रवाल की प्रथम सन्तान है जिसका जन्म नई तकनीक द्वारा परखनली शिशु के रूप में करवाया गया है। श्रीमती बेला अग्रवाल की डिम्ब नलिका में अवरोध था और वह शिशु को जन्म देने में असमर्थ थीं।

आधुनिक यंत्रों के अभाव में श्रीमती अग्रवाल की योनि नलिका से डिम्ब प्राप्त करने की नई तकनीक प्रयोग में लाई गई। पति के शुक्राणु और पत्नी के डिम्बाणु को मिश्रित करके 53 दिन तक उसे रेफ्रिजरेटर में रखा गया और तत्पश्चात एक सिरिंज की मदद से, जिसमें प्लास्टिक का टाप लगा था, गर्भाशय में पहुँचा दिया गया। कन्या का जन्म सीज़ेरियन आपरेशन द्वारा हुआ। भ्रूण प्रत्यारोपण की इस नई तकनीक को जिसमें किसी आधुनिक यन्त्र का प्रयोग नहीं हुआ, स्पष्ट समझाने का इन डाक्टरों को निर्देश हुआ है। इसकी सत्यता पर भी कुछ लोगों ने प्रश्न चिन्ह लगाया और यह कहा कि सारी तकनीक को छिपा कर रखा गया है। एक महिला वैज्ञानिक का मत है कि यदि यह सत्य है तो यह वास्तव में बहुत बड़ी उपलब्धि है। 53 दिनों के अन्तराल के कारण भी यह सन्देह किया गया कि हो सकता है यह गर्भ सामान्य समागम क्रिया द्वारा धारण हुआ हो। वास्तविकता का पता इन शोध कर्त्ताओं द्वारा विश्वसनीय प्रमाण उपस्थित करने पर ही चलेगा। सम्भवतः जनवरी 1979 के आरम्भ में होने वाले साइंस कांग्रेस में इस घटना पर पूर्ण प्रकाश पड़े। निसन्देह भारतीय विज्ञान के क्षेत्र में यह बहुत बड़ी उपलब्धि होगी और विशेष कर इसलिये कि उन्नत राष्ट्रों की भांति भारत में कोई भी आधुनिक सुविधा उपलब्ध नहीं है। (पं० बंगाल की कमेटी ने इस खोज पर शंका व्यक्त की है) ● ●

कुष्ट रोग

इतिहास

● डॉ० निर्मल कुमार तथा डॉ० शिव प्रकाश

कहा जाता है कि कुष्ट रोग उतना ही पुराना है जितना कि यह दुनिया पुरानी है। एक स्रोत के अनुसार नील नदी के ऊपरी भाग के क्षेत्र में यह रोग पनपा! लुक्रेस्यिस ने अपनी पुस्तक 'द नेचुरा रिस्म' में इस रोग का वर्णन किया है। मनरो के एक लेख में यह लिखा था कि मिश्र के रिकार्ड के अनुसार 1350 बी० सी० में नीग्रो गुलामों में यह रोग प्रचलित था। कुछ लोगों का मत यह है कि इस रोग का जन्म स्थान सिन्ध नदी का क्षेत्र है। एक फ्रांसीसी लेखक ने दावा किया है कि केन्द्रीय भारत को कुष्ठ का पालना माना जाना चाहिये। 'मैन अगेंस्ट जर्म' में भी इसी क्षेत्र में रोग के उपजने की चर्चा है। धीरे धीरे यह रोग पश्चिमी देशों में पहुँचा। कारवां के साथ पर्शिया से दजला फरात नदियां पार करके बेबीलोन व सीरिया के रेतीले क्षेत्रों से होकर यह जार्डन व प्राचीन मिश्र पहुँचा। प्रसिद्ध चिकित्सा इतिहासकार जनरल सर विलियम मैकार्थर ने 1153 में लिखा कि यह रोग प्रचलित तो था पर किस सीमा तक था यह कहना कठिन है।

यूरोप में यह रोग अपनी चरम सीमा पर 1000-1400 ई० में पहुँचा। उस समय फ्रांस में 2000, ब्रिटेन में 326 लाजार ग्रह थे जिसमें कुष्ट रोगी रखे जाते थे। 1798 तक ब्रिटेन में कुष्ट रोग लगभग समाप्त हो गया जब कि अन्य भागों में यह चलता रहा। स्पेन, पुर्तगाल, रूस, तुर्की में यह रोग बराबर रहा परन्तु यूरोप में इस रोग पर काफी नियंत्रण कर लिया गया। 1954 में स्वेडेन में केवल 4 रोगी थे 1957 में नार्वे में केवल 6 रोगी थे जब कि डेनमार्क में बहुत पहले रोग समाप्त हो गया था।

अंग्रेजी शब्द 'लेपर' पहले रोगी के बजाय रोग को ही प्रदर्शित करता था। विलियम के अनुसार मध्ययुग में 'लेप्रोसी' का क्या अर्थ था इस पर विभिन्न विचार हैं। 11 वीं शताब्दी में रोगियों के प्रति काफी सहानुभूति तथा सद्भावना बन गई थी। इनके लिये अलग घरों का निर्माण किया गया जिन्हें 'लेपर ग्रह' या 'लाजार ग्रह' कहते थे, इनकी जीवनचर्या के लिये कुछ नियम भी बना दिये गये थे। सर रोनाल्ड रोजर्स तथा डॉ० अर्न्सट म्योर ने रोग के रोक थाम के लिये अत्यधिक कार्य किया कई सामाजिक संगठनों का भी गठन हुआ जिसके माध्यम से रोग के उपचार पर काफी काम हुआ। कुष्ठ रोग एक प्रकार का संक्रामक, संचारी रोग है इसके कारण उत्पन्न शारीरिक अपंगुता तथा कुरूपता के कारण रोगी को परिवार तथा समाज घृणा की दृष्टि से देखता है। कुछ समय पहले तक यह एक असाध्य रोग ही समझा जाता था! लोग इसे अनैतिक कार्यों की सजा या पूर्व जन्म का फल समझते थे। इन्हीं अज्ञानताओं के कारण कुष्ठ रोग लम्बे समय तक चिकित्सा क्षेत्र से दूर पड़ा रहा।

विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ वैज्ञानिकों तथा चिकित्सकों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। सन् 1872 में नार्वे के चिकित्सक डा० जरहार्ड आरमायर हेन्सन के अनुसन्धानों ने यह सिद्ध कर दिया कि कुष्ठ रोग भी अन्य रोगों की भाँति एक रोग है जो कि माइक्रो बैक्टीरियम लैप्री (M. Laprae) नामक जीवाणु के द्वारा होता है। वैज्ञानिक के नाम पर इसे हेन्सन डिज़ीज़ भी कहते हैं।

कुष्ठ रोग कैसे फैलता है

कुष्ठ रोग के प्रसार के बारे में पूरी तरह से जानकारी नहीं है फिर भी ऐसा समझा जाता है कि रोगी के निकट सम्पर्क से यह रोग फैलता है। वैसे तो मात्र क्षणिक सम्पर्क ही रोग का कारण हो सकता है। आधुनिक अनुसन्धानों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि मक्खी, मच्छर और खटमल आदि भी रोग प्रसार में सहायक हो सकते हैं। विशेषज्ञों का मत है कि जीवाणु त्वचा द्वारा ही शरीर में प्रवेश करते हैं और त्वचा पर एक धब्बे के रूप में दिखाई देते हैं जो कि संवेदन रहित होते हैं जिनका रंग हल्का पीला अथवा कुछ लालिमा लिए हुए हो सकता है। जीवाणु त्वचा में प्रवेश कर धीरे-धीरे तंत्रिकाओं पर अपना प्रभाव डालते हैं जिसके फलस्वरूप प्रभावित अंगों (विशेष कर हाथ पैरों) की संवेदना नष्ट होने लगती है, तथा मांसपेशियाँ कमजोर होने लगती हैं जिससे हाथ पैर निष्क्रिय हो जाते हैं साथ ही साथ उनमें बहुत सी विक्रतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जैसे हाथ पैर की उंगलियों का टेढ़ा होना, हाथ पैरों का नीचे की ओर झुक जाना आदि। शरीर के अन्य भागों में भी जैसे चेहरे पर नाक का धँस जाना, शरीर पर छोटी-छोटी गांठों का पड़ जाना, भौहों के बालों का गिरना, आंखो में घाव हो जाने के कारण उनका नष्ट हो जाना आदि इस रोग के चिह्न हैं। इसके अतिरिक्त संवेदनहीनता के कारण रोगी को हाथ पैरों में जलने या चोट लगने का आभास नहीं हो पाता और निरन्तर स्वाभाविक लापरवाही के कारण इनमें गहरे घाव हो जाते हैं जिसके फल स्वरूप धीरे-धीरे अंगुलियाँ आदि नष्ट होने लगती हैं! इस दशा में रोगी का सारा शरीर बहुत ही कुरूप हो जाता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में यह रोग अधिक होता है। प्रारम्भ होने की आयु देश, क्षेत्र तथा जलवायु पर निर्भर करती है।

उपचार : पुराने समय में कुष्ठ के लिए चौल, मुँगरा या हिडनो कार्पस तेल का प्रयोग करते थे। इसका वर्णन शुश्रत संहिता नामक पुस्तक में मिलता है जो लगभग 2500 वर्ष पहले लिखी गई थी। कुष्ठ के इतिहास में 1920 से 1941 तक का समय चौल मुँगरा काल के नाम से जाना जाता है। परन्तु सल्फोन औषधियों की खोज के बाद से इसका प्रयोग लगभग समाप्त हो गया है।

सल्फोन कुष्ठ रोग के उपचार में बहुत ही प्रभावकारी सिद्ध हुए हैं। सन् 1908 में फ्रीवर्ग विश्वविद्यालय (Freiburg University) पश्चिमी जर्मनी के फ्रोम तथा विरमैन ने 4:4 डाई अमीनो डाई फिनाइल सल्फोन का प्रतिपादन किया इसे डी० डी० एस०(डेप्सोन) कहते हैं। यह औषधि अब तक सबसे सस्ती तथा प्रभावकारी सिद्ध हुई है। इसका परीक्षण 1937 में किया गया था पर 1947 तक यह प्रयोग में नहीं लाई जा सकी। भारत में डेप्सोन का परिचय डॉ० काकस ने कराया। इसकी मात्रा के विषय में विशेषज्ञों का मत है कि इसको कम मात्रा से प्रारम्भ करना चाहिए। भारत में मुख्यतः निम्न प्रकार की मात्रा प्रभावित है—

5 मि० ग्रा० नित्य (प्रथम दो माह)
10 मि० ग्रा० नित्य (अगले दो माह)
25 मि० ग्रा० नित्य (बाद मे)

डायासोन, प्रोमीन, सल्फीट्रान तथा लैम्प्रीन इसकी अन्य औषधियां हैं। कुष्ठ रोग में असंक्रामक (Non-Lepramatous) होने पर 5 वर्ष तक तथा संक्रामक (Lepramatous) रोग में जीवन भर औषधि लेने की सलाह देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त लेम्प्रिन सीवा तथा इंजेक्शन डी० ए० डी०डी० एस० जिसकी 225 मि० ग्रा० दस सप्ताह के अन्तर से दी जाती है :

कुष्ठ रोग में जो विक्रतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं उनके लिए भौतिक चिकित्सा एवं रिकान्सट्रक्टिव सर्जरी को ही उच्चतम साधन माना गया है! रोकथाम तथा नियन्त्रण सर्व प्रथम रोग का भली प्रकार सर्वेक्षण कर रोगियों का पता लगाना चाहिए और रोगियों को समय-समय पर नियमित रूप से जाँच करते रहना चाहिए। जाँच किये गये रोगियों के उपचार का उचित प्रबन्ध करना चाहिए, रोगी का रोग

के अन्तिम लक्षणों तक नियमित औषधि ग्रहण करने के लिए निर्देश देने चाहिए। साथ ही साथ समाज में कुष्ठ रोग के प्रति फैली हुई गलत एवं निराधार धारणाओं का निराकरण भी हमारा परम कर्तव्य है।

आधुनिक सर्वेक्षणों के आधार पर भारत में लगभग 3200000 रोगी हैं आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, विहार में यह रोग सबसे अधिक है।

सन् 1955 में भारत सरकार ने राष्ट्रीय कुष्ठ नियंत्रण कार्यक्रम का शुभारम्भ किया। इसके अन्तर्गत अब तक 345 कुष्ठ नियंत्रण केन्द्र तथा 3685 सर्वेक्षण शैक्षणिक एवं उपचार केन्द्रों की स्थापना की जा चुकी है। इन सरकारी केन्द्रों के अलावा 37 स्वयंसेवी संस्थायें भी हैं जो इस रोग से लड़ने में हाथ वँटा रही हैं। जैसे लेप्रोसी मिशन, हिन्द कुष्ठ निवारण संघ, गाँधी मेमोरियल फाउन्डेशन आदि। इन संस्थाओं में कहीं-कहीं रोगी के पुनर्वसन का भी प्रबन्ध है जिनमें रोगी मुर्गी पालन, कढ़ाई सिलाई आदि धन्धों से अपनी जीविका चलाते हैं।

समाज का उत्तरदायित्व

इन सब सुविधाओं के बाद भी कुष्ठ रोगी को रोग मुक्त होने के बाद उसे समाज स्वीकार नहीं करता और उसके साथ वहिष्कृत व्यक्ति की भाँति व्यवहार करता है। रोगी जहाँ एक ओर दीर्घकालीन उपचार एवं पीड़ा से परेशान होता है वहीं दूसरी ओर समाज का घृणा पूर्ण व्यवहार उसे लाचार कर देता है जिससे उसे अपने जीवन से निराशा सी हो जाती है। समाज में कुष्ठ रोगियों के प्रति सहानुभूति का व्यवहार होना चाहिए ताकि उस पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव न पड़े।

समाज में रहने वाले प्रत्येक शिक्षित नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह समाज में कुष्ठ रोग और रोगियों के प्रति फैली गलत धारणाओं का परित्याग करने का भरसक प्रयत्न करे और सामान्य नागरिकों को सरकार के द्वारा इस क्षेत्र में उपचार के लिए दी गयी सुविधाओं से अवगत कराये जिससे कि कुष्ठ रोगियों का उपचार भली प्रकार हो सके, उनको समाज में उचित स्थान मिल सके एवं हमारा देश शीघ्र ही इस संक्रामक रोग से मुक्ति पा सके। ● ●

मानव शरीर में प्रोटीन की महत्ता

● संदीप कुमार मल्होत्रा

मनुष्य के भोजन में प्रोटीन का एक महत्वपूर्ण स्थान है। यह प्रोटीन हमें विशेष तौर से दाल, अण्डा, माँस, मछली आदि से प्राप्त होते हैं। प्रोटीन मुख्यतः शरीर निर्माण के लिए आवश्यक है। शरीर के निर्माण में भाग लेने वाली प्रत्येक कोश में उपस्थित "जीव द्रव्य" जिसे जीवन की आधारभूत इकाई भी माना जाता है, मुख्यतया जल (60 प्रतिशत) तथा विभिन्न प्रकार की प्रोटीन से मिल कर बनता है। वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर शरीर में उपस्थित प्रोटीन, शरीर की कुल "शुष्क तोल" की आधी होती है।

प्रोटीन की संरचना में मुख्यतः कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और आक्सीजन आदि तत्व उपस्थित होते हैं। इन सब तत्वों के मिलने से छोटी-छोटी रासायनिक इकाईयों की रचना होती है जिन्हें अमीनो अम्ल कहते हैं। यह सूक्ष्म इकाईयाँ एक दूसरे से पेप्टाइड बंधों द्वारा संयुक्त होकर विभिन्न प्रकार की प्रोटीनों का निर्माण करती है। वैज्ञानिकों ने अभी तक सत्तर प्रकार के अमीनो अम्लों की खोज की है, जिनमें से बीस अमीनो अम्ल मानव शरीर में उपस्थित होते हैं।

मानव शरीर में प्रोटीन विभिन्न रूपों में उपस्थित होती है। इनमें से एक प्रकार की प्रोटीन तो वे हैं जो केवल अमीनो अम्लों से मिलकर ही बनती है। इन्हें हम शुद्ध प्रोटीन कहते हैं। उदाहरणार्थ ग्लोब्यूलिन, एल्ब्यूमिन, प्रोटामीन, स्क्लीरोप्रोटीन इत्यादि। दूसरी ओर शरीर में कुछ प्रोटीन ऐसी भी होती हैं जिनकी संरचना में अमीनो अम्लों के अतिरिक्त एक अप्रोटीन भाग और भी घुला रहता है। इन्हें संयुक्त प्रोटीन कहते हैं, उदाहरणार्थ कोशिकाओं में उपस्थित डीआक्सीराइबो-न्यूक्लिक अम्ल (डी०एन०ए०) और राइबोन्यूक्लिक अम्ल (आर०एन०ए०) इत्यादि। डी० एन० ए० को केवल मानव में ही नहीं वरन् सभी जन्तुओं में "आनुवंशिकता की आधारभूत इकाई" माना जाता है। कोशिका विज्ञान में हुई प्रगति के आधार पर वैज्ञानिकों का कथन है कि विभिन्न जातियों के आनुवांशिक गुणों को कोशा के गुण सूत्रों पर उपस्थित छोटी-छोटी इकाईयाँ नियंत्रित करती हैं, जिन्हें जीन कहा जाता है। वास्तव में यह जीन डी० एन० ए० द्वारा ही निर्मित होती है। आर० एन० ए०, जो डी० एन० ए० के द्विगुणन से बनता है, शरीर में आवश्यक विशिष्ट प्रोटीनों के निर्माण में सहायक होता है। किसी भी स्पीशीज या जाति में पायी जाने वाली प्रोटीन विशिष्ट होती हैं तथा उनकी संरचना निश्चित होती है।

हमारे शरीर में उपस्थित तीसरे प्रकार की प्रोटीन व्युत्पादित प्रोटीन कहलाती है। इस प्रकार की प्रोटीन शरीर में उपस्थित शुद्ध और संयुक्त प्रोटीनों में कुछ विशेष रासायनिक परिवर्तनों के फलस्वरूप उत्पादित होती है। इसके उदाहरण पेप्टोन, पेप्टाइड व प्रोटीओजेज़ आदि हैं।

यूं तो प्रकृति में हर वह तत्व उपस्थित है जिसकी हमारे शरीर को जीवित रहने के लिए आवश्यकता महसूस होती है परन्तु हमारे शरीर की कोशिकाएं इन प्राकृतिक तत्वों की आवश्यकता महसूस होते हुए भी इनका ज्यों का त्यों अवशोषण कर पाने में असमर्थ होती हैं। अतएव प्रकृति

में पाई जाने वाली विभिन्न प्रकार की प्रोटीनों को शरीर द्वारा उपभोग करने से पूर्व इनका उस उचित अवस्था में परिवर्तन आवश्यक है, जिस अवस्था में ये शरीर की कोशिकाओं द्वारा आसानी से अवशोषित की जा सके। इस क्रिया में शरीर का पाचन तंत्र हमारी सहायता करता है। पाचन तंत्र में कई प्रकार के एन्जाइम पाए जाते हैं जो स्वयं भी प्रोटीन स्वभाव के होते हैं और जैव रासायनिक क्रियाओं में उत्प्रेरक का कार्य करते हैं।
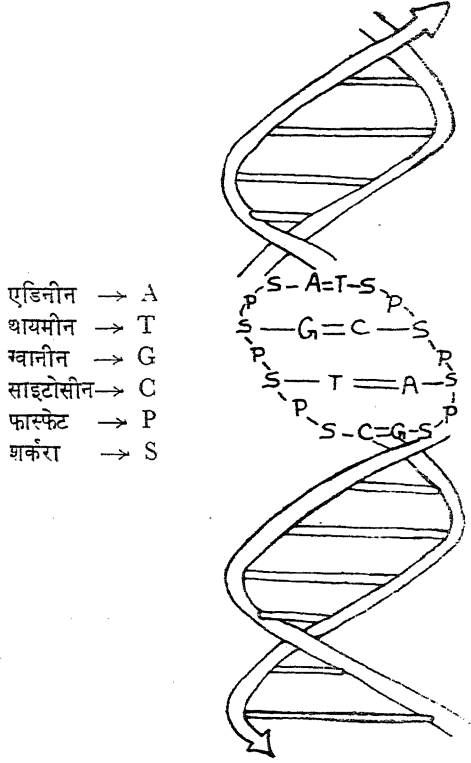
डॉ० एन० ए० द्विसर्पिल

भोजन के आमाशय में पहुँचते ही भोजन की प्रोटीनों पर पेप्सिन नामक एन्जाइम की क्रिया होती हैं। यह पेप्सिन आमाशय की कोशिकाओं द्वारा स्रावित किया जाता है। पेप्सिन केवल अम्लीय माध्यम में ही प्रोटीनों पर क्रिया करता है। अम्ल आमाशय की कोशाओं द्वारा तनु हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के रूप में स्रावित होता है। आमाशय से पाचन के बाद भोजन छोटी आंत में प्रवेश करता है, जहां भोजन के अपचित प्रोटीन भाग पर ट्रिप्सिन नामक एन्जाइम की क्रिया होती है। इस एन्जाइम की क्रिया के लिए आंत गुहा में क्षारीय माध्यम की उपस्थिति तथा एन्ट्रोकाइनेज़ एन्जाइम आवश्यक है। यह क्षारीय माध्यम आमाशय में स्रावित किए गए अम्ल के प्रभाव को निष्क्रिय बना देता है। अब ट्रिप्सिन, जो आमाशय द्वारा आमाशय रस के रूप में आंत में स्रावित होता है, प्रोटीन के बचे हुए अणुओं पर क्रिया करता है। आंत रस में उपस्थित इरिप्सिन छोटी आंत में पाचन क्रिया को अन्तिम रूप देते हुए प्रोटीन के अणुओं को और बारीक अणुओं में तोड़ देता है। इस प्रकार सम्पूर्ण पाचन क्रिया के उपरान्त प्रोटीन के जटिल अणु सरल रूप में मुक्त अमीनो अम्लों में बदल जाते हैं।

अब ये मुक्त अमीनो अम्ल छोटी व बड़ी आंत की दीवारों में उपस्थित सूक्ष्म प्रवर्द्धों के माध्यम से अवशोषित होकर रक्त परिसंचरण में पहुँच जाते हैं। रुधिर के माध्यम से यह मुक्त अमीनो अम्ल सारे शरीर में भ्रमण करते हैं तथा शरीर की जिन कोशाओं में, प्रोटीन की आवश्यकता होती है, उनमें विसरित कर दिए जाते हैं। इन्हीं में से कुछ अमीनो अम्ल प्रत्येक कोशा में हो रही विभिन्न विशिष्ट जैव रासायनिक प्रतिक्रिओं द्वारा एक दूसरे से पेप्टाइड बन्धों द्वारा जुड़कर विशिष्ट प्रोटीनों का संश्लेषण करते हैं जो शरीर की बृद्धि में सहायक होती है। कोशा में हो रही इस प्रोटीन संश्लेषण की प्रक्रिया को स्वांगीकरण कहा जाता है।

कुछ मुक्त अमीनो अम्ल प्रोटीन संश्लेषण के अतिरिक्त कई महत्वपूर्ण नाइट्रोजनी पदार्थों, जैसे हारमोन, एन्जाइम व विटामिन के संश्लेषण में भी भाग लेते हैं। इसी कारण ये सब पदार्थ प्रोटीन स्वभाव के होते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य अमीनो अम्ल, जो उपरिवर्णित दोनों प्रक्रियाओं में भाग नहीं लेते, यकृत में पहुँचकर अमोनिया और कीटो अम्ल में विखण्डित हो जाते हैं।

अमोनिया कार्बन-डाई-आक्साइड के साथ संयुक्त होकर यूरिया बनाती है जो मूत्र के रूप में उत्सर्जित कर दिया जाता है जबकि कीटो अम्ल साइट्रिक एसिड चक्र (क्रेब्स चक्र) में प्रवेश कर जाता है जिसके फलस्वरूप ऊर्जा का निष्कासन होता है। यह ऊर्जा, शरीर द्वारा विभिन्न क्रियाओं के संचालन में काम आती है।

शरीर की विभिन्न जैविक क्रियाओं में प्रयुक्त होने के साथ-साथ प्रोटीन की कुछ मात्रा को शरीर की मांसपेशियों में मुख्यतया एक्टिन व मायोसिन नामक पदार्थ के रूप में संचित कर लिया जाता है। संचित की गई प्रोटीन की यह मात्रा मांसपेशियों के कार्य संचालन में काम आती है।

प्रोटीन हमारे शरीर द्वारा संचालित विभिन्न क्रियाओं में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। रुधिर की लाल रक्त कणिकाओं में एक विशेष प्रकार की प्रोटीन होती है जो मुख्यतः शरीर में प्रवेश करने वाले किसी वाह्य पदार्थ (प्रोटीन एन्टीजन) उदाहरणार्थ विभिन्न रोग के कीटाणु इत्यादि, का विरोध करने में सक्षम होती हैं। इन्हें प्रतिजीवी (एन्टीवाडी) कहते हैं। साथ ही विभिन्न शारीरिक अंगों के विकास व इनकी क्रियाशीलता के नियंत्रण का उत्तरदायित्व भी प्रोटीन स्वभाव वाले अनेक हारमोनों पर है।

प्रोटीन की उपयुक्त मात्रा उपलब्ध न होने के कारण विभिन्न जैव रासायनिक प्रक्रियाओं में अनियमितताएँ उत्पन्न हो जाती हैं और इनके परिणाम स्वरूप मनुष्य रोग ग्रस्त हो जाता है। इस तथ्य के प्रमाण स्वरूप शरीर में प्रोटीन की कमी से होने वाले कुछ प्रमुख रोगों का संक्षिप्त विवरण निम्न वर्णित है।

भोजन में प्रोटीन की अत्यधिक कमी से होने वाले रोग को क्वाशीओरकर कहते हैं। इसके विषय में विश्व स्वाथ्य संघ के डा० ओटरेट का कहना है कि चिकित्सा विज्ञान में एक यही सबसे भयंकर और घातक रोग है जो सारे संसार में, भोजन में प्रोटीन की कमी के कारण फैला हुआ है। यह रोग साधारणतया मृत्यु का कारण बनता है।

सामान्य अवस्थाओं में जब शरीर की विभिन्न कोशिकाओं में ग्लूकोस (शर्करा) की मात्रा आवश्यकता से अधिक हो जाती है तो इसे ग्लाइकोजन के रूप में संचित कर लिया जाता है। यह प्रक्रिया इन्सुलिन नामक हारमोन द्वारा नियंत्रित होती है, जो स्वयं प्रोटीनी स्वभाव का होता है। परन्तु कभी-कभी इस हारमोन की कमी या पर्याप्त मात्रा उपलब्ध न होने के कारण ग्लूकोस मूत्र के साथ उत्सर्जित होने लग जाता है। इस प्रकार शरीर में ग्लूकोस की उपयुक्त मात्रा के अभाव में मनुष्य डायविटीज़ नामक रोग से पीड़ित हो जाता है।

रुधिर की लाल रक्त कोशिकाओं के हीमोग्लोबिन, जो एक प्रकार की संयुक्त प्रोटीन है, में अमीनो अम्लों के पूर्व निर्धारित क्रम में परिवर्तन आ जाने से "सिकिल सेल एनिमिया" नामक रोग हो जाता है। इस रोग में लाल रक्त कोशिकाएं गोल न रहकर हंसियाकार हो जाती हैं, तथा आपस में उलझकर रक्त प्रवाह में बाधा उत्पन्न कर देती हैं।

मानव आजकल प्रोटीनों को अपने दैनिक जीवन में बहुतायत से उपयोग में भी ला रहा है। प्रोटीन (जैसे सोया-बीन, केसीन आदि) विभिन्न प्रकार के तेल-रंगों, संश्लेशित प्रोटीन, प्लास्टिक और कागज उद्योगों में प्रचुरता से प्रयुक्त की जा रही है। इसके अतिरिक्त प्रोटीन के ही एक प्रकार आनुवंशिकता की आधारभूत इकाई जीन—को कृत्रिम रूप मे बनाने का भी प्रयास किया जा रहा है। इस दिशा में भारत में जन्मे अमरीकी वैज्ञानिक डा० हरगोविन्द खुराना का कार्य प्रशंसनीय है। इन्होंने सर्व प्रथम सन् 1968 में यीस्ट में पाए जाने वाले एक जीन का प्रति रूप कृत्रिम रूप से प्रयोगशाला में बनाने की चेष्टा की थी। परन्तु जीन अधूरा रह जाने की वजह से प्रत्यारोपित न किया जा सका। इन्हें आनुवंशिकी (जेनेटिक्स) पर शोध कार्य हेतु सन् 1968 के "शरीर-क्रिया विज्ञान तथा औषधि" के नोवेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। हाल ही में (28 अगस्त 1976) डा० खुराना व उनके सहयोगियों ने मैस्सेचुसेट्स इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नालाजी, हारवर्ड (अमेरिका) में

(शेष पृष्ठ 33 पर देखें)

संगणक की संग्रहण तकनीकियाँ एवं माध्यम

● मनीषी बरनवाल

संगणक को कार्यानुसार पाँच मूल तत्व भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

1. नियंत्रण इकाई
2. भन्डार इकाई
3. अंकगणितीय इकाई
4. निर्णय इकाई
5. अन्तर्धारित इकाई

संगणक इतनी तीव्रता से कार्य करता है कि उसकी नियंत्रण इकाई में हम आदेश या निर्देश को हाथ द्वारा डायल करके नहीं भेज सकते क्योंकि इसमें बहुत समय नष्ट हो जावेगा। संगणक के पूर्ण प्रयोग के लिए यह आवश्यक है कि आँकिक गुप्त आदेश या निर्देश संगणक को उतनी ही तीव्रता से दिये जायें जितनी तीव्रता से यह उन्हें क्रियान्वित कर सकता है। इसको संभव करने के लिए निर्देश या आदेश को, जो कि अंकों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है आन्तरिक संचार भंडार में जिसे स्मरण इकाई कहते हैं संचित कर दिया जाता है। अंक समुदाय जोकि एक आदेश को दर्शित करते हैं उन्हें इस भंडार की इकाई से एक विशेष अनुक्रमानुसार नियंत्रण इकाई में क्रियान्वित करने के लिए भेजा जाता है।

संग्रहण तकनीकियाँ : आन्तरिक भन्डार में सूचना की रिकार्डिंग — सूचना चाहे वह आदेश हो अथवा आंकड़े, आन्तरिक भन्डार में वह दो अवस्थाओं में संचित की जा सकती है। यह दो अवस्थायें हैं अंक '0' अथवा '1' और इस प्रकार की पद्धति को द्विवर्णी पद्धति कहते हैं। संगणक की रचना इस प्रकार से की जाती है कि वह द्विवर्णी अंक व द्विवर्णी अंकगणित द्वारा कार्य कर सके। इस पद्धति को प्रयोग में लाने से निम्न लाभ हैं :

1. भन्डार इकाई का पूर्ण रुपेण उपयोग
2. आन्तरिक विद्युत मन्डलों की सरलता एवं
3. क्रियाएँ करने में सरलता

क्योंकि द्विवर्णी पद्धति का प्रयोग प्रतिदिन के कार्य में प्रचलित नहीं है इसलिए प्रतिदिन काम में आने वाली पद्धति को द्विवर्णी पद्धति में बदलना पड़ता है जिससे कि निर्देश संगणक के अन्तर्धारित और निर्गत में द्विवर्णी पद्धति रूप में विस्थापित किये जा सकें। इस प्रकार की पद्धति का उपयोग करने वाले संगणक द्विवर्णी संगणक कहलाते हैं। अधिकतर संगणक इसी प्रकार के होते हैं। परन्तु कुछ संगणकों में, जिनमें प्रतिदिन अन्तर्धारित एवं निर्गत में अत्याधिक अंक प्रयोग में आते हैं, इनमें दशमलव अंकों (0123456789) को भन्डार में इस प्रकार से संचित किया जाता है कि उनमें अंकों को द्विवर्णी पद्धति में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती। दशमलव अंकों का प्रतिनिधित्व करने के लिए दस भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की आवश्यकता होती है। एक द्विअवस्था तत्व इसका प्रतिनिधित्व करने के लिए पर्याप्त नहीं है। इस तरह का युग्म केवल चार भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ ले सकता है 00, 01, 10, 11; इसी प्रकार तीन तत्व समुदाय आठ अवस्थाओं को दर्शा सकता है और चार का समुदाय सोलह अवस्थाओं को दर्शा सकता है। इन सोलह में से दस को 0 से 9 तक अंकों का प्रतिनिधित्व करने के लिए काम में लाया जा सकता है। इस प्रकार प्रतिनिधित्व किये गये अंको को द्विवर्णी संहित दशमलव

कोड कहते हैं। इस प्रकार से इस कोड का प्रयोग कर संगणक में दशमलव अंकों का सीधा समावेश किया जा सकता है।

इस प्रकार का प्रतिनिधित्व केवल दशमलव अंकों तक ही सीमित नहीं किया जा सकता वरन् और भी द्विअवस्था तत्वों को जोड़कर (उदाहरण के लिये + या − इत्यादि) एक या अधिक निर्देशों का प्रतिनिधित्व किया जा सकता है। यह निर्देश स्वसंचालित निर्देश हो सकते हैं जो कि गलतियों के पकड़ने के काम में लाये जा सकते हैं। इस प्रकार का कोड द्विवर्णी कोड से 5 : 8 के अनुपात में कम क्षमता रखता है इसलिये द्विवर्णी कोड अधिक प्रयोग में लाया जाता है।

संग्रहण माध्यम

बाह्य भन्डार माध्यम : इन माध्यम से सूचनाओं को संचित किया जाता है। अन्तर्धारित एवं निर्गत इकाई द्वारा इस प्रकार संचित की गयी सूचना को भन्डार इकाई के लिए पढ़ा जा सकता है या इसे किसी बाह्य माध्यम में विस्थापित अथवा दक्ष किया जा सकता है। इसमें आने वाले निम्नलिखित माध्यम हैं जो किसी आदेश अथवा सूचना को कितने भी समय के लिये संचित कर सकते हैं।

1. छिद्रित कागज का फीता
2. छिद्रित कार्ड
3. चुम्बकीय फीता
4. चुम्बकीय तश्तरी एवं
5. चुम्बकीय बेलन

इनमें निम्नलिखित आवश्यक भेद हैं :

1. चुम्बकीय फीते या तश्तरी पर आंकड़ो का विस्थापन कार्ड अथवा पेपर टेप से कहीं अधिक शीघ्रता से किया जा सकता है।

2. चुम्बकीय माध्यम पर सूचना को अनेक बार मिटाया और फिर से लिखा जा सकता है परन्तु यह पेपर टेप अथवा पंचकार्ड पर सम्भव नहीं है।

3. पंच कार्ड या फीतें पर कुंजी चालत क्रिया द्वारा सूचना को स्थापित किया जा सकता है परन्तु चुम्बकीय फीते या तश्तरी पर स्थापित अर्थात रिकार्ड करने के लिये एक स्वचालित मशीन क्रिया की आवश्यकता पड़ती है।

इन सभी माध्यमों का विस्तृत वर्णन नीचे दिया गया है।

1. पंच पेपर टेप अथवा छिद्रित कागज का फीता : संगणक के अन्तर्धारित अथवा निर्गत इकाई में पेपर टेप स्वचालित रूप से प्रवेश कर सकता है। सीधे एवं स्वचालित रूप से संगणक में सूचना को भेजने के लिये उसे प्रयोग करते हैं। इस फीते पर कई पंक्तियों में क्रमशः छिद्र किये जाते हैं। प्रत्येक प्रकृति एक पंक्ति में छिद्र द्वारा प्रस्तुत की जाती है। इस प्रकार की 5 से 8 तक पंक्तियाँ फीते की चौड़ाई में हो सकती हैं। आन्तरिक भन्डार में जिस प्रकार द्विअवस्था तत्वों द्वारा संचित की जाती है ठीक उसी प्रकार फीते पर किसी छिद्र का होना या न होना दो अवस्थाओं को बतलाता है। इस प्रकार के छिद्रों के विभिन्न रूप समुदाय अलग अलग प्रकृति को प्रदर्शित करते हैं। इस माध्यम को प्रयोग करने का कारण इसका सस्तापन एवं सुसंहृत आकार है। इसका प्रयोग निम्न कारण से सीमित है :

(क) धीमी गति टेप की लम्बाई में छिद्र को क्रमानुसार करना पड़ता है इस कारण से यह धीमी गति से काम करता है।

(ख) गल्तियों को सही करने में परेशानी होती है।

(ग) संग्रह करने में असुविधा।

2. छिद्रित पत्रक : इस माध्यम का प्रयोग अत्यधिक होता है। छिद्रित पत्रक एक हल्के मोटे कागज का वना होता है जिससे किसी असावधानी के कारण उल्टा होने पर पता चल सके। सबसे अधिक प्रयोग किये जाने वाले कार्ड की नाप $7\frac{3}{8}$ इंच × $3\frac{1}{4}$ इंच है। इससे 12 क्षैतिज एवं 80 उर्ध्व पंक्तियां छिद्र करने के लिये होती हैं। इसमें किसी छिद्र का होना या न होना दो स्थितियों को बतलाता है। इस प्रकार से एक पत्रक में 160 द्विवर्णी अंक निर्देश संग्रहित किये जा सकते हैं।

एक छिद्र समुदाय एक उर्ध्व पंक्ति में एक प्रकृति को प्रदर्शित करता है, इस प्रकार एक पत्रक में 80 प्रकृतियां प्रदर्शित की जा सकती हैं। साधारणतया एक, दो अथवा तीन छिद्रों के समुदाय से एक कोड़ बनाते हैं जो कि बारह आंकिक प्रकृतियां, 26 वर्णमाला चिन्हों व अन्य कई बीजगणितीय एवं व्यापारीय चिन्हों को, जिन्हें विशेष प्रकृति कहते हैं, प्रदर्शित करते हैं।

एक पत्रक में एक प्रकृति के एक समुदाय को 'क्षेत्र' कहते हैं। मूल सूचना को पत्रक में उर्ध्व पंक्तियों में क्रमानुसार पंच करते हैं ! इस प्रकार संचित की गयी सूचना का सत्यापन एक दूसरी मशीन को प्रयोग कर किया जाता है जिसे सत्यापक अर्थात वेरीफायर कहते हैं। सत्यापक में पत्रक कार्ड पंच करने की क्रिया को दोहराया जाता है। पत्रक में उपस्थित प्रकृति की तुलना पत्रक में पंच किये गये प्रकृति से की जाती है। यदि इस प्रकार से तुलना करने पर कोई त्रुटि नहीं मिलती तो पत्रक के कोने को खांच लगा देते हैं अन्यथा कोने को खांच नहीं करते वरन् उस उर्ध्व पंक्ति को खांच कर देते हैं जो तुलना में समान नहीं होती। बाद में इस प्रकार खांच लगाये हुये पत्रों को अलग कर त्रुटियों को ठीक कर लेते हैं। अन्तर्धारित इकाई में कार्ड रीडर या निर्गत इकाई में पंच इकाई इन पत्रकों को समानान्तर में पढ़ती अथवा पंच करती है अर्थात् क्रमानुसार पंक्तियों में। पत्रक लम्बाई के लम्ब दिशा में चलता है। इस प्रकार प्रकृति को समानान्तर विस्थापन क्रिया, क्रमिक विस्थापन क्रिया से कम समय में होती है। एक स्वचालित पत्रक पढ़ने एवं पंच करनेकी मशीन कई सौ पत्रकों को एक मिनट में पढ़ या पंच कर सकती है। उदाहरण के लिये एक इकाई पत्रक को 75 मिली सेकेन्ड में (800 पत्रक प्रति मिनट) पढ़ और 210 मिली सेकेन्ड (250 पत्रक प्रति मिनट) में पांच करती है। परन्तु फिर भी कुछ संगणकों के लिये ये गति अत्यन्त धीमी है जिसके कारण यह संगणक अन्तर्धारी एवं निर्गत इकाइयों में चुम्बकीय तरीकों का प्रयोग करती हैं।

3. चुम्बकीय फीता : यह बहुत ही सुसंहृत माध्यम है और इस पर सूचना अत्यधिक तेजी से लिखी एवं पढ़ी जा सकती है, उदाहरण के लिये 62,500 प्रकृतियां प्रति सेकेन्ड। यह फीता साधारण टेप-रिकार्डर में उपयोग किये जाने वाले फीते के समान होता है। यह प्लास्टिक के फीते पर चुम्बकीय पदार्थ को चिपकाकर बना होता है। कागज के फीते की भांति इसमें भी कई पंक्तियों में सूचना को संचित करते हैं। इसमें चुम्बकीय पदार्थ को ध्रुवित करके सूचना को संचित करते हैं। इसको प्रयुक्त करने का दूसरा बड़ा लाभ यह है कि सूचना को आसानी से मिटाया और फिर से रिकार्ड किया जा सकता है।

4. चुम्बकीय तश्तरी : यह एक बहुत ही आधुनिक माध्यम है। यह बहुत कुछ ग्रमोफोन रिकार्ड से मिलता-जुलता है। इसमें सूचना को तश्तरी की सतह पर गोलाकार लीकों (टैक) में रिकार्ड कर लेते हैं। कई रिकार्ड जो कि सूचना को संचित रखते हैं इन्हें ज्यूक बाक्स की तरह से एकत्र कर लेते हैं। लिखने और पढ़ने के चुम्बकीय शीर्ष (मैगनेटिक हेड) इस तरह से इन रिकार्डों पर चल फिर सकते हैं कि वह सूचना को तश्तरी में या तश्तरी से बाहर आसानी से त्रिस्थापित कर सकते हैं।

यह तश्तरी सुसंहृत नहीं होती है और न ही इनकी गति चुम्बकीय फीते के बराबर है। चुम्बकीय फीते में से किसी सूचना को पाने के लिये सारी रील को लपेटने में अधिक समय लग सकता है जब कि तश्तरी से सूचना लेने में कम समय लगता है। इस तरह से सूचना को तश्तरी से आसानी से और किसी भी क्रम में ले सकते हैं। प्रायोगिक व्यवहार में वास्तविक रूप से प्रवेश एकाएक सम्भव है।

5. चुम्बकीय बेलन : चुम्बकीय बेलन एक चक्रिय भन्डार है। इसमें एक बेलन को लगातार घुमाया जाता है और आंकड़े निश्चित ट्रैकों पर बेलन के किनारों पर भण्डारित किये जाते हैं। इस प्रकार भण्डारित किये गये आंकड़ों को निश्चित बिन्दुओं पर परिक्रमा के समय निश्चित समय में वापस एकत्र किये जा सकते हैं। इस प्रकार के बेलन की परिक्रमा गति बहुत अधिक है, उदाहरण के लिये आठ हजार परिक्रमायें प्रति सेकेन्ड। इस माध्यम का प्रवेश

शेष 35 पर

प्रो० उमाशंकर श्रीवास्तव एफ० एन० ए० निर्वाचित
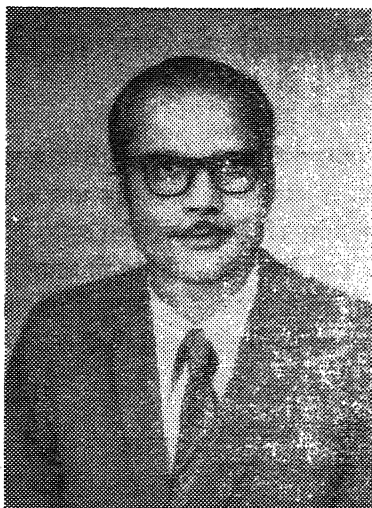
इलाहाबाद विश्वविद्यालय के जन्तु विज्ञान विभाग के अध्यक्ष प्रो० उमा शंकर श्रीवास्तव इस वर्ष इन्डियन नेशनल साइन्स एकेडेमी (इन्सा) के फेलो निर्वाचित हुये हैं। 20 मार्च 1924 को जन्मे प्रो० श्रीवास्तव ने 1947 में इस विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया था। 1963 में उन्हें बिहार विश्वविद्यालय के जन्तु विज्ञान विभाग में प्रोफेसर व अध्यक्ष नियुक्त किया गया। 1967-68 में वे नार्थ ईस्टर्न यूनिवर्सिटी, इवांस्टन (यू० एस० ए०) में विजिटिंग प्रोफेसर भी रहे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रोफेसर व अध्यक्ष पद पर उनकी नियुक्ति 1969 में हुई थी जहाँ वे अब भी कार्यरत हैं। 33 वर्षों से शोधरत् प्रो० श्रीवास्तव ने 60 से अधिक शोध पत्र प्रकाशित किये हैं और बहुत से विद्यार्थियों को उनके निर्देशन में शोध डिग्रियां प्राप्त हुई हैं। वैसे तो कीट विज्ञान के विभिन्न पहलुओं पर उन्होंने कार्य किया है पर उनके शोध का प्रमुख क्षेत्र कीट अन्तः स्रावी विज्ञान है। प्रो० श्रीवास्तव को इम्पीरियल कालेज, लन्दन, में प्रो० ओ० बी० रिचर्ड तथा नार्थ ईस्टर्न विश्व-विद्यालय, इवांस्टन में प्रो० एल० आई० गिल्बर्ट के सहयोग में शोधकार्य करने का श्रेय प्राप्त है।

प्रो० श्रीवास्तव इण्डियन साइंस कांग्रेस के 1976 के अधिवेशन में जन्तु विज्ञान अनुभाग के अध्यक्ष रहे। एण्टोमोलोजिकल सोसाइटी आफ इन्डिया के उपाध्यक्ष (1962, 1963), नेशनल एकेडेमी आफ साइंसेस के 1969 के रांची अधिवेशन में जीव विज्ञान अनुभाग के अध्यक्ष, जूलोजिकल सोसाइटी आफ इण्डिया के जनरल सेक्रेट्री (1974-76), नेशनल एकेडेमी आफ साइंसेस के जनरल सेक्रेट्री (1973-) तथा अन्य वैज्ञानिक संस्थाओं के सदस्य व फेलो रहे हैं। विज्ञान परिषद् के वे आजीवन सभ्य हैं तथा आजकल भवन फण्ड के मन्त्री हैं। उन्हे इस सम्मान के लिये हमारी हार्दिक बधाइयां।

छोटे किसानों के लिये मशीनें

विकासोन्मुख देशों में मानवी-श्रम व पशु-श्रम की प्रचुरता है परन्तु वास्तविकता यह है कि वे खाद्य की बढ़ती हुई आवश्यकताएं पूरी करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। 'हरित क्रान्ति' अधिक उपज देने वाले बीजों के रूप में किसानों के लिए एक नई आशा लेकर आयी, लेकिन उससे समुचित परिणाम प्राप्त करने के लिए एक उच्चतर प्रौद्योगिकी की आवश्यकता है।

कई एशियाई देशों में 50 से 90 प्रतिशत जनसंख्या खेती के कारोबार में संलग्न है और अधिक उपज देने वाला धान उनकी मुख्य फसल है। श्रम उनकी खेती के कारोबार का एक प्रमुख कारक है। उदाहरण के लिए, दो मनुष्य 5 दिन में केवल 2.47 एकड़ भूमि पर धान की रोपाई कर सकते हैं। हो सकता है कि उनके काम की यह गति उतनी तेज न हो, जितनी उसे होना चाहिये। इसी प्रकार, कटाई के समय किसान जितने भी मजदूर मिल सकते हैं, सबको लेकर कटाई, मड़ाई आदि के कार्य जल्द से जल्द पूरा कर लेना चाहता है, अन्यथा उसका सारा अनाज खराब हो सकता है। अगर वह अधिक उपज देने वाले बीजों का प्रयोग करके अपनी उपज में दूनी वृद्धि कर लेता है, तो उसकी श्रम सम्बन्धी आवश्यकता भी दुगनी हो जायेगी। किन्तु हो सकता है कि श्रम की पूर्ति आवश्यक मात्रा में उपलब्ध न हो।

उष्ण प्रदेशों में, जहां अधिक चावल का उत्पादन होता है, किसान साल के हर दिन धान की फसल उगा सकते हैं। इसलिए, फ़सल की कटाई और अगली फसल की रोपाई के बीच जमीन को तैयार करने के लिए आवश्यक समय का महत्व बहुत बढ़ जाता है। जिस किसी दिन भी भूमि पर कोई फसल नहीं उगायी जाती, वे अधिक अनाज उत्पन्न करने से वंचित रह जाते हैं।

अमेरिकी अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेंसी ने यह निश्चय किया कि धान की खेती में कुछ अंश तक चुने-चुनाये कृषि-यन्त्रों का प्रयोग किया जाना चाहिये। लेकिन इसके साथ ही यह भी आवश्यक समझा गया कि ये मशीनें इतनी सस्ती हों कि 5 से 25 एकड़ तक भूमि वाले साधारण किसान उन्हें खरीद सकें।

1965 में, इस एजेंसी और अन्तर्राष्ट्रीय चावल अनुसन्धान संस्थान के बीच एक अनुसन्धान समझौते पर हस्ताक्षर हुए, जिसका उद्देश्य खेती की नयी मशीनों के विकास और व्यापारिक स्तर पर उनके उत्पादन को बढ़ावा देना था। फिलिपीन में बहुत ही अच्छी प्रगति हुई लेकिन अन्य चावल-उत्पादक देशों में उत्पादन बहुत ही कम रहा। 1974 में, अमेरिकी अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेंसी की एक अध्ययन-टोली ने सिफारिश की कि खेती के मशीनीकरण की सफलता की सबसे अधिक सम्भावना थाईलैण्ड और पाकिस्तान में है। अतएव, इन दोनों देशों में अन्तर्राष्ट्रीय चावल अनुसन्धान संस्थान द्वारा विकसित मशीनों के औद्योगिक उत्पादन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेंसी (ए आई डी) और अन्तर्राष्ट्रीय चावल अनुसन्धान संस्थान (आई आर आर आई) के बीच एक नये समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इन मशीनों के निर्माण के हेतु स्थापित होने वाली नयी निर्माता फर्मों को व्यावसायिक प्रबन्ध सुलभ करने के लिए जर्याजिया इन्सटीट्यूट औव् टैक्नोलोजी के साथ एक उप-समझौते की वार्ता चल रही है। सेनेगल, बंगलादेश और कई अन्य देशों ने भी इसमें दिलचस्पी दिखलाई है। तत्सम्बन्धी समझौते के अन्तर्गत 'आई आर आर आई' द्वारा मशीनों के सम्बन्ध में निर्माण विषयक सलाह और योजनाएं तैयार की जाती है, जो अनुरोध करने पर मुफ्त सुलभ की जाती है।

इनमें ऐसी मशीनों के निर्माण पर जोर दिया जाता है,

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ०/3/5/

भाग 116 संख्या 1
सं० 2034 विक्र०
जनवरी 1979

कार्यालय
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-2

विषय सूची

पिछले दो तीन दशकों से अन्तरिक्ष विज्ञान ने जो प्रगति की है उस का यह परिणाम हुआ कि ग्रहों के बारे में हमारे ज्ञान में अत्यधिक वृद्धि हो गई है। उस कड़ी में अमरीका द्वारा भेजा गया पायोनियर यान शुक्र ग्रह के बारे में जो जानकारी देगा उस का हमारी पृथ्वी के लिये भी बहुत महत्व होगा। दो यानों में से एक को मई में व दूसरे को अगस्त में भेजा गया था और उनमें से एक ने उसके चारों ओर घूमना आरम्भ कर दिया तथा दूसरा शुक्र ग्रह वायुमण्डल को भी भेद गया। शुक्र ग्रह के बारे में हमारे पुराणों व ग्रीक ग्रन्थों में काफी चर्चा है। ग्रीक तो उसे सौन्दर्य की मूर्ति मानते ही हैं। शुक्र ग्रह के वायुमण्डल में लगभग 97% कार्बन डाइ आक्साइड है। शुक्र ग्रह का ताप 900 °F है और उसका एक दिन पृथ्वी के 233 दिनों के समान है। अन्य ग्रहों में जब जब जीवों की उपस्थिति का प्रश्न उठता है ज्ञात तथ्यों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि उनमें जीव की कोई सम्भावना नहीं है। यही स्थिति शुक्र ग्रह की भी है। चार टोहयानों में से प्रत्येक में महत्वपूर्ण यंत्र लगाये गये हैं जो वातावरण की रचना और उसके गठन का अध्ययन करेंगे। 4 दिसम्बर से ही पृथ्वी को सूचनायें आने लगी थीं। धरातल से टकराने के बाद 67 मिनट तक यान ने लगातार सूचनायें भेजी। इसके पूर्व रुस द्वारा जो वेनेरा यान गया था उसने 108 मिनट तक सूचना भेजी थी। यान में रखे महत्वपूर्ण उपकरण अनाविष्ट कण मात्रा क्रममापी है जो ग्रह के वातावरण की भिन्न भिन्न सतहों के रसायनिक गठन का पता लगायेगा। साथ साथ इससे बादलों के विस्तार, वितरण और उनकी रासायनिक संरचना के बारे में भी जानकारी मिलेगी। शुक्र ग्रह पर पहुंचने वाली सौर ऊर्जा की भी माप की जायगी। शुक्र ग्रह का ताप इतना अधिक क्यों है यह जानने का भी प्रयास किया जायगा। यान द्वारा प्राप्त चित्र से यह पता चला है कि शुक्र ग्रह के चारों ओर सफेद नीले प्रकाश का एक 'हैलो' है। ऐसा क्यों है इस पर भी वैज्ञानिक अपने अपने सिद्धान्त प्रतिपादित करेंगे। पायोनियर द्वारा पृथ्वी के वातावरण और मौसम गति की जटिलताओं को और अच्छी तरह समझने में सहायता मिलेगा। जब सारी सूचनायें एकत्र हो जायगी तो निसन्देह वैज्ञानिकों के पास जो आंकड़े उपलब्ध होंगे उनसे हमें बहुत लाभप्रद बातों का पता चल जायगा। इन अन्तरिक्ष उड़ानों के महत्व को कभी कभी लोग पैसा फेंकना कह कर कम करने का प्रयास करते हैं। परन्तु वह भूल जाते हैं कि इनसे जो वैज्ञानिक तथ्य सामने आते हैं उनसे कितना अधिक लाभ होता है। ● ●

क्या आप मोटापे से परेशान हैं ?

● श्याम सुन्दर पुरोहित

दुबले मनुष्य को देख कर हर मोटे मनुष्य के मन में यह जलन अवश्य होती है कि "काश मैं भी दुबला होता, मैं भी जीवन के अधिकांश आनन्दों की प्राप्ति कर सकता"। मोटे मनुष्य वास्तव में एक जिन्दा लाश की तरह है। विश्व भर में मोटापा एक विकट समस्या है। मनुष्य ने वैज्ञानिक साधनों को अपना कर विलासिता और नाश को एक साथ आमन्त्रित किया है। मोटापे की समस्या सुसम्पन्न मध्यम वर्ग में व्यापक है। हर कार्य में वे स्वयं को मशीनों के सहारे छोड़ देते हैं और यह कोशिश करते हैं कि जहाँ तक हो अपने शरीर को कष्ट न मिले। खाने की वस्तुओं में वे कभी भी कमी नहीं करते हैं। आपने "मोटे की मोटी अक्ल" वाली कहावत सुनी होगी। वास्तव में उनमें अक्ल की कमी नहीं होती लेकिन मोटापे के कारण उनमें स्फूर्ति, उमंग, चंचलता व सोचने की शक्ति धीरे धीरे क्षीण होने लगती है। उनका मस्तिष्क ह्रास होने लगता है। वे साहस पूर्ण कार्यों से कतराने लगते हैं।

मोटा कौन ?

अष्टांगहृदय, सूत्र स्थान अध्याय 24, श्लोक 31 में मोटे व्यक्ति का वर्णन इस प्रकार किया है :

अथयो पचयोत्साहश्चल स्फिगुदरस्तनः ।
अतिस्थूल स्मृतो योज्यं तत्रान्नं मारुतापहम् ।।

अर्थात् जिन मनुष्यों का उपापचय, मोटाई व शरीर अनुरुप न हो उसे मोटा कहा जाता है। उसका उदर, स्तन चल अर्थात् थल थल करते हैं।

मोटापा क्या करता है ?

मेट्रोपोलिटन लाइफ् इंश्योरेंस कम्पनी के एक सर्वेक्षण के अनुसार 20 वर्ष की आयु से लेकर 64 वर्ष की आयु वाले 50 प्रतिशत मनुष्यों की मृत्यु केवल मोटापे से होती है।

मोटापे से मरने वालों की संख्या को देखकर वैज्ञानिकों ने इस दिशा में कई अनुसंधान किये। उनके अनुसार मनुष्य ज्यों ज्यों मोटा होने लगता है त्यों त्यों उसमें जिगर-कष्ट, हृदय रोग, मधुमेह, नपुंसकता, रक्तचाप, मिरगी आदि उत्पन्न होने लगते हैं। कब्ज तो उन्हें स्थायी रुप से रहती है। अष्टांगहृदय में मोटापे से होने वाले रोगों को निम्नांकित रूप से वर्णित किया गया है :

श्वासादीनचिराच्चान्यान् ज्वरोदरभगन्दरान् ।
मेहोरुस्तम्भपिटिका विद्रचिप्रमृतीन् गदान् ।।30।।

अर्थात मोटापा श्वासादि विकार, ज्वर, उदर रोग, भगंदर, प्रमेंह (मुख्यतः वसामेह एवं मधुमेह) उरुस्तम्भ, प्रमेह पिटका तथा विद्रधि आदि अन्यान्य रोगों को उत्पन्न करता है।

मोटापा क्यों ?

आम लोगों की ऐसी धारणा है कि मोटापा अधिक खाने से बढ़ता है लेकिन वैज्ञानिकों ने इसे मान्यता नहीं दी। मनुष्य को जब भूख लगती है तब ही वह खाता है, लेकिन प्रश्न यह है कि उसे भूख क्यों लगती है ? कुछ वर्षों पूर्व हार्वर्ड विश्वविध्यालय के डा० केनन व शिकागो विश्व

विद्यालय के डा० कार्लसन ने एक संयुक्त अवधारणा प्रस्तुत कर बताया कि आँतों के निरन्तर संकुचन से भूख लगती है। लेकिन वे यह सिद्ध न कर सके कि शरीर से आँतों को निकाल देने के पश्चात भी भूख क्यों लगती है ?

सन् 1940 में नार्थ वेस्टर्न विश्वविद्यालय के डा० रेन्सन ने बताया कि पशुओं के मस्तिष्क के बीच में स्थित किसी ग्रंथि को सुन्न कर देने से भूख नहीं लगती है लेकिन उसमें विद्युत प्रवाह करने पर पुनः भूख लगनी आरम्भ हो जाती है। इस अवधारणा को भी मान्यता प्राप्त न हो सकी।

जैक्सन प्रयोगशाला के डा० डिकी के मतानुसार मोटे चूहों में शर्करा और पित्त की मात्रा दुबले चूहों की तुलना में कम होती है। तथा इनका स्वभाव दुबले चूहों से विचित्र होता है। मोटे चूहों को, दुबले चूहों को दिया जाने वाला खाना खिलाने पर भी वे निरन्तर मोटे होते रहते हैं। इस प्रकार का मोटापा आनुवंशिक कारकों से नियन्त्रित होता है। मोटे शरीर वाले माता-पिता का बच्चा भी मोटा होता है चाहे उसे कैसा भी सामान्य व सात्विक खाना क्यों न खिलाया जाय।

मस्तिष्क में उपस्थित विशिष्ट प्रकार की ग्रंथियों से स्रावित होने वाले हार्मोन की मात्रा में वृद्धि से भी मोटापा बढ़ता है। किसी पशु को अधिक इन्सुलीन (एक प्रकार का हार्मोन) देने या थाइराइड ग्रंथि को निष्क्रिय कर देने पर भी उसमें मोटापा बढ़ता है। कभी कभी नपुंसकता से भी मोटापा बढ़ता है। खाने के पश्चात् सोने व कम काम करने से भी मोटापा बढ़ता है।

मोटापा कैसे कम करें ?

उपरोक्त भयंकर रोगों को देख कर स्थूल शरीर को हल्का व दुबला करने की इच्छा आपके मन में जागृत होनी स्वाभाविक है। किसी से भी मोटापा कम करने पर वह यही सलाह देता है कि खाना कम कर दो या कुछ दिन भूखे रहो। भूखे रह कर तो आप केवल अल्प समय के लिए ही दुबले हो सकते हैं। भूखा रहने से आपके शरीर में एकत्रित जहर रक्त में प्रवेश कर ज्वर, सिर दर्द और कै जैसी अन्य बीमारियाँ उत्पन्न कर देता है। अतः भूखा न रह कर विवेकपूर्ण आहार उपयोग में लाने से मोटापा आपके पास भी नहीं आयेगा।

दुबला होने के लिए गोश्त, मछली, अंडे, मैदा, दाल, छंटे चावल आदि सबका त्याग करना होगा। दूध की जगह सप्रेटा दूध, शुद्ध घी की जगह वनस्पतियों से बने घी व सोयाबीन, मूँगफली, तिल व सूरजमुखी का तेल उपयोग में लायें। शक्कर तथा उससे बने पदार्थ कम उपयोग में लेने चाहिए जिससे प्रमेह व मधुमेह न हो। संयत फलहार जैसे-रसदार फल, संतरा, अनन्नास, रसभरी, टमाटर आदि का सेवन श्रेयस्कर रहता है। खाने में थोड़े चोकर सहित आटे की रोटी व मक्खन निकाला हुआ दूध या मठा ही काम में लायें।

संयत भोजन के साथ ही व्यायाम मोटापा कम करने का रामबाण इलाज है। व्यायाम से त्वचा ढीली पड़ती है, शरीर थकता है और पसीना आता है। अधिक मोटे मनुष्यों को जितना पसीना आयेगा उतना ही उनका शरीर हल्का होगा। सुबह दौड़ना व्यायाम का आवश्यक अंग है। दौड़ने से आप स्वयं महसूस करेंगे कि आपके शरीर में वसा की मात्रा व स्थूलता कितनी कम हो गई है।

सुबह, शाम कटि-स्नान करने से भी पसीना निकलता है जिससे भी मोटापा कम होता है।

समुद्री गहराइयों का मापन

● शैलेन्द्र नाथ भटनागर

विभिन्न परिवहन एवं इंजीनियरिंग कार्यों के लिये कई बार जल सतह से भूमि की गहराई की जानकारी न केवल सुविधाजनक ही होती है, अपितु कई बार तो आवश्यक भी होती है। अतएव जलाशयों, तीव्र गति से बहती नदियों और ज्वार भाटे से उद्वेलित होते समुद्रों की गहराइयां नापने के लिये अनेकानेक विधियां प्रयुक्त की जाती हैं। इस प्रकार की गहराई मापन विधियों का महत्व नवीन बन्दरगाहों के निर्माण, नदियों के मुहानों की सफाई, डेल्टाओं पर बने तलछट के पहाड़ों की सफाई तथा नौ परिवहन में प्रयुक्त होने वाले जल मार्गों के रख रखाव के समय सामने आता है।

अभी तक गहराइयों के मापन हेतु प्रायः गहराई मापक नौकाएं, गहराई मापक स्तम्भ तथा कुछ गहराई मापक यंत्र प्रयुक्त किये जाते थे। वर्तमान में पराध्वनियों के विकास के साथ ही प्रतिध्वनि गहराई मापकों का विकास हुआ है जो कि सुविधाजनक होने के साथ ही साथ अत्यधिक विश्वसनीय परिणाम भी देते हैं। पराध्वनि परावर्तन के सिद्धान्त पर कार्य करने वाला प्रमुख यंत्र है—फैरोमीटर !

पराध्वनि प्रतिध्वनि गहराई मापन में मुख्यतः ध्वनि के दो मूलभूत भौतिक गुणों का समावेश किया गया है—पहला तो यह कि जब कोई ध्वनि तरंग किसी कठोर सतह से टकराती है तो उसका परावर्तन हो जाता है और यह परावर्तन ठीक प्रकाश के परावर्तन के नियमों के समान ही आचरण करता है। दूसरा मूलभूत गुण है—ध्वनि का वेग। चाहें ध्वनि का उत्पादन किसी भी प्रकार से क्यों न किया जाए उसका वेग किसी निश्चित माध्यम में सदा एक सा ही रहता है। अतएव यदि किसी निरपेक्ष प्रयोग के द्वारा जल के भीतर ध्वनि का वेग ज्ञात कर लिया जाए तो उसका उपयोग प्रतिध्वनिक गहराई मापन में गणना हेतु किया जा सकता है।

प्रतिध्वनि की सहायता से गहराई मापन का प्रमुख एवं सैद्धान्तिक तथ्य यही है कि यदि किसी ध्वनि तरंग के उत्पादित होने तथा उसके परावर्तित होकर पुनः पूर्व स्थान तक वापिस आने के कुल समय का शुद्धता पूर्वक मापन किया जा सके तो ध्वनि का उस माध्यम में वेग ज्ञात होने पर उस स्थान पर जल (या अन्य माध्यम) की गहराई ज्ञात की जा सकती है।
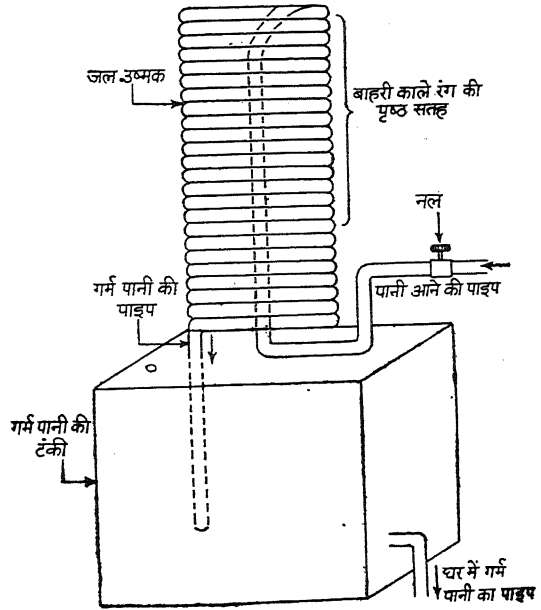
चित्र 1

मान लें कि जल में ध्वनि का वेग v मीटर/सेकंड है तथा वह t सेकंड में परावर्तन के पश्चात पुन: सुनाई देती है। तब उसके द्वारा चली गई कुल दूरी $v \times t$ होगी। यदि यह मानें कि वह परावर्तन के पूर्व कठोर सतह पर अभिलम्बवत टकराई है, तो यह माना जा सकता है कि उसने टकराने से पूर्व गहराई के तुल्य दूरी चली और फिर परावर्तन के पश्चात पुन: गहराई के ही तुल्य दूरी चली अर्थात कुल 2h दूरी चली, जहां कि h जल सतह से भूमि तल की गहराई प्रदर्शित करता है। अतएव,

वास्तविक गहराई $h=\frac{vt}{2}$ मीटर होगी।

प्रयोग द्वारा यह स्थिति प्राप्त करना कुछ कठिन है। प्रतिध्वनि द्वारा गहराई मापन में प्रयुक्त किये जाने वाले यंत्र में मुख्यत: 4 भाग होते हैं –

(अ) ध्वनि प्रसारक (ब) ध्वनि अभिग्राहक (स) सूचना संग्राहक एवं (द) शक्ति स्रोत !

ध्वनि प्रसारक एवं अभिग्राहक में हमेशा ही कुछ न कुछ दूरी होती है अतएव आपतित ध्वनि तरंग एवं परावर्तित ध्वनि तरंग का पथ एक ही सरल रेखा न होकर एक त्रिकोणात्मक पथ बनाता है। वास्तविक गहराई h इस त्रिभुजात्मक आकृति की ऊंचाई के बराबर होता है जो कि प्रसारक एवं अभिग्राहक की दूरी ज्ञात होने पर परिकलित किया जा सकता है।

शक्ति स्रोत से शक्ति ग्रहण कर ध्वनि प्रसारक उच्च आवृति की पराश्रव्य ध्वनि तरंगें प्रसारित करता है। ये तरंगें तल के कठोर पृष्ठ से परावर्तित होकर अभिग्राहक में पहुंचती हैं। एक स्वचालित व्यवस्था के अन्तर्गत इस क्रिया में लगे समय तथा उस स्थान पर समुद्र की गहराई का अंकन यंत्र में प्रदर्शित होता है। अब तो प्राय: सभी आधुनिक यंत्रों में गतिशील फीते की व्यवस्था रहती है। एक तीव्रगति से चलते हुए जलयान में समूर्ण व्यवस्था स्वचालित रूप से प्रति सेकंड उस फीते पर समुद्र तल की गहराई एक रेखाचित्र (ग्राफ) के रूप में अंकित करती रहती है। इस रेखाचित्र को बाथोग्राम कहा जाता है।

समुद्री यात्रा में जहाजों को कई संकटों से जूझना पड़ता है उनमें से एक तो जल तल के नीचे विशाल शैल खण्डों (हिम चट्टानों) के अस्तित्व तथा दूसरी द्वीपों के समीप उथले समुद्र की समस्या है। अत: पोतवाहक के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि उसे निरंतर पोत के नीचे जल की गहराई का ज्ञान होता रहे। इसके लिये विशेष प्रकार के पैमाने वाले यंत्रों का विकास किया गया है। इस प्रकार के यंत्रों के पैमाने निओन साइन बोर्डों के समान होते हैं और इन पर एक प्रकाशित बिन्दु निरंतर समुद्र तल की गहराई प्रदर्शित करता हुआ गतिशील रहता है। इस पैमाने पर एकाएक गहराई का कम होना यह प्रदर्शित करता है कि या तो नीचे जल में बर्फीली चट्टानें हैं और या व्हेल के समान कोई विशाल मछली। तुरंत ही सुरक्षात्मक कार्यवाही की जा सकती है।
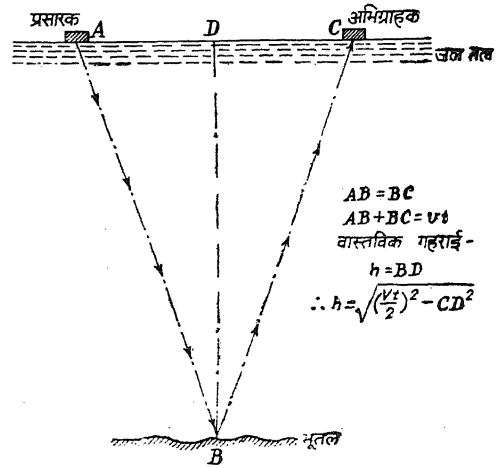
चित्र 2

अब समुद्र विज्ञान तथा गहराई मापक यंत्रों के विकास के कारण सारी पृथ्वी के समुद्र तलों के चप्पे चप्पे के विशद नक्शे बना लिये गए हैं। ये नक्शे बाथोग्राम ही हैं। यदि समुद्र में कोई जहाज भटक जाए तो उस स्थान पर तैयार किये गए बाथोग्राम की प्रमाणित बाथोग्राम से तुलना कर जहाज की स्थिति निश्चित की जा सकती है।

प्रतिध्वनि गहराई मापन का एक अन्य व्यापारिक उपयोग है मछलियों के झुण्ड की जानकारी प्राप्त करने में।

शेष पृष्ठ 12 पर

काला सोना—कोयला

● विजय कान्त श्रीवास्तव

पृथ्वी पृष्ठ से प्राप्त होने वाले पदार्थों में कोयला एक अनोखा खनिज है। मनुष्य जीवन में कोयले का विविध उपयोग पाया जाता है। कोयला की संरचना, श्रेणी आदि भी इस प्रकार के विविध उपयोगों के अनुसार परिवर्तनशील पायी जाती है। खाने पकाने से लेकर भारी उद्योगों तक किसी न किसी रूप में कोयले का उपयोग पाया जाता है।

कोयले की संरचना, रचना, उत्पत्ति, खनन तथा व्यापार विविधतापूर्ण पाया जाता है। कोयले की उत्पत्ति एक रहस्यमय विषय है। कोयला संस्तर तथा सहयोगी शिला संस्तर से भूपटल में हुए विवर्तनों का ज्ञान प्राप्त होता है। पुराकालीन ज्वालामुखियों तथा पुराकाल भूशक्तियों तथा इनसे व्याप्त परिवर्तनों का ज्ञान कोयला संस्तर के निर्माण तथा वितरण से होता है। अवसादन, कायान्तरण तथा मैग्मीय प्रक्रियाओं का ज्ञान कोयला संस्तर के वितरण से होता है। कोयला संस्तर सहयोगी व्याप्त शिला संस्तरों से पुराकालीन भूगोल, पुरा अवस्था में नदी घाटी की अवस्था, आकार तथा उनमें होने वाले अवसादन तथा तत्सम्बधी अन्य भू शक्तियों की क्रियाकलापों का ज्ञान प्राप्त होता है। पुरावनस्पति तथा पुराजैकीय अवस्थाओं का ज्ञान भी कोयला भूविज्ञान से होता है। इन अध्ययन से कोयला संस्तरों तथा तत्सम्बधी शिलाओं की आयु का सही निर्धारण किया जाता है।

निर्माण : कोयला युगों पूर्व विद्यमान वनस्पतियों का भौतिक एवं रासायनिक रूप में पूर्णतया परिवर्तित रूप है। युगों पूर्व वनस्पतियों का उचित स्थान पर जमाव हो गया तथा इन पर मृदा एवं अनेकों प्रकार के अवसाद जमते गये। कालान्तर में इन अवसादों पर ताप एवं दबाव के कारण नाना प्रकार के परिवर्तन हुए तथा प्रक्रियाओं से वनस्पतियाँ पूर्णतया परिवर्तित हो गयीं तथा इस प्रकार कोयले का निर्माण हुआ। इन प्रक्रियाओं तथा परिवर्तनों के आधार पर ही कोयले की अनेक श्रेणियाँ पायी जाती हैं जिनमें मुख्य हैं लिगनाइट, पीट विटूमिनस तथा एन्थ्रासाइट।

कोयले का निर्माण करने वाले वनस्पतियों में मुख्य रूप में टेरिडोफायटा तथा स्परमेटोकायटा वर्ग की वनस्पतियाँ थीं। इनमें फर्न जैसे पौधे (फिलिकिनी, लायकोपोडिनी आदि) तथा जिमोस्पर्म तथा एंजियोस्पर्म वर्ग के पौधे थे। जिमोस्पर्म पर्मोकार्बोनीफेरस समय में पाये जाते थे तथा एंगियोस्पर्म टरशियरी युग में।

उत्तरी गोलार्ध में कार्बोनीफेरस समय में निम्न पौधे प्रधानतया पाये जाते थे :

लाइकोपोडियेल्स—लेपिडोडेन्ड्रास, बोथरोडेन्ड्रान तथ सिजिलेरिया

इक्वीसिटेल्स —कालामाइट्स

जिम्नोस्पर्म —कोरडाइटेल्स, टेरिडोस्पर्म

दक्षिणी गोलार्ध (दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अमेरिका) में ग्लासोप्टेरिस वर्ग के पौधे प्रधान थे।

भारत में पुरावनस्पति अवशेषों के आधार पर यह पाया जाता है कि लगभग 21 करोड़ वर्ष पहले पमियन समय में ग्लासोप्टेरिस वर्ग के पौधे प्रधान थे तथा टरशियरी युग में डाइकोटिलेडिनृस वर्ग के पौधे विद्यमान थे। दक्षिणी अफ्रीका,

आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अमेरिका के कोयला संस्तर भी इसी समय के हैं तथा इनमें इसी वर्ग के पौधे पाये जाते हैं। यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका के कोयला संस्तर कार्बोनीफेरस समय के हैं (28·5 करोड़ वर्ष पूर्व) तथा इनमें लेपिडोडेन्ड्रान वनस्पतियाँ पायी जाती हैं। भारत में प्राप्त गोंडवाना कोयला संस्तरों में जिम्नोस्पर्म वर्ग के पौधे पाये जाते हैं।

वनस्पतियों के निर्माण में लगे रसायनों में कार्बोहाइड्रेट, (सेल्यूलोज, लिगनिन, स्टार्च, शक्कर) प्रोटीन, तेल रेजिन तथा मोम आदि प्रधान होता है। कार्बोहाइड्रेट्स आक्सीजन, हाइड्रोजन तथा कार्बन का यौगिक होता है जब कि रेजिन, तेल तथा अन्य पदार्थों में कार्बन तथा हाइड्रोजन के यौगिक पाये जाते हैं। कार्बोहाइड्रेट तथा हाइड्रोकार्बन की मात्रा पौधों पौधों में बदलती जाती है। इन पदार्थों से ही कोयले का निर्माण होता है। फंगस तथा बैक्टीरिया से वनस्पतियों का विच्छेदन हो जाता है। साधारण अवस्था में वनस्पति विच्छेदित होकर कार्बन डाइआक्साइड तथा जल बनाते हैं। जब पौधा जल में पड़ जाता है तब विच्छेदन की गति धीमी हो जाती है। शान्त जल में बैक्टीरिया की क्रिया से वनस्पतियों का विच्छेदन धीमे होने लगता है तथा संग्रह तथा आरक्षण होने लगना है। बैक्टीरिया क्रिया से आक्सीजन तथा हाइड्रोजन निकल जाता है तथा कार्बन बच जाता है। जैवीय रसायन प्रारूप में कोयला निर्माण में निम्न प्रक्रियायें सम्मिलित पायी जाती है—

1. स्वच्छ वायु में वनस्पति का होना 2. जल में धीरे धीरे विच्छेदन 3. रासायनिक परिवर्तन—(i) प्रोटोलाजा (ii) क्लोरोफिल (iii) तेल (iv) एपिडरमिस (v) बीज (vi) कार्बोहाइड्रेट (vii) पिगमेंट (ix) रेजिन का परिवर्तन। रासायनिक क्रियायों में निम्न स्तर पाया जाता है 1. विटूमिन का नाश 2. जल आक्सीजन तथा हाइड्रोजन का विनाश 3. अलमिन का विकास।

पीट का निर्माण

पीट के निर्माण के लिए आक्सीजन रहित अवस्था में वनस्पतियों तथा मृदा का अवसादन आवश्यक है। पीट के निर्माण में कार्बन की अधिकता का होना आवश्यक है, साथ में अन्य क्रियायों से नाइट्रोजन भी संग्रहित होता है। पीट का निर्माण जलवायु पर निर्भर है। डेल्टा तथा नदी मुहानों पर वनस्पतियों का संग्रह अधिक होता है। शांत जल में जीव जन्तु भी अधिक पाये जाते हैं। अत्यधिक वर्षा से जीव जन्तु वितरण, स्थानान्तरण, पदार्थों का शीघ्र विच्छेदन आदि सम्भव हो पाता है। शीतोष्ण जलवायु में पीट का निर्माण शीघ्र होता है।

पदार्थों का गहराई में अवसादित होना, ऊपर से दबाव तथा तीव्र ताप तथा बल से पदार्थों में परिवर्तन हो जाता है तथा विभिन्न श्रेणी के पीट का निर्माण होता है। पदार्थ का जल तथा वाष्पीय पदार्थ निकल जाता है अतः पीट आयतन में अत्यल्प बचता है। कार्बन की मात्रा बढ़ती जाती है, इसका रंग बदलता जाता है, पृथ्वी बल के कारण श्रेणी वितरण होता रहता है।

कोयला निर्माण से निम्न स्तर पाया जाता है।

1. वनस्पतियों का संग्रह
2. फफूंद, बैक्टीरिया तथा रसायन क्रियायों में वनस्पतियों का विघटन
3. जल के अन्दर समा जाना
4. ऊपर से अवसाद का जमना
5. ताप तथा दबाव की क्रिया

विभिन्न विद्वानों के अनुसार उपयुक्त परिस्थितियों में 175-200 वर्षों में 1 फुट एंथ्रासाइट कोयला संस्तर बन पाता है।

कोयला निर्माण में लगे पदार्थों के स्थान तथा उत्पत्ति पर विद्वानों में मतभेद है। कोयले की 50 मीटर से भी मोटे संस्तरों को जन्म देने वाले पदार्थों के विषय में कुछ विद्वान मानते हैं कि ये वनस्पतियां उसी स्थान पर थीं जहां आज कोयला संस्तर है, कुछ विद्वान मानते हैं कि ये वनस्पतियाँ अन्यत्र थीं तथा विभिन्न गतियों के कारण दलदली, घाटी या पानी वाले स्थलों में स्थानान्तरित होकर जम गयीं

	स्वस्थानीय वनस्पति	परस्थानीय वनस्पति
1.	इनमें कोयला संस्तर अधिक पाया जाता है।	कोयला संस्तर कभी कभी पाया जाता है।
2.	कोयला संस्तर के छत में वनस्पति अधिक होती है।	पहचाने जाने वाले पौधे कम होते हैं।
3.	स्टिगमेरिया अधिक पायी जाती है।	स्टिगमेरिया कम होती है या नहीं होती।
4.	कोयला शुद्ध होता है।	कई चीज़ें मिली होती हैं।
5.	संस्तर समान पाया जाता है।	संस्तर में अन्य चीजे पायी जाती है।
6.	नीचे मृदा तथा वृक्ष खड़े पाये जाते हैं।	वृक्ष के तने कम पाये जाते हैं।

कोयला पदार्थ निम्न अवसादीय स्थानों में निम्न रूप में पाये जाते हैं।

1.	सागर जल	—	(1) भूमि से स्थानान्तरित (2) छोर पर पायी जाने वाली एलगी
2.	गंदले जल	—	स्वस्थानीय पदार्थ,
3.	स्वच्छ जल	—	(1) झील में (2) नदी मुहानों पर, डेल्टा पर (3) दलदल में, स्वस्थानीय या स्थानान्तरीय पदार्थ
4.	भूमि पर	—	विभिन्न प्रकार के वनस्पति पाये जाते हैं।

तथा वर्तमान कोयला संस्तरों का निर्माण हुआ। इस विषय पर आनेको स्थानों पर विशद, अध्ययन किया गया है, नोवा स्काशिय क्षेत्र में स्वस्थानिक वनस्पति के होने की पुष्टि होती है इसी प्रकार अनेकों अन्य स्थानों पर भी स्वस्थानिक वनस्पति की पुष्टि होती है। परस्थानिक तथा स्वस्थानिक वनस्पतियों द्वारा उत्पन्न कोयला संस्तरों में भेद ऊपर बताया गया है।

भारतीय कोयला संस्तरों का निर्माण : भारतीय कोयला संस्तर स्थानान्तरीय वनस्पतियों द्वारा निर्मित हैं। भारत में कोयला निर्माण की अवधियों में प्रधान गोंडवाना तथा टरशियरी हैं। गोंडवाना अवधि के कोयला संस्तर स्वच्छ जल में बने हैं तथा विस्तृत घाटियों में, झीलों में तथा बाढ़ मैदानों में अवसादित हुए हैं। ये क्षेत्र मध्य भारत, बंगाल तथा हिमालय के तराई के क्षेत्र हैं। सतपुड़ा, वर्धा गोदावरी, महानदी तथा सोना, दामुदा दार्जिलिंग क्षेत्र में वनस्पतियों का संग्रह हुआ था। महानदी तथा गोदावरी में तरंग दिशा उत्तर की ओर थी। इन कोयलों में राख अधिक पायी जाती है।

टरशियरी अवधि में कोयला दलदल तथा मुहानों तथा गंदे जलों में निर्मित हुआ। इन कोयलों में गंधक की मात्रा अधिक पायी जाती है। पालना(राजस्थान) की लिगनाइट, जम्मू, कश्मीर क्षेत्र का कोयला भी इसी अवधि का है। ये कोयला संस्तर सागरीय जल के हैं, इनका तरंग उत्तर पूर्व की दिशा का पाया जाता है।

कोयला का भौतिक गुण : कोयले में तेज तथा मद्धिम रंग के स्तर पाये जाते हैं। ये स्तर कोयला में विभिन्न रूप में पाये जाते हैं। चमकीला संस्तर अत्यन्त काला चिकना तथा समान संरचना का होता है, यह गोल गोल टुकड़ों में टूटता है। इस प्रकार के कणों को पिट्रोन कहा जाता है। इस प्रकार के कण पुनः पुरा वनस्पतियों के किसी टुकड़े-तना, जड़ शाखा आदि से बनते हैं। विना चककवाली काले भूरे रंग वाली तथा कणीय कोयला को जो असमान कणों में टूटे डयूरेन कहा जाता है। जो कोयला संस्तर की दिशा में टूट जाय तथा चूर्ण विचूर्ण हो जाय, हाथों को काला करे तथा जिसमें पतले तन्तु दिखायी पड़े उस कोयले को फ्यूजेन कहा जाता है। चमकदार कोयले को जिसमें द्युति अधिक हो म्लेरेन कहा जाता है।

फूंफद से वनस्पति पदार्थ काई के समान हो जाता है। कुछ पदार्थ एकदम बदल जाते हैं कुछ में परिवर्तन अधूरा रह जाता है। जल में हवा के रुक जाने से इस प्रकार के परिवर्तन में बाधा पड़ती है। वैक्टीरिया से वनस्पति पदार्थ कोलायडल रूप में बदल जाता है।

भारतीय कोयलों में मद्धिम तथा चमकदार तह पाये जाते हैं। रंग, रूप टूटन आदि के आधार पर भारतीय कोयले को विट्रेन, डयूरेन तथा फ्यूजेन वर्गों में विभाजित किया जाता है। गोडवाना अवधि के कोयला प्रायः डयूरेन वर्ग के हैं। नीचे इनकी संरचना दी गई है।

कोयले की संरचना

	सूक्ष्मरूप	उत्पत्ति
विट्रेन	विट्रिनाइट	पौधों के छालों से
	रेजीनाइट	पौधे के काष्ठों तथा छालों में व्याप्त रेजिन तथा मोम से
डयूरेन	मिक्रिनाइट	पौधों के जैव रासायनिक परिवर्तन से पौधों के छोटे भागों से
	इक्जिनाइट	
	फ्यूजीनाइट	पौधों के छोटे छोटे भागों के अत्यधिक कार्बनीकरण से

	अर्द्ध फ्यूजीनाइट	पौधों के उन भागों से जिनका कार्बनीकरण अधिक हुआ हो, विट्रिनाइट तथा फ्यूजीनाइट के बीच की अवस्था।
	स्क्लेरोनाइट	पौधों पर फफूंद की क्रिया से
	विट्रिनाइट	पौधों के अन्य भागों से
फ्यूजेन	फ्यूजीनाइट	—
	अर्द्ध फ्यूजीनाइट	—

रासायनिक संरचना : कोयले की रासायनिक संरचना कोयले के वर्ग तथा श्रेणी पर निर्भर करती है। कोयले के विभिन्न वर्गों की रासायनिक संरचना निम्न है।

	नमी %	राख %	वाष्पीय पदार्थ %	स्थिर कार्बन %	आ० घनत्व
विट्रेन	15·08	0·57	38·59	45·76	1·329
ड्यूरेन	9·83	6·46	26·15	47·56	1·374
फ्यूजेन	1·42	2·24	20·90	75·44	1·485

श्रेणी के आधार पर कोयले का श्रेणी विभाजन लिगनाइट, अर्द्ध विटूमिनस विटूमिनस तथा एंथ्रासाइट कोयला श्रेणी में किया जाता है। संरचना के आधार पर कई प्रकार के श्रेणी विभाजन किये गये हैं। भारतीय मानक संस्थान के अनुसार कोयले का श्रेणी विभाजन निम्न आधार तथा संरचना पर जाता है।

श्रेणी	वाष्पीय % 925° सें० पर	कैलोरी मात्रा (कोयला इकाई)	नमी % 60% पर 40 सें० पर	उपयोग
एंथ्रासाइट	3.10	15000.15600	1.3	गैस के लिए
अर्द्ध एन्थ्रासाइट	10.15	15200.15800	1.2	,,
विटूमिनस				
कम वाष्पीय	15.20	15600.16000	0.5-1.5	धात्वीय कामों में
मध्य वाष्पीय	20.32	15200.15800	0.5-2	,,
उच्च वाष्पीय	32	14900.15000	1.3	कोकिंग
अर्ध कोकिंग उच्च वाष्पीय	32	14500.15200	3.7	गैस के लिए
अकोकिंग उच्च वाष्प	32	13500.14500	7.14	वाष्प के लिए
अर्द्ध विटूमिनस, अकोकिंग	32	12.500-13500	10.20	,,
लिगनाइट	45.55	11000.12500	10.25	,,

भारतीय कोयला बोर्ड ने कोयले के व्यापार के लिए निम्न प्रकार का श्रेणी क्रम निर्धारित किया है। यह विभाजन कोयले में प्राप्त नमी, राख तथा कैलोरी के आधार पर किया गया है।

	कम वाष्पीय		उच्च वाष्पीय		
श्रेणी	राख %	कैलोरी मात्रा	राख %	कैलोरी मात्रा	नमी %
उच्च श्रेणी	13 तक	7000 के ऊपर	11 तक	6800 तक	6 के नीचे
श्रेणी 1	13.15	6500 के ऊपर	11.13	6300	9 के नीचे
2	15.18	6000	13.16	6000	10 के नीचे
3	श्रेणी 2 के नीचे की मात्रा वाले सभी कोयला				

भूवैज्ञानिक काल में कोयले का निर्माण : कोयले का निर्माण पैलियोजोइक युग के बाद ही पाया जाता है। उत्तरी रुस में स्पिटबरजेन क्षेत्र में डिवोनियन अवधि का कोयला संस्तर पाया गया है। उत्तरी गोलार्ध में कार्बोनीफेरस आवधि तथा दक्षिणी गोलार्ध में पर्मियन अवधि में कोयला संस्तर का निर्माण अधिकता से हुआ है। मेसोजोइक तथा टरशियरी युग में अधिकांश कोयला संस्तरो का निर्माण पाया जाता है।

(पृष्ठ 6 का शेष)

उन स्थानों पर बाथोग्राम एक विशिष्ठ वक्र के आकार में मिलता है, जहां नीचे मछलियों का विशाल भुण्ड हो अतएव एक ही प्रयास में काफी बड़ी मात्रा में मछलियों का शिकार किया जा सकता है। ये बाथोग्राम विशेष पैमानों पर मछलियों के आकार, परिमाण एवं गहराई का भी प्रदर्शन करते हैं।

प्रतिध्वनि की सहायता से गहराई मापन की एक विशेषता यह भी है कि इसका उपयोग किसी भी मौसम में किया जा सकता है तथा उपयोग के समय जहाज की गति धीमी करने की भी कोई आवश्यकता नहीं होती। इसके द्वारा बने बाथोग्राम इतने सुस्पष्ट होते हैं कि किसी स्थान पर डूबे जहाज की स्थिति पूर्णतः निर्धारित कर उसे निकालने की व्यवस्था की जा सकती है। ● ●

सौर जल उष्मक

● शैलेन्द्र कुमार

वैसे तो गर्म पानी की आवश्यकता पूरे वर्ष रहती है। लेकिन सर्दी में गर्म पानी की काफी आवश्यकता होती है। आजकल वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ उर्जा की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही है। सामान्यत: घरों में उर्जा के निम्न साधन हैं कोयला, लकडी, मिट्टी का तेल व बिजली लेकिन घर की सम्पूर्ण आवश्यकता के लिये इनसे पानी गर्म करना काफी मंहगा पड़ता है।

इन दिनों उर्जा का एक स्रोत प्रकाश में आया है वह है सौर-उर्जा। इसरायल आदि अनेक देशों में सौर उर्जा का काफी उपयोग किया जा रहा है परन्तु भारत में अभी इसका पूर्ण विकास नहीं हो पाया।

मैंने इन्हीं दिनो पानी गर्म करने के लिये एक छोटा सा सौर-जल उष्मक बनाया है जो महीने भर से बराबर काम कर रहा है इससे चौबीसों घन्टे गर्म पानी मिलता रहता है। टंकी का अकार घर की आवश्यकता के अनुरूप रखा जा सकता है।

घर की पानी की टंकी व जल उष्मक की ऊंचाई लगभग समान होनी चाहिये। जल उष्मक में पानी ले जाने वाले नल में एक वाल्व भी लगा देना चाहिये।

जल उष्मक के घर के उपरी-खुले भाग में होने से सौर-प्रकाश जल उष्मक पर भी गिरेगा। जल उष्मक की धातु की नलियां कुंडलित अवस्था में रखी जाने से अधिकाधिक प्रकाश के गिरने के साथ ही स्थान भी कम घेरती है। जल उष्मक की बाहरी सतह को गहरे काले रंग से रंग दिया जाना चाहिये जिससे आपतित प्रकाश का 99% भाग अवशोषित होकर पानी को गर्म करे।

गर्म पानी जल उष्मक से निकलकर नीचे की टंकी में इकत्रित होता रहता है। टंकी का आकार इच्छानुसार रखा जा सकता है। टंकी को उष्मा रोधी करने के लिये टंकी की दिवारो पर बेहद सस्ते मिलने वाले लकडी के बुरादे की दो-दो इंच मोटी परत जमा दी जाती है। टंकी के निचले भाग से गर्म पानी घर में जाता है।

कुछ आवश्यक बातें

1. जल उष्मक की बाहरी व भीतरी सतह पूर्ण रूपेण काली होनी चाहिये।
2. गर्म पानी की टंकी के चारों ओर बुरादे के कुचालक सतह होनी चाहीये।
3. गर्म पानी की टंकी के उपर कुछ छेद होने चाहिये।
4. जल उष्मक में पानी आने के वाल्व को दिन में थोडा सा ही खोलना चाहिये ताकि कम मात्रा में पानी के आने से पानी अधिक गर्म हो।
5. शाम के समय उष्मक में पानी आने वाले वाल्व को बन्द कर जल उष्मक से पानी निकाल देना चाहिये।
6. सुबह 8-9 बजे वाल्व को पुन: खोल देना चाहिये। अगर इन सब बातों को ध्यान रखा जाये तो सुबह उठने के समय से रात भर गर्म पानी प्राप्त होता है।

माइटोकान्ड्रिया के बारे में आप क्या जानते हैं

● अजय र

- 1894 में, माइटोकान्ड्रिया की कोशिका में उपस्थिति आल्टमन ने बताई थी जिसे इन्होंने बायोब्लास्ट की संज्ञा दी थी
- 1897 में बेन्डा ने आल्टमन के बायोब्लास्ट का नाम माइटोकान्ड्रिया रखा
- 1900 में माईकैलिस ने पहली बार सिद्ध किया कि माइटोकान्ड्रिया के लिये जैनसग्रीन रंगक सबसे अच्छा होता है
- 1914 तथा 1921, में क्रमशः लुइस तथा कैन्टी ने बताया कि माइटोकान्ड्रिया का आकार बदलता रहता है
- 1934 में बेन्सले तथा हार ने सर्वप्रथम चूहे की शरीर कोशिकाओं से माइटोकान्ड्रिया प्रथक किया
- 1948 में होजबूम ने बताया कि माइटोकान्ड्रिया कोशिकीय श्वसन का स्थल है
- 1963 में एम० एम० के० नास तथा एस० नास ने माइटोकान्ड्रिया के अन्दर डी एन ए अणु के तन्तुओं की उपस्थिति बताई
- 1966 में मारीसान के अनुसार माइटोकान्ड्रिया की उत्पत्ति शायद अन्तः प्लास्मिक जालिका या प्लास्मा कला से होती है
- 1967 में पारसन तथा सिम्पसन ने माइटोकान्ड्रिया में डी एन ए पालीमरेस विकर की उपस्थिति बताई
- 1968 में राबिनोविच ने बताया कि माइटोकान्ड्रिया के डी एन ए में ग्वानिन तथा साइटोसिन क्षारों का अंश केन्द्रकिय डी एन ए के ग्वानिन तथा साइटोसिन क्षारों के अंश से अधिक होता है
- 1969 में ए० एल० लोंहनीनगर ने माईटोकान्ड्रिया में पाये जाने वाले लगमग 18 विकरों को बताया जो उसके वाह्य कला, अन्तः कला, अन्तराकला अवकाश तथा उसके गुहा में पाये जाते हैं

(पेज 19 का शेष भाग)

-इसके कारण लायसोसोम्स कला कमजोर पड़कर कोशिका के अन्दर ही फट जाती है और अन्दर के सभी रसायनिक अवयव बाहर कोशाद्रव्य में मिल जाते हैं और विभिन्न रसायनिक क्रियाओं के फलस्वरूप कोशिका मर जाती हैं। अतः ऐसी अवस्था में इसे कोशिका का "परमाणु बम" की संज्ञा भी दी जाती है। ●

एक घातक खरपतवार-पार्थेनियम

● नरेश चन्द्र 'पुष्प'

पार्थेनियम नामक पौधा भारत में बड़ी तीव्रता से फैलता जा रहा है। यह पौधा मानवजाति के लिए बहुत ही घातक सिद्ध हो रहा है। यदि इस पौधे को सम्पूर्ण भारत से नष्ट करने के प्रत्यत्न तत्काल न आरम्भ किये गये तो निकट भविष्य में यह पौधा मानव जाति के लिए अभिशाप सिद्ध होगा और भयंकर स्वास्थ्य संकट पैदा कर देगा और मनुष्य अनेक प्रकार से रोगग्रस्त हो जायेंगे।

जब यह पौधा मनुष्य की त्वचा के सम्पर्क में आता है तो उसमें सूजन पैदा हो जाती है और खुजली होने लगती है। इसके साथ ही त्वचा पर चकत्ता सा पड़ जाता है। यह पौधा दमा और स्पर्श त्वकशोथ उत्पन्न कर देता है। इसके फूल, बीज और पत्तियों के रोंये त्वचा पर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न कर देते हैं। सर्वप्रथम इस पौधे के कारण त्वचा पर खुजली या उत्तेजना पैदा हो जाती है जो बाद में ऐक्जीमा (छाजन) का रूप ग्रहण कर लेता है। पार्थेनियम के कारण त्वचा पर उत्पन्न स्पर्श त्वकशोथ धीरे-धीरे बढ़ता जाता है और फिर मनुष्य की त्वचा काला रंग लिये घड़ियाल की खाल के समान उभर आती है। पार्थेनियम पौधे के पराग कणों को स्पर्श करने से मनुष्यों में एलर्जी उत्पन्न हो जाती है। परागकण वायु में उड़ते रहते हैं तथा अनुकूल अवस्था में अनेक रोग जैसे 'हे फीवर', दमा और चर्म रोग आदि उत्पन्न कर देते हैं। उगते हुए नये पौधे को सूंघने से अनेक प्रकार के रोग हो सकते हैं। इस पौधे के कारण होने वाली व्याधियों के उपचार के लिए अभी तक कोई औषधि कारगर सिद्ध नहीं हो सकी है।

पार्थेनियम के वकारण केल मनुष्य जाति ही रोगों से प्रभावित नहीं होती बल्कि यह पौधा पशुओं में भी अनेक प्रकार के कष्टकारी रोग पैदा कर देता है। इस बात की भी पूरी सम्भावनाएं हैं कि पशु इन पौधों को चरते हैं जिससे उनका दूध विषाक्त हो सकता है अर्थात पौधे में पाये जाने वाले हानिकारक रसायन पशुओं के दूध में पहुंच कर विषाक्त बना सकते हैं जो मनुष्य के स्वास्थ्य और प्राणों के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

महिलाओं की अपेक्षा पुरूष इस पौधे के घातक प्रभावों से अधिक प्रभावित होते हैं। अल्पायु के बच्चों और लड़की लड़कों पर इसका प्रभाव कम होता है।

'महाराष्ट्र एसोसियेशन फार दि कल्टीवेशन आफ साइन्स' की एक बैठक जब पूना में हो रही थी तो वहाँ के सदस्यों के समक्ष एक रोगी को लाया गया जो आटोमोबाइल मेकेनिक था। वह रोगी त्वचा रोग से ग्रस्त था। जब इस रोग के कारण का पता लगाया गया तो ज्ञात हुआ कि इसका कारण पार्थेनियम के पौधे से उत्पन्न ऐलर्जी है। एसोसियेशन के एक सदस्य के अनुसार उस रोगी का मुंह घड़ियाल के सदृश हो गया था। रोगी के शरीर का ऊपरी भाग— सीना, पीठ, भुजाएं आदि सुअर की त्वचा के समान लग रहा था।

इस घटना के पूर्व इस प्रकार के चर्म रोग के संबंध में पूना के कुछ कृषकों ने भी शिकायत की थी। उनका कथन था कि उन्हें यह रोग उस समय हुआ जब वे इस पौधे को अपने खेतों से उखाड़ रहे थे। अतः वे कृषक इस घातक पौधे के सीधे सम्पर्क में आ गये थे। किन्तु उपरोक्त मेकेनिक देहात में नहीं रहता था बल्कि वह शहर का रहने वाला था किन्तु जिस स्थान पर वह रहता था वहाँ आस-पास पार्थेनियम के पौधे उगे हुए थे।

पार्थेनियम से पूना के आसपास लगभग 100 आदमियों में यह चर्मरोग होते पाया गया था। सर्वेक्षणकारियों द्वारा खरपतवारों का, जिनका परीक्षण चर्मरोग के लिए किया गया, उनमें पार्थेनियम का स्थान खतरनाक होने के लिहाज से पहले सात खतरनाक खरपतवारों में पाया गया। इससे स्पष्ट है कि यह बहुत ही खतरनाक खरपतवार है।

इसी तरह के कुछ और समाचार भारत के अन्य भागों से भी प्राप्त हुए हैं। यहाँ तक कि इससे लोगों की मृत्यु भी हो जाने के समाचार प्राप्त हुए हैं। इसलिए अनेक भागों में, जहाँ यह पौधा तीव्रता से फैल गया है अथवा फैलता जा रहा है, मुसीबत का कारण बन गया है! इससे मानव के स्वास्थ्य पर तो बुरा असर पड़ता ही है, खेती भी बरबाद हो जाती है।

भारत में वितरण

यह पौधा मध्य और उत्तरी अमरीका व वेस्टइन्डीज का देशज माना जाता है। इसके बीज लगभग दो दशक पूर्व अमरीका से भारत आने वाले गेहूँ के साथ भारत में आ गये और यह पौधा भारत की जलवायु में पनप कर फैलने लगा और अब तक फैल रहा है।

भारत में सर्वप्रथम इसके पौधे 1956 में पूना के सूखे खेतों में उगते हुये देखे गये। इसके पश्चात् यह पौधा भारत के अन्य भागों में भी फैलता गया। इसके पौधे कश्मीर दिल्ली, मध्य प्रदेश, तमिलनाडू, केरल, पूर्वी उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, जम्मू और कर्नाटक में देखे गये हैं। महाराष्ट्र से लेकर कर्नाटक तक फैली रेलवे लाइनों के आस पास इसके पौधे बहुतायत से पाये जाते हैं। इसके पौधे बंगाल में भी पाये गये हैं। हाल ही में पार्थेनियम के पौधे लखनऊ के क्षेत्र में भी देखे गये हैं। अब यह पौधा उत्तर प्रदेश में बड़ी तीव्रता से फैलता जा रहा है। इसके पौधे अब सड़कों, रेल की पटरियों के किनरे तथा परती भूमियों में देखे जा सकते हैं। इस पौधे ने अपने आप को भारतीय वातावरण के अनुरूप बहुत जल्दी ढाल लिया है और अब इसने एक जटिल समस्या का रूप धारण कर लिया है।

वनस्पतिक विवरण

पार्थेनियम हिस्टेरोफोरस लिन 'कम्पोजिटी' कुल एक शाकीय पौधा है जिसे आमतौर से 'गाजर-घास', 'कांग्रेस ग्रास', सफेद टोपी, चटक चाँदनी, ओसाड़ी, पंठरी फूली और गाजरगवत आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।

इस पौधे की ऊँचाई लगभग एक से डेढ़ मीटर तक होती है। यह बहुशाखित होता है। इसकी जड़ें कन्दमय होती हैं। इसका तना एवं शाखाएं कठोर, कोणीय एवं लम्बाई में खांचेदार होते हैं। पत्तियां अनियमित रूप से विच्छेदित एवं रोमिल होती हैं। ये पत्तियां कटी कटी होती हैं जो गाजर की पत्तियों की तरह और क्राइसेन्थेमम की पत्तियों से मिलती-जुलती होती हैं। पत्तियाँ 2·5 से 8·0 सें० मी० तक लम्बी होती हैं और पौधे पर एकान्तर क्रम में लगती हैं। पुष्पशीर्ष वेश्त और वृत्तकयुक्त होते हैं जो प्रशाखाओं के सिरों पर अथवा कोणों पर निकलते हैं तथा उनका व्यास लगभग 5 मि० मी० होता है। इनके छोटे-छोटे गहरे भूरे और काले फल मुख्यतः अण्डाकार होते हैं। यह पौधा बड़ी तेजी से बढ़ता है और एक पौधा 5 हजार से अधिक बीज पैदा करता है। ये बीज जल एवं वायु के माध्यम से वितरित हो जाते हैं।

पार्थेनियम विभिन्न प्रकार की मिट्टियों और अनेक प्रकार की जलवायु संबंधी परिस्थितियों में उगता है और एक वर्ष में यह चार जीवन चक्र पूरा कर लेता है। पार्थेनियम के बीजों में सुप्तावस्था नहीं होती। इनके बीज भूमि पर गिरने के कुछ समय पश्चात ही अंकुरित हो जाते हैं वस्तुतः पार्थेनियम बीजों से पैदा होने वाला एक वर्षीय पौधा है। इसे सामान्य रूप से खरीफ की फसल का पौधा कहा जा सकता है। यह मुख्य रूप से नम भूमि और आर्द्र वातावरण में अच्छी तरह पनपता-फैलता है। पौधे में वर्ष भर फल और फूल आते हैं। यद्यपि यह पौधा उष्ण भागों में भी पाया जाता है यहाँ फलियों और पत्तियों द्वारा फैलता है।

रसायन

हाल ही में इस पौधे का रसायनिक अध्ययन किया गया है। इन अनुसंधानों से ज्ञात हुआ है कि इस पौधे में 'पार्थेनियम' नामक घातक और विषैला रसायन विद्यमान होता है जो मानव में अनेक प्रकार के रोग पैदा कर सकता है। पौधे में सेस्क्वेटर पीनायड पार्थेनिन अर्थात् पार्थेनिन (गलनांक बिन्दु 168°-169° सें० ग्रे०) नामक रसायन भी पाया गया है जिसके प्रभाव से मनुष्य के तंत्रिका तन्त्र की क्रियाशीलता कमजोर पड़ जाती है। इन रसायनों के अतिरिक्त इस पौधे में कुछ एल्कलॉयड भी पाये गये हैं।

उपयोगी भी

पार्थेनियम केवल एक घातक वनस्पति ही नहीं है वरन एक लाभकारी औषधीय पौधा भी है। यह मासिक धर्म को नियमित करने तथा 'हे फीवर' और 'तन्त्रिार्कति' के उपचार के लिए भी इस्तेमाल किया जाता है। प्रवाहिक रोग में इसका क्वाथ लाभकारी पाया गया है।

कैन्सर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बम्बई की खोज है कि इसमें कैन्सर रोधी तत्व विद्यमान हैं अतः इस पौधे का उपयोग कैन्सर के उपचार में भी किया जा सकता है। पार्थेनियम सोरियेसिस नामक भयंकर चर्म रोग उपचार में भी इस्तेमाल किया जा सकता है।

प्राथमिक उपचार

पार्थेनियम के घातक प्रभावों को दूर करने के लिए तत्काल त्वचा को भली प्रकार साबुन से साफ कर लेना चाहिए। इसके पश्चात् प्रभावित त्वचा को अल्कोहल और ईथर से धो लेना चाहिए। प्रभावित त्वचा की ड्रेसिंग केलामाइन लोरान से करना चाहिए। इस संबंध में चिकित्सक से भी परामर्श कर लेना अच्छा रहेगा।

पौधे का नियंत्रण

इस पौधे का नियंत्रण अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए निम्न विधियों को व्यवहार में लाना चाहिए

1. देखते ही नष्ट कर देना

पार्थेनियम के पौधों को बढ़ने या फैलने का कोई अवसर ही न दिया जाए। जैसे ही इनके पौधे दिखाई दें, वैसे ही उन्हें तुरन्त नष्ट कर देना चाहिए। पौधे को जला कर भी नष्ट किया जा सकता है या पौधे को जमीन पर ही कुचल कर नष्ट किया जा सकता है।

2. यांत्रिक नियंत्रण

इस पौधे को यंत्रों द्वारा, जैसे खुरपी और हल आदि से उखाड़ कर भी नष्ट किया जा सकता है। नष्ट करने का सबसे उपयुक्त समय वर्षाकाल है। इस समय मिट्टी काफी नम रहती है और पौधे की जड़ें उथली रहती है। अतः इस समय पौधों को सरलता से उखाड़ा जा सकता है। पौधों को उखाड़ने से पहले हाथों में दस्ताने पहन लेना चाहिए या हाथों में पॉलीथीन के थैले बांध लेना चाहिए जिससे यह पौधा त्वचा को स्पर्श न कर सके अन्यथा त्वचा पर खुजली उत्पन्न हो सकती है।

3. रासायनिक नियंत्रण

अनेक प्रकार के खरपतवार नाशी रसायनों से पौधे को पूरी तरह से नष्ट किया जा सकता है। पौधों में फूल आने से पहले 2, 4-डी, एम० सी० पी० ए० पैराक्वेट (गैमेक्सीन), बैनवेल डी, एमीनोट्रिपेन जोल (वीडा जोल), एम० एस० ए० आदि रसायन प्रभावकारी हैं। यदि पौधों में फूल निकलने के समय उन पर 2 कि० ग्रा० प्रति हेक्टेयर की दर से ब्रोमोसिल छिड़का जाता है तब पार्थेनियम के सभी पौधे नष्ट हो जाते हैं। पौधों को नष्ट करने के लिए उन पर 2-4 डी एवं पैराक्वेट के मिश्रण 2 कि० ग्रा० प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़का जा सकता है। इन रसायनों का उपयोग करते हुए पार्थेनियम के पौधों को नष्ट किया जा सकता है। इसके साथ ही साथ यह प्रयत्न भी करना चाहिए कि यह पौधा अपने बीजों द्वारा फैलने न पाए नम भूमि में स्थापित हो गये अंकुरित पौधों को भी इन्हीं रसायनों से नष्ट किया जा सकता है। यूरिया का 10 प्र० श० विलयन खरपतवार नाशी विलयन में मिलाकर उपयोग करने से इन रसायनों का प्रभाव बढ़ जाता है और पौधे जल्दी नष्ट हो जाते हैं। ●

कोशिका का पाचक कार्य "लायसोसोम्स"

● अजय शंकर

प्राणियों तथा पौधों की रचना का निर्माण छोटी छोटी ईंट सदृश इकाइयों के संयोग से होता है जिनको "कोशिका" के नाम से जाना जाता है। इस रचना के अन्दर जैविक पदार्थ 'जीव द्रव्य" भरा होता है। कोशिका के अन्दर उपस्थित केन्द्रक के कारण यह जीव द्रव्य 'दो भागों में विभिक्त रहता है ! एक तो कोशा द्रव्य तथा दूसरा केन्द्रक द्रव्य। केन्द्रक द्रव्य के अन्दर कोशिका का आनुवंशिकी पदार्थ भरा रहता है। परन्तु कोशाद्रव्य, जो अपेक्षाकृत ज्यादा भाग घेरता है में, विभिन्न प्रकार के कोशिकीय अंगक मिलते हैं जो कोशिका के भिन्न भिन्न जैविक क्रियाओं का संचालन करते हैं: माइटोकान्ड्रिया द्वारा ऊर्जा उत्पत्ति, गाल्गी-बाडीस का वसा श्रावण, लायसोसोम्स पाचन का कार्य इसके अतिरिक्त अन्य और भी अंगक होते हैं जो कि कोशिका के जैविक कार्य को प्रतिपादित करते हैं।

लायसोसोम्स नामक अंगक की उपस्थिति सर्वप्रथम डी० ड्यूवी ने सन् 1955 ई० में बताई थी। यह अधिक संख्या में विभिन्न पदार्थों को स्रावित करने वाली कोशिकाओं में पायी जाती हैं।

संरचना

इनका आकार कोशिका में बदलता रहता है परन्तु ये प्रायः गोलाकार ही होतें हैं जिसके बाहर अन्तः पदार्थों को संचय रखने के लिये एक कला होती है जो कोशिका कला से भिन्न होती है। अतः इसकी कला को "लायसो सोमिक कला" कहते हैं। इस कला के अन्दर शक्तिशाली पाचक विकर मिलते हैं इन पाचक विकरों में आये जैविक भोज्य पदार्थ को तोड़ने की अपूर्व क्षमता होती है। इनमें पाये जाने वाले कुछ विकरों के नाम निम्नलिखित है :—

(1) बीटा गैलेक्टोसाईडेस
(2) बीटा ग्लूकोनाईडेस
(3) बीटा-एन ऐसिटल ग्लूसामिनीडेस
(4) एल्फा ग्लूकोसाइडेस
(5) एल्फा मैनोसाईडेस
(6) कैथीस्पीन ए (प्रोटीयेस अम्ल)
(7) कैथीस्पीन बी (प्रोटीयेस अम्ल)
(8) एरिल सल्फाटेस-ए
(9) एरिल सल्फाटेस-बी
(10) राईबोन्युक्लियेस अम्ल
(11) डीआक्सीराईबोन्युकिलयेस अम्ल
(12) फास्फेटेस अम्ल
(13) लाईपेस अम्ल
(14) फास्फोलाईपेस-ए
(15) फास्फोटाइडिक अम्ल
(16) हायल्यूरोनीडेस
(17) फास्फोप्रोटीन फास्फेटेस
(18) एमिनो पेप्टाईडेस-ए
(19) डीक्सट्रेनेस
(20) सैकारेस
(21) लाइसोजाइम (मरामीडेस)
(22) Mg^{++} क्रियाशील एटीपी एस
(23) इनडाक्सीलेसिटेट
(24) इस्ट्रेस
(25) प्लास्मीनोजेन कारक
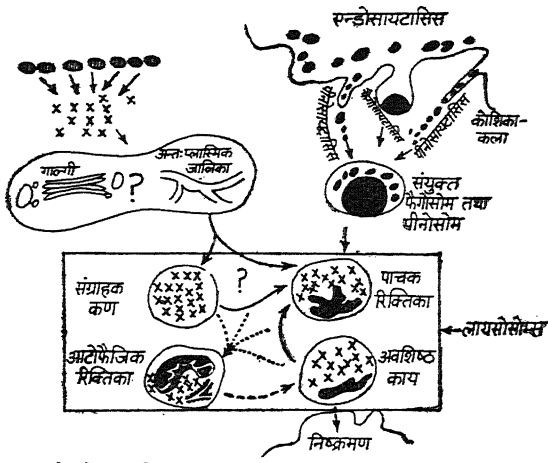
लाइसोसोम्स् के प्रकार

आधुनिक वैज्ञानिकों के मतानुसार लायसोसोम्स के चार प्रकार बताये गये हैं। इन चारों प्रकारों में पहले को प्राथमिक लायसोसोम्स तथा अन्य तीन को द्वितीयक लायसोसोम्स कहा जाता है।

(1) प्राथमिक लायसोसोम्स : ये लायसोसोम्स संग्रहाक कण भी कहलाते हैं। इस काय के निर्माण में पाये जाने वाले अन्तः विकरों का संश्लेषण, कोशिका में उपस्थित राइबोसोम्स के द्वारा होता है। यह विकर इसके पश्चात अन्तः प्लास्मिक जालिका में एकत्रित होते हैं फिर यह गाल्गी काय को विच्छेदित करते हैं और फलस्वरूप प्राथमिक लायसोसोम्स का निर्माण होता है।

(2) हिटरोफैगोसोम्स : इन्हें पाचक रिक्तिकायें भी कहते हैं। यह द्वितीयक लायसोसोम्स होते हैं। इनका निर्माण कोशिका की कला पर आये वाह्य पदार्थों के पाचन के बाद होता है। इस प्रकार की क्रिया को फैगोसायटासिस या पनोसायटासिस कहते हैं।

(3) अवशिष्ठ काय : पाचक रिक्तिकाओं के अन्तः भोज्य पदार्थ का कोशिकाद्रव्य में विसरण के बाद बचे पदार्थ अवशिष्ठ काय बनाते हैं। यह भी द्वितीयक लायसोसोम्स होता है। अवशिष्ठ काय का कोशिका से निवारण अत्यन्त ही आवश्यक होता है क्योंकि इनकी उपस्थिति से कोशिकाओं में रोगों की उत्पत्ति होती है।

(4) स्वभोजी रिक्तिका : ये ऐसी रिक्तिकायें होती हैं जिनमें अन्तः कोशिकीय अंगकों का प्रवेश हो जाता है। जैसे कभी कभी माइटोकान्ड्रिया, अन्तः प्लास्मिक कला का प्रवेश हो जाता है। स्वभोजी रिक्तिकाओं की उत्पत्ति, कोशिका के विशिष्ठ अवस्था में ही होती है। इन्हें भी द्वितीयक लाइसोसोम्स कहा जाता है।

लायसोसोम्स के कार्य

उच्च कुल के जन्तुओं की कोशिकाओं में कभी कभी कोशिका कला के आसपास कुछ बड़े बड़े पदार्थ कणों का संचय होने लगता है। ऐसे बड़े पदार्थ कणों का शोषण कोशिकाओं द्वारा असंभव सा रहता है क्योंकि ऐसे पदार्थ जटिल भी होते हैं और उन्हें छोटे छोटे भागों में विभक्त करना आवश्यक हो जाता है। ऐसी अवस्था में इनका पाचन कोशिका कला पर होने वाली एक क्रिया के फलस्वरूप होता है जिसे एन्डोसायटासिस कहते हैं। एन्डोसायटासिस की क्रिया कोशिका कला पर ऐसी अवस्था में दो विधि से होती है! पहली तो फैगोसायटासिस तथा दूसरी पीनोसायटासिस होती है। इसके फलस्वरूप क्रमशः फैगोसोम्स तथा पीनोसोम्स का निर्माण होता है। ये दोनों छोटी छोटी रिक्तिकाओं के रूप में कोशाद्रव्य के एक स्थान पर संग्रहित होती रहती हैं और तत्पश्चात संयुक्त होकर प्राथमिक लायसोसोम्स नामक अंगक बनाती हैं। कभी कभी लायसोसोम्स कोशिका के कोशाद्रव्य में पड़े कोशिकीय अंग को पचा जाता है। उदाहरण स्वरूप, एम्फिविया वर्ग के जन्तुओं में कायान्तरण के समय बहुत से भ्रूणीय उत्तक जैसे, पुच्छ, इत्यादि पचा लिये जाते हैं जो दूसरी कोशिकाओं द्वारा उपयोग की जाती है। लायसोसोम्स अनाहार समय में कोशाद्रव्य में उपस्थित, प्रोटीन, वसा, ग्लायकोजन के रूप में कार्बोहाइड्रेट को पचा जाता है और अवश्यकतानुसार ऊर्जा उत्पादित करता है। विभिन्न उपयोगी क्रियाओं के पश्चात जो पदार्थ बचते हैं उनका निवारण कोशिका कला द्वारा ही होता है और इनके निवारण की क्रिया "निष्क्रमण" या "एक्सोसायटासिस" कहलाती है। कभी कभी लायसोसोम्स के अन्दर "कारटीसोन" तथा हाइड्रोकार्टिसोन नामक रसायन की उत्पत्ति हो जाती है और

(शेष पृष्ठ 14 पर देखें)

प्रो० रामदास तिवारी

प्रो० रामदास तिवारी 1943 ई० से इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन विभाग में लगातार अध्यापन करते हुये अब 17 जनवरी 1979 को विभागाध्यक्ष के पद से मुक्त हो रहे हैं। डा० तिवारी कार्बनिक रसायन के क्षेत्र में गण्यमान शोधकर्ता के रूप में विदित हैं। आपने एक सौ से अधिक शोधपत्र प्रकाशित किये हैं। आपके निर्देशन में 3 दर्जन से अधिक शोध छात्रों ने डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की है।

डा० तिवारी अनेक विद्वत्समितियों एवं संस्थाओं से सम्बद्ध रहे हैं। विज्ञान परिषद से आपका सम्बन्ध अत्यन्त पुराना है। आप 8 वर्षों तक (1949-1957) परिषद के प्रधान मन्त्री रह चुके हैं। आपके ही कार्य काल में परिषद भवन की नींव पड़ी और तह खाना तथा अन्य निर्माण कार्य सम्पन्न हुये।

डा० तिवारी का शिक्षा के क्षेत्र में अतीव आदर एवं सम्मान है। उन्हें विदेश भ्रमण करने का भी सुयोग प्राप्त है। माध्यमिक शिक्षा परिषद द्वारा विज्ञान के पठन पाठन में हिन्दी के स्वीकृत होने में आपका भी योग रहा है।

इधर 1970 से, जब से उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी की स्थापना हुई, आप उसकी रसायन नामिका के सदस्य रहे हैं। आपके ही प्रयास से रसायन में सर्वाधिक पुस्तकों का लेखन एवं प्रकाशन सम्भव हो सका है।

इस समय डा० तिवारी विज्ञान परिषद के उपसभापति हैं। हमारे विचार से विश्वविद्यालय की सेवा से भले ही आपको मुक्ति मिल रही है किन्तु हमारा विश्वास है कि परिषद के लिये उनकी अधिकाधिक सेवायें उपलब्ध होती रहेंगी उनकी पद मुक्ति के अवसर पर हम विज्ञान परिवार की ओर से डा० तिवारी को भावभीनी श्रद्धापूर्ण विदाई दे रहे हैं और उनके दीर्घ जीवन की कामना करते हैं।

सात वैज्ञानिक सम्मानित

देश के सात प्रख्यात वैज्ञानिकों को हरी ओम आश्रम ट्रस्ट के विज्ञान के लिये 1975 के पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। विश्वविद्याबय अनुदान आयोग द्वारा आश्रम के सहयोग से स्थापित यह पुरस्कार उस वर्ष सर्वोत्तम शोध कार्य के लिये दिया जाता है। इस पूरस्कार की राशि दस हजार रुपये है। पुरस्कृत वैज्ञानिकों के नाम इस प्रकार है :

डॉ० सी० एन० राव	इन्डियन इन्सटीट्यूट आफ साइंस, बंगलौर
डॉ० टी० अम्बासंकरन	भाभा परमाणु अनुसन्धान केन्द्र, बम्बई
डॉ० ए० एन० मित्रा	देहली विश्वविद्यालय
प्रो० पी० एम० मैथ्यु	मद्रास विश्वविद्यालय
डॉ० एम० आर० एन० प्रसाद	देहली विश्वविद्यालय
डॉ० एन० आर० मुदगल	इन्डियन इन्सटीट्यूट आफ साइंस, बंगलौर
प्रो० जी० पी० तलवार	आल इन्डिया इन्सटीट्यूट आफ साइंस, बंगलौर

इनसेफलाइटिस

● विष्णुदत्त शर्मा

उत्तरप्रदेश में रहस्यमय बीमारी इनसेफलाइटिस से त्राहि-त्राहि मची हुई थी। सर्वप्रथम यह बीमारी प्रदेश के पूर्वी जिलों में फैली थी किन्तु बाद में इसका प्रभाव सत्ताईस जिलों में हो गया है। उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त बिहार, बंगाल तथा मध्य प्रदेश में भी यह रोग फैला था। इनसेफलाइटिस ग्रीक भाषा का शब्द है, जो इनकेफेलास अर्थात् मस्तिष्क तथा आइटिस तथा अर्थात् सूजन दो शब्दों से मिलकर बना है। अतः इनसेफलाइटिस का अर्थ है मस्तिष्क की सूजन। इसको आयुर्वेद के विद्वान "मस्तिष्क शोथ" के नाम से पुकारते हैं। यह सूजन न केवल मस्तिष्क को ही प्रभावित बल्कि मस्तिष्क के आस-पास शारीरिक रचना में अन्य अंगों को भी प्रभावित करती है।

इस रहस्यमय बीमारी के मुख्य लक्षण हैं: सर्दी लगकर ज्वर चढ़ना, सिर में पीड़ा होना, जी मिचलाना, उल्टियां होना, गर्दन में पीड़ा एवं कड़ापन, यकायक शरीर का कोई अंग मारा जाना एवं मिरगी जैसे झटकों के दौर पड़ना, निद्रा एवं संमूर्छा, कभी-कभी संज्ञाहीनता, बेचैनी तथा अनिद्रा, भुजाओं में क्षीणता की अनुभूति, एक वस्तु का अनेक वस्तुएं दिखाई देना, आनन-फालिज़ (लकआ), सुस्ती, कमर का कड़ापन, कंपन और अन्ततोगत्वा मृत्यु। ये लक्षण प्रायः तीन दिन से लेकर पांच दिन में बन जाते हैं और लगभग दस दिन में रोगी की मृत्यु हो जाती है। यद्यपि इस बीमारी में ऐंठ किसी भी आयु वाले व्यक्ति को हो सकती है किन्तु अधिकतर बच्चों में सर्वाधिक प्रभावकारी है।

इस बीमारी के परीक्षण हेतु मेरुदंड के निम्न भाग से प्रमस्तिष्क मेरुद्रव निकाल कर सूक्ष्मदर्शी एवं रासायनिक परिवर्तन का परीक्षण किया जाता है। लक्षणों, चिन्हीं एवं प्रमस्तिष्क मेरुद्रव के परीक्षण से यद्यपि यह ज्ञात हो जाता है कि रोगी इनसेफलाइटिस से प्रभावित है अथवा नहीं किन्तु इसके कारणों का पता नहीं चल पाता। महामारी में प्राप्त आंकड़ों के आधार पर सम्भावित कारणों को सुझाया जा सकता है। उदाहरणार्थ-महामारी अथवा महामारी जैसी दशाएं तथा छूत की बीमा रियां, संदूषित भोजन, रोगी पक्षियों की उपस्थिति तथा कीट पतंगों के काटने आदि। संक्रामक रोगों जैसे मसूरिका (खसरा) छोटी माता चेचक टाइफाइड तथा टाइफ़स (Typhus) ज्वर आदि के कारण भी इनसेफलाइटिस रोग फैल जाता है। यह बीमारी सर्वप्रथम सन् 1918-19 में उत्तरी अमरीका में फैली थी और इसका संक्रामण सन् 1924 ई० तक इंग्लैंड में सर्वाधिक रहकर लगभग सन् 1926 ई० में प्रभाव समाप्त हो गया था।

इनसेफलाइटिस रोग असंख्य जीवित एवं मृत विषाणुओं के कारण शरीर के विभिन्न अंगों में प्रवेश होने से उत्पन्न होता है और मस्तिष्क को विभिन्न प्रकार से हानि पहुँचाता है। अनेक विभिन्न शरीर-रचनाएं इस रोग को उत्पन्न करने में समर्थ हैं। समान गुणधर्मों के आधार पर शरीर-रचनाओं के कुछ गुणों में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। इनमें से

एम समानगुण आकार भी है। मानव शरीर पर प्रहार करने वाला सबसे छोटा जीवित विषाणु वायरस है और सर्वाधिक बड़ी शरीर रचना वाला विषाणु कृमि है। जनसाधरण की भाषा में वायरस सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्राणी कहे जा सकते हैं जो आकार में सर्वाधिक छोटे होते हैं। वायरस असंख्य प्रकार के होते हैं। साधारणतया वायरस प्राणीमात्र पर प्रहार करने पर ही उग्र रूप धारण कर सकते हैं। विषाणु जन्य कुछ रोगों की तालिका निम्न प्रकार है :

विषाणु	जन्य रोग
वायरस	आर्थोपोड द्वारा उत्पन्न जिसमें ईस्टर्न इक्वाइन, वेस्टर्न इक्वाइन, वेनिनजुलन, इक्वाइन, सेंट लुइस, जापानीबी, मुरे वैली तथा अन्य रोग सम्मिलित हैं।
	यकृत शोथ (Hepatitis)
	लंगड़ा ज्वर (Dengue)
	पीत ज्वर (Yellowfever)
	जलभीति (Hydrophobia)
रिकेट्सिया	सन्निपात ज्वर (Typhus)
	क्यू ज्वर (Qfever)
बैक्टीरिया जीवाणु	प्लेग (Plague)
	हैजा (Cholera)
	दण्डाणुज अतिसार (Bacillary Dysentry)
	बार्टोनेलोसिस (Bartonellosis)
	ब्रूसेलोसिस (Brucellosis)
	मेलियॉइडोसिस (Melioidosis)
	काली खांसी (Pertussis)
	गठिया ज्वर (Rheumatic fever)
	लोहित-ज्वर (Scarlet fever)
	टाइफाइड ज्वर (Typhoid fever)
	टुलेरीमिया (Tularemia)
स्पाइरोकीट	लेप्टोस्पाइरा रुग्णता (Leptospirosis)
	उन्दुरदंश ज्वर (Rat-bite fever)
	आतशक (Syphilis)
प्रोटोजोवा	मलेरिया (Malaria)
	टॉक्सोप्लाज्मता (Toxoplasmosis)
	ट्राइपेनोसोमियासिस (द० अमरीका का)
	ट्राइपेनोसोमियासिस (अफ्रीका का)
कृमि	अंकुश कृमि (Ancylostomiasls)
	ऐस्केरियासिस (Ascariasis)
	फाइलेरिया रोग (Filariasis)
	ट्रिचिनारुग्णता (Trichinosis)

उपरोक्त सभी कारकों में वायरस ही सर्वोपरि मुख्य हैं क्योंकि इसके द्वारा ही सर्वाधिक रोग संक्रमण होते हैं। वारयस जन्य इनसेफलाइटिस को दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

1. ऐसे वायरस जो शरीर पर प्रहार करके रक्त धमनियों के द्वारा मस्तिष्क की ज्ञानतन्तु ऊतकों में जाकर क्षति पहुंचाते और वहां पर समृद्ध होते हैं (उदाहरणार्थ-आर्थोपोड जन्य विषाणु तथा रेबीज आदि वायरस) और 2. ऐसे वायरस जो शरीर पर प्रहार कर तुरन्त ज्ञानतन्तुओं से पूर्व अन्य तन्तुओं को क्षति पहुंचाते हैं और तत्पश्चात बहुत ही कम मस्तिष्क पर प्रहार करते हैं (उदाहरणार्थ वायरस जो साधारण चर्मरोग, लंगड़ा ज्वर, पीत ज्वर आदि उत्पन्न करते हैं) रिकेट्सिया, बैक्टीरिया, स्पाइरोकीट, प्रोटोजोवा तया कृमि सामान्यतः अंतत्रिका ऊतक पर प्रहार करते हैं किन्तु कभी कभी ये मस्तिष्क पर प्रहार कर इनसेफलाइटिस की उत्पत्ति का भी कारण बन सकते हैं।

अन्य प्रकार का इनसेफलाइटिस, जो परिवाहका डिमाइलिनभावी इनसेफलाइटिस (Perivascular demyelinating encephalitis) के नाम से जाना जाता है,

वायरस बीमारियों (खसरा, छोटी माता, चेचक, इन्फ्लूएंजा आदि) अथवा वायरस बीमारियो हेतु टीकों (चेचक, रेबीज) से सम्वन्धित है, और वर्गीकृत किया गया है क्योंकि यह वायरस इनसेफलाइटिस की अपेक्षा मस्तिष्क को क्षतिग्रस्त करने में भिन्न है। इस प्रकार इनसेफलाइटिस से शरीर कि तंत्रिका ऊतक में नहीं बल्कि तंत्रिका रेशे के पास आस रोधन (माइलिन) में क्षति होती है। केवल रक्त वाहिकाओं (Vessels) के निकट तंत्रिका रेशों के माइलिन, विशेषकर शिराएं ही क्षतिग्रस्त होती हैं। परिवाहिका डिमाइलिनभावी इनसेफलाइटिस, जिसमें वैक्सीनोत्तर तथा स्फोटकोत्तर ज्वर (Postexanthematous) सम्मिलित हैं, कदाचित बच्चों में तीव्र इनसेफलीटाइड्स (Encephalitides) की अत्यधिक संख्या के लिए उत्तरदायी हैं।

इनसेफलाइटिस का दूसरा गुण, जिसको बहुसृत काठिन्य (Multiple Sclerosis) कहते हैं, माइलिन को अधिक क्षति पहुंचाता है। इस प्रकार के इनसेफलाइटिस में क्षति अधिक अंगों में प्रसारित हो जाती है और केवल रक्त वाहिकाओं के निकट तंत्रिका रेशों तक ही सीमित नहीं रहती।

अनेक प्रकार के रसायन भी समय-समय पर इस रहस्यमय बीमारी के कारण बन जाते हैं। इन रसायनों में कुछ प्रमुख हैं—कीटनाशकों तथा पेंट में प्रयोग किया जाने वाला सीसा; कीट तथा दांतो से कुतरने वाले जन्तु (Rodent)दृषिकिरण में उपयोगी आर्सेनिक; औषधियों एवं उद्योगों में प्रयोग किए जाने वाला मर्करी (पारा); ईथाइल एल्कोहल; कार्बन टैट्राक्लोराइड; डी० डी० टी० मॉरफीन आदि।

कुछ कुपोषण जन्य बीमारियां तथा चयापचयी उथल पुथल जैसे प्रणाशी अनेमिया, बेरी बेरी, पेलांग्रा, मधुमेह एवं यकृत बीमारियां आदि भी समय-समय पर इनसेफलाइटिस रोग उत्तपन्न कर देती हैं। इसके साथ ही अनेक केस इनसेफलाइटिस के ऐसे होते हैं जिनका अभी तक कारण नहीं जान सके और यही कारण है कि इसको रहस्यमय बीमारी कहा जा रहा है।

कुछ वायरस सम्पर्क द्वारा रोग फैलाते हैं तो कुछ जल-फल-सब्जी अथवा खाद्यान्न के सहारे। परन्तु आजकल होने वाले इनसेफलाइटिस नामक बीमारी के लिए उत्तरदायी वायरस मच्छर द्वारा फैलता है। यह वायरस मनुष्य पर सीधा प्रहार नहीं कर सकता। इस क्रिया के लिए उसे चिड़िया, जानवर एवं मच्छरों की सहायता लेनी पड़ती है। कहा जाता है कि यह वायरस 'क्यूलैक्स-विश्न, नामक घरेलू मच्छर द्वारा चिड़िया, घोड़ा, सूअर, गाय-बैल आदि प्राणियों में पहुंच जाता है जिनका रक्त पीकर वह सशक्त हो उठता है। जब कोई अन्य (क्यूलैक्स विश्न) घरेलू मच्छर इन जानवरों को पुनः काटता है तो रोगकारक वायरस मच्छर के शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं और इस अवस्था में जब वह मच्छर मनुष्यमात्र को काटता है तब रोगकारक वायरस इसके शरीर में प्रविष्ट होकर बीमारी का सूत्रपात कर देते हैं।

वायरस जन्य होने के कारण इस रोग का कोई पक्का इलाज नहीं है। एण्टी-बायटिक्स प्रभावकारी नहीं होते। अतः केवल लाक्षणिक इलाज ही सम्भव है। इनसेफलाइटिस का विशिष्ट उपचार बहुत ही सीमित है क्योंकि रोग कारकों के विषय में ज्ञान कम है तथा ऐसी औषधियां भी नगण्य है जो इन रोगकारकों का विनाश अथवा इनपर प्रतिक्रिया कर सकें। केवल सिटैकोसिस (Psittacosis) ही ऐसा वाइरस जन्य इनसेफलाइटिस रोग है जिसके लिए विशेष उपचार है। अप्रतिरक्षित सीरम के प्रयोग से रेबीज (अलर्क) बीमारी की रोकथाम की जा सकती है। ज्वर की तीव्रता और पीड़ा आदि नष्ट करने के लिए एस्प्रीन, क्रोसीन आदि दवाओं का प्रयोग किया जा सकता है। इसी प्रकार उल्टियों (वमन) के लिए एवोमीन आदि वमन विरोधी दवाएं काम आ सकती हैं। दौरा पड़ने पर बारबीट्रेटस का प्रयोग आवश्यक है। वैक्सीन द्वारा इसका बचाव सम्भव है परन्तु अभी तक यह वैक्सीन बड़ी मात्रा में उपलब्ध नहीं हो पायी है। अन्य बचाव के साधनों में स्वच्छता, मच्छर से बचाव, घर एवं बाहर सड़े हुए पानी को न रहने देना, रात्रि में मच्छरदानी का प्रयोग इत्यादि महत्वपूर्ण हैं।

क्रमशः

विज्ञान वार्ता

अवरक्त-बेधशाला : सुदूर सितारों के अध्ययन के लिये राजस्थान में माउण्ट आबू के पास गुरू शिखर पर एक अवरक्त वेधशाला के निर्माण की घोषणा की गई है जो 1980 तक पूरी हो जायगी। फिजिकल रिसर्च लैबोरेट्री, अहमदाबाद, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र, बम्बई, तथा इन्डियन इन्सटीट्यूट आफ एस्ट्रोफिजिक्स के सम्मिलित प्रयास से बनाई जाने वाली इस बेधशाला पर 50-60 लाख रुपये व्यय होंगे। इस वेधशाला की सहायता से 'पल्सर' तथा 'कासार' का अध्ययन किया जायगा जो लाखों प्रकाश वर्ष दूरी पर स्थित हैं। सितारों से आने वाले अवरक्त विकिरण को ग्रहण करने के लिये अवरक्त दूरदर्शी लगाया जायगा। सितारों के जन्म तथा उनके पूर्ण इतिहास के बारे में जानकारी प्राप्त करने में इस बेधशाला का उपयोग किया जायगा।

बांझपन दूर करने की औषधि : हार्मोनल एस्टेरॉयड पर दिल्ली में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में यह सूचना दी गई कि महिलाओं का बांझपन दूर करने के लिये औषधि का निर्माण किया गया है। बांझपन का सबसे महत्वपूर्ण कारण 'प्रोलैक्टिन' नामक हार्मोन का अत्यधिक स्राव है और ऐसा उन महिलाओं में होता है जिनका ऋतुस्राव नियमित नहीं होता। इस प्रकार के बांझपन को 'ब्रोमोसिप्टिन' नामक औषधि से दूर किया जा सकता है। प्रौलैक्टिन स्तर ज्ञात करने के लिये यंत्र 1971 में ही उपलब्ध हो सका और अब यह भारत में भी उपलब्ध हैं। इस औषधि के द्वारा प्रोलैक्टिन स्तर को कम करके ऋतुस्राव ठीक किया जा सकता है जिससे ऐसी महिलायें गर्भधारण योग्य हो जाती हैं।

सबसे तेज हरा प्रकाश वाला अर्ध संचालक : एक हरा प्रकाश उत्सर्जी डायोड जिसकी 10 मिली एम्पियर विद्युत धारा पर प्रकाश तीव्रता इतनी है कि न केवल वह अपने आप एक बिन्दु दिखाई पड़ता है बल्कि अपने आस पास का क्षेत्र भी काफी प्रकाशमय कर देता है, उपकरणों के पैमाने, बटन आदि रोशन करने के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है। प० जर्मनी की सीमेंन्स एजी कम्पनी द्वारा विकसित इन डायोडों के उत्पादन में एम्पूलों में गैलियम और फास्फोर का पाली क्रिस्टलाइन गैलियम फास्फाइड में सीधा संश्लेषण होता है। इससे फिर एक विशेष उपकरण में मोनो क्रिस्टलाइन गैलियम फास्फाइड प्राप्त किया जाता है। इस पर n- प्रकार की सतह 900-1100 सें० पर जमाई जाती है। अब जिंक द्वारा उपचरित करने पर p- प्रकार की सतह बन जाती है जो प्रकाश उत्पादन के लिये उत्तरदायी होती है।

जल के विरंजन हेतु अधिशोषक : जापान में हाल में ही विकसित कम खर्च अधिशोषक पदार्थ द्वारा लुगदी से अपशेष जल में से रंगीन कार्बनिक पदार्थ दूर करके जल को रंगहीन पारदर्शक द्रव में परिवर्तित कर सकते हैं। यह अधिशोषक मैग्नीशियम या कैल्सियम को सोडियम एलूमिनेट से एक अत्यन्त सरल तरीके से प्रक्रिया करा कर उत्पन्न किये जाते हैं। इनकी अधिशोषण करने की गति काफी तेज है और इनकी सहायता से जल को दोबारा इस्तेमाल करने के लिये पुनः प्राप्त किया जा सकता है।

धूल को स्रोत पर ही दूर कीजिये : स्वीडन की एटलस कौपको नामक कम्पनी द्वारा विकसित घिसाई औजार (ग्रांइडर) की एक नई श्रृंखला में धूल को कार्यस्थल पर ही शोषित करके दूर कर देने की व्यवस्था है। यह इतनी कुशल प्रणाली है कि धूल को उत्पन्न होते ही दूर कर देती है। घिसाई के दौरान धूल को उत्पन्न होते ही तुरंत चूषित

करके अलग कर देने वाली इस प्रणाली के इस्तेमाल से वास्तविक घिसाई का काम सरलता से किया जा सकता है। घिसाई के इस नये उपकरण में घूमने वाली एक अवशोषक टोपी लगी होती है जिसका व्यास घिसाई पहिया के बराबर होता है यह प्रणाली चूषण कालम में उच्च वायु गति प्राप्त करने के लिये उच्च निर्वात प्रयुक्त करती है जिससे संपीड़ित वायु की आवश्यकता कम हो जाती है। फिल्टर में भारी कणों को अलग करने के लिये साइक्लोन और बारीक धूल के लिये ट्यूब के आकार का कपड़ा का फिल्टर लगा होता है।

पौधों के लिये टीका : लेनिनग्राद के वैज्ञानिकों ने पौधों के एक खतरनाक रोग को रोकने के लिये एक टीके का सफल प्रयोग किया है। उन्होंने अत्यन्त खतरनाक रोग नेक्रोसिस (ऊतकक्षय) से ग्रस्त टमाटर की क्यारियों में स्वस्थ बीजों में कमजोर वायरस का टीका लगाया। इसके परिणाम स्वरूप एक भी पौधा रोग ग्रस्त नहीं हुआ और अच्छी फसल प्राप्त हुई। इसके कारण दूर-पूर्व में वैज्ञानिक आलुओं में गम्भीर वायरस रोग की विकृतियां खोजने में सफल रहे हैं।

●

शेष पृष्ठ 23 का

इस रहस्यमय एवं प्राणघातक बीमारी के परिणाम रूग्णतोपरांत इनसेफलाइटिस के प्रकार, शोथ (सूजन) की सीमा, रोग की तीव्रता, रोगी की आयु तथा अन्य कारकों पर निर्भर करते हैं। अनेक मरीज बीमारी के पश्चात कमजोर एवं शक्तिहीन होकर एक-दो माह में स्वस्थ हो जाते हैं। किन्हीं मामलों में अपरिपक्व मस्तिष्क इतना अधिक क्षतिग्रस्त हो जाता है कि उसका ठीक तरह से विकास नहीं हो पाता, बुद्धि में क्षीणता तथा परिपक्वता का अभाव, आवर्तक आक्षेपक (Recurrent Convulsions) तथा अयोग्यता की ओर अग्रसर होता है। यह देखा गया है कि बड़ों की अपेक्षा छोटे बालकों के लिए यह रोग अधिक प्राणघाती होता है। इस रोग के परिणामस्वरूप भुजा या टांग में पक्षाघात (Paralysis), कंपन, भाषण में तुतलाना अन्य बोद्धिक त्रुटियां (दोष) उत्पन्न हो जाते हैं। यह रहस्यमय बीमारी जिस प्रकार शीघ्र संक्रमित होती है उसी प्रकार अल्पावधि में क्षीण तथा समाप्त भी हो जाती है। इस रोग में नश्वरता अत्यधिक है।
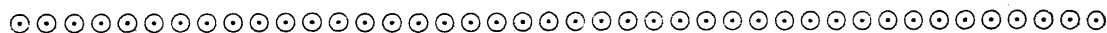
⊙⊙

सूचना

डा० गोरख प्रसाद पुरस्कार

विज्ञान के लेखकों को जानकर प्रसन्नता होगी कि 1978 से प्रतिवर्ष विज्ञान परिषद् ने 'विज्ञान' में वर्ष भर में प्रकाशित उत्तम लेखों पर तीन पुरस्कार देने का निर्णय किया है। ये पुरस्कार 'डा० गोरख प्रसाद पुरस्कार' कहलावेंगे। पुरस्कारों की राशि निम्नप्रकार रखी गयी है :—

प्रथम	**125** रु०
द्वितीय	**75** रु०
तृतीय	**50** रु०

लेखकों को आमंत्रित किया जाता है कि वे विविध वैज्ञानिक विषयों पर उत्तमोत्तम लेख भेजकर पुरस्कार प्रतियोगिता में भाग लें।

प्रधान मंत्री

विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

गठिया के विरुद्ध अभियान

पिछले कुछ वर्षों के दौरान गठिया की चिकित्सा और उपचार में भारी सफलताएं प्राप्त की गयीं। यह लम्बे समय तक इस दिशा में सुव्यवस्थित कार्य का परिणाम है।

आज हम पूरे विश्वास से कह सकते हैं कि गठिया के गम्भीर रूप कुछ विरले ही शेष रह गये हैं तथा रुस में गठिया से 7 से 15 वर्षों तक की आयु वाले बच्चों की मृत्यु दर में तेजी से कमी हुई है। जहां तक गठिया के वयस्क रोगियों का प्रश्न है, हम रोग की खतरनाक वृद्धि और गम्भीर हृद-रोग विकास को रोक सकते हैं। ये कार्य क्षमता बनाए रखते हैं और पूरी आयु तक जीवित रहते हैं। गठिया रोग द्वारा गंवाए जाने वाले कार्य-दिवसों की संख्या में अधिक प्रभावशाली उपचार तथा निवारण योजनाओं की वजह से कमी आयी है। पिछले पांच वर्षों में, गठिया रोग की आवृत्ति आधी तक पहुंच गई है।

इन दिनों, पोलीक्लिनिकों तथा औषधालयों में कार्यरत कार्डियो गठिया चिकित्सकों का मुख्य कार्य, रोग के एकदम प्रारम्भिक रूपों को प्रमाणित करना है। गठिया रोग से ग्रस्त परिवार के सदस्यों को विशेष रूप से कठोर परीक्षण से गुजरना पड़ता है क्योंकि वे गठिया से अधिक संभाव्य रूप में ग्रस्त हो सकते हैं।

वैज्ञानिकों को भी कई समस्याओं का समाधान करना है। इसीलिए, यह अभी स्पष्ट नहीं हो पाया कि यह रोग किस प्रकार अपनी प्रारम्भिक अवस्था में विकसित होता है। यह विदित है कि बहुत से मामलों में गठिया के मुख्य कारण स्ट्रेप्टोकोक्कोसिस, स्ट्रेप्टोकोक्कल कंठ-शूल हैं। इसलिए समय पर इन रोगों से ग्रस्त लोगों का उपचार करने का अर्थ एक खतरनाक जटिलता का रोकथाम करना है।

फिर भी यदि जटिलता विकसित हो जाती है तो यह ध्यान रखना आवश्यक है कि हाल के वर्षों में स्ट्रेप्टोकोक्कस की प्रकृति और शरीर की रक्षात्मक प्रतिक्रियाओं के स्वरूप में परिवर्तन आ चुका है। यही वजह है कि वैज्ञानिक और चिकित्सक गठिया के प्रारम्भिक निदान और उपचार के नए उपायों की खोज में जुटे हैं।

हाल के वर्षों में गठिया-ग्रस्त संधि-शोथ के रोगों की संख्या में वृद्धि हुई है। सोवियत विशेषज्ञ, अधिकतर जोड़ों को पीड़ित करने वाली इन अवस्थाओं, विशेषकर उनकी समय पर खोज तथा उपचार पर अत्यधिक गम्भीर रूप में ध्यान दे रहे हैं। संधि-शोथ का उपचार चिकित्सा शास्त्र के लिए एक विकट समस्या है।

गठिया ग्रस्त संधि शोध से पीड़ित लोगों के स्वास्थ्य लाभ को विशेष रूप में अधिक महत्ता मिलती जा रही है। विकलांग शल्य चिकित्सा की सफलताओं की वजह से आज चिकित्सा शास्त्र जोड़ों के जकड़ जाने की रोकथाम तथा पीड़ित जोड़ों को फिर से गतिशील कर सकता है। चिकित्सा की सोवियत प्रणाली ने आपरेशन द्वारा और आरोग्य सदन में उपचार के माध्यम से प्राप्त रोग ग्रस्त लोगों को पुनः कार्यक्षम बनाने में मदद की है।

●

भारत की प्रमुख फसलें

तकनीकी सम्पादक डा० कालीचरण शर्मा : द्वितीय संस्करण, 1976 प्रकाशक-अनुवाद एवं प्रकाशन निदेशालय, गोबिन्द बल्लभ पन्त कृषि एवं प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय, पंतनगर । पृष्ठ संख्या 684 मूल्य 24·00 रु०

यह कृति कृषि विश्वविद्यालय पन्तनगर के सस्यविज्ञान विभाग के अध्यापकों के सहकारी लेखन का ज्वलन्त उदाहरण है। इसमें 23 लेखकों ने हाथ बटाया है जो अपने अपने विषय के विशेषज्ञ हैं। यह पुस्तक कृषि के अध्ययन अध्यापन के लिये हिन्दी को माध्यम बनाने के व्रत को मानों पूरा करती है।

इस पुस्तक में 55 फसलों को 11 खण्डों के अन्तर्गत विधिवत वर्णित किया गया है। इसकी विशेषता है कि पहली बार ट्रिटिकेल जैसी मानव निर्मित फसल के अतिरिक्त सोयाबीन, चुकन्दर, मसालों आदि को सम्मिलित किया गया है। पुस्तक भर में चित्रों को यथेष्ठ स्थान प्राप्त है। हर अध्याय के अन्त में पठनीय साहित्य की सूची भी दी गई है। भाषा अत्यन्त संयत एवं उपयुक्त है।

आशा है भारतीय कृषि विश्वविद्यालयों में हिन्दी माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र इससे लाभान्वित हो सकेंगे पुस्तकालयों के लिये यह सर्वथा संग्रहणीय कृति है।

फसलों के रोग :

पृष्ठ संख्या 360 मूल्य 16·75 रु०। प्रकाशक : उपरिवत्

यह पुस्तक भी सहयोगी लेखन का परिणाम है। इसमें फसलों के विभिन्न रोगों का विस्तार से वर्णन मिलता है। चित्र भी समाविष्ट हैं। रोगों को खाद्यान्न फसलों, दलहनी फसलों, तिलहनी फसलों शर्करा फसलों, तथा रेशे की फसलों के रोग के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है। एक अध्याय में अन्य फुटकर फसलों तम्बाकू तथा जई के रोगों का वर्णन है। विभिन्न खण्डों के अन्त में सन्दर्भ साहित्य की लम्बी 'सूचियां दी हुई हैं! फलस्वरूप न केवल कृषि के विद्यार्थी वरन् अध्यापक भी इस पुस्तक से लाभान्वित हो सकेंगे।

सम्भवतः फसलों के रोगों पर यह एक अत्यन्त प्रामाणिक कृति है जिसे प्रत्येक कृषि विद्यालय के पुस्तकालय में स्थान मिलना ही चाहिए।

फलों के रोग

पृष्ठ संख्या 263 मूल्य 16·75 रुपये। प्रकाशक उपरिवित्।

यह पुस्तक भी ऊपर दी गई दो पुस्तकों के समान सहयोगी लेखन की उपज है। इसमें 17 प्रकार के प्रमुख फलों के रोगों का विस्तृत विवेचन है। साथ में महत्वपूर्ण चित्र भी हैं। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में फलों के उत्पादन पर अभी तक विशेष बल नहीं दिया जाता रहा क्योंकि फलों को नाना प्रकार के रोग हानि पहुँचाते रहे हैं जिससे विपुल क्षति की सम्भावना बनी रहती थी। अब रोगों का समुचित अध्ययन हो चुका है। तत्सम्बन्धी जानकारी प्रस्तुत पुस्तक में भरपूर है। रोगों के निवारण के उपाय भी दिये हैं जिनसे कृषक, छात्र तथा फलोद्योग में लगे लोग लाभान्वित हो सकेंगे।

●

अनुसन्धान गोष्ठी सम्पन्न

सदैव की भांति, इस वर्ष भी विज्ञान परिषद द्वारा आयोजित अनुसन्धान गोष्ठी 66 वें साइंस कांग्रेस के हैदराबाद अधिवेशन के अन्तर्गत 2 जनवरी 1979 को सुसम्पन्न हुई। इस गोष्ठी की विशेषता यह रही कि इसके अध्यक्ष डा० एस० सी० जैन ने न केवल अपना सारपूर्ण अध्यक्षपदीय भाषण ही दिया वरन् उन्होंने प्रयोगों के द्वारा उपस्थित श्रोताओं को सौर सैलों की चालन विधि प्रदर्शित की। इस गोष्ठी में जो प्रमुख वैज्ञानिक एवं हिन्दी प्रेमी उपस्थित थे उनमें से वि० राम चन्द्र राव (आन्ध्र), राममूर्ति रेणु, सत्यकाम विद्यालंकार, डा० हरिमोहन सिंह (रांची), अतिकुर्रहमान (हैदराबाद), श्री रामकृष्ण राव, श्री पूरन चन्द्र अग्रवाल, श्री कूर्माचार्य, ओम प्रकाश मिश्र, डा० गोविन्द राम तोशनीवाल, श्री भारती अग्रवाल, डा० महेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, डा० पूरण चन्द गुप्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

डा० जैन ने अपने भाषण में आज की एक ज्वलन्त समस्या ऊर्जा के स्रोतों के उपयोग पर बल दिया। उन्होंने दिल्ली स्थित सालिड स्टेट लैबोरेटरी में सौर ऊर्जा के सम्प्रयोग के क्षेत्र में सौर सेलों के विकास में जो शोध कार्य हुआ उसकी भव्य झांकी प्रस्तुत की। उन्होने सौर सेलों के सम्बन्ध में हुई खोजों को अत्यन्त महत्वपूर्ण बताया। उनके अनुसार "भारत के अंतरिक्ष कार्यक्रम में हमें अन्तरिक्ष विशिष्ट सौर सेलों की सतत आवश्यकता का आभास हो रहा है। निकट भविष्य में 3 उपग्रहों के छोड़े जाने की योजनायें हैं......भारत में तथा विदेशों में भी सौर सेल प्रौद्योगिकी का भविष्य अत्यन्त उज्जवल है।"

स्वामी सत्य प्रकाश ने विज्ञान परिषद की गतिविधियों से आगन्तुकों को परिचित कराया और अन्त में धन्यवाद भी दिया।

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ०/3/5/

भाग 116 संख्या 2 सं० 2034 विक्र० फरवरी 1979

विषय सूची

मूल्य — रु० 1.50

उप राष्ट्रपति, भारत
नई देहली
Vice-President
INDIA
New Delhi

दिसम्बर 28, 1978

प्रिय महोदय,

आपका पत्र दिनांक 22 दिसम्बर, 1978 को प्राप्त हुआ, धन्यवाद।

मुझे यह जानकार प्रसन्नता है कि आप 1979 के अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष के उपलक्ष में विज्ञान परिषद् की ओर से एक "बाल-विशेषांक" प्रकाशित करने जा रहे हैं। मैं आपके इस विशेषांक की सफलता के लिए अपनी शुभ कामनाएं भेजता हूँ।

आपका,
(ब० दा० जत्ती)

राष्ट्रपति सचिवालय
राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली 110004
भारत
जनवरी 2, 1979

पत्रावली सं० 12-एम०/79

प्रिय महोदय,

राष्ट्रपति जी के नाम दिनांक 22 दिसम्बर, 1978 को आपका पत्र प्राप्त हुआ। बाल वर्ष के उपलक्ष में राष्ट्रपति जी द्वारा दिये गये संदेश की एक प्रति इस पत्र के साथ आपको भेजी जा रही है।

भवदीय,
(रे० वे० राघवराव)
हिन्दी अधिकारी

President's Message on International year of the Child

I am happy to be able to speak to you, the children of India and the children of the world and give you my blessings. Tomorrow a new year begins. Throughout the New Year the United Nations and its affiliated Specialized Agencies, National Governments and Voluntary Agencies will dedicate themselves to what is without doubt, the most important issue before humanity today: this is, the welfare and future well-being of the children of the world, particularly those in the under-developed countries, where poverty and mal-nutrition, compounded with illiteracy, ignorance and superstition holds out a serious threat to a very large section of the future citizens of the world. The children of today are the citizens of tomörrow.

We of the older generation, have a special responsibility not only in the International Year of the Child, but even afterwards. We need to be proud of our children irrespective of their background and social status, colour, religion, caste and creed and inculcate in them even at this tender age the time-honoured tenets of compassion, mutual tolerance and the oneness of mankind. Only then will we be ushering in a new world order where the tensions which torture our present day civilization will diminish and mankind will move forward towards new frontiers of tolerance and understading and future generations learn to live together in peace and content for the well being of everyone on this planet.

Our Constitution has placed emphasis on the need for the welfare, education and healthy development of our children, to prevent their exploitation and ensure for them opportunities and facilities to grow up to be useful citizens of this great country. The National Policy for children enunciated in August 1974 in an important landmark in the history of our country, for it proclaims in unmistakable terms our determination to progress children's welfare in all its various aspects. The high-powered National Children's Board, over which the Prime Minister of India presides, is a forum where problems ralating to children and their purposeful development into useful members of society are evolved, reviewed and coordinated, into an effective programme to meet this stupendous task.

While yet on the threshold of a new year and perhaps, as we fondly hope, a new era in the history of mankind, let us pause to consider what kind of a future we plan for our children. Rapid strides in the advance-

ment of science and technology have brought the peoples of the world nearer to each other, extended the frontiers of knowledge and have indicated already the directions along which mankind may progress in peace, prosperity and contentment in a happy world. They have also pointed out dangerous trends which will inevitably lead to doom and destruction of not only mankind, but all the values which the teachers of the world from time immemorial have taught us to respect and uphold at all costs.

Investments, whether in terms of money or effort, made in programmes for the welfare of children are necessarily of long term gestation, but if such programmes are well conceived and implemented, not in any narrow selfish sense, we may yet evolve a new world order where actions will be motivated not by fear, prejudice or other compulsions, but by time-honoured principles of good living taught by the great religious leaders of humanity over the centuries. In our ancient country we have contributed several such teachers to the world community. On this occasion, it would be useful to remind ourselves that we would only be acting in accordance with our ancient traditions if we were to foster and support the various programmes evolved in connection with the International Year of the Child.

The National Plan of action for the International Year of the Child encompasses related fields, like child nutrition and health, education, child welfare, attention to destitute and handicapped children and legislation to ensure a solicitous environment in which a child may develop and given of its best to the nation. Healthy and happy children are a Nation's pride. This is the slogan which we have chosen for the International Year of the Child. I have every hope that this slogan will not be an empty promise, but will resound throughout the country and the world at large, so that each one of us is motivated to put in our best to achieve this laudable goal.

The task ahead of us is indeed formidable, but no problem is incapable of solution if dedicated people give their best without seeking honour or reward for a task which should be uppermost in the minds of the human race. I, therefore, call upon all citizens of this great country and of well-meaning people throughout the world to join hands in this great endeavour which promises so much for the future of humanity and the happiness of mankind. Let us on this occasion dedicate ourselves to this noble task.

I wish you all a happy NEW YEAR.

GRAMS : SCIENCTECH
TELEX : 031-2096

भारत सरकार
विज्ञान और प्रौद्योगिकी की राष्ट्रीय समिति
नई दिल्ली
दिसम्बर 30, 1978

प्रिय डा० शिवप्रकाश जी,

आपके दिनांक 22 दिसम्बर के पत्र का धन्यवाद। आपकी पत्रिका बच्चों के लिये लाभप्रद सिद्ध हो रही है ऐसा मुझ से कई पाठकों ने कहा है। मैं तो स्वयं ही यह पत्रिका पढ़ता रहता हूँ। मुझे आशा है कि इस वर्ष का विशेषांक अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष में और भी अधिक रुचिकर होगा। मेरी शुभकामनायें आपके साथ हैं।

भवदीय,
(आत्माराम)

सन्देश

यह बड़े हर्ष की बात है कि विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद, अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष 1979 में अपना 'बाल विशेषांक' प्रकाशित करने जा रही है।

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। किसी भी देश की उन्नति वैज्ञानिक प्रगति के बिना सम्भव नहीं है। आपकी संस्था विज्ञान विषयक ऐसे क्रिया-कलाप करके प्रशंसनीय कार्य कर रही है।

मैं प्रयास की सफलता के लिये मंगल कामना करता हूँ

पृथ्वीराज चौहान
शिक्षा निदेशक,
उत्तर प्रदेश

वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद्
नई दिल्ली-110001

क्रमांक : विश्वविद्य । मुअ । (हि) । 79
प्रो0 एम० जी० के० मेनन,
सचिव,
भारत सरकार तथा
महानिदेशक

शुभ-कामना सन्देश

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि "विज्ञान परिषद्" पिछले 65 वर्षों से "विज्ञान" नामक एक मासिक पत्रिका को हिन्दी में प्रकाशित कर उसके माध्यम से हिन्दी में विज्ञान की बहुत बड़ी सेवा कर रही है। अगर हमारे राष्ट्र को वास्तविक अर्थों में प्रगति करनी है तो हमें विज्ञान के दर्शन (उसके उद्देश्यों और अपने तर्कशील चिन्तन का इस प्रकार समन्वित करना होगा ताकि अपने दैनिक कार्यकलापों में वैज्ञानिक विधियों का उपयोग कर विज्ञान के मूलभूत उद्देश्यों अर्थात सत्य की खोज) का पालन करते हुए समाज के संचालन में एक आवश्यक अंग बनना चाहिये। इसके लिए यह अनिवार्य है कि विज्ञान से संबन्धित प्रकाशन ऐसी भाषा अर्थात मातृभाषा में हो ताकि जिन लोगों के लिए वे हैं वे उन्हें समझ सकें। "अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष" के शुभ अवसर पर "विज्ञान" मासिक पत्रिका का यह विशेषांक इसलिए महत्वपूर्ण है चूंकि भविष्य के निर्माता स्वयं बालक ही हैं। बच्चों में विज्ञान के प्रति रुचि पैदा करने के लिए बाल साहित्य की पर्याप्त कमी है और बाल्यकाल ही एक ऐसी प्रभावित करने योग्य अवस्था है जब कि उन पर किसी भी विचार का बिम्ब अंकित किया जा सकता है और वे विज्ञान के उद्देश्यों को सरलता से आत्मसात कर सकते हैं।

मैं इस अवसर पर "विज्ञान परिषद्" और "विज्ञान" के संपादक को अपनी शुभकामनाऐं प्रेषित करने के साथ पुनः बाल विशेषांक की प्रकाशन योजना बनाने के लिये बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि उनका यह प्रयास सफल रहेगा।

म गो कु मेनन
(एम० जी० के० मेनन)

अन्तरराष्ट्रीय प्रतीक

भारतीय प्रतीक

अन्तरराष्ट्रीय वाल वर्ष के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ ने एक प्रतीक बनाया है (बांया चित्र) ! इस वर्ष 1979 को बाल वर्ष के रूप में मनाने का भारत सरकार ने भी वृहत आयोजन किया है। इस अवसर पर देश के बच्चों के स्वास्थ्य, आवास, भोजन व अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया जायगा। भारत ने जो प्रतीक चुना हैं उसे दाहिनी ओर के चित्र में दिखाया गया है। इस वर्ष के लिये राँची के नरेन्द्र कुमार सिन्हा द्वारा लिखित एक नारा भी चुना गया है—हैपी चाइल्ड-नेशन्स प्राइड(सुखी बच्चा-देश का गौरव) ! भारतीय प्रतीक में एक लड़का, एक लड़की, एक स्लेट और सूरज का चित्र है। स्लेट शिक्षा के महत्व को प्रकट करती है जबकि सूरज स्वास्थ्य तथा शक्ति का प्रतीक है। इस चित्र को अहमदाबाद के शैलेश मोदी ने बनाया है।

बालकल्याण परिषद की महा सचिव श्रीमती प्रमिला पंडित वरुआ के अनुसार इस बाल वर्ष में बच्चों और उनके परिवारों को पिछड़ेपन, कुपोषण और कुरीतियों से उबारा जायगा। परिषद की देश भर में फैली शाखाएँ अपने अपने क्षेत्र में अपंग और असहाय बच्चों की भरपूर मदद करेंगी। ऐसा हर काम किया जायगा जिससे बच्चों में नैतिक गुण, साहस और ऊँचा उठने की भावना जगे।

विशेषांकों की कड़ी में 5 वां विशेषांक प्रस्तुत करते हुये हर्ष हो रहा है 1979 को अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष के रूप में मनाने की घोषणा पहले ही की जा चुकी थी और इस अवसर पर विज्ञान का एक बाल विशेषांक निकालना सामयिक है। बाल वर्ष मनाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बहुत सी योजनाएँ बनी हैं और भारत भी अग्रणी देशों में से एक है। बाल वर्ष मना कर बालकों के चौमुखी विकास पर ध्यान देने का बहुमूल्य अवसर है। पन्द्रह वर्ष तक के बच्चे हमारे देश की जनसंख्या के लगभग आधे हैं। उनकी संख्या इतनी है जितनी संसार के बहुत से देशों की कुल जनसंख्या भी नहीं है। किसी राष्ट्र का भविष्य वहां के बच्चों पर निर्भर करता है। बच्चों का स्वास्थ्य, उनका रहन सहन उनकाआचरण देखकर उस राष्ट्र की सुख समृद्धि का पूरा अन्दाज़ा मिल जाता है। हमारे देश के बच्चों का महत्व समझते हुये भी बहुत कुछ प्रयास नहीं किये जा सके। रोग, कुपोषण, अशिक्षा, निर्धनता, कुरीतियां आदि इतनी व्यापक हैं कि बच्चों का समुचित विकास नहीं हो पाता। आंकड़ों के अनुसार देश के लगभग 20% बच्चे स्कूल ही नहीं जाते हैं जो जाते हैं उनमें से 50% कक्षा 5 तक तथा लगभग 3/4 कक्षा 8 तक पहुँचते पहुँचते पाठशाला छोड़ देते हैं। केवल 15% कक्षा 12 तक पहुँचते हैं और 1% से भी कम विश्वविद्यालय की पहली डिग्री प्राप्त कर पाते हैं। अधिकांश माता पिता अपने बच्चों को अच्छा भोजन, अच्छा वस्त्र, अच्छी शिक्षा तथा अन्य सुविधायें नहीं दे पाते हैं। रोगों से मरने वाले बच्चों की संख्या यूरोप व अमरीका की तुलना में बहुत ही ज्यादा है। औषधि विज्ञान रोगों से छुटकारा दिलाने तथा मौत के मुंह से बचाने में काफी हदतक सक्षम हैं। ऐसे प्रयत्न किए जाने चाहिए जिससे बालकों को निरोग रखा जा सके। कुपोषण जन्य रोगों से ग्रस्त बच्चों की संख्या कम नहीं है। संतुलित भोजन देकर इन बच्चों को स्वस्थ बनाया जा सकता है। जब स्वास्थ्य ही अच्छा न होगा तो अध्ययन या खेलकूद में उनसे बहुत आशा भी नहीं की जा सकती। यदि सभी बच्चों के लिए भर पेट पौष्टिक भोजन, वस्त्र, चिकित्सा, उपयुक्त आवास, उचित शिक्षा की व्यवस्था हो सकी तो बाल वर्ष को सफल माना जायगा। बच्चों की मुस्कान-राष्ट्र की शान का नारा भी तभी ठीक मालूम पड़ेगा। साथ ही साथ बच्चों के नैतिक आचरण की ओर भी ध्यान देना होगा। बच्चा आगे चलकर ईमानदार, निर्भीक, कुशल नागरिक बनेगा तभी राष्ट्र का बोझ वहन कर सकने में सक्षम होगा। बच्चों में नैतिक गुण, साहस तथा ऊँचा उठने की भावना जगा कर उन्हें देश का भावी कर्णधार बनाना होगा।

पर्वत जो आग उगलते हैं

● दुर्गा पद कुइति

दैवीय शक्ति की यह एक लीला है। ज्वालामुखी की भयानक स्थिति का वर्णन करना कठिन है। प्राचीन समय में ज्वालामुखी के उद्गार से काफी धन व जन की क्षति हुई है। विज्ञान के प्रगति से इस प्रकार के खतरों पर नियंत्रण पाना केवल आंशिक रूप से सम्भव हुआ है। ज्वालामुखीय उद्गार को रोका नहीं जा सकता है पर उद्गार के समय का अनुमान पहले से ही हो जाता है जिससे सावधानी बरतने में आसानी होती है।

ज्वालामुखी का साधारण अर्थ है मुख जिसमें से प्राकृतिक रूप से आग निकलती हो परन्तु यह पूर्ण रूप से सही परिभाषा नहीं है। ज्वालामुखी से केवल आग ही नहीं परन्तु अन्य अनेक पदार्थ भी निकलते हैं। इसकी परिभाषा अनेक वैज्ञानिकों ने मापदण्डों के आधार पर दी है। लांग्वेल और फ्लिट के अनुसार,' ज्वालामुखी एक अथवा कई एक छिद्रों का समूह है, जिससे होकर गैस व पिघली हुई चट्टान सतह पर आती है। द्रवीभूत चट्टान अग्निमुख के चारों ओर एकत्र होती रहती है। इसमें से निकले पदार्थ जितने गाढ़े एवं शान्त ढंग से बाहर आयेंगे उतनी ही जल्दी इसकी ऊंचाई में वृद्धि होगी। जब ज्वालामुखी से निकले पदार्थ अधिक तरल होते हैं तो वे पदार्थ पहाड़ का रूप नहीं दे पाते वरन् दूर दूर तक फैल जाते हैं। यही कारण है कि अनेक ज्वालामुखी को पर्वत के रूप में नहीं देखा जा सकता। इस प्रकार के उद्गारों में एक मुख न होकर कई दरार होती हैं और उनमें से धीरे धीरे लावा निकलता है। उदाहरण के लिए भारत के पश्चिमी भाग में स्थित डेकन प्लेटों, जो 2 हजार किलोमीटर क्षेत्र में फैला हुआ है तथा मुख्यत: वेसाल्टिक है। ये वेसाल्ट दिगन्तीय हैं तथा इनकी मोटाई कहीं कहीं पर 100 फीट से भी अधिक है। जितने भी महत्वपूर्ण ज्वालामुखी हैं जैस विसुवियस, एटना, स्ट्रोमबोलि आदि सभी में अग्निमुख है तथा वे पहाड़ का रूप धारण किए हुए हैं। इन पहाड़ों के आकार एवं संरचना में अत्यधिक विषमताएं हैं। सिसिली में स्थित एटना की ऊंचाई समुद्रपृष्ठ से 10 हजार फीट से भी अधिक है। प्रशान्त महासागर में स्थित माउना लोवा ज्वालामुखी की ऊंचाई समुद्रतल से करीब 30 हजार फीट है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी ज्वालामुखी छोटे या सभी बड़े आकार के हों। भारत में कई स्थानों पर आज भी अग्नि देवी के नाम से इसकी पूजा होती है। विश्व के अधिकांश ज्वालामुखी इस समय सुप्त अवस्था में हैं अथवा निर्जीव हो गये हैं। साधारणतः जब भी ज्वालामुखी से उद्गार निकलता है तो उसमें से ठोस, द्रव एवं गैस तीनों अवस्थाओं में पदार्थ बाहर आते हैं। अन्दर के अत्यधिक दबाव के कारण ज्वालामुखी से सभी वस्तुएं बहुत ही तेजी के साथ बाहर आती है। प्रत्येक ज्वालामुखी से निकले पदार्थों
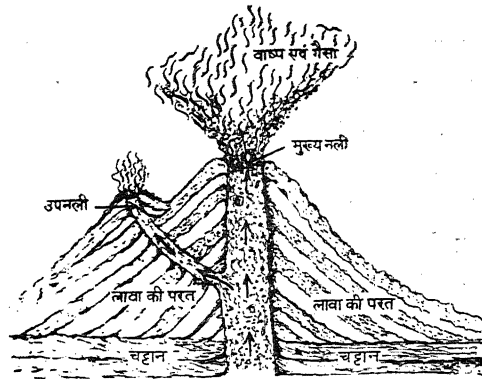
में ठोस, द्रव व गैस की मात्रा अलग-अलग होती है। उनमें से कुछ महत्वपूर्ण गैसों के नाम इस प्रकार हैं, कार्बनडाइ आक्साइड, हाइड्रोक्लोरिक एसिड गैस, हाइड्रोजन इत्यादि। कुछ ज्वालामुखी से सल्फर भी निकलता है। ज्वालामुखी उद्गार के बाद प्राय: वर्षा होती है, यह इस बात का द्योतक है कि कितनी अधिक मात्रा में वाष्प इसके साथ बाहर आता है। लावा अपेक्षाकृत अधिक अम्लीय होता है। हल्के रंगों के घनीभूत होने पर क्षारीय लावा से अपेक्षाकृत समतल पहाड़ का निर्माण होता है। घनीभूत होने पर ये लावा रियोलाइट, वेसाल्ट, एन्डेसाइट आदि शिलाओं का रूप ले लेता है। गैसों का जो अंश लावा के अन्दर कैद हो जाता है वह बुलबुले के रूप में खाली स्थान बना देता है। कभी-कभी तो बाद में इन गैसों के निकल जाने से खाली स्थान सिलिका अथवा अन्य आक्साइडों से भर जाता है। कभी-कभी तो इन चट्टानों में इतना अधिक बुलबुला हो जाता है कि यह स्पंजी अथवा अश्कफेन के सदृश्य लगने लगता है। भगवान रामचन्द्र ने इन पत्थरों को रामेश्वर में सेतु निर्माण के कार्यों में लगाया था। बुलबुलों के होने से ये पत्थर इतने हल्के थे कि पानी में तैरते थे। अत्यधिक तेजी से उद्गार होने के कारण अनेक प्रकार के चट्टानों के टुकड़े भी बाहर आते हैं, जिन्हें भिन्न-भिन्न नाम से जाना जाता है, जैसे सिण्डर, वाय, अवस्कर आदि। ठोस चट्टान के सबसे छोटे कण को राख कहा जाता है जो हवा के बहाव से दूर-दूर तक फैल जाती है।

ज्वालामुखी का सुचारु रूप से अध्ययन करने के लिए इसके अनेक गुणों को विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत रखा गया है। इसकी अवस्था एवं कार्य क्षमता के अनुसार इसे तीन प्रकारों में बांटा गया है—(1) सक्रिय, (2) सुप्त एवं (3) मृत। सक्रिय अर्थात् जिसमें से वर्तमान समय में भी उद्गार हो रहा हो, सुप्त जिसमें इस समय न हो रहा हो परन्तु किसी भी समय उद्गार होने की संभावना हो, मृत जिसमें से अब भविष्य में कभी कोई उद्गार होने की संभावना न हो। उद्गार की विशेषताओं के अनुसार इसे चार भागों में बांटा गया है। जैसे हवाई तुल्य-हवाई द्वीप समूह में स्थित है, स्ट्राम्बोलीतुल्य-जो रूमसागर में लिपरी द्वीपा पर स्थित है, बल्केनियनतुल्य-लिपारी द्वीप पर स्थित है एवं पीलियनतुल्य-पश्चिमी द्वीप समूह के मार्टीनिक द्वीप पर स्थित है।

आज भी हम ज्वालामुखी के कार्यकलापों को होते हुए देख सकते हैं। इस समय समस्त विश्व में लगभग 500 सक्रिय ज्वालामुखी हैं जिनमें अधिकांश प्रशान्त पेटी में हैं। एटना जो कि इटली में स्थित है, 2 मील ऊंचा एवं 40 मील लम्बा है। विश्व का एक और ऊंचा ज्वालामुखी पर्वत कोटोपाक्सी की ऊंचाई 19498 फीट है। विसुवियस जो एक महत्वपूर्ण ज्वालामुखियों में से एक है, इस समय सुप्त अवस्था में है। क्राकाटोबा, इस्टइन्डीज के क्राका टोबा द्वीप पर स्थित है। इसके भयंकर विस्फोट के बारे में सभी को मालूम है। ऐसा कहा जाता है कि इस विस्फोट के परिणाम स्वरूप 36000 जानें गई थीं एवं कई महीने तक सूर्योदय और सूर्यास्त का पता तक नहीं चला था। हिन्द महासागर के द्वीपों पर अनेक मृत ज्वालामुखी पाये गये हैं जिनमें मुख्य हैं मारीशस, कमरो, रीयूनियन। अंटार्कटिका के चारों ओर के द्वीपों में आज भी जाग्रत ज्वालामुखी विद्यमान हैं, जैसे रांन्स सागर के निकट स्थित एरेक्स एवं टेरर। अनेक गीजर आज भी देखने को मिलते हैं। संयुक्त राज्य के यलोस्टोन पार्क जहां करीब 200 गीजर हैं, पर्यटकों का एक आकर्षक स्थान है। आइसलैंड एवं न्यूजीलैन्ड में भी अनेक गीजर विद्यमान हैं।

ज्वालामुखी उद्गार पर नियंत्रण एवं इससे होने वाले नुकसानों से बचने के लिए वर्षों से इसके विभिन्न गुणों का अध्ययन किया जाता रहा है। इसके कारणों का भी सुनिश्चित ज्ञान अत्यावश्यक है, पर हम इतनी प्रगति के बाद भी इसके वास्तविक ज्ञान से अनभिज्ञ हैं। वैसे इस बात से इन्कार करना मुश्किल है कि इसके कारणों का सीधा संबंध पृथ्वी के गर्भ से है जो अत्यधिक गर्म है। उच्च तापमान एवं दबाव के कारण आन्तरिक भाग की चट्टानें पिघलने लगती हैं। प्रचुर मात्रा में वाष्प भी बनता है। इसके लिए उपलब्ध पानी की मात्रा की पुष्टि अनेक

वैज्ञानिकों ने आपत्तियों को दूर करने हेतु की है। प्रमाण स्वरूप वैज्ञानिकों का कहना है कि पानी समुद्र से मिल जाता है क्योंकि अधिकांश ज्वालामुखी समुद्र के तटीय क्षेत्रों में हैं। तट से दूर स्थित ज्वालामुखी के लिए पानी का स्रोत वर्षा का पानी है जो रिस कर अन्दर पहुँच जाता है। भाप के बढ़ने से अन्दर का दबाव भी बढ़ जाता है जिसके परिणाम स्वरूप ऊपर के तल का संतुलन बिगड़ने लगता है। यदि इन गैसों को निकलने का कोई रास्ता नहीं मिलता है तो ये कमजोर चट्टानों को तोड़ती हुई सतह पर पहुँच जाती हैं। भूकंप क्षेत्रों के साथ ज्वालामुखियों का संबंध संभवतः इस बात की पुष्टि करता है।

आज भी लोग प्रकृति द्वारा उपलब्ध सल्फर युक्त गर्म जल में बड़े ही श्रद्धा से स्नान करते हैं। कुछ रोगों के निवारण हेतु ये गर्म धाराएं लाभकारी सिद्ध हुई हैं। उद्गार के बन्द होने पर यदि वर्षा का पानी उसके अग्नि मुख में जमा होता है तो एक मनोरम झील बन जाता है। उदाहरण के लिए नियामुनुनका (अफ्रीका) को ले सकते हैं। विश्व के कई एक स्थानों में ज्वालामुखी के उद्गार से सल्फर प्राप्त किया जाता है। काली मिट्टी जो कि डेकन चट्टान से बनी है उसे रेंगुर कहा जाता है जो रुई उत्पादन में बहुत ही लाभकारी सिद्ध हुई है।

~ ~

वैज्ञानिक बालक

● 'रामअवतार अभिलाषी'

- विशिष्ट ज्ञान का जिज्ञासु ही वैज्ञानिक बालक है।
- ज्ञान, जब बहुमुखता और व्यवहारिकता का परिवेश धारण कर लेता है, तब वह विज्ञान बन जाता है।
- साधारण बालक में तार्किक गुण का विकास उसमें वैज्ञानिकता का आगमन है।
- वैज्ञानिक बालक के अपने गुण-धर्म होते हैं, जिनके कारण वह साधारण अवस्था से असाधारण अवस्था की ओर अग्रसर होता है।
- उन गुण-धर्मों को संक्षेप में इस प्रकार माना जा सकता है :

1. वैज्ञानिक बालक परम्पराओं एवं पूर्वजों का अन्धानुकरण पसन्द नहीं करता।
2. वह प्रत्येक विचार को तर्क पर तोल लेना चाहता है।
3. विज्ञान सम्मत निष्कर्षों को भी व्यवहारपरक प्रयोग की तुला पर अजमा लेना चाहता है।
4. परम्परागत विचारों को आधुनिक परिवेश में ढालने को तत्पर रहता है।
5. अन्धविश्वास को बढ़ावा देने वाले तथ्यों को नकार देना चाहता है।
6. जीवन के लिए नवीन मूल्यों की स्थापना हेतु उद्यत रहता है।
7. वह पूर्व-वैज्ञानिकों के विचारों और तर्कों पर भी सहज विश्वास कर लेना पसन्द नहीं करता।

बीमारियों से जूझती बाल पीढ़ी

● नलिनी बंसल

किसी राष्ट्र का भविष्य बच्चों पर निर्भर करता है, बच्चे राष्ट्र की थाती हैं। जितने स्वस्थ आज के बच्चे होंगे उतना ही स्वस्थ्य एवं दृढ़ हमारा आने वाला कल होगा, किन्तु यदि आज के बच्चे दुर्बल, निर्धन और अनगिनत रोगों के शिकार तथा कुपोषण से ग्रस्त हों तो कल के उज्जवल भविष्य की अपेक्षा कैसे की जा सकती है ?

हमारे देश में बच्चों की संख्या कुल जनसंख्या का 42% है जिसका अर्थ हुआ कि लगभग 20 करोड़ बाल-नागरिकों की जिम्मेदारी राष्ट्र पर है। बच्चे 15 वर्ष से कम आयु वर्ग में आते हैं! इन 42% बच्चों में 20% बच्चे पांच वर्ष से कम आयु के हैं तथा देश में होने वाली कुल बाल-मृत्यु के 20% की पूर्ति ये ही बच्चे करते हैं। उल्लेखनीय है कि देश में प्रतिवर्ष मृत कुल व्यक्तियों में 40 से 50% मौतें बच्चों की होती हैं।

ऐसे बच्चे जो जीवित पैदा होते हैं, किन्तु 1 वर्ष के भीतर ही दम तोड़ देते हैं, वे बालमृत्यु के अन्तर्गत आते हैं! भारत की बालमृत्यु दर 100–125 प्रति हजार है, जबकि पश्चिमी देशों में यह संख्या केवल 16–18 प्रति हजार है। शहरों में रहने वाले बच्चों की अपेक्षा गांवों के बच्चे अधिक मृत्यु का शिकार होते हैं।

बाल-मृत्यु का कारण क्या है ? हमारे देश के अधिकांश बच्चे छोटी आयु में ही रोगग्रस्त हो जाते हैं! अधिकांश बच्चे पैदा होने के शीघ्र बाद ही संक्रामक रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं जिनमें अतिसार, यक्ष्मा, श्वास सम्बन्धी संक्रमण इत्यादि प्रमुख हैं। बच्चों को होने वाले प्रमुख रोग हैं—चेचक, क्षय, डिफ्थीरिया, कुकर खांसी, धनुस्तम्भ, पक्षाघात, खसरा और पोलियों निर्धन परिवारों में जन्मे बच्चों को इन रोगों के विरुद्ध उचित उपचार नहीं मिल पाता और वे इन रोगों की भंयकरता के भुगतते हुये, अकाल ही काल कवलित हो जाते हैं। विश्व के बच्चों की तीन चौथाई जनसंख्या आज भी भूख से पीड़ित और उपचार तथा रोग निवारक चिकित्सा सुविधाओं से वंचित है।

कुपोषण

बच्चों के रोगग्रस्त होने का प्रमुख कारण है—कुपोषण! गरीब परिवारों में जन्मी निर्धन मजदूर मां-बापों की सन्तानें भरपेट भोजन पाने के अधिकार से भी वंचित रह जाती हैं और उनके दूर्बल कृशकाय शरीर रोगों को अनायास ही आमन्त्रित कर बैठते हैं! कुपोषित बच्चे में रोग प्रतिरोधक क्षमता कम होती है जिसके कारण रोग के जीवाणुओं से कुपोषित बालक बचाव नहीं कर पाता! रोगाणुओं का आक्रमण कुपोषित बच्चों पर अधिक होता है! एक ओर रोग और दूसरी ओर कुपोषण इन दो विडम्बनाओं के चक्र में फंसा बच्चा कभी उभर नहीं पाता! ऐसे बच्चे इतने पस्त और पराजित हो जाते हैं कि इनका शारीरिक विकास कभी सामान्य और सन्तुलित नहीं रहता।

वे बच्चे जिनका जन्म के समय कम भार होता है वे भी कुपोषण ग्रस्त रहते हैं, इसका कारण कुपोषित मातायें हैं।

अनुमानतः देश के लगभग एक करोड़ बच्चे प्रतिवर्ष कुपोषण के शिकार होते हैं जिनमें से लगभग 10 लाख की मृत्यु हो जाती है। 30 से 40 लाख बच्चे गम्भीर कुपो-

षण से ग्रस्त होते हैं। पांच वर्ष से कम आयु के बच्चों में 7% मौतों का कारण सिर्फ कुपोषण होता है ।

कुपोषण के कारण सूखा, कवाशरकोर एवं अंधापन जैसे रोग हो जाते हैं जिसके कारण बाल-मृत्यु की दर बढ़ती जाती है। आंशिक कुपोषण से ग्रस्त बच्चे संक्रामक रोगों से अधिक ग्रस्त होते हैं। और कोई कोई भयंकर रोग तो उन्हें मानसिक और शारीरिक दोनों रूपों में विकलांग बना देता है! पोलियो नन्हें बच्चों को होने वाला ऐसा ही घातक रोग है ।

शिशुओं के हृदय में कृत्रिम दीवार

एक जन्म जात हृदय-दोष, जो पहले असाध्य माना जाता था, अब शल्य चिकित्सा द्वारा दूर किया जा सकता है। अब उन अनेक शिशुओं को मौत के मुँह से निकालना संभव हो गया है जिनके बचने की इससे पूर्व कोई आशा नहीं की जाती थी । अमेरिका के दो चिकित्सा केन्द्रों के वैज्ञानिकों ने हाल ही में उत्पन्न हुये शिशुओं के उस जन्म जात दोष को जिसमें शिशु के दो हृदय प्रकोष्ठों के स्थान पर एक ही प्रकोष्ठ था, ठीक करने में सफलता प्राप्त की है ।

न्यूयार्क के कोलम्बिया विश्वविद्यालय के मेडिकल स्कूल में ऐसे हृदय दोष वाले बच्चों को दीर्घ जीवन जीने के योग्य बना पाना संभव हो गया है। शल्यक्रिया के बीच चिकित्सक दोनों प्रकोष्ठों के मध्य अविकसित दीवार की जगह एक प्रकार का प्लास्टिक पदार्थ—टेफलोन रख देते हैं जो कृत्रिम दीवार का काम करता है ।

भारत में कुपोषण के विरुद्ध अभियान वर्ष 1918 में शुरू हुआ, इस वर्ष कुनुर में न्यूट्रीशनल रिसर्च लेबोरेटरी (पोषण अनुसंधान प्रयोगशाला) की स्थापना हुई। इस प्रयोगशाला की स्थापना के साथ ही हैदराबाद स्थित राष्ट्रीय पोषण संस्थान ने कुपोषण की समस्या से निपटने के लिए अनुसंधान कार्य प्रारम्भ किये। वर्ष 1937 में संस्थान द्वारा 'हैल्थ बुलेटिन, का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया जिसके अन्तर्गत स्वास्थ्य तथा पोषण सम्बन्धी खाद्य सामग्रियों के विभिन्न विश्लेषणों का प्रकाशन किया गया। इस संस्थान को विटामिन-ए की कमी से बच्चों में होने वाले अन्धेपन को रोकने में सफलता मिली है। सरकार द्वारा चलाये गये सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रम के अन्तर्गत बच्चों को छः माह में एक बार विटामिन-ए की गोली खिलाई जाती है। वर्तमान शिशु संख्या का एक चौथाई अर्थात लगभग 2 करोड़ बच्चे इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आते हैं ।

कुपोषण क्या है

बच्चों के समुचित विकास के लिये संतुलित आहार की आवश्यकता होती है जिसमें प्रोटीन, विटामिन, खनिज इत्यादि पदार्थ आवश्यक तथा पूरी मात्रा में उपलब्ध हों। यदि यह आवश्यक तत्व उसके बढ़ते हुये शरीर में न पहुँचे तो वह कुपोषण का शिकार बन रोगग्रस्त हो जाता है ।

सूखा बच्चों में होने वाला एक भयंकरतम रोग है, कैलोरी (ऊर्जा) तथा प्रोट्रीन की कमी इस रोग के लिये उत्तरदायी होते हैं, यह रोग गंभीर कुपोषण के अन्तर्गत आता है ।

विटामिनों एवं खनिज तत्वों की कमी से होने वाले रोग हैं अंधापन, जो विटामिन-ए की कमी के कारण होता है तथा एनीमिया, जो लौह तत्व की न्यूनता के कारण पनपता है । ये रोग आंशिक कुपोषण के अन्तर्गत माने जाते हैं। हाल ही की सूचनाओं के आधार पर आज भारत के 5 वर्ष से कम आयु के 10% बच्चे विटामिन-ए की न्यूनता में तथा 35% बच्चे लौह तत्वों की कमी से ग्रस्त हैं ।

इनके अतिरिक्त विटामिनों की कमी से होने वाले अन्य रोग हैं—रिकेट, स्कर्वी, बेरी-बेरी इत्यादि ।

संतुलित विकास से वंचित ये बच्चे 'न्यूट्रीशनल ड्वार्फ' कहलाते हैं जो मानसिक और शारीरिक क्षमता हीन स्थिति के कारण जीवन की दौड़ में पिछड़ जाते हैं कुपोषण को रोकने के लिये यूनिसेफ तथा 'केयर' जैसी विश्व संस्थाओं के सहयोग से भारत में कई बाल योजनायें चलायी जा

रही हैं, जिनके अन्तर्गत बच्चों को 'बाल-आहार' और 'मिड-डेमील' के रूप में पौष्टिक आहार दिया जाता है ।

संक्रामक रोगों से प्रतिरक्षा

संक्रामक रोग एक विकट समस्या है, अविकसित या विकास शील देश ही नहीं अपितु अत्यधिक विकसित देश भी इस समस्या से ग्रस्त हैं । अमेरिका जैसे विकसित देश में खसरा का संक्रमण प्रतिवर्ष कितने ही बच्चों की जान ले लेता है, रोग प्रतिरोधक टीके लगवा कर बच्चों को क्षय, चेचक, काली खांसी, पोलियो, पीलिया, खसरा और टिटेनस जैसी जानलेवा बीमारियों से सुरक्षित रखा जा सकता है । इस समय उपलब्ध टीके संक्रामक रोगों का मुकालबा करने में काफी सक्षम हैं तथा चेचक के टीके द्वारा विश्व के एक बहुत बड़े भाग के बच्चों में चेचक उन्मूलन सम्भव हो सका है ।

सोवियत संघ में संक्रामक रोगों के प्रति किये गये चिकित्सा कार्य हमारे देश के लिये प्रेरणा दायक हो सकते हैं। हाल ही में मिली सूचनाओं के अनुसार मास्को में बच्चों को होने वाले संक्रामक रोगों की संख्या लगभग शून्य रह गयी है । सोवियत संघ में पैदा होने वाले शत प्रतिशत बच्चों को डिफ्थीरिया, काली खांसी, पोलियो तथा खसरा आदि रोगों से बचाव के लिये टीके लगाये जाते हैं ।

रोग प्रतिरक्षण के लिये हाल ही में वहुप्रतिरक्षण तकनीक का विकास किया गया है । इस तकनीक द्वारा बच्चे को एक ही बार में विभिन्न रोगों से प्रतिरक्षित किया जा सकता है । यह तकनीक 'यूनीसेफ' तथा 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' द्वारा किये गये संयुक्त अध्ययन के आधार पर विकसित की गयी है यूनिसेफ के अनुसार यह तकनीक इण्डोनेशिया, फिलीपाइन्स और पाकिस्तान में सफलता पूर्वक प्रयोग में लायी जा चुकी है ।

टिटेनस से भारत में अनेक बच्चों की मृत्यु हो जाती है । इससे बचाने के लिये विकसित एक तकनीक में, यदि मां को गर्भावस्था में ही रोगप्रतिरोधक टीका लगाकर प्रतिरक्षित कर दिया जाये तो बच्चों में यह रोग होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है । शिशुओं को टिटेनस से बचाने का यह सर्वाधिक प्रभावपूर्ण तरीका है। इसके अन्तर्गत गर्भावस्था के अन्तिम दो माह में एक-एक महीने के अन्तराल से 'टिटेनस-टौक्साइड' के दो इंजेक्शन लगाने पर नवजात शिशु टिटेनस से सुरक्षित रहता है ।

इतिहास बताता है कि भारत में प्राचीन युग में भी बाल रोगों की चिकित्सा की ओर काफी ध्यान दिया जाता था । नालन्दा की खुदाई से पता चला है कि बौद्धकाल में बाल रोगों की चिकित्सा के लिये अलग से अस्पतालों तथा बालचिकित्सा केन्द्रों की व्यवस्था थी । उस युग के प्रसिद्ध प्राणाचार्य जीवक प्रसिद्ध बाल रोग विशेषज्ञ भी थे ।

सम्पूर्ण अध्ययन इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि बाल रोगों की समस्या प्राचीन समय में भी थी, किन्तु उस समय की सामाजिक स्थिति के परिप्रेक्ष्य में शायद इतनी व्यापक नहीं थी । हमारी आज की समाज व्यवस्था, निर्धनता, चिकित्सा सुविधाओं का अभाव, विशाल जनसंख्या तथा कुपोषण के अतिरिक्त अस्वच्छता और अज्ञानता इस समस्या का मूल कारण है, बाल रोगों से बचाव के लिये सामाजिक उत्थान भी आवश्यक है। वस्तुतः भारत की बालरोग सम्बन्धी समस्या एक बालरोग विशेषज्ञ की समस्या नहीं, वरन् एक सामाजिक समस्या है ।

- **'बच्चे की मुस्कान—राष्ट्र की शान'**
- **'सुखी बच्चा—देश का गौरव'**

खेल खेल में विज्ञान

● दिव्य प्रकाश

बच्चो मैं तुमको विज्ञान से संबंधित कुछ खेलों के बारे में बताऊंगा जिनको कर के तुम लोग स्वयं भी आनंदित होगे तथा अपने मित्रों को चमत्कृत कर सकोगे।

(1) विद्युत पेन

आवश्यक सामग्री—

(1) स्टार्च का विलयन (एक ग्राम स्टार्च को 500 घ० से०मी० उबलते पानी में मिलाओ।

(2) पोटेशियम आयोडाइड का विलयन (10 ग्राम 100 घ० से०मी० पानी में)

(3) तांबे की आयताकार प्लेट (आकार 6″×4″)

(4) बैटरी के दो सेल

(5) तार

(6) तांबे के प्लेट के आकार के सफेद कागज (संख्या 10)

(7) एक पेन का खोल जिसमें निब आदि न लगी हो अथव डाट पेन जिसकी रिफिल निकाल दी गई हो।

विधि

सबसे पहले एक बीकर में 100 घ० से०मी० स्टार्च का विलयन तथा 100 घ० से०मी० पोटेशियम आयोडाइड का विलयन मिला लो। चित्र के अनुसार सेल से तार द्वारा एक ओर तांबे की प्लेट तथा दूसरी ओर पेन जोड़ दो। अब एक कागज को पोटेशियम आयोडाइड और सटार्च विलयन से भिगो कर तांबे की प्लेट पर फैला दो। अब जो तार पेन से जोड़ रखा है उससे तांबे की प्लेट वाले कागज पर लिखो जहां जहां पर पेन चलेगा वहां पर नीले रंग से लिखा हुआ दिखाई देगा।

(2) राख पर अंडा—

आवश्यक सामग्री—

(1) नमक का संतृप्त विलयन

(2) 1 फीट वर्ग के 8-10 कपड़े

(3) स्पिरिट या मिट्टी का तेल

(4) तिपाई

(5) दियासलाई

(6) अंडा

विद्युत पेन
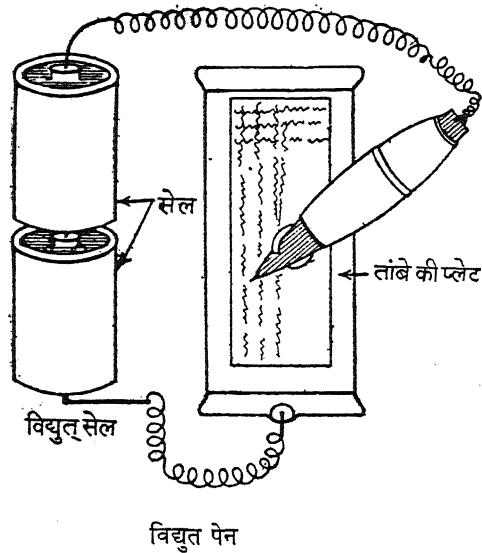
विधि —

जिस दिन इस प्रयोग को करना है उससे दो तीन दिन पहले कपड़ों के टुकड़ों को नमक के संतृप्त विलयन में भिगो कर सुखा लो। सूखने के बाद इन कपड़ों को फिर नमक के संतृप्त विलयन में भिगो कर सुखा लो। इस प्रकार कम से कम चार बार करो। अब प्रयोग को दिखाने के लिये एक कपड़ा (नमक के घोल से भिगो कर सुखाया हुआ) लो अब उसको तिपाई में बांध दो। इस कपड़े पर स्पिरिट या मिट्टी का तेल छिड़क दो। अंडे को इस कपड़े पर रख दो। अब इस कपड़े को जला दो। तुम देखोगे कि कपड़े की राख नीचे नहीं गिरती बल्कि तिपाई पर ही लटकी रहती है एवं अंडा राख पर ही रखा रहता है। इस प्रयोग को उतनी ही बार दिखा सकते हो जितने की कपड़ो के टुकड़े नमक के संतृप्त विलयन में भिगो कर सुखा रखे हैं।

(3) **तिरंगा झंडा बनाना—**

आवश्यक सामग्री

(1) तेलीय हरा तथा नारंगी रंग

(2) पानी में घुलने वाला सफेद रंग

(3) ईथर

(4) क्लोरोफार्म

(5) पानी

(6) परखनली (उबालने वाली)

(7) क्लैंप और स्टैंड

(7) कांच की छड़

विधि —

सबसे पहले परखनली को स्टैंड के क्लैंप में लगा दो। झंडे में हरा रंग सबसे नीचे होता है। इसलिये परखनली में क्लोरोफार्म एक तिहाई भाग में भर लो और इसमें हरा रंग कांच की छड़की सहायता से घोल लो। अब इस हरे रंग के घोल के ऊपर पानी परखनली में एक तिहाई भाग मेंभर लो और इस में सफेद रंग घोल लो। अब इस सफेद रंग के ऊपर बचे हुये एक तिहाई भाग में ईथर भर लो इसमें नारंगी रंग घोल लो। इस प्रकार झंडा बन जायेगा। इस झंडे के रंग एक दूसरे में मिलेंगे नहीं।

(4) **ज्वालामुखी पर्वत—**

आवश्यक सामग्री

(1) एक लकड़ी का $2' \times 2'$ का तख्ता

(2) $8''$ लम्बा तथा $1''$ परिधि का लोहे का पाइप

(3) पानी में सनी हुई मिट्टी

(4) पत्थर के टुकड़े, कोयले के टुकड़े, चूने के पत्थर के टुकड़े।

(5) अमोनियम बाइक्रोमेट

(6) ग्लूकोज

(7) पोटेशियम क्लोरेट

(8) मैगनीशियम का तार

(9) दियासलाई

(10) मोमबत्ती

विधि —

सबसे पहले लकड़ी के तख्ते पर बीच में लोहे के पाइप को खड़ा करके उसके चारों ओर सनी हुई मिट्टी लगा दो। इस मिट्टी पर पत्थर के टुकड़े, कोयले के टुकड़े, तथा चूने के पत्थर के टुकड़े लगा दो। इन सब को इस प्रकार बनाओ कि यह एक पहाड़ की तरह लगे तथा इस पहाड़ की चोटी पर लोहे के पाइप का छेद हो। अब इस छेद में अमोनियम बाइक्रोमेट का चूरा भर दो इसके ऊपरी भाग में पोटेशियम क्लोरेट और ग्लूकोज भर दो। अब इसके चारों ओर पहाड़ पर अमोनियम बाइक्रोमेट फैला दो। पदार्थ से भरे पाइप में मैगनीशियम का तार लगा दो मोमबत्ती को जला कर इसकी सहायता से मैगनीशियम का तार जलाओ। यह तार जलने पर तीव्र प्रकाश उत्पन्न करता है तथा यह सभी भरे हुये पदार्थों को जला देता है। जिस प्रकार ज्वालामुखी से लावा निकलता रहता है उसी प्रकार इससे भी बहुत देर तक हरे रंग का लावा निकलता रहता है। ●

शिशुओं के कुपोषण का परिणाम-रिकेट्स

● ओमशंकर श्रीवास्तव

बच्चे हमारे राष्ट्र की अमूल्य निधि हैं। भारत का भावी भाग्य इन नौनिहाल नन्हें शिशुओं में अठखेलियां करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। किन्तु, कितने दुःख का विषय है कि करीब 60 करोड़ आबादी वाले अपने देश भारत में बाल समस्यायें विषम हैं और उसमें भी शिशुओं की चिकित्सा समस्या अत्यन्त विषम है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार देश में 7 वर्ष तक की आयु के बच्चों की संख्या 12 करोड़ है यानी कुल जनसंख्या का 20 प्रतिशत। इसमें से लगभग 60 लाख बच्चे प्रतिवर्ष पोषण व चिकित्सा के अभाव में काल-कवलित हो जाते हैं और लगभग 7 करोड़ बच्चे ऐसे हैं जो आज घोर दरिद्रता कुपोषण और भुखमरी में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस प्रकार कुपोषण के परिणाम स्वरूप हमारे राष्ट्र के ये नौनिहाल अनेक रोगों से आक्रान्त हैं, जैसे—अतिसार, रक्ताल्पता, अंधापन, तपेदिक इत्यादि। इन्हीं रोगों में से एक भयानक रोग रिकेट्स है।

रिकेट्स शैशवावस्था का रोग है जो प्रायः 6 मास से दो वर्ष तक के बच्चों को अपना शिकार बनाता है। इसके बारे में सर्व प्रथम जानकारी सन् 1650 ई० में श्री गिलीसन द्वारा प्राप्त हुई। इस रोग के परिणाम स्वरूप अस्थियां कोमल हो जाती हैं, जोड़ों के समीप गांठे पड़ जाती हैं, अस्थियां आपस में जुड़ नहीं पातीं और लम्बी अस्थियां टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती हैं।

आधुनिक वैज्ञानिकों के मतानुसार रिकेट्स रोग कुपोषण एवं विटामिन-डी की कमी का कुपरिणाम है यह। परिणाम सर्व प्रथम सन् 1918 में श्री मिलनबाई द्वारा विभिन्न प्रयोगों के परिणाम स्वरूप प्राप्त किया गया। जिन स्थानों या घरों में साफ ताजी हवा व धूप का अभाव होता है, जहां नमी व गन्दगी होती है ऐसे स्थानों पर बच्चों का पालन-पोषण होने से रिकेट्स रोग होने की सम्भावना अधिक होती है। गर्भावस्था में मां को ज्वर, रक्ताल्पता आदि कोई बीमारी होने या अधिक बच्चे जनने के कारण कमजोर हो जाने की वजह से अथवा उन्हें उचित पोषण न मिलने से भी बच्चों को प्रायः यह बीमारी हो जाती है।

यह रोग धीरे-धीरे बढ़ता है। कई महीनों तक तो इस रोग का ज्ञान तक नहीं हो पाता। अभिभावक द्वारा चिकित्सक के पास प्रायः 6 से 12 माह तक की उम्र के बच्चों को इसलिये ले जाया जाता है कि बच्चे के दांत देर से निकलते हैं और वह चल फिर नहीं पाता। उसकी पाचन शक्ति घट गई है, उसे अफरा और मामूली हरारत रहा करती है। बच्चे का स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया है और वह क्रमशः दुबला-पतला और कमजोर होता जाता है। इसके अतिरिक्त बच्चे के सिर और चेहरे पर अत्यधिक पसीना आता है, पेशाब की मात्रा बढ़ जाती है और उसके साथ फास्फेट आफ लाइम जाता है। वस्तुतः यह सब रिकेट्स के ही लक्षण हैं।

बच्चों को ब्राण्डी न दें

सामान्य धारणा है कि ब्राण्डी देने से बच्चे ठंड से बचे रहते हैं। किन्तु कुछ दिनों पूर्व वैज्ञानिकों ने अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि बच्चों को ब्राण्डी पिलाना हानिकर हो सकता है। विशेषज्ञों का कहना है कि ब्राण्डी से बच्चा ठंड से तो बच जाता है परन्तु उसके मानसिक विकास में बाधा पहुँचने का भय रहता है। इसका दो कारणों से होता है। (1) मस्तिष्क के कोशों के क्षति ग्रस्त

होने से तथा (2) मस्तिष्क कोशों के समुचित विकास में बाधा पड़ने के कारण।

इस रोग से पीड़ित बच्चा दिन प्रतिदिन कमजोर होता जाता है, चेहरा रक्तहीन और फीका पड़ जाता है, मांसपेशियां ढीली पड़ जाती हैं तथा शरीर की त्वचा बूढ़ों की तरह सिकुड़ जाती है। छः मास की आयु तक बच्चा हर समय लेटा रहता है इसलिये उसकी खोपड़ी व श्रोणि-मेखला चिपटी हो जाती है। इसके अतिरिक्त रीढ़ की हड्डी भी चिपटी हो जाती है जिससे पिंजरों की हड्डियां क्रमशः सामने की ओर ऊंची हो उठती है और रोगी बच्चे का सीना कबूतर के सीने के समान दिखाई देने लगता है।

जब बच्चा बड़ा होता है तो हाथ और पांव की लम्बी अस्थियां, जिन पर शरीर को संतुलित रखने का काम है, शरीर का बोझ उठा न सकने के कारण टेढ़ी हो जाती है। टांग की अस्थियों (फीमर व टीबिया) के मुड़ने से घुटने नजदीक आ जाते हैं और चलने में आपस में रगड़ खाने लगते हैं या फिर घुटनों के बीच की दूरी इतनी अधिक हो जाती है कि उनके लिये चलना फिरना दूभर हो जाता है। इसी प्रकार बाहु की अस्थियां (ह्यूमरस, रेडियस व अलना) भी वक्र रूप धारण कर लेती हैं।

इस रोग के उपचार में सर्वप्रथम माता के आहार-विहार पर ध्यान देनाचाहिये। क्योंकि जब माँ विटामिन-डी एवं कैल्शियम युक्त भोजन का उचित मात्रा में सेवन करेगी तब उसके दूध के साथ बच्चे को भी ये पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जायेंगे। इसके पश्चात बच्चे के पाचन संस्थान के रोगों को ठीक किया जाना चाहिये जिससे उसे जो खाद्य पदार्थ मिले उसका पाचन ठीक-ठीक हो सके। इसी प्रकार बच्चे को स्वच्छ हवादार स्थान पर रखना चाहिये और प्रातः-सायं तथा कम से कम आधे घण्टे तक उसे मृदु धूप में रख कर धूप स्नान की व्यवस्था होनी चाहिये। प्रतिदिन शुद्ध सरसों का तेल व काडलिवर आयल से बच्चे के शरीर पर मालिश करना भी विशेष लाभदायक सिद्ध हुआ है। इस रोग में बच्चों के लिये मांसरस अत्यन्त लाभ-प्रद सिद्ध हुआ है। अतः उनको यदि सम्भव हो सके तो अमिषाहारी बना देना चाहिये क्योंकि बहुधा शाकाहारी बच्चों में ही यह रोग विशेष पाया जाता है।

इस रोग की प्रमुख औषधि विटामिन-डी ही है क्योंकि यह अपनी उपस्थिति में आंतो द्वारा कैलशियम का शोषण करके शरीर को यथेष्ट मात्रा में उसे पहुंचा देता है, जिसके द्वारा अस्थिनिर्माण का कार्य सम्पन्न होता है और उन्हें पोषण भी मिलता है। विटामिन-डी के लिये प्रायः काड-लिवर आयल व हेलीबट लीवर आयल का प्रयोग किया जाता है क्योंकि इसमें विटामिन-डी के अतिरिक्त विटामिन ए भी पाया जाता है तथ। इससे आहार के समान पोषण भी मिलता है। काडलिवर आयल में विटामिन डी की मात्रा 100 इण्टरनेशनल यूनिट प्रति ग्राम तथा हेलीबट लिवर आयल में 100:) इण्टरनेशनल प्रति ग्राम है। एक वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिये 400 से 800 इण्टर-नेशनल यूनिट प्रतिदिन तथा उससे बड़े बच्चों के लिये 400 इण्टरनेशनल यूनिट प्रतिदिन पर्याप्त है। यदि इन सभी बातों का सावधानी से पालन किसी कुशल चिकित्सक के अधीन किया जाय तो रिकेट्स रोग का खतरा टाला जा सकता है अथवा उसे ठीक किया जा सकता है। किन्तु रिकेट्स रोग के परिणाम स्वरूप छाती, टांग और बाहु की अस्थियों में जो परिवर्तन आ जाते हैं वे उपचार के बाद भी प्रायः बने ही रहते हैं। इसके लिये प्रायः अस्थिरोग विशेषज्ञ का सहारा लेना उचित होगा। क्योंकि ये विशेषज्ञ चिकित्सक रिकेट्स रोग ठीक होने के पश्चात् अस्थिछेदन चिकित्सा द्वारा हड्डियों को सीधा कर पाने में सफलता प्राप्त कर लेते हैं और वह धीरे धीरे अपने प्राकृतिक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

यदि शिशुओं को जन्म से ही विटामिन-डी युक्त आहार दिया जाय और उनका लालन पालन उचित ढंग से स्वच्छ वातावरण में किया जाय तो हमारे ये बच्चे इस भयानक रोग से आसानी से बचाये जा सकते हैं और वे ही भविष्य में स्वस्थ नागरिक के साथ साथ देश के महान निर्माता बन सकते हैं। ●

जीवाश्म की कहानी-उसीकी जबानी

● जगदीश चन्द्र श्रीवास्तव 'रंजन'

बात आज की नहीं, करोड़ों वर्ष की है जब इस धरती पर न कोई राजा था, न कोई रानी। मेरा इतिहास अत्यन्त प्राचीन है लगभग 50 करोड़ वर्ष का। पुरा युग में मेरा अस्तित्व काई (पौधा) तथा ट्राइलोबाइट (जीव) के रूप में आरम्भ हुआ। कुछ ही दिन बीते होंगे कि मेरे रूप रंग, आकार-प्रकार में अनेक परिवर्तन आरम्भ हो गये। मेरा सुन्दर चमकता आकर्षक चेहरा———। उसके निखार से रूप इतना बदला कि आप तो क्या, मैं ही अपने इस रूप को पहचानने में असमर्थ रहा। एक युग था जब मैं भी अपने परिवार के सदस्यों के साथ मिलता और खेलता था। उस समय प्रकृति का कुछ दूसरा ही आनन्द था। न ही ऊंचे ऊँचे पर्वत थे और न ही कलकल बहती ये नदियाँ। पृथ्वी व समुद्र का आकार आज जैसा न था।

कितनी डरावनी रात थी वह! जब भयंकर तूफान आया। सारा वातावरण कम्पित हो उठा। हर ओर से एक चीत्कार। करुणनाद से वातावरण गुंजित हो उठा। मेरे हरे भरे परिवार के सभी सदस्य एक दूसरे से सदा के लिये बिछुड़ गये। इसी धरती की गोद में समाकर चिर निद्रा में सो गये। धीरे-धीरे मेरा शरीर बालू के कणों तथा खनिज पदार्थों से निर्मित चट्टानों से इतना दब गया कि फिर मुझे करोड़ों वर्ष तक होश ही नहीं रहा।

मेरे शरीर का कोमल भाग धीरे धीरे सड़ने लगा और यह कठोर अंग हमारे पूर्वाकार की एक याद छोड़ गया। मेरे ही कुछ साथी-संगी इतने कोमल थे कि वे बेचारे अपने शरीर को ही न बचा सके (जैसे शैवाल, ब्रायोफ़ाइट व कुकुरमुत्ता आदि) परन्तु हमारे परिवार के कुछ हृष्ट-पुष्ट, खुरदरी छाल वाले पौधे अपने शरीर के कुछ कठोर अंगों को ही आरक्षित कर सके, शेष नष्ट होते गये।

सर्व प्रथम लियोनार्डो नामक वैज्ञानिक ने अपने हथौड़े से मेरे सीने पर जोरदार प्रहार किया। खट-खट की इस आवाज से मैं एकाएक चौंक पड़ा। मैं भी उस भूवैज्ञानिक के दर्शनों के लिये लालायित हो उठा। मुझे बाहर निकलने की जिज्ञासा हुई। वह युवक तब तक उन कठोर चट्टानों को तोड़ता रहा जब तक उसने मेरा नया रूप देख नहीं लिया। मुझे देखते ही वह प्रसन्न होकर चिल्लाया "फासिल... फासिल"। वह मुझे अपने हाथों में लेकर कौतूहलपूर्ण दृष्टि से देखता रहा और मेरे नये रूप को देखकर फूला न समाया। करोड़ों वर्ष तक दबे रहने के बाद मुझे आज भी अपने बीते युगों की याद आती है।

मेरे रूप परिवर्तन की एक लम्बी कहानी है। मैं अपने रूप आरक्षण में जीवाणुओं, जल, तेज वायु, रेत के महीन कणों तथा लुढ़कते पत्थरों का विशेष आभारी हूँ जिनकी कृपा दृष्टि से मेरा पुरा-रूप तो अवश्य ही बदल गया परन्तु आन्तरिक रचना ज्यों-की त्यों रह गई। चट्टानों में दबने के कारण मेरे अंग के टुकड़े टुकड़े हो गये, परन्तु मेरे कुछ भग्नावशेष उन स्थलों से भी प्राप्त हुये हैं जहां कभी वर्षा का जल एक ही स्थान पर जमा हो गया था। ऐसे दलदल में फँस कर मेरे हितैषियों ने मुझे निकालकर एक नया स्वरूप दिया।

मेरा एक बड़ा परिवार, पश्चिमी अमेरिका के ज्वाला-मुखी में भस्म हो कर उसकी राख की परतों में दब गया।

यलोस्टोन राष्ट्रीय पार्क में तो सम्पूर्ण वन ही नष्ट हो गये हैं। आज भी मेरे भाई-बन्धु, समस्त संसार में किसी न किसी रूप में फैले हुये हैं।

मेरी खुशी की उस समय सीमा नहीं रह गई, जब उस युवा वैज्ञानिक ने मुझे तथा परिवार के अन्य सदस्यों को अपने थैले से निकाल कर प्रयोगशाला में सुरक्षित स्थान पर रख दिया। मुझ जैसे अजनबी को देखने के लिये दर्शकों की अच्छी खासी भीड़ लग गई। दूसरे दिन समाचार-पत्रों में भी हमारी चर्चा रही तथा चित्र भी प्रकाशित किये गये।

देखने वालों का एक ताँता सा बंधा रहा। आने वाले दर्शक, उस वैज्ञानिक से मेरे परिवार तथा मेरे पड़ोसियो के बारे में जानने की जिज्ञासा प्रकट करते परन्तु वह असहाय वैज्ञानिक भला क्या उत्तर देता। उसने विवश होकर मुझे ही अपनी कहानी सुनाने को वाध्य किया। उसके आग्रह पर ही मैने अपने पूर्वजों का नाम, कुल तथा निवास-स्थान बतलाया जहां हम किसी युग में निवास करते थे।

मेरा आरक्षण पत्थर पर एक छाप संपीडन, अश्मीकरण अम्बर, कास्ट, मोल्ड, इन्क्रस्टेशन आदि के रूप में ही सम्भव था। मेरे इन्हीं रूपों को देख कर भूवैज्ञानिक मेरे विषय में जान सकने में समर्थ हो सके। सम्भवतः आप यह पूछेंगे कि आखिर, मेरे ये रूप किस प्रकार बने, तो मैं यह बताने में भी संकोच नहीं करूँगा। यह भी एक अत्यन्त रोचक कहानी है।

मेरा कुछ अंश पौधों तथा जीव-जन्तुओं के रूप में आरक्षित होने लगा। आपको मेरे अनेक रूप देखने को मिलेंगें कहीं पत्तियों के रूप में तो कहीं लकड़ी, फल, फूल, तथा परागकणों के अनेकों रूप में।

मैं जब चट्टानों की परतों के बीच दब कर निकल सकने में लाचार हो गया तो वहीं आत्मसमर्पण कर उन्हीं चट्टानों में विलीन हो गया। मेरे शरीर का कार्बनिक पदार्थ भी नष्ट होता गया तभी से मेरा स्वास्थ्य दिन प्रति-दिन तेजी से गिरने लगा। मेरा शरीर अब जर्जर होने लगा। केवल ढाँचा ही शेष रह गया। अब तो केवल निशान ही शेष था अतः भूवैज्ञानिकों ने मुझे 'छाप' का नाम दिया। मैं इसी छाप के रूप में अनेक चट्टानों में पाया जाने लगा। कहीं मेरी छाप कोयले की भाँति काली तो कहीं रंगहीन हो गई।

वास्तव में मेरा शरीर जब एक सम्पूर्ण पौधे के रूप में अथवा छोटे-छोटे खण्डों के रूप में, बलुवे तलछट में दब गया तो उसका वाह्य आकार रोटी की भाँति चपटा व वाह्य स्वरूप कोयले की एक पतली तह के रूप में शेष रह गया।

मेरी कुछ विलक्षणताओं के कारण ही पुरा-वनस्पति वैज्ञानिकों ने मुझे अपने ही भाइयों के सन्निकट रखकर 'संपीडन' की संज्ञा दी। उन्होंने मुझे परिवार के अन्य सदस्यों के विषय में सम्बन्ध स्थापित करने का एक मात्र साधन बतलाया। कभी-कभी आप को मेरे एक ही रूप के दो स्वरूप दिखाई देंगे जहां पत्थर पर एक ओर छाप बन जाती है वहां दूसरी ओर मेरा आकार 'संपीडन' का रूप धारण कर लेती है।

मेरा तीसरा रूप है अश्मीकरण का जिसमें मेरे शरीर का तना रूपी मुख्य भाग दुर्बल होकर, अथवा प्राकृतिक दुर्घटनाओं से क्षति ग्रस्त होकर चट्टानों में दब गया अथवा पानी में गिर कर ही सड़ता रहा जिसके फलस्वरूप, सैल्यू-लोज नामक जीवित पदार्थ तो सदैव के लिये विलीन हो गया परन्तु उन कड़ी आरक्षित नलिकाओं में कार्बोनेट, सल्फेट, सिलीकेट, तथा फास्फेट नामक विभिन्न प्रकार के खनिज लवणों के रूप में घुलकर प्रविष्ट कर गये। इस प्रकार मेरे सड़े हुये शरीर के तन्तुओं में सघनता के कारण नमी दूर होती गई और मेरा रूप एक ठोस पत्थर के समान कड़ा हो गया। मेरे शरीर की कोशिकाओं की मौलिक रचना को सुदृढ बनाने के लिये कुछ खनिज पदार्थों की भी आवश्यकता पड़ी जो मेरे शरीर के विभिन्न तन्तुओं में वायु एवं जल के माध्यम से अन्दर तक चला गया। अरीजोना के जंगलों में दूर-दूर तक फैले हुये मेरे विभिन्न रूप जीते जागते उदा-हरण हैं।

मेरा एक और रूप है—'सघनता' का जिन्हे आप सड़े

सूखे पौधे भी कह सकते हैं। यह आकार उन पौधों अथवा उनके खण्डों का ऐसा स्वरूप है जो अधिक दबाव के कारण दब गये हैं जिसके फलस्वरूप उनका रंग भी काला पड़ गया है। इस प्रकार का मेरा यह स्वरूप कुछ चिमड़ी पत्तियों तथा कठोर छिलके वाले फलों में भी देखने को मिल सकता है।

मेरे ही युग के कुछ सहयोगियों ने इंग्लैंड, बेल्जियम, रूस, स्पेन, चीन, हालैंड तथा संयुक्त राज्य अमरीका के कोयला-खानों में गोले के रूप में ढलकर अपना जीवन बिताया। इन गोलाकार आकृतियों का व्यास कई मीटर तक था, भार में भी ये किसी से कम नहीं।

हमारे इस रचना काल में दलदली भूमि में हमारे ही कुछ और सम्बन्धी कैल्शियम, मैगनीशियम, कार्बोनेट तथा लोहे के सल्फाइड के कणों के भर जाने के कारण दबे हुये मलवे को कोयले के रूप में परिवर्तित कर सके।

मेरे ही युग का एक भीमकाय जन्तु मैमेथ साइवेरिया की वर्फीली चट्टानों में करोड़ों वर्ष तक दबा पड़ा रहा। मेरे साथ उनका भी सम्पूर्ण अंग आरक्षित हो गया। नाम लेते ही उनके लाल रंग वाले बालों की याद ताजी हो जाती है।

हम आपको अपने किन-किन रूपों से अवगत करायें। कभी-कभी मुझे आश्चर्य होता है जब हम स्वयं प्रकृति की गोद से सोकर उठने के पश्चात् अपने स्वरूप को देखते हैं।

किसी तरह भू-वैज्ञानिकों ने हमरे अनेक रूपों को देखा और अपनी भाषा में ही नामकरण कर हमारे बिखरे हुये परिवार के असंख्य सदस्यों को संसार के विभिन्न भागों से एकत्र कर हमें फिर मिला दिया। हमारा विछड़ा हुआ परिवार पुनः वापस लौट आया। एक दूसरे से मिलकर कितनी प्रसन्नता हुई। इन भूवैज्ञानिकों ने मुझे सुनहले सेज पर संवार कर मेरे अंगों को नया निखार दिया।

हम मिलकर अब फिर विछड़ने लगे। हमारे कुछ 'बिरादर' नैचुरल हिस्ट्री संग्रहालय, शिकागो में आज भी शोभायमान हैं तो कुछ भारतीय भूविज्ञान सर्वेक्षण संग्रहालय में। दूर-दूर से बूढ़े-जवान, स्त्री-पुरुष दर्शकों के रूप में टोली बनाकर आते हैं और घूर-घूर कर मुझे देखा करते हैं। उनके कौतूहल को देखकर मुझे कितना संतोष मिलता है।

यही हैं मेरे बिगड़ते और बनते स्वरूप।

दैनिक विज्ञान

प्रेशर कुकर में खाना जल्दी क्यों पकता है ?

प्रेशर कुकर मजबूत एल्युमिनियम या स्टील का बनाया जाता है तथा इस प्रकार सील किया जाता है कि भाप न निकल सके । भाप का दाब लगभग 2 वायुमण्डल कर दिया जाता है । इससे पानी का क्वथनांक 100 से बढ़कर 130° सें० हो जाता है । इतने अधिक क्वथांक पर खाना लगभग एक तिहाई समय में ही पक जाता है । कुकर के भीतर दाब बहुत अधिक न हो जाय इसके लिये एक सेफ्टी वाल्व भी लगा रहता है जो वाष्पदाब के लगभग 2 वायुमण्डल से अधिक होने पर स्वयं ही खुल जाता है । क्योंकि प्रेशर कुकर की कार्य विधि वाह्य दाब पर निर्भर नहीं करती इसलिये पहाड़ों पर ले जाने पर भी यह उसी प्रकार कार्य करेगा जैसा मैदानी इलाके में ।

टेपरिकार्डर की कार्यविधि

टेपरिकार्डर विद्युत द्वारा विशेष प्लास्टिक टेप पर स्वर रेकार्ड कर लेता है और उसे फिर से उत्पन्न कर देता है। इसमें मुख्य रूप से एक रेकार्डिंग हेड, एक प्लेबैक हेड, दो स्पूल, एक माइक्रोफोन तथा एक स्पीकर होता है । माइक्रोफोन से स्वर की लहरें चढ़ती उतरती शक्ति की विद्युत की लहरों में बदल जाती है । ये लहरें एम्पलीफायर से निकल कर रिकार्डिंग हेड (जो एक विद्युत चुम्बक का होता है) तक पहुंचा दी जाती हैं, जहां ये एक कम्पनशील चुम्बकीय क्षेत्र पैदा करती हैं । जब चुम्बकीय बन सकने वाले कणों से लेपा गया टेप रेकार्डिंग हेड से होकर एक स्पूल से दूसरे स्पूल तक जाता है तब विद्युत चुम्बक के चुम्बकीय क्षेत्र के अनुसार ये कण चुम्बकीय हो जाते हैं । इस प्रकार टेप पर स्वर रेकार्ड हो जाता है । जिस गति पर टेप रिकार्ड किया गया होता है उसी गति पर प्लेबैक हेड से होकर गुजरता है और ठीक उल्टे तरीके से काम करने लगता है और स्पीकर के द्वारा विद्युत लहरें स्वर में बदल जाती हैं। फिर से नई रेकार्डिंग के लिये स्वर को टेप पर से मिटाया भी जा सकता हैं ।
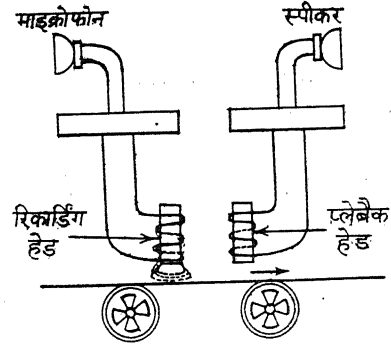
सफाइ करते समय कार को स्तम्भ पर कैसे उठाया जाता है

किसी भी आटोमोबाइल कर्मशाला में तुमने देखा होगा कि लोहे के एक स्तम्भ पर कार को ऊपर ऊंचा उठा कर उसे पानी से धोया जाता है । इतनी भारी कार ऊपर उठती कैसे है ? कार इतनी भारी होती है कि उसे दस व्यक्ति भी उठा नहीं सकते और वह भी इतनी ऊंचाई तक कि उसके पेंदे की सफाई की जा सके । जैसा कि चित्र में दिखाया गया है एक संकरे ट्यूब व एक बड़ी टंकी में जो वायु भरी है उस पर दाब डाला जाता है । हम जानते हैं कि किसी पात्र में रखे किसी द्रव पर जब दाब डाला जाता है तो दाब समान रूप से तथा बिना कम हुये पात्र के आन्तरिक सतह की हर स्थिति पर पड़ता है । दो पात्र जब एक से जुड़े हों तो वे एक

पात्र की तरह काम करते हैं। यदि बड़े पात्र का क्षेत्रफल छोटे पात्र के क्षेत्रफल का दस गुना हो तो छोटे पात्र पर लगाया गया दाब बड़े पात्र में दस गुना उछाल उत्पन्न कर देगा। इसी सिद्धान्त पर कार पर पर्याप्त उछाल होने के कारण कार ऊपर उठ जाती है।

स्टोव में रखा तेल जेट के ऊपर कैसे आता है ?

स्टोव में जो मिट्टी का तेल भरा रहता है वह वायु के दाब के कारण ऊपर उठ कर जेट के मुंह पर पहुंचता
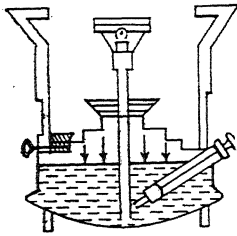
है। जब हम पम्प करते हैं तो तेल के ऊपर संपीडित वायु एकत्रित होती है। संपीडित वायु तेल पर दाब डालती है इसके कारण जेट जो तेल में नीचे तक डूबा रहता है, में से होकर तेल ऊपर पहुंचता है। जब हम स्टोव का प्रयोग बन्द करना चाहते हैं तो वायु को बाहर निकाल देते हैं जिसके कारण उसका दाब कम हो जाता है और फिर तेल ऊपर नहीं पहुंचता।

राकेट आकाश में कैसे उड़ता है ?

राकेट में ज्वलनशील ईंधन को जलाकर गैसें उत्पन्न की जाती हैं जो पाइप से होकर नीचे की ओर तीव्र गति से निकलती हैं। गैसों के इस प्रकार तीव्र गति से निकलने के कारण राकेट पर ऊपर की ओर ऊछाल लगता है जिससे राकेट ऊपर उठ जाता है। नीचे की दिशा में निकलने वाली गैसों का वेग जितना अधिक होता है राकेट भी उतने ही अधिक वेग से ऊपर की ओर चलता है।

स्टैथस्कोप कैसे कार्य करता है ?

स्टैथस्कोप ध्वनि के परावर्तन पर ही आधारित होता है। इसमें एक डिबिया होती है जिसमें एक तनुपट लगा रहता है। इस डिबिया से दो नलियां जुड़ी रहती हैं। जिनके ऊपरी सिरे डाक्टर अपने कानों में लगाता है और डिबिया को रोगी के सीने पर रखता है। हृदय की गति तथा धड़कन के कारण डिबिया का तनुपट कम्पन करने लगता है, इन कम्पनों के द्वारा जो तरंग उत्पन्न होती है, वे स्टैथस्कोप की नलियों में बार-बार परावर्तित होकर डाक्टर के कानों तक पहुंच जाती है और डाक्टर रोगी के दिल की धड़कन सुन लेता है।

पनडुब्बी का सिद्धान्त क्या है ?

मछलियों के अंग में एक वायु थैली होती है। इस वायु थैली में हवा भर लेने से वह पानी में नीचे चली जाती हैं और जब ऊपर तल पर आना होता है तो वायु को निकाल देती हैं। इस प्रकार पनडुब्बी के पेंदे में एक बहुत बड़ा हौज होता है जब इस हौज को पाइपों द्वारा पानी से भर दिया जाता तो भार बढ़ जाने के कारण पनडुब्बी नीचे बैठ जाती है। जब इस पानी को बाहर निकालकर हौज को खाली कर दिया जाता है तो भार कम हो जाने के कारण उछाल से पनडुब्बी ऊपर आ जाती है। ●

बच्चों का प्रिय फल केला

● दर्शना नन्द

केला बड़ा ही स्वादिष्ट फल है। इसे बच्चे बड़े चाव से खाते हैं। बच्चों को 2-4 केला रोज खाना स्वास्थ्य वर्धक होता है क्यों कि इसमें पौष्टिक तत्व होते हैं। यदि केले के फल खा कर कुछ दूध का प्रयोग भी कर लें तो यह पूर्ण भोजन के समान कार्य करता है। केले के गूदे में जल की मात्रा 70 से 75% होती है। इसके अतिरिक्त गूदे में शर्करा 11 से 16.08%, माड़ 2.93% से 6.56%, कुल शर्करा जातीय 19.78 से 24.70%, प्रोटीन 0.48 से 1.49% प्रोटोपेक्टिन 0.29 से 0.43%, राख 0.70 से 0.84% और खटास 0.08 से 0.3% है। केला अनेक विटामिन्स का भी स्त्रोत है। केले के प्रति 100 ग्राम गूदे में विटामिन 'H' 1.5 से 2.0 मिलीग्राम, बिटामिन B_1 0.34 से 0.6 मि० ग्रा० बिटामिन B_2 0.23 से 0.87 मि० ग्रा०, विटामिन B_6 3.2 मि० ग्रा० तथा विटामिन C 20 से 340 मि० ग्रा० उपलब्ध होते हैं। केला विभिन्न प्रकार के लवणों का भी उत्तम स्त्रोत है। केले के गूदे की सूखी दशा में नाइट्रोजन 0.5 से 1.2%, फॉसफोरस 0.18 से 0.3% पोटाश 1.2 से 3.0%, कैल्शियम 0.03 से 0.05 तथा सिलिका 0.03 से 0.2% उपलब्ध रहते हैं।

शरीर की वृद्धि की अवस्था में तथा स्वास्थ्य बनाये रखने के लिये नित्य के भोजन में विटामिनों और लवणों का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने में ताजी हरी सब्जियों और फलों का बड़ा योगदान है! यदि निवास स्थान से लगी कुछ भूमि उपलब्ध हो तो उसमें रसोई उद्यान (किचेन गार्डेन) स्थापित कर के ताजी सब्जियां तथा शीघ्र फलने और कम स्थान घेरने वाले फल उगा सकते हैं। इस प्रकार के फलों में केला सर्वोपयुक्त व महत्वपूर्ण फल है।

केला 'मूजैसी' परिवार का पौधा है। अंग्रेजी में केले का नाम बैनाना तथा लैटिन में 'मूजा सैपिएन्टम' है। वास्तव में अंग्रेजी में "बैनाना" शब्द पका कर फल के रूप में खाने वाली प्रजातियों के लिये प्रयोग किया जाता है तथा सब्जी के योग्य प्रयोग होने वाली प्रजातियों के लिये "प्लैन्टेन" शब्द का प्रयोग किया जाता है।

केले का पौधा अन्य फलों की अपेक्षा कम स्थान घेरता है। इसकी जड़ें उथली होती हैं। रसोई-उद्यान में केले के पौधों को किनारे की ओर लगाना चाहिये। केला-उद्यान में रोपण करने पर केले के पौधों को तेज हवा के झोंकों से बचाना चाहिये। केला रोपण के लिये पंक्ति से पंक्ति और पौधे से पौधा—दोनों ओर से परस्पर 1.8 मीटर (6 फीट) की दूरी रखनी चाहिये। उद्यान रोपण करने पर एक हेक्टेयर में 3025 (एक एकड़ में 1210) पौधे लगाये जा सकते हैं।

जलवायु--केले की बागवानी के लिये गरम और आर्द्र तथा तराई और अधिक वर्षा वाला जलवायु विशेष रूप से उपयुक्त होता है।

मिट्टी—उत्तम जलोत्सारण वाली दुमट या मटियार दुमट जैविक पदार्थ-युक्त मिट्टी उपयुक्त होती है। बलुई मिट्टी में केला रोपण नहीं करना चाहिये।

प्रजातियां—फल के रूप में ताजा खाने वाली प्रजातियों में "बस्राई ड्वार्फ" (भुसावली) केला सर्वोत्तम है। इसकी फलियां लम्बी, मोटी और कुछ घुमावदार होती हैं तथा पकने पर छिलका पीलाईयुक्त हरे रंग का होता है। गूदा मधुर और सुवासयुक्त होता है। बस्राई ड्वार्फ केले के पौधे बौने (1.5 से 2.0 मीटर ऊंचे) और मोटे तथा इनके

पत्ते बहुत चौड़े होते हैं। सब्जी पकाने के दृष्टिकोण से हजारा, मॉन्थन, कोठिया, बलिया और कैम्पियरगंज उत्तम प्रजातियां हैं। इनके पौधे भुसावली केले की अपेक्षा काफी ऊंचे होते हैं।

प्रसारण—केले का प्रसारण मातृ-पौधे की जड़ के बगल से निकलने वाली पुत्तियों (सकर्स) द्वारा किया जाता है। ये पुत्तियां 2 से 2½ मास अवस्था की होनी चाहिये। इस समय बसराई ड्वार्फ की पुत्तियां 70 से 80 से०मी० और सब्जी वाली या अन्य ऊंची प्रजातियां 100 से 125 से० मी० ऊंची होती हैं। प्रत्येक दशा में स्वस्थ पुत्त का चयन करना चाहिये। एक स्वस्थ पुत्त की पहचान यह है कि कूट-स्तम्भ का निचला भाग मोटा, चौड़ा तथा भारी और ऊपरी भाग क्रमशः पतला होना चाहिये। पुत्तियों को मातृ-पौधे से पृथक करते समय यह ध्यान रखने की आवश्यकता होती है कि भूमिगत तना राइजोमः उसके साथ अवश्य लगा रहे।

पौध रोपण—पुत्तियों के रोपण करने के पूर्व मई मास के आरम्भ में 50+50+50 से० मी० माप के गड्ढे खोद लेना चाहिये। तदोपरान्त जून मास के आरम्भ में प्रत्येक गड्ढे को 20 कि० ग्रा० कम्पोस्ट या गोबर की खाद को धरातल की मिट्टी के साथ मिला कर दबा दबा के भूमि के 15 से० मी० ऊपर तक भर देना चाहिये। इसके अतिरिक्त प्रति गड्ढा 90 ग्राम फॉस्फेट तत्व गड्ढे के ऊपरी भाग में मिला देना चाहिये। वर्षा होने या पानी चलाने पर जब गड्ढे दब जाएं तब उनके बीचो बीच पुत्तियों का रोपण कर देना चाहिये। पुत्तियों के रोपण का सर्वोत्तम समय मध्य जून से मध्य जुलाई तक है। रोपण करने के पूर्व पुत्तियों की शिखा का भाग ऊपर से काट देना चाहिये। इसके अतिरिक्त पुत्ती के भूमिगत तने को 0·25% एर्गलाल के घोल में 1 से 2 मिनट तक डुबा लेना चाहिये।

उर्वरक, सिंचाई, निराई-गुड़ाई—केले का जीवन काल लगभग एक वर्ष का होता है। इस जीवन काल में रोपण पश्चात् प्रति पौधा 200 ग्राम नाइट्रोजन और 170 ग्राम पोटाश तत्व की आवश्यकता होती है। अतः इन सभी तत्वों का प्रयोग संतुलित ढंग से रोपण के छः मास के भीतर ही ही कर डालना चाहिये। पहली खूराक रोपण के एक मास पर प्रयोग करना चाहिये। इसमें कुल नाइट्रोजन का ¼ भाग तथा कुल पोटाश का ½ भाग उपयोग करते हैं। दूसरी खूराक में नाइट्रोजन का दूसरा ¼ भाग रोपण के तीसरे मास पर तथा तीसरी खूराक में पुनः तीसरा ¼ भाग नाइट्रोजन का रोपण का पांचवे मास पर प्रयोग करना चाहिये। चौथी खूराक में नाइट्रोजन का शेष अंतिम ¼ भाग तथा पोटाश का शेष अंतिम आधा भाग रोपण के छठे मास में प्रयोग करना चाहिये।

भुसावली केले के पौधों में ग्रीष्म ऋतु में 7-8 दिन पर और शरद ऋतु में 15 दिन पर पानी देने की आवश्यकता होती है। ऊंची प्रजातियों के केलों में दो सिंचाई के बीच का अंतर अधिक किया जा सकता है। रसोई उद्यान में लगाये गये केले के पौधों को सींचने हेतु स्नानगृह के पानी का पूर्ण उपयोग करना चाहिये।

आरम्भिक अवस्था में पौधों की समुचित वृद्धि के लिये लगभग प्रत्येक सिंचाई के पश्चात् समय-समय पर निराई-गुड़ाई करते रहना चाहिये।

अंतराश्स्य—दो पौधों के बीच के रिक्त स्थानों में समयानुसार हरी सब्जियां भी उगा सकते हैं। आरम्भ में इसमें भिण्डी, लोबिया, चौलाई, कुल्फा ले सकते हैं। तदोपरान्त शलजम, मूली, हरा धनियां, पालक, मेथी, सौंफ, लहसुन, प्याज आदि सब्जियां भी उगा सकते हैं। शलजम और मूली की हरी पत्तियां भी बड़ी पौष्टिक होती हैं। अतः इन्हें बरबाद नहीं करना चाहिये वरन् साग बना कर अथवा सलाद के रूप में ताजा प्रयोग करना चाहिये।

पुष्पण, फलन और घार की कटाई—रोपण के 8-9 मास पश्चात् केले के पौधे में फूल आ जाते हैं। फूलने के एक मास के भीतर केले की घार में सभी फलियां निकल आती हैं। इसके पश्चात् लगभग 3-4 मास में फलियां पूर्ण विकसित हो जाती हैं। ऐसी अवस्था में फलियों के कोने गोल हो जाते हैं और छिलके के हरे रंग में कुछ पीलापन आ जाता है। अतः पूर्ण परिपक्व हो जाने पर केले की घार को

काट कर डंठल के कटे हुये भाग पर चूना लगा देते हैं तथा घाट को पकने के लिये बंद कमरे में रख कर बोरे या केले के सूखे पत्तों से ढक देते हैं। ग्रीष्म ऋतु में केले की फलियां लगभग एक सप्ताह में तथा शरद ऋतु में 15 दिन पर पकती हैं। आवश्यकता पड़ने पर केले की पत्तियों को जला कर धुंआ का प्रयोग भी करते हैं, जिसमें फलियाँ शीघ्र पक जाएं।

उपज—एक पौधे से केले की एक घार प्राप्त होती है। अतः उद्यान में जितने केले के पौधे होंगे उतनी की घारें प्राप्त होंगी। बस्राई ड्वार्फ केले की प्रजाति की एक घार में लगभग 150 फलियां तथा सब्जी पकाने वाली जातियों (हजारा कैम्पियरगंज आदि) की एक घार में 250 से 300 फलियां लगती हैं।

अनावश्यक पुत्तियां पृथक करना (डी-सर्कारिंग) केले के पौधे के बगल से जो पुत्तियां (सकर्स) निकलती रहती हैं उन्हें दिखाई देते ही तराश देना चाहिये अथवा पुनः रोपण हेतु सम्भाल कर मातृ पौधे से पृथक कर देना चाहिये। ऐसा न करने पर पौधे के स्वास्थ्य और उपज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

केले का एक पौधा केवल एक बार ही फसल देता है। अतः उसी स्थान पर एक पेड़ी की फसल दूसरे वर्ष ले सकते हैं। इसके लिये बगल से निकलती हुई एक स्वस्थ पुत्ती को पौधे में फूल आ जाने पर वृद्धि करने हेतु छोड़ देना चाहिये।

कूट-स्तम्भ काटना (मैटॉकिंग)—एक फसल लेने के पश्चात् केले के कूट-स्तम्भ को 15-20 दिन के अंतर पर क्रमशः 3-4 बार में काट देना चाहिये। इस क्रिया को 'मैटॉकिंग' कहते हैं। एक ही बार में पूर्ण कूट-स्तम्भ अकस्मात् काट देने से पेड़ी की फसल लेने के लिये छोड़ी गई पुत्ती की असामान्य वृद्धि होने लगती है। कूट-स्तम्भ के भीत के कोमल भाग की स्वादिष्ट सब्जी बनाते हैं। भूमिगत तने को भी चाट और सब्जी बनाने में प्रयोग करते हैं।

बंझा फूलों का काटना—केले की घार में सब फलियां निकल आने के बाद शिखा की ओर कुछ बंझा फूलों का भाग नीचे की ओर लटकता रहता है। ये अनावश्यक रूप से भोजन का प्रयोग करते हैं। अतः इन्हें काट कर घार से अलग कर देना चाहिये। और सब्जी बनाने में प्रयोग करना चाहिये।

डंडों का सहारा देना (प्रॉपिंग)—फलियों के विकसित होने के साथ-साथ घार के भार से केले के पौधे झुकने लगते हैं। अतः इन्हें डंडों का सहारा देकर सीधा रखना चाहिये।

कीट-व्याधियां—फसल लेने के बीच केले में कीट-व्याधियों का भी प्रकोप होता है। इनमें मुख्य रूप से केले के भृंग (बैनाना बीट्ल) का आक्रमण होता है। ये भृंग केले के कोमल पत्ते, फूल और फलियों के छिलकों को खाता है और उनपर भूरे रंग की खरोंचें बनाकर फलियों और पत्तों को कुरूप बना देता है। बचाव के लिये जुलाई-अगस्त के पूर्व ही खुलते हुये घुमावदार पत्तों के भीतर ऊपर से तथा पौधों के चारों ओर नूवान 100-150 सी०सी० को 100 लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करना चाहिये।

इस प्रकार उद्यान में लगाये गये केले के पौधों से पौष्टिक और स्वादिष्ट केले के फल सफलता पूर्वक प्राप्त कर सकते हैं।

तीलियों से गणित का खेल

● राकेश शर्मा

साथियो आज मैं आपको माचिस की कुछ तीलियों के आश्चर्य जनक खेलों के विषय में जानकारी देने जा रहा हूँ।

(1) वैसे तो बहुत ही आसान समीकरण नीचे लिखी है, किन्तु यह गलत है। अतः आप इस गलत समीकरण को एक तीली का परिवर्तन करके, सही समीकरण वना दीजिए। क्षैतिज तीली बराबर के, तथा दूसरा क्षैतिज ठण्डा (ऋण) के चिन्ह् को प्रदर्शित करती है जब कि उर्ध्वाधर तीली एक के अंक (1) को प्रदर्शित करती है। अर्थात् (111) तीन है तथा (11) दो है।

```
1 2 3   5   6   7 8 9
| | | ——— | ——— | |
| | | ——— |       | |
        4
```

(2) निम्नलिखित आकृति में पाँच वर्ग हैं! आप कोई सी दो तीलियों को हटा कर ऐसे स्थान पर रखिये कि चार वर्ग बन जाएं, कोई तीली शेष न रहे।
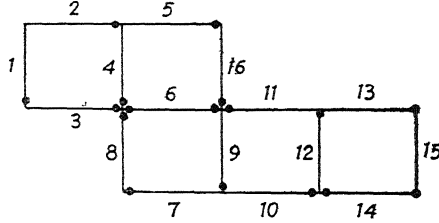
(3) निम्नलिखित आकृति में चार वर्ग हैं। आप कोई सी तीन तीलियों को उठाकर ऐसे स्थान पर रखिये कि 3 वर्ग बन जाएं, कोई तीली शेष न रहे।
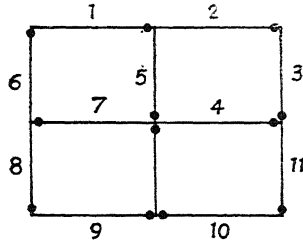
(4) निम्नलिखित सूत्र गलत है आप एक तीली के परिवर्तन से इस सूत्र को सही कर दीजिए। × (दस का अंक) तथा (v) पाँच का अंक है।

$$\frac{XXII}{VIII} = II$$

भांति भांति के लोग

● अखिलेश

आनुवंशिकी विदों तथा मानव विज्ञान विदों की व्याख्या के अनुसार प्रजाति ऐसे लोगों का समूह है जिनके पुरखे आधुनिक काल में एक थे और जिनके शरीर देखने में लगभग एक जैसे लगते हैं। शरीर से तात्पर्य है लोगों की चमड़ी, वाल, आंखें, दांत, हड्डियां, रक्त कोशिकाएं आदि। मन और चित्त से वह भिन्न हो सकते हैं। यदि किसी एस्किमो के बच्चे को लंका में ले जाकर रखा जाय तो बड़ा होकर कद में छोटा, चौड़े व चपटे चेहरे वाला आंखों के कोने पर कुछ मुड़ी हुई भुर्रियों वाला और काले, सीधे बालों वाला एस्किमो ही नजर आयेगा लंका वालों की तरह नहीं। परन्तु उसके सोचने का ढंग लंका वालों की तरह होगा उसकी पोशाक उसका भोजन सब लंका वालों की तरह होगा एस्किमो की तरह नहीं।

मानव शरीर के उतने ही प्रकार हैं जितने प्रकार के जगहों में मनुष्य रहता है। पापुआ के लोगों का रंग लगभग गहरा काला है तो हालैंड डेनमार्क के निवासियों का रंग गोरा गुलाबी होता है। ग्रीनलैण्ड के एस्किमो मोटे तगड़े होते हैं जब कि कालाहारी मरुस्थल के बुशमैन बिल्कुल क्षीणकाय होते हैं। अफ्रीका के वालसी नीग्रो सात फुट लम्बे होते हैं परन्तु पिग्मी लोग केवल 4 फुट लम्बे होते हैं। यह सब के सब एक ही प्रागैतिहासिक पूर्वजों की सन्तानें हैं। प्रजाति सम्बन्धी यह सभी अन्तर वे साधन हैं जिनके द्वारा लोग कुछ विशेष जगहों पर रहने के विशेष रूप से योग्य बन गए हैं।

चमड़ी तीन प्रकार की होती है। (1) गुलाबी सफेद चमड़ी जो धूप से पक्की बनने के बजाय बुरी तरह झुलस जाती है। (2) चाकलेटी भूरी या काली चमड़ी जिसे कड़ी तेज धूप से कोई हानि नहीं होती तथा (3) परिवर्तनशील चमड़ी जो देखने में सफेद या जैतूनी अथवा हल्की लाल या हल्की भूरी लगती है और जो अपने ऊपर पड़ने वाली धूप के अनुसार गहरे या हल्के रंग की हो जाती है। अधिकांश मनुष्यों की चमड़ी तीसरे प्रकार ही होती है।

हम जानते हैं कि सूरज की किरणों में पराबैंगनी किरणें होती हैं। पराबैंगनी किरणें हमें लाभ भी पहुंचा सकती हैं व हानि भी। चमड़ी के ठीक नीचे रहने वाली कुछ विशेष प्रकार की वसाएं जब परावैंगनी किरणों से उद्भासित होती हैं तो उससे विटामिन-डी की उत्पत्ति होती है जो हमारी हड्डियों के लिये लाभकारी है। आवश्यकता से अधिक धूप पड़ने पर हानि हो सकती है। शरीर का वह रासायनिक द्रव्य जो चमड़ी को लाल या भूरा रंग प्रदान करता है, पराबैंगनी किरणों को अपने आप में अवशोषित करने या रोक देने का कार्य करता है। गुलाबी सफेद चमड़ी में यह रासायनिक द्रव्य नहीं पाया जाता इसीलिये ऐसे व्यक्तियों के शरीर अधिक विटामिन-डी उत्पन्न कर सकता है। उत्तरी पश्चिमी यूरोप में जहां धूप हल्की होती है और आकाश अधिकांशतः मेघाच्छादित रहता है, गुलाबी सफेद चमड़ी वाले लोग औरों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ पाये जाते हैं।

अफ्रीका में विश्वत रेखा के निकट के स्थानों पर सूरज की किरणें सीधी पड़ती हैं और काफी तेज होती हैं। यही कारण है कि वहां गर्मी अत्यधिक पड़ती है और वहां के निवासियों का कपड़े पहनना कष्टकर होता है। स्वाभाविक है कि वह आदमी ही वहां अच्छी तरह से रह सकेगा

जिसकी चमड़ी में रंग पैदा करने वाला रासायनिक द्रव्य पर्याप्त मात्रा में पाया जाता हो । इन स्थानों पर ही संसार में सबसे ज्यादा काले रंग की चमड़ी वाले लोग पाये जाते हैं ।

वैज्ञानिको का ऐसा मत है कि जब मनुष्य का विकास हुआ तो आरम्भ में उसकी चमड़ी परिवर्तन शील प्रकार की थी । यह जाड़े में हल्के रंग की व गर्मी में गहरे रंग की हो जाती है । बाद में जो बच्चे पैदा हुये उनमें उत्परिवर्तन के परिणाम स्वरूप कुछ का रंग स्थाई रूप से हल्का और कुछ का स्थाई रूप से काला हो गया । जो हिमनद के समीप रहते थे और जहां आकाश सदैव बर्फीले बादलों से घिरा रहता था उनके बच्चे स्थायी रूप से हल्के रंगो वाले हुये जैसा कि आज हम यूरोपीय देशों में देखते हैं ।

एस्कीमो लोग बर्फीले प्रदेश के उस छोर पर रहते हैं जो हिम- काल के हिम-प्रवाह के बाकी बचे अंश का छोर है । यह बर्फ से बने घरौंदों-इग्लू-में रहते हैं । यह लोग ठंडे मौसम में रहने के आदी हो गये हैं । इनका शरीर गोल मटोल होता है तथा भारी भरकम शरीर में काफी चर्बी जमा रहती है जो शरीर का ताप बनाये रखने में सहायक होती है । गोल होने के कारण उनके शरीर पर चमड़ी की सतह ज्यादा नहीं होती । एस्कीमो की आंखों के आस-पास के चमड़ी की झुकी हुई तहें बर्फीली हवा के झोंकों से और सफेद बर्फ की चकाचौंध से आंखों की रक्षा करती हैं । चिपटी भौंहें व मोटे गाल भी अपने नीचे के कोमल अंगों को ठंड से बचाव करते हैं । गाल की चौड़ी व भारी हड्डियों के कारण आंखों व नाक की रक्षा होती है । वास्तव में उनके चेहरे के अधिकांश उभार चेहरे की गोल बनावट के साथ लगभग समतल होते हैं ।

अफ्रीका में रहने वाले नीग्रो के हाथ व पैर संसार में सबसे लम्बे होते हैं । इनकी समस्या ऊपर बताई गई एस्कीमो जाति की समस्या से भिन्न है । अधिक तल होने के कारण पसीने से ठंडी होने वाली चमड़ी उनकी रक्त-वाहिकाओं की गर्मी को निकाल बाहर करने में और पूरे शरीर को ठंडा रखने में उनकी सहायता करती है ।

आप संसार में कहीं भी जाइये और कैसे ही लोगों से मिलिये उनमें से कुछ बुद्धिमान, कुछ मूर्ख तथा कुछ समान बुद्धि के मिलेंगे । ऐसा कहना गलत है कि अमुक स्थान के लोग अधिक बुद्धिमान हैं और किसी स्थान विशेष के लोग मूर्ख होते हैं । हिटलर के मन में यही मूर्खता पूर्ण विचार पनपा था जिसके वश में आकर उसने यहूदियों को समाप्त करना चाहा था क्योंकि उसने सोचा हमारी जाति श्रेष्ठ है यहूदियों की निक्रिष्ठ । अच्छा मस्तिष्क आदमी को संसार के किसी भी भाग में जीवित रहने में सहायता प्रदान करता है और वहां की कठिन परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढाल लेता है । ध्यान रहे कि सभी इन्सान इन्सान हैं चाहे वह चीन में हों, अमरीका में हों, न्युजीलैण्ड में हों या ग्रीन-लैण्ड में । ●

'मनुष्य का बिकास इसलिये हो सका क्योंकि उसके शक्तिशाली मस्तिष्क ने जीवित बने रहने में उसकी मदद की ।
डार्विन—

क्या कितनी देर में पचता है

- दूध $1\frac{1}{4}$ घण्टे में पचता है
- उबला चावल 1 घण्टा में पचता है
- कच्ची गोभी $2\frac{1}{2}$ घण्टे में पचती है
- गेहूँ की रोटी 4 घण्टे में पचती है
- मूली 3 घण्टे में पचती है
- उबली गोभी 4 घण्टे में पचती है
- जौ 2 घण्टे में पचता है
- गाजर 3 घण्टे में पचती है
- सेब $1\frac{1}{2}$ घण्टे में पचता है
- मटर 3 घण्टे में पचती है
- उबली शलजम $3\frac{1}{2}$ घण्टे में पचती है
- उबले आलू $3\frac{1}{2}$ घण्टे में पचते हैं

(हिन्दुस्तान से साभार)

कुछ खगोलीय पिण्डों से सम्बन्धित आंकड़े

	अर्धव्यास (कि० मी०)	दूरी (कि० मी०)	द्रव्यमान (मीट्रिक टन)
पृथ्वी	6371	—	$5\cdot98 \times 10^{21}$
सूर्य	696000	149600000	$1\cdot99 \times 10^{17}$
मंगल	3400	7000000 से 3000000	$6\cdot4 \times 10^{20}$
चन्द्रमा	1738	384000	$7\cdot34 \times 10^{18}$
वृहस्पति	71400	630000000 से 1400000000	$1\cdot9 \times 10^{24}$
प्लूटो	7200	लगभग 1000000000	$5\cdot4 \times 10^{21}$
सिरिस	125000000	8×10^{13}	6×10^{27}
प्रोक्सीमा सेंटुरी	4200000	4×10^{13}	10^{27}

ये रोचक पौधे

● अजय शंकर

आप जानते होंगे कि पौधे स्थल के अतिरिक्त सागर, तालाब, नदी और पहाड़ इत्यादि पर भी पाये जाते हैं। जब इनके रहन-सहन या आवास में भिन्नता हो जाती है तो स्वाभाविक है कि ऐसे पौधों में अवश्य ही कुछ विशिष्ठता पाई जायेगी। यह विशिष्ठता उनके नित्य की जैविक क्रियाओं, तथ उनकी रचना इत्यादि में देखने को मिलती है जो पौधों को बहुत ही रोचक बना देती है। प्रस्तुत लेख में हम आपको कुछ ऐसे ही पौधों से मिलवा रहे हैं। इनमें से सभी एक दूसरे से आवास की दृष्टि से भिन्नता रखते हैं और ये बहुत ही आकर्षक दिखते हैं। पौधों के नाम उनके रोचक नाम के साथ निम्नलिखित हैं :

(1) कलश पादप सेरासीनिया, नेपेन्थिस

(2) सबसे बड़ा फूल—रैफिलसिया

(3) समुद्र में जंगल—मैक्रोसिस्टिस, नीरियोसिस्टस लैमिनैरिया, सारगैसम, इत्यादि

(4) सींगयुक्त सुकाय—नोटोथैलस

(5) परिवार के अकेले पेड़ —गिंगो बाईलोबा

1. कलश पादप

इन पौधों को अपने रचना के फलस्वरूप ही कलश पादप कहते हैं क्योंकि इस पौधे की पत्तियाँ कुछ लम्बी होती हैं तथा बीच का भाग चौड़ा हो जाता है और अन्ततः यह काफी चौड़ी हो जाती है। साथ ही साथ एक तरफ से अन्दर की तरफ मुड़ने लगती है और एक घड़े या सुराही सदृश्य रचना का निर्माण करती है। इसी रचना के कारण ये पौधे कलश पादप कहलाते हैं। सेरासिनिया व नेपेन्थिस पौधे कलश पादप के उदाहरणहैं। घड़े के मुख पर पत्ती के समान ही ढक्कन मिलता है जो मुख पर किसी स्थान पर आधार-लग्न होता है औप अन्दर से खोखला होता है। अन्दर की दीवार परपाचक ग्रंथियाँ पाई जाती हैं जो पाचकरस स्रावित करती रहती है जो घड़े के आधार भाग में एकत्रित होता रहता है। इन पौधों का आवास ऐसे स्थान पर होता है जहाँ नाइट्रोजन अनुपस्थित होती है। ये पौधे प्रकाश संश्लेषण द्वारा अपना भोजन तैयार कर लेते हैं परन्तु नाइट्रोजन की
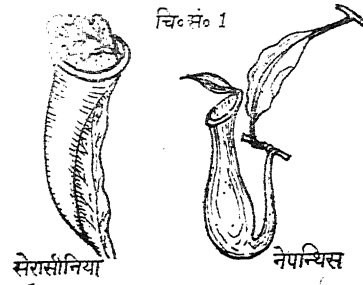
कमी अभी भी रहती है जो पौधे की अन्य जैविक क्रियाओं के लिये आवश्यक है। इस कमी को ये पौधे विशिष्ठ विधि द्वारा कुछ कीटोंको पचा कर उनसे शोषित कर लेते हैं। इसी कारण इन पौधों को कीटभक्षी या कीड़े खाने वाले पौधे भी कहते हैं। कीटों को फँसाने के लिये इनके घड़ों के मुख पर चारों ओर मकरन्द कोष मिलते हैं जो आकर्षक रंग में होता है। जैसे ही कीड़ा आकर्षित होकर इसके मुख पर बैठते हैं वैसे ही फिसलकर घड़े में गिर जाता है जहाँ इसका पाचन होता है और तुरन्त मुख पर लगे ढक्कन द्वारा

बन्द कक्र लिया जाता है। इस प्रकार ये पौधे आकार तथा कार्य विधि की दृष्टि से बहुत ही रोचक प्रतीत होते हैं।

2. सबसे बड़ा फूल

सबसे बड़ा फूल —— "रैफिलसिया"
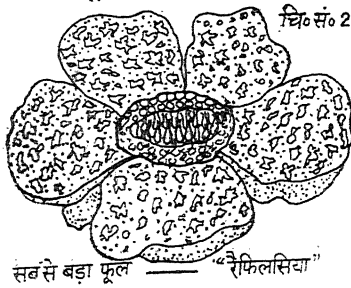
पुष्प के अतिरिक्त इसके अन्य भाग जैसे तना, पत्तियाँ इत्यादि अविकसित होती हैं जो नहीं के बराबर होता है। बस पूरा का पूरा पौधा एक फूल दिखता है जिसे "रैफिलसिया" कहते हैं। जब यह पुष्प परिपक्व अवस्था में होता है तब यह आकार में 50 से 90 सेंमी० लम्बा होता है और पूरे पुष्प का भार लगभग 10 किलोग्राम होता है। इन पुष्पों का आवास उष्ण कटिबन्धीय प्रदेश है परन्तु दक्षिणी जापान तथा मैगीलान में भी कुछ पुष्प पाये गये हैं। ये पुष्प जंगल में पाये जाने वाले आरोही या लतर पेड़ पर मिलते हैं। इनके पुष्पों की काफी जातियाँ घने उष्ण कटिबन्धीय जंगलों में लगभग 1 किलोमीटर की ऊँचाई पर मिलती हैं और कुछ तो केवल जंगल की आधार भूमि से केवल 4 मीटर की ऊँचाई पर मिलती हैं। ऐसे पुष्प पादप जगत में अन्यत्र नहीं मिलते हैं। इनकी विशाल रचना तथा भार के कारण ही इसे पादप जगत में पाये जाने वाला "सबसे बड़ा फूल" की संज्ञा दी गई। इसका रंग पीला भूरा या हल्का लाल होता है। इस पुष्प को अपने जीवन के लिये दूसरे पौधों की जरुरत पड़ती है क्योंकि ये भोजन बनाने में असमर्थ होते हैं। अत: ये आरोही या लतर पेड़ों से अपना सम्बन्ध बना लेते हैं और उनसे अपने लिये भोज्यरस का शोषण करते रहते हैं। सामान्य पुष्पों की तरह इनमें भी पाँच पँखुड़ियाँ होती हैं। प्रत्येक पंखुड़ी एक दूसरे से अलग अलग रहती है और सभी बहुत ही अधिक माँसल होती हैं। पँखुड़ियाँ बीच में जुड़ कर केन्द्र एक गोलाकार खण्ड में बनाती हैं जिसमें नर या मादा अंग पाये जाते हैं।

3. समुद्र मे जंगल

"समुद्र में जंगल बनाने वाले दो शैवाल"
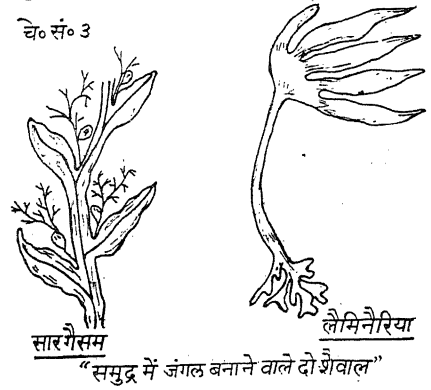
जंगल का निर्माण विभिन्न प्रकार के पेड़ पौधों के विभिन्न रूपों में आवास ग्रहण करने के फलस्वरूप हो जाता है। ठीक उसी प्रकार से समुद्र में भी कुछ विशिष्ठ वनस्पतियाँ घने जंगल का निर्माण करती हैं। ऐसी मुख्य वनस्पतियाँ "शैवाल" होती है यह निम्न कोटि की हैं और इनकी रचना बहुत ही साधारण होती है। ऐसे जंगल के निर्माण में प्राय: मैक्रोसिस्टिस, नीरियोसिस्टिस, लैमिनैरिया और सारगैसम इत्यादि नामक भूरे रंग वाले शैवाल भाग लेते हैं। ये सभी समुद्र के 35 मीटर या इससे नीचे तक की गहराइयों तक पाये जाते हैं। कभी कभी एक ही पौधे का आकार 100 मीटर लम्बा हो जाता है। इन सभी विशालकाय भूरे शैवालों की लम्बाइयाँ तो अधिक परन्तु मोटाई बहुत ही कम होती है। ये सभी शैवाल एक दूसरे से गुथ कर एक लम्बी चौड़ी, ऊपर से नीचे तक जगह समुद्र में घेर लेते हैं। ये एक दूसरे से इतनी कस कर गुथे रहते हैं कि जब कभी पानी का जहाज या कोई जन्तु इससे टकराता है तो क्षतिग्रस्त या घायल हो जाता है। कभी कभी तो उनके आगे बढ़ने का रास्ता ही रुक जाता है। जंगल बनाने वाले लैमिनैरिया, तथा मैक्रोसिस्टिस का व्यावसायिक उपयोग भी होता है। इनसे एलगनिक अम्ल प्राप्त किया जाता है जो टाइपराइटर

के रोलर, कृत्रिम रेशे बनाने में तथा रबड़ उद्योग में प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त कपड़ों की मिलों में इस अम्ल का प्रयोग मुद्रण के समय लेई के रूप में किया जाता है। इसकी उपयोगिता देखते हुये जापान में इससे कृत्रिम ऊन भी बनाते हैं। लैमिनैरिया, सारगैसम जापान में पशुओं के चारा के लिये भी उपयोग किया जाता है। इनकी उपयोगिता के कारण इन्हें समय समय पर विशेष विधि द्वारा जंगल से प्राप्त किया जाता है।

4. सींग युक्त सूकाय

ये सूक्ष्म व निम्न कोटि के पौधे स्थल पर ऐसे स्थान पर उगते हैं। जहाँ हल्की छाया होती है। यह हरे रंग की चपटी रचना बनाता है जिसे वैज्ञानिक भाषा में सूकाय कहते हैं इसके किनारे चक्राकार तथा अनियमित ढंग से फैले रहते हैं। यह चट्टानों इत्यादि पर मिलते हैं और यह चट्टानें नम या जलयुक्त होती हैं। इनके किनारे के दो चक्राखण्डों में यदा कदा सींग युक्त रचना दिखती है। इसी कारण इन्हें सींगयुक्त सूकाय या "नौटोथैलस" कहते हैं। सींग सूकाय में क्षैतिज दिशा में लगी रहती हैं। सींग का आधार भाग कुछ अर्धचन्द्राकार होता है और सूकाय में धँसा रहता है। प्रत्येक सींग 2-3 मि० मी० लम्बी होती है। इन सींगों के अन्दर बहुत ही छोटे छोटे गोलाकार कण तथा छोटी छोटी तन्तुमय रचनायें पाई जाती हैं। उपयुक्त समय में सींग की दीवारों के फटने से अन्दर के गोलाकार कण, छोटी छोटी तन्तुमय रचनाओं की सहायता से स्थल पर इधर उधर बिखर जाते हैं और उगना प्रारंभ कर देते हैं।

5. परिवार के अकेले पेड़

परिवार के अकेले पेड़-"गिंगो बाइलोबा" फलयुक्त एक शाखा
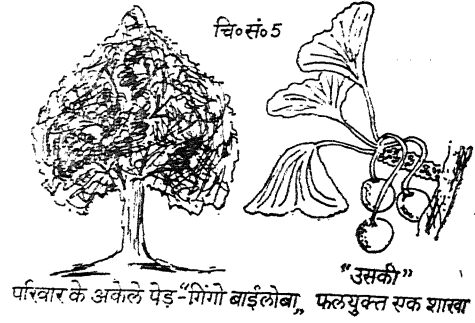
इस पौधे का जन्म आज से लगभग 180,000,000 वर्ष पूर्व हुआ था। इसे "गिंगों बाईलोबा" कहते हैं। जिस समय इस पौधे का जन्म हुआ था उस समय इसके परिवार के अन्य सदस्य भी थे। परन्तु प्रकृति में परिवर्तन होता गया और धीरे धीरे इनका परिवार के सदस्य समाप्त होने लगे। अब तक इनके छोड़ कर सभी चल बसे। जो पौधे चल बसे उन्होंने पत्थरों पर अपनी छाप छोड़ दी है। जब इन छापों का अध्ययन किया गया तो पता चला कि यह आज पाये जाने वाले "गिंगो बाइलोबा" से मिलते जुलते थे। इन छापों के आधार पर ही इनकी उम्र का पता लगाया गया। आजकल पाये जाने वाले सभी पेड़ों से इस पेड़ में विभिन्नता दिखती है।

यह विशालकाय पेड़ जापान तथा चीन के पश्चिमी भाग में मिलते हैं जो दूर से देखने पर तिकोना प्रतीत होता है। इसकी सामान्य ऊँचाई लगभग 30 मीटर होती है। इस पेड़ में दो प्रकार की शाखायें निकलती हैं जिसमें एक शाखा तो बड़ी होती है जो निरन्तर बढ़ती रहती है परन्तु दूसरी शाखा छोटी होती है जिसका विकास जल्दी ही रुक जाता है। बड़ी शाखाओं पर निकलने वाली पत्तियाँ दूर दूर तक छितरी रहती हैं परन्तु छोटी शाखाओं पर यह गुच्छे में मिलती हैं। इनकी पत्तियाँ चपटे पँखें के समान होती हैं जो द्विपालिवत या दो खण्डीय होती हैं। इस पेड़ पर लगने वाले फल गोलाकार, संतरे के रंग जैसे होते हैं जो बहुत ही आकर्षक होते हैं। चीनी भाषा में 'गि : को' का अर्थ "चाँदी के

समान फल वाला" होता है यह नाम फल के उपयुक्त रंग के कारण ही रखा गया है। जहां पर यह पाये जाते हैं वहाँ के लोग इसकी इतनी अधिक पुरात्वत्ता के कारण इसकी पूजा भी करते हैं। ●

गणित का जादू

● देवनाथ गुप्ता

साथियों, आज मैं आप लोगों को गणित के सनोरंजक खेल बताऊंगा, जिसको आप अपने साथियों को दिखाकर उन्हें चमत्कृत कर सकते हैं।

1—एक इंच के 5 घन लो। प्रत्येक घन के छ: फलक होते हैं। प्रत्येक फलक पर निम्न संख्याओं को लिखो।

घन संख्या (1) 872, 971, 377, 179, 278, 773
घन संख्या (2) 285, 780, 384, 483, 186, 681
घन संख्या (3) 558, 855, 657, 459, 756, 954
घन संख्या (4) 642, 147, 840, 741, 345, 543
घन संख्या (5) 960, 366, 168, 663, 267, 564

अब आप अपने मित्रों से कहो कि प्रत्येक घन की एक फलक के अंक ले लो और उन सबको जोड़ लो। अब इस जोड़ का तुम इकाई और दहाई पूंछ लो और अपने मन में उन संख्याओं को 50 में से घटा लो तथा जो बचे उसे तथा इकाई व दहाई वाले अंक को साथ लेकर जोड़ बता दो।

जैसे--घन एक की एक फलक की संख्या 872 है।
घन दो की एक फलक की संख्या 285 है।
घन तीन की एक फलक की संख्या 558 है।
घन चार की एक फलक की संख्या 642 है।
घन पांच की एक फलक की संख्या 960 है।

———
योग 3317
———

इस योग की इकाई 7 तथा दहाई 1 है। अर्थात 17 है। अब इसको 50 में से घटा लो। घटाने पर 33 बचता है। अतः तुम्हारा जोड़ 3317 है

किसी देश के भविष्य को जानना हो तो उस देश के बच्चों की आंखों में झांक कर देखो।

जवाहर लाल नेहरू

जैविकीय घड़ी

● दीनानाथ श्रीवास्तव

ब्रह्माण्ड में उपस्थित ग्रह व इनके उपग्रह सब एक दूसरे के सापेक्ष, क्रमिक व अबाध गति से अपनी-अपनी नियत कक्षा में घूमते रहते हैं। निरन्तरता की इस परिधि में ही ब्रह्माण्ड का स्वरूप है। इस चक्र के फलस्वरूप ही प्रकाश के बाद अंधकार व अंधकार के बाद प्रकाश का आविर्भाव सम्भव हुआ। रात के बाद दिन व दिन के उपरान्त रात के इस क्रमिक चक्र का प्रभाव जीवधारियों पर, चाहे वो पादप जगत के हों या जन्तु जगत के, स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

सर्वप्रथम फ्रांसीसी खगोलशास्त्री डी०मेरियन (1729ई०) ने पत्तियों में पाई जाने वाली गति की दैनिक आवर्तता को परखा। क्या पर्ण-गति रात और दिन के क्रमिक चक्र से संचालित होती है? या किसी समय मापक यंत्र द्वारा? इन प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए सेन्सिटिव प्लाण्ट (माइमोसा स्पेशीज) को गहन छाया में उगाकर उन्होंने देखा कि पर्ण गति पर क्या कोई प्रभाव पड़ता है, रुक जाती है या चलती रहती है? डी० मेरियन ने पाया कि पर्ण-गति उसी भांति क्रमिक रूप से संचालित होती रहती है और 24 घंटे के क्रमिक चक्र में तीव्र धूप भी अति-आवश्यक नहीं होती। अपने इन प्रायोगिक परीक्षणों से उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि पौधों की यह गति आन्तरिक समय-मापी द्वारा संचालित होती है।

इसी प्रकार की कई अन्य क्रियाएं हैं जो जन्तु जगत व पादप वर्ग में समय की प्रतिबद्धता को दर्शाती हैं यानि कि एक निश्चित समय पर निश्चित अन्तराल के उपरान्त ही क्रियाएं सम्पन्न होती हैं। उदाहरण स्वरूप गुनियान मछलियों का निषेचन हेतु समुद्र तट पर आना, महिलाओं में मासिक-धर्म की प्रक्रिया, व इसी तरह की अन्य क्रियाएं हैं जो जीव-जगत में पायी जाती हैं। पादप-जगत में कोशाओं में विभाजन (मिओटिक), हरित शैवालों में एक निश्चित समय पर गैमीट्स का निर्माण व निषेचन, पौधों में पत्तियों की निद्रा गति (स्लीप मूवमेन्ट), पुष्प दल गति (पेटल मूवमेन्ट) विभिन्न अंगों की वृद्धि गति, कणकों की सान्द्रता, फूलों में सुगंध का निस्तारण आदि अन्य बहुत सी क्रियाएं हैं जो क्रमिक होती हैं।

पूर्व मतानुसार जीवधारियों में पायी जाने वाली विभिन्न क्रियाओं की आर्वतता भौतिक वातावरण के जीवधारियों पर सीधे प्रभाव के फलस्वरुप होती है जैसे कि रात-दिन का चक्र, ताप आदि।

रात व दिन के 24 घंटे के चक्र को सर्केडियन (सर्का-लगभग, डाइस-दिन) कहते हैं। इस चक्र से प्रभावित जीवधारियों की प्रक्रियाओं को सर्केडियन रिदम कहते हैं। सर्वप्रथम अमेरिकन वैज्ञानिक फ्रेन्ज हालवर्ग ने इस शब्द का प्रतिपादन किया।

जैन्थियम नामक पौधे में पुष्प खिलने का क्रिटिकल डे लेन्थ 15 घन्टे व 40 मिनट है। जब इस पौधे को 16 घन्टे प्रकाश तथा 8 घन्टे अंधकार में रखा गया तो पुष्प नहीं खिले जब कि अन्तर केवल 20 मिनट का था। आखिर पौधे समय के इतने सूक्ष्म अन्तर को कैसे परख लेते हैं? कोई न कोई समयमापी अवश्य होगा जो पौधे को समय के प्रति इतना चैतन्य बना देता है। इस प्रकार जैविकीय घड़ी के विचार का विकास हुआ।

जैविकीय घड़ी की प्रकृति :- वैज्ञानिकों ने विभिन्न

प्रतिरूपों व अन्य कई प्रकार के प्रयोगों द्वारा जैविकीय घड़ी के प्रकृति का अध्ययन किया। अपने इन प्रयोगों द्वारा उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि कोई ऐसा नियन्त्रण बिन्दु या संरचना नहीं है जिसके द्वारा इन जैविकीय क्रियाओं का नियन्त्रण होता हो वल्कि यह एक कार्यकीय संरचना है, न कि संरचनात्मक बिन्दु, जो जैविकीय क्रियाओं के अन्योन्य क्रिया द्वारा नियंत्रित होता है। दूसरे शब्दों में जैविकीय घड़ी विभिन्न हार्मोन्स (ज्ञात व अज्ञात) के संतुलन द्वारा नियंत्रित होता है।
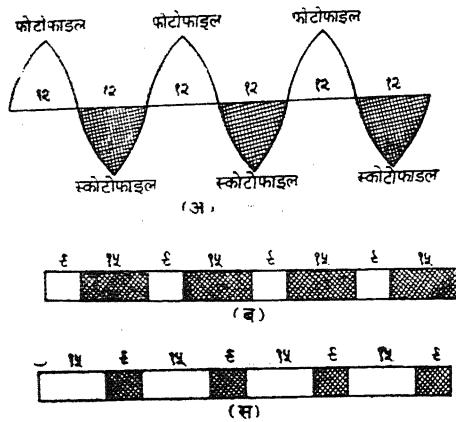
(अ) पौधों की प्रकाश व अंधकार के प्रति दो सचेतन अवस्थाएँ जो 12 घंटे की अवधि की होती है।

(ब) 1 घंटे प्रकाश व 15 घंटे अंधकार के नियमित चक्र में पौधे एक निश्चित दिशा में कार्य करते है।

(स) 15 घंटे प्रकाश व 1 घंटे अंधकार, इस दशा में पौधे दूसरी दिशा में कार्य करते हैं।

जैविकीय घड़ी आनुवांशिक व जन्म के समय पूर्णतया व्यवस्थित होती है। यह वाह्य कारकों द्वारा प्रभावित भी हो सकती है जैसे प्रकाश, ताप व अन्य भूभौतिकीय बल। जन्म के पश्चात् एक सामान्य यान्त्रिक घड़ी के समान जैविकीय घड़ी भी कार्य करती है व समय-सयम पर इसे पुनः व्यवस्थित करना पड़ता है। उदाहरणस्वरूप लड़कियों में मासिक धर्म की प्रक्रिया 13-15 वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ हो जाती है व 28 दिन के नियमित अन्तराल के बाद चलती रहती है परन्तु रात व दिन के नियमित चक्र के अभाव (अन्धी लड़कियों में) या एक अव्यवस्थित रात-दिन के चक्र (विमान परिचारिकाओं में) के कारण भी यह प्रक्रिया अनियमित हो जाती है इससे सिद्ध होता है कि आन्तरिक समय मापी वाह्य वातावरण के तंत्रिका तंत्र पर प्रभाव द्वारा संचालित होता है।

बनिंग (1957) के मतासानुर पौधे नियमित अवधि के बाद प्रकाश (फोटोफाइल) व अन्धकार (स्कोटोफाइल) के प्रति सचेत होते हैं। यह अवधि लगभग 12 घंटे की होती हैं। फोटोफाइल अवधि में पौधे प्रकाश व अंधकार के प्रति एक निश्चित दिशा में कार्य करते हैं। उसी प्रकार स्कोटोफाइल अवधि में भी। (चित्र अ)

प्रतिदिन होने वाले जैविकीय प्रक्रियाओं को सर्केडियन रिदम व वार्षिक होने वाली प्रक्रियाओं को सर्केनवल रिदम कहते हैं।

उपयोग ; जैविकीय घड़ी बाह्य परिवर्तनों द्वारा प्रभावित होती है इसीलिए वायुमंडल में निकट भविष्य में होने वाले परिवर्तनों की अग्रिम सूचना जीवधारियों को मिल जाती है व जीवधारी उसी अनुसार अपने आप को परिवर्तित व व्यवस्थित कर लेते हैं - जैसे कि हबिनेटर्स शीत ऋतु प्रारम्भ होने से पूर्व ही वसा का अत्यधिक संचय प्रारम्भ कर देते हैं व शीत ऋतु प्रारम्भ होते-होते अत्यधिक संचयन कर लेते हैं।

ठीक इसी प्रकार साइबेरियन सारस, जो ठंढ बढ़ने के पूर्व ही भारतीय उपमहाद्वीप की तरफ प्रस्थान कर देते हैं प्रस्थान से कई सप्ताह पूर्व वसा का संचयन शुरू कर देते हैं।

पादप जगत में द्विदालीय पौधों में शीत ऋतु प्रारम्भ होने से पूर्व ही फ्लोएम वाहिनियों में सीव प्लेट पर कैलस का जमाव हो जाता है, जिससे वृद्धि रुक जाती है। वसन्त के पूर्व यह घुल जाती है तथा वृद्धि तीव्र गति से होने लगता है। विषम परिस्थिति आने के पूर्व ही पौधे अपने आप को उसके अनुसार व्यवस्थित कर लेते हैं जिससे विषम परिस्थितियों में भी पौधे जीवित रहते हैं।

अन्य जीवधारियों के समान मनुष्य भी एक निश्चित समय पर ही सचेतन होता है इस समय के ज्ञान द्वारा बहुत सी दवाओं का ठीक उसी समय सेवन करने से सर्वोत्तम लाभ होता है। आर्युवेद के जन्मदाता "चरक" के अनुसार किसी विशेष रोग के मरीज का निरीक्षण भी एक विशेष समय पर विशेष पद्धति के अनुसार करना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैविकीय-घडी प्रकतिप्रदत्त एक ऐसा साधन है जो आधुनिक विज्ञान द्वारा वनायी गयी अन्यान्य समयमापी व भविष्य वाणी हेतु बनाये गये अन्य उपकरणों से कहीं अधिक जटिल व सटीक है।

बुद्धि परीक्षण

1. अधिकतम वेग से उड़ने वाले पक्षी का नाम बताओ ?
2. अंडा देने वाले जीवों में किसका अंडा सबसे बड़ा होता है ?
3. वह कौन सी धातु है जो हाथ पर रखने पर गलने लगती है ?
4. परमाणु घड़ी में प्रयुक्त होने वाले तत्व का नाम क्या है ?
5. किस जीव की आँखे सोते समय भी खुली रहती हैं ?
6. चन्द्रमा पर उतरने वाले यात्री आर्मस्ट्रांग के साथ दूसरा व्यक्ति कौन था ?
7. भारत ने आर्य भट्ट प्रथम का प्रक्षेपण कब किया था ?
8. विज्ञान में नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने वाले भारतीय वैज्ञानिक का नाम बताओ ?
9. सेन्टीग्रेड पैमाने को अब नया नाम दिया गया है। यह नया नाम क्या है ?
10. पत्तियों का हरा रंग किस पदार्थ की उपस्थिति के कारण होता है ?
11. दो ऐसे फूलों का नाम बताओ जो रात में ही खिलते हैं ?
12. शुक्र ग्रह पर कौन सी गैस पाये जाने की पुष्टि हुई है ?
13. अंडे सेये जा सकें इसके लिए आवश्यक ताप क्या होना चाहिए ?
14. कंगारू के अतिरिक्त थैली युक्त अन्य कौन सा जानवर है और कहां पाया जाता है ?
15. पत्ता गोभी पौधे का कौन सा भाग है ?

अन्धेरे की चमक

● अनूप कुमार

बिजली फेल और इसी के साथ सब कुछ गहरे अन्धकार में डूब गया। अपना हाथ भी नहीं सूझ रहा था। अचानक आपकी नजर मेज पर रखी घड़ी पर पड़ी। उसकी दोनों सुईयाँ टिक्-टिक्-टिक्-टिक् करती हुई साढ़े आठ बजा रही थीं।

बिजली तो आ गई लेकिन आपके मन में यह प्रश्न कौंध गया होगा कि उस गहरे अन्धकार में भी घड़ी की सुईयाँ क्यों चमक रही थीं।

प्रकृति के पास अनेक वस्तुओं का भण्डार है। उनकी अपनी अलग अलग छटा है। आप देखेंगे कि चमकने वाली वस्तुओं में जुगुनू अपनी प्राकृतिक बनावट के कारण, बिल्ली की आँखें अपनी रेटिना के कारण, सड़ी मछलियाँ बैक्टीरिया के कारण तथा फास्फोरस अपने धीमे आक्सीकरण के कारण चमकता है। प्रकृति में कुछ ऐसे पदार्थ भी पाये जाते हैं, जो आपाती प्रकाश के बन्द हो जाने के बाद भी प्रकाश का विकिरण करते रहते हैं। ये पदार्थ अन्धेरे में भी रखने पर अपने अन्दर से प्रकाश निकालते हैं। पदार्थों पर प्रकाश के इस प्रभाव को स्फुरदीप्ति कहते हैं। इन्हीं पदार्थों का लेप घड़ी को सूई और उनके अंकों पर किया रहता है। कैल्शियम सल्फाइड, बेरियम सल्फाइड और स्ट्रान्शियम सल्फाइड स्फुरदीप्ति उत्पन्न करने वाले मुख्य पदार्थ हैं। वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि स्फुरदीप्ति को उत्पन्न करने में स्पेकट्रम की बैंगनी और पराबैंगनी किरणें ही अधिक प्रभावशालो हैं। पदार्थ पर से आपाती प्रकाश हटा लेने के पश्चात् अन्धेरे में स्फुरदीप्ति प्रभाव जितने समय तक के लिये दिखलाई पड़ता है उसे पदार्थ का स्फुरदीप्ति काल कहते हैं। स्फूरदीप्ति काल पदार्थ की प्रकृति पर निर्भर करता है। विभिन्न पदार्थों के लिये इसका मान 1/1000 सेकन्ड से लेकर कुछ घण्टों तक हो सकता है। पदार्थ को यदि गर्म कर दिया जाय तो स्फुरदीप्ति गुण नष्ट हो जाता है।

उपरोक्त उत्तर वैज्ञानिकों के मतानुसार सही नहीं है। इसका सही उत्तर वैज्ञानिक ढंग से ही दिया जा सकता है।

घड़ी की सुई चमकने का वैज्ञानिक कारण

आप जानते होंगे कि सभी पदार्थ अणुओं अथवा परमाणुओं से मिलकर बने होते हैं। स्फुरदीप्ति देने वाले पदार्थ के अणुओं में कुछ ऐसे ऊर्जा-स्तर पाये जाते हैं जिनमें अणु काफी समय तक रह सकते हैं। यह समय कई घण्टों से लेकर कई दिनों तक हो सकता है। ऐसे ऊर्जा-स्तर मितस्थायी अथवा ट्रैप कहलाते हैं। जब पदार्थ पर उपयुक्त आवृत्ति का प्रकाश पड़ता है तो पदार्थ के परमाणु प्रकाश को अवशोषित करके उच्च ऊर्जा-स्तर में पहुँच जाते हैं (अवशोषण संक्रमण-1)। अर्जित ऊर्जा का कुछ भाग ये टक्करों में खो देते हैं जिसके फलस्वरूप ये अपेक्षाकृत नीचे वाले ऊर्जा-स्तर में आ जाते हैं (संक्रमण 2 व 3)। यदि यह ऊर्जा-स्तर मितस्थायी ऊर्जा-स्तर के बहुत समीप होता है तो एक विशेष प्रक्रिया के द्वारा परमाणु मितस्थायी ऊर्जा-स्तर में आ जाते हैं। इन मितस्थायी ऊर्जा-स्तरों से परमाणुओं का संक्रमण वर्जित होता है। अतः इन ऊर्जा-स्तरों से निकलने में बहुत समय लग जाता है। यह लगभग 1/1000 सेकण्ड से लेकर अनेक घन्टों तक हो सकता है। प्रकाश का पुनः उत्सर्जन बिलम्ब से होता है (बिलम्बित संक्रमण-4)। यही स्फुरदीप्ति है। इसी कारण घड़ी की सुईयाँ और उनके अंक एकदम घने अन्धकार में शान से चमकते हैं।

इसी प्रकार स्फुरदीप्ति पदार्थ का लेप बिजली की स्विच, साइनबोर्ड, तस्वीर आदि पर किया जाता है।

क्या तुम जानते हो ?

- मनुष्य के समस्त रक्ताणुओं का कुल क्षेत्रफल लगभग 3500 वर्ग मीटर होता है।
- ब्रह्माण्ड में लगभग एक खरब नीहारिकाएं हैं और प्रत्येक नीहारिका में एक खरब से अधिक तारे हैं।
- ट्राउट मछली की विशेषता है कि जल के स्वच्छ होने पर यह प्रवाह के प्रतिकूल तैरती है लेकिन जल के किंचित प्रदूषित होने पर यह प्रवाह के साथ नीचे को तैरने लगती है।
- टिड्डियों का एक झुण्ड लगभग 250 वर्गमील का स्थान घेरता है।
- शत्रु को देख कर खरगोश अपने दूसरे साथियों को खतरे से बचाने के लिए अपने पश्च-पादों को जमीन पर जल्दी जल्दी पटकने लगता है।
- ग्लैशयर जब तैरता है तो उसका $\frac{1}{8}$ आयतन पानी के ऊपर रहता है।
- 1 घनसेंमी. वायु में 27,000,000,000,000,000,000 अणु होते हैं।
- पानी देखते ही तेंदुआ को काठ मार जाता है तैरना तो दूर रहा।
- प्याज व लहसुन के सेवन से रक्त में बढ़ी हुई शर्करा कम हो जाती है।
- समुद्री जल के 1000 भाग में लवणों की मध्यमान मात्रा 35 होती है जिसमें से 27 भाग साधारण नमक का होता है।
- छिपकली की पूंछ कटकर पुनः उग आती है। इसी प्रकार समुद्री जीव सालामेण्डर के हाथ पैर कट जाने पर नये हाथ पांव फिर से उग आते हैं।
- एक दिन में मादा हुकवर्म 15000 अण्डे, मादा मक्खी 100-150 अण्डे तथा मादा क्युलेक्स एक बार में 200-300 अण्डे देती है।
- पृथ्वी के वायुमण्डल के चारों ओर औसत सौर विकिरण की तीव्रता का मान लगभग 1.36 किलो वाट प्रति वर्गमीटर होती है।
- मनुष्य के दिमाग में कोई 1 खरब न्युरोन कोशिकाएं और 10 खरब ग्लिअल कोशिकाएँ होती हैं।
- फ्लेमिंगो साइबेरिया से उड़कर कच्छ की खाड़ी में आकर बर्फीले क्षेत्र की बजाय गर्म इलाके में अण्डे देते हैं।

सबसे चमकीला ग्रह—शुक्र

● श्रीमती किरन

रीना व टीटू जब सुबह का नाश्ता किरन मेज पर बैठे तो उन्होंने अपने पिता से कहा कि आपने ग्रहों की कहानी सुनाने के लिये कहा था आपने अभी तक कुछ नही बताया। टीटू ने कहा कि कल रेडियो पर मैंने सुना कि अमरीका ने कोई राकेट शुक्र ग्रह की ओर भेजा है कुछ जानकारी प्राप्त करने के लिये। कृपया हमें शुक्र ग्रह के बारे में कुछ बतायें रमानाथ ने दोनों को आश्वासन दिया कि आज रात के भोजन के बाद वह अवश्य ही अपना वादा पूरा करेंगे रीना व टीटू ने दिन भर प्रतीक्षा किया।

रात का खाना खाने के बाद रीना, टीटू व रमानाथ जब विस्तर पर बैठे तो टीटू ने उन्हें स्मरण दिलाया। रामनाथ ने कहा, हाँ मुझे याद है और अब मैं तुम्हें शुक्र ग्रह के बारे में ही बताने जा रहा हूँ। उन्होंने जब चर्चा आरम्भ किया तो दोनों ही अपने पिता के निकट सरक आये। रमानाथ ने कहा कि पिछले सप्ताह उन्होंने चन्द्रमा के बारे में कुछ बातें बताई थीं। जैसा कि तुम को ज्ञात है सौर मण्डल में नौ ग्रह हैं जिसमें से एक स्वयं हमारी पृथ्वी है। शुक्र सौर मण्डल का दूसरा ग्रह है और धरती का निकटवर्ती पड़ोसी है। निकटवर्ती होकर भी यह पड़ोसी काफी निराला और रहस्यमय है जो सदैव बादलों के आवरण में ढका रहता है। शनि की ही भाँति शुक्र का कोई भी उपग्रह नही है। रीना ने पूछा, "पिताजी शुक्रग्रह हमारी पृथ्वी से कितनी दूर है ?"

रमानाथ ने बताया कि शुक्र ग्रह पृथ्वी से 53000 किलोमीटर दूर है। सूर्य से इसकी औसत दूरी 107520000 किलोमीटर है।

टीटू ने कहा, पिताजी, हमें शुक्रग्रह की सूर्य परिक्रमा, वहाँ पर होने वाले दिन सूर्योदय तथा सूर्यास्त के बारे में बताइये।

रमानाथ ने कहा यह उत्तम प्रश्न है इसे इस प्रकार समझो। शुक्रग्रह का एक दिन एक साल से बड़ा होता है क्योंकि सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने में इसे जहां 225 पृथ्वी दिन ही लगते हैं वहीं अपने अक्ष पर एक चक्कर लगाने में यह 243 दिन लगाता है। शुक्र सूर्य की परिक्रमा वामावर्त दिशा में करता है जब कि अपने अक्ष पर दक्षिणावर्त दिशा में घूमता है। इसका परिणाम यह होता है कि शुक्र पर प्रत्येक दिन दो बार सूर्योदय ताथा दो बार सूर्यास्त होता है। दो सूर्योदयों के बीच का समय पृथ्वी के 117 दिनों के बराबर होता है।

टीटू ने कहा "पिता जी अब हमें अमरीका द्वारा शुक्र को भेजे गए उस यान के बारे में भी कुछ बताइये जो 4 दिसम्बर को शुक्र ग्रह पर पहुँचा।"

रमानाथ ने बताया कि एम्स के वैज्ञानिकों ने 18 अरब की लागत से पायोनियर यान का निर्माण किया। इनमें से एक को 20 मई 1978 में छोड़ा गया और दूसरे को 7 अगस्त 1978 को! पहला यान 4 दिसम्बर को शुक्र ग्रह पर पहुँचा और दूसरा उसके पांच दिन बाद। पहले यान का नाम पायोनियर- 12 तथा दूसरे का पायोनियर-13 है। इनमें से पहला कक्षायान तथा दूसरा जाँच यान है।

शुक्र ग्रह आरोहण अभियान के एक वैज्ञानिक डॉ० कोलिन के अनुसार पायोनियर के तीन लक्ष्य निर्धारित किये

गये हैं (1) उच्च दाब की जानकारी (2) उच्च ताप की जानकारी तथा (3) भिन्न परिभ्रमणीय बादलों के सतहों की जानकारी। कक्षायान शुक्र के चारों ओर अंडाकार कक्षा में घूम कर उसके वातावरण का अध्ययन कर रहा था। इस कक्षा का शुक्र से दूरतम बिन्दु 60 000 किमी० है। जब यह यान केवल 200 किमी० दूर होगा उस समय अधिकतम जानकारी प्राप्त होगी।

100 किलोग्राम भार का जाँचयान एक भ्रमणशील बस की तरह है जिससे चार टोहयान जुड़े हों। हर टोहयान में महत्वपूर्ण वैज्ञानिक उपकरण लगे हैं जो वातावरण की रचना व गठन का अध्ययन करने के लिये हैं। शुरू में यह टोहयान निष्क्रिय रहे परन्तु शुक्र पर उतरने के 24 दिन पूर्व एक टोहयान अलग होकर शुक्र के उजले हिस्से में उतरा। उसके चार दिन बाद शेष तीन टोहयान भी शुक्र के धरातल की ओर चल पड़े। अलग होते ही इन चारों टोहयानों ने अपना अपना कार्य शुरू कर दिया।

रमानाथ ने आगे बताया कि शुक्र आकार - प्रकार में पृथ्वी से काफी मिलता जुलता है। इसका भार पृथ्वी के भार का लगभग 98%है। पृथ्वी की तुलना में शुक्र का चुंबकीय क्षेत्र नहीं के बराबर है लेकिन शुक्र का दाब व तापमान पृथ्वी की तुलना में कहीं अधिक है। शुक्र का व्यास 6016 कि०मी० है। चन्द्रमा के समान शुक्र की भी कलाएं होती हैं। इस ग्रह पर वायुमंडल 120 कि० मी०प्रति घंटे की चाल से गतिमान रहता है। शुक्र ग्रह सभी ग्रहों में सर्वाधिक कान्तिमय है यहाँ तक कि यह अत्यधिक कान्ति वाले स्थिर तारों से भी अधिक कान्ति वाला है। कहते हैं कि जब यह उच्चतम कान्ति की अवस्था में होता है तब इसे दिन में भी नेत्रों से देखा जा सकता है।

शुक्र ग्रह के बारे में अब तक हमें जो कुछ पता है वह पृथ्वी से भेजे गये यानों तथा पृथ्वी पर स्थित राडार यंत्रों की सहायता से ही ज्ञात हुआ है। शुक्र ग्रह के लिये रूस ने 10 तथा अमरीका ने 3 यान छोड़े हैं। 8 जुलाई 1972 में रूस द्वारा छोड़ा गया यान 'वेनेरा' शुक्र के धरातल पर उतर कर 108 मिनट तक सक्रिय रहा और यह समय अब तक का सबसे अधिक है। फिर भी इस अल्प समय में जो सूचनायें प्राप्त हुईं वह अत्यन्त लाभप्रद रहीं। रूस के दो यानों ने शुक्र के जो चित्र भेजे थे उनसे यह पता चला कि शुक्र ग्रह का धरातल शुष्क, पथरीला और ज्वालामुखियों से ओत प्रोत दीख पड़ता है।

टीटू ने कहा, "पिता जी मैंने कहीं पढ़ा था कि शुक्र ग्रह में गरमी बहुत होती है क्या यह सच है।"

रमानाथ ने बताया तुमने ठीक ही पढ़ा है। शुक्र ग्रह के तल का तापमान 488° सें० होता है। इसका प्रमुख कारण उसके वायुमण्डल में कार्बन डाइ आक्साइड की उपस्थिति बतायी जाती है। अब तक की सूचना के अनुसार शुक्र ग्रह के वायुमण्डल में लगभग 97% कार्बन डाइ आक्साइड है। हमारी पृथ्वी में यह प्रतिशत केवल 0.03 है। शुक्र ग्रह के वातावरण का 50-80 किमी० तक का सारा क्षेत्र बादलों से घिरा रहता है। इन बादलों में केवल पानी ही नहीं बल्कि गंधक अम्ल भी पाया जाता है। कार्बन डाइ आक्साइड ही के कारण बादलों के इतने घने आवरण के होते हुए भी शुक्र की सतह इतनी गर्म रहती है। सौर विकिरण, जिसमें अधिकांशतः पराबैंगनी किरणें होती हैं, शुक्र के सतह पर तो पड़ती हैं लेकिन शुक्र सतह से होने वाले विकिरण को 'जिसमें अधिकांशतः अवरक्त किरणें होती हैं, कार्बन डाइ आक्साइड शोषित कर लेती है। अवरक्त किरणों के अभिशोषण के कारण ही शुक्र का ताप लगभग 490° सें०रहता है।

टीटू व रीना दोनों ही बोल पड़े कि इतने अधिक ताप में फिर कोई जीव कैसे जीवित रह सकता है। हाँ यह वास्तविकता है कि शुक्र ग्रह में कोई जीव नहीं पाया जाता, रमानाथ ने बताया।

मुख्य यान टोहयानों से $1\frac{1}{2}$ घंटे बाद धरातल पर उतरने को हुआ। इसने 1900 कि०मी० से 136 कि०मी० तक के क्षेत्र की जानकारी पृथ्वी तक भेजा और बाद में घर्षण से उत्पन्न ऊष्मा के कारण वायुमंडल में ही वह जल गया।

धरातल से टकराने के 67 मिनट बाद तक सूचनायें आती रहीं। वेनेरा के बाद यह दूसरा अधिकतम समय है

जितनी देर यह यान सक्रिय होकर सूचना भेज सका। जो पहली सूचना मिली उससे यह पता चला कि शुक्र से 40-किलोमीटर ऊपर का ताप लगभग 117° सें० है। शुक्र के मेघाच्छादित वायुमंडल को भेदकर आगे बढ़ने वाले 5 में से 2 यानों ने जो चित्र भेजे उससे पता चला कि शुक्र के चारों ओर प्रकाश का एक घेरा, 'हैलो' है। इसका कारण कुछ वैज्ञानिकों के मतानुसार वायुमण्डल में अत्यधिक उष्मा का उपस्थित होना है जिसके कारण यह जलता रहता है अथवा पहाड़ी धरातलों के ऊपर कोई ऐसी वस्तु है जो जलती रहती है।

वैज्ञानिकों का लक्ष्य शुक्र ग्रह के वायुमण्डल और वहाँ के मौसम का अध्ययन करना है। कुल 36 प्रयोग किये जायेंगे जिससे पृथ्वी के मौसम के बारे में भी विस्तृत जानकारी प्राप्त होगी। इन प्रयोगों की सहायता से मौसम गति विज्ञान का अध्ययन किया जायगा। इसकी सहायता से पृथ्वी के मौसम के बारे में विस्तृत अध्ययन किया जा सकेगा। क्योंकि शुक्र ग्रह पर सागर नहींहैं और अपनी धुरी पर पूरा एक चक्कर लगाने में उसे 117 दिन लगते हैं, (पृथ्वी 24 घण्टे में चक्कर पूरा कर लेती है) वहाँ के मौसम में अधिक जटिलता नहीं होनी चाहिये क्योंकि यही दो कारक हैं जो पृथ्वी के मौसम में काफी जटिलता उत्पन्न करते हैं।

टीटू व रीना को जम्हाई आ रही थी। उनको नींद जोरों से लग रही थी। अतः रमानाथ ने उनसे कहा कि अब तुम लोग सो जाओ फिर किसी दिन तुम्हें अन्य किसी ग्रह के बारे में बतायेंगे। टीटू व रीना को बड़ी खुशी हुई कि उन्हें शुक्र ग्रह के बारे में इतनी सारी जानकारी प्राप्त हुई। दोनों ने कहा कि सोते समय यदि सपने में भी हम शुक्र ग्रह की तरफ उड़ान भरें तो यह आकर्षक दृश्य देखने को मिल सकता परन्तु इतनी गर्मी में तो हमारे शरीर का राख ही बन जायगा।

'प्रकृति की बगिया में बच्चे सबसे अच्छे फूल हैं'

'भारतीय विज्ञान पत्रिका समिति' द्वारा मान्य पत्रिका

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ०/3/5/

भाग 116 संख्या 3-4 सं० 2034 विक्र० मार्च-अप्रैल 1979

कार्यालय
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-2

विषय सूची

केन्द्र में राज्य मंत्री श्रीमती बरकतकी के अनुसार लगभग दो करोड़ मूल्य की पुस्तकें, जिन्हें विभिन्न ग्रन्थ अकादमियों ने छपवा रखा है, बेकार पड़ी हैं जो बिक नहीं रही हैं। एक अन्य सूचना के अनुसार जो बरेली से दी गई थी बहुत सी पुस्तकों को दीमकें चाट गई हैं। वैसे इस सूचना का शिक्षा मंत्री ने खंडन किया। वास्तविकता यह है कि ग्रन्थ अकादमियों ने कई करोड़ रुपये खर्च किये मूल पुस्तकों को लिखवाने तथा अंग्रेजी पुस्तकों के अनुवाद करवाने में और बहुत सारा पैसा अधिकारियों व कार्यालयों पर भी खर्च हुआ। क्या ऐसा नहीं लगता कि यह सारा का सारा पैसा जैसे व्यर्थ चला गया हो। शिक्षा के माध्यम की ओर कोई निर्धारित नीति न होने, अथवा नीति के होने परन्तु उसके कार्यान्वित न होने के कारण पुस्तकें जो लिखी गईं या जिनका अनुवाद किया गया व्यवहार में न लाई जा सकीं। विश्वविद्यालय स्तर पर अभी भी अंग्रेजी के माध्यम से ही अध्यापन होता है। विज्ञान और टेक्नोलोजी के क्षेत्र में यह कहा जाता है कि अध्ययन अध्यापन अंग्रेजी में ही सम्भव है। किसी हद तक यह ठीक भी है। परन्तु यदि प्रयास किया जाय और मानक पुस्तकें उपलब्ध कराई जाँय तो इस दिशा में कदम तो उठाया ही जा सकता है। अंग्रेजी की पुस्तकें तो उपलब्ध हैं ही यदि क्षेत्रीय भाषाओं की पुस्तकें भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हों तो कुछ सफलता मिल सकती है। अभी तो अध्यापकों को पता भी नहीं चलता कि अमुक विषय पर अमुक द्वारा लिखी पुस्तक हिन्दी अथवा किसी भी भाषा में उपलब्ध है। इसके लिये ग्रन्थ अकादमियों को व्यापक प्रचार करने की आवश्यकता है। निठल्ले बैठकर और केवल पुस्तकें छपवा देने से ही पुस्तकों का प्रचार नहीं हो जाता। यदि समय रहते चेता नहीं गया तो इसमें संदेह नहीं कि इन पुस्तकों को दीमक का ग्रास बनना पड़े।

आपका अद्‌भुत फेफड़ा

● श्री जे० पी० गुप्ता

विश्व का प्रत्येक प्राणी कुछ न कुछ कार्य अवश्य करता है। प्राणियों के शरीर के हर अंग कार्य करते हैं। कुछ क्रियाएँ तो हम देख पाते हैं परन्तु कुछ का केवल आभास ही हो पाता है, वह कौन सी क्रिया है—जिसे आप एक मिनट में अठारह बार, एक घंटा में 1080 बार और एक दिन में करीब 25,000 बार करते हैं फिर भी उसे देख नहीं पाते हैं—जबाब है-आप श्वास लेते हैं।

शरीर के भीतरी अँगों में फेफड़ा भी एक है जिसके द्वारा श्वास-क्रिया संपादित होती है। कुछ चीजों के ज्ञान में कुशलता प्राप्त होने पर भी हम लोगों के मन में कभी-कभी श्वास-क्रिया तथा फेफड़ा के विषय में कुछ मूल विचार आ जाते हैं। उदाहरण के लिये आप निम्नलिखित छः कथनों पर विचार करें।

1. एक वयस्क मानव का फेफड़ा लाल होता है।
2. दोनों फेफड़े बिल्कुल एक समान होते हैं।
3. एक फेफड़ा नहीं रहने पर भी जीवित रहना संभव है।
4. खाँसी से कष्ट नहीं होता है।
5. पुरुष और स्त्री के श्वास क्रिया की विधि में कोई अंतर नहीं है।
6. श्वास-क्रिया द्वारा अधिकांश वायु बाहर निकालने की अपेक्षा भीतर ली जाती है।

क्या उपर्युक्त कथन सत्य हैं ? जी नहीं, तीसरे संख्या के अतिरिक्त सभी कथन गलत हैं। छोटे बच्चे का फेफड़ा गुलाबी रंग का होता है।

धीरे-धीरे सांसारिक वायुमण्डल में पलते हुए फेफड़े के रंग में भी परिवर्तन होता है। वयस्कों के फेफड़े भूरे अथवा काले होते हैं। व्यावसायिक नगरों के निवासियों के फेफड़े जो कल-कारखानों के धुएँ में श्वास लेते हैं, ग्राम-वासियों की अपेक्षा अधिक काले होते हैं। शरीर में दो फेफड़े होते हैं जो वक्ष गुहा में हृदय के दोनों ओर तथा डायफ्राम (फेफड़े और हृदय को अलग करने वाली मांस-पेशी) के ऊपर स्थित हैं। दोनों फेफड़े सदृश अवश्य हैं लेकिन आकार-प्रकार में समान नहीं हैं। बायीं ओर वाला फेफड़ा दाएँ की अपेक्षा छोटा होता है। बाएँ फेफड़े के दो भाग और दाएँ के तीन भाग होते हैं। आकार के अनुपात में दोनों फेफड़े शरीर के सबसे हल्के अँग हैं। ये पानी में तैरते हैं डूबते नहीं। महिलाओं के फेफड़े का भार करीब 1,250 ग्राम तथा पुरुषों के फेफड़े का भार करीब 1600 ग्राम होता है। फेफड़े के प्रसरण एवं संकुचन में डायफ्राम सहायक होता है। फेफड़े का लक्ष्य आक्सीजन को शरीर कोशिकाओं में लाना तथा कार्बन डाइ आक्साइड को बाहर निकालना है। इस कार्य का संपादन फेफड़ा के वायु-कोष्ठक करते हैं जिनकी संख्या करीब 600 करोड़ है। एक वायु-कोष्ठक एक इंच के 250वें भाग के बराबर होता है।

फेफड़े का आकार आश्चर्यजनक है। शरीर के चर्म की तुलना में फेफड़े की सतह पचास गुना अधिक है। यदि फेफड़े की दीवारों को समतल रूप में फैलाया जाय तो ये दीवार 2,600 वर्ग फीट क्षेत्र को पूरी-पूरी ढँक लेगी। यद्यपि फेफड़ा एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है-फिर भी एक फेफड़ा हटा देने के बाद भी बहुत से लोगों को आराम से वर्षों जीवन व्यतीत करते देखा गया है। साधारणतः व्यक्ति

श्वास-क्रिया के कारण खाँसता भी है। इसकी चिन्ता स्वयं "मेंडुला ऑवलांगेटा" को रहती है जो मस्तिष्क का एक भाग है। दिल की धड़कन तथा निगलने की क्रिया भी मेंडुला द्वारा ही नियंत्रित होती है। कभी-कभी व्यक्ति स्वेच्छा से भी खाँसता है। फेफड़ा में प्रवेश पाने वाली हवा
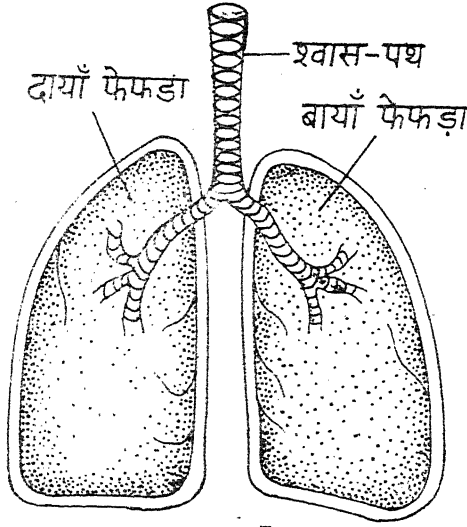
चित्र 1

नाक के बाल द्वारा आंशिक रूप से शुद्ध की जाती है ताकि बाहरी पदार्थ प्रवेश न पा सके। खाँसने की क्रिया द्वारा बाहरी पदार्थ फेफड़ा से बाहर निकाल दिये जाते हैं। खाँसते समय जो हवा फेफड़े से बाहर निकलती है उसका वेग एक भयानक आँधी के समान होता है। यद्यपि खाँसी फेफड़ा को परिष्कृत करने का एक अच्छा तरीका है, लेकिन कभी-कभी जोरदार खाँसी से पसली की हड्डी में दरार भी हो जाती है और व्यक्ति तीन-चार मिनट के लिये अचेत भी हो सकता है। इससे हृदय में तनाव के कारण सिर में दर्द हो जाता है और थकावट का अनुभव होता है। कभी-कभी तो अतिश्रम के कारण डायफ्राम में कुछेक छिद्र भी बन जाते हैं।

पुरुष और स्त्री की श्वास-क्रिया एक तरह नहीं होती है। पुरुष की अपेक्षा स्त्री की पसली की हड्डियाँ अधिक लचीली होने के कारण श्वास क्रिया में भी अधिक मुड़ती हैं। बच्चों की श्वास-क्रिया भी वयस्कों से भिन्न है, उनके डायफ्राम अधिक हिलते हैं। अगर आपको ऐसा संदेह होता हो कि व्यक्ति गर्म हवा से पूर्ण है तो आपका संदेह ठीक है। एक श्वास में व्यक्ति जितनी हवा शरीर के भीतर खींचता है उससे अधिक हवा वह बाहर निकालता है-क्योंकि फेफड़े में मौजूद अतिरिक्त हवा भी कुछ अंश में बाहर आती है।

एक औसत व्यक्ति सामान्यत: 20 घनइंच हवा का अन्तर्श्वसन कर सकता है, जो उसके फेफड़े की क्षमता का 1/7वाँ भाग है उसके अधिक जोर लगाने पर और भी 120 घ० इ० अतिरिक्त हवा का अन्तर्श्वसन हो सकता है। अब यदि उच्छ्वसन के लिये व्यक्ति बल प्रयोग करता है तब वह अपने फेफड़े से 20 घ० इ० +120 घ० इ० अतिरिक्त हवा को बाहर निकाल पाने में समर्थ होता है। अर्थात उच्छ्वसन के द्वारा अधिक हवा बाहर आती है। यह कथन एक श्वास-क्रिया के लिये सत्य है।

सामान्यत: व्यक्ति अन्तर्श्वसन द्वारा जितनी हवा भीतर लेता है करीब उसी परिमाण में हवा को उच्छ्वसन द्वारा बाहर भी निकालता है। यद्यपि सामान्य श्वसन दर प्रति मिनट 18 ताल हैं, लेकिन सुप्तावस्था में यह घट कर 12 से 15 ताल प्रति मिनट हो जाता है तथा परिश्रम की चरम सीमा पर श्वसन दर बढ़कर 70 से 80 ताल प्रति मिनट हो जाता है। इससे आगे श्वास-क्रिया में बहुत कठिनाई का अनुभव होने लगता है।

आपकी श्वास-क्रिया प्रतिदिन प्राय: 25,000 बार, प्रति सप्ताह 1,75,000 बार या प्रतिवर्ष 9,1,25000 बार सम्पन्न होती है। चालीस वर्ष की अवस्था आते-आते आपकी श्वास क्रिया 365 करोड़ बार सम्पन्न हो चुकेगी। यह आश्चर्यजनक कार्य बिना फेफड़ा के असंभव होता।

कुछ उपयोगी वस्तुओं का बनाना

● दिव्य प्रकाश

बच्चो तुम सब लोगों के दैनिक उपयोग की कुछ वस्तुओं के बनाने के बारे में मैं बता रहा हूँ। इन वस्तुओं को तुम घर पर बना सकते हो। इन वस्तुओं को बनाकर तथा बेच कर कुछ आमदनी भी कर सकते हो और नहीं तो कम से कम अपने और अपने घर वालों के लिये तो बना ही सकते हो। इस प्रकार उन पैसों को तो बचा ही सकते हो जो इन पर व्यय करते। इन सब वस्तुओं को जब अपने आप बनाओगे तथा इनका इस्तेमाल करोगे तथा बेचोगे, तो तुम लोगों में एक आत्म विश्वास उत्पन्न होगा। इससे आगे जब तुम्हारे जीवन में कोई कठिनाई आयेगी तो यही वस्तुएं जो तुम लोग खेल-खेल में बना रहे हो आगे चलकर तुम्हारे जीवन की समस्याओं को हल करने के काम आयेंगी।

तुम लोगों को इन सब वस्तुओं को बना कर पहले अपने कक्षा के विद्यार्थियों को बांटना चाहिये फिर पसंद आने पर इन्हीं मित्रों को बेचना चाहिये।

(1) स्नो और क्रीम बनाना -

आजकल इनका उपयोग बहुत अधिक बढ़ गया है। स्नो को गर्मियों में तथा क्रीम को जाड़ों में इस्तेमाल किया जाता है।

स्नो-इसको बनाने से पहले हमें सफाई का बहुत अधिक ध्यान रखना चाहिये और वही वस्तुएं इस्तेमाल करनी चाहिये जो बाजार में शुद्ध रूप में मिलती हों। छः औंस स्नो बनाने के लिए निम्न वस्तुओं की आवश्यकाता होगी।

(1) एक औंस स्टीरिक एसिड।

(2) दो माशा कास्टिक पोटाश।

(3) पाँच औंस पानी।

(4) सेंट जो भी डालना चाहो।

इसके बनाने के लिये ताम चीनी और कांच के बर्तन प्रयोग में लाते हैं। ताम चीनी के बर्तनों की कलई कहीं से भी उतरी नहीं होनी चाहिये। ताम चीनी के बर्तन में पानी को गर्म करो। जब पानी उबलने लगे तो इसे नीचे उतार कर दो भागो में बाँट लो। एक भाग में कास्टिक पोटाश डाल दो और दूसरे भाग को आग पर पुनः चढ़ा दो। आग बहुत ही धीमी होनी चाहिये। अब इस दूसरे भाग में स्टेरिक एसिड की धीरे-धीरे पतली धार डालो। आग पर रखे बर्तन को हिलाते रहो। जब पानी और अम्ल दोनों घुल कर एक हो जाय तो उसे आग पर से उतार लो। अब कास्टिक पोटास के घोल को और अम्ल के घोल में धीरे-धीरे मिलाओ। मिलाते समय इसको कांच की छड़ से चलाते रहो जब सारा घोल डाल चुकोगे तो तुम देखोगे कि अम्ल वाला घोल गाढ़ा होकर सफेद मक्खन जैसा हो गया है। अब इसे किसी छाया वाले स्थान पर ठंडा करो ठंडा होने के बाद इसमें अच्छी किस्म का कोइ सेंट मिला दो। स्नो तैयार हो गया।

क्रीम या कोल्ड क्रीम -

इसके बनाने के लिये निम्न वस्तुओं की आवश्यकता होगी

(1)	वैसलीन सफेद	4 औंस
(2)	स्टीरिक एसिड	1/2 पौंड
(3)	पैराफीन हार्ड	4 औंस
(4)	पैराफीन लिक्विड	$1\frac{1}{4}$ पौंड
(5)	जिंक आक्साइड	3 औंस
(6)	कोई भी अच्छी सेंट	3/4 औंस

एक बिल्कुल स्वच्छ ताम चीनी के बर्तन में जिसको पहले गर्म पानी से धो लेते हैं वैसलीन, पैराफीनहार्ड और पैराफीन लिक्विड गर्म करो। स्टिरिक एसिड को कई बार पानी से धो लो। इसको धोने के लिये पहले स्टेरिक एसिडको हल्के गर्म पानी में डाल दो फिर स्वच्छ पानी से इसे बार बार धो लो। धुले हुये स्टेरिक एसिड को उस बर्तन में मिलाते हैं जिसमें वैसलीन आदि पिघलाये थे। जिंक आक्साइड को एक कपड़े पर रख लो और ऊपर से पिघली हुई वैसलीन डालते जाओ जिससे कि जिंक आक्साइड पूरी तरह उस घोल में मिल जाय। जिंक आक्साइड का मिल जाना आवश्यक है अब इसको कांच की नली से खूब फेंटो। जब यह गाढ़ी हो जाय तो इसमें सेंट मिला दो। सेंट ऐसा होना चाहिये जिसमें भीनी-भीनी सुगन्ध आती हो।

(2) बूट पालिस -

(A) ब्राउन पालिस

आवश्यक सामग्री

(1)	कारनीवा मोम	10 माशा
(2)	मक्खी का मोम	11 माशा
(3)	तारपीन का तेल प्रथम श्रेणी का	4 तोला 2 माशा
(4)	रंग वैक्सोलाइन महागनी ए०एस०	1 माशा

पहले दोनों मोम वाटर बाथ पर पिघला लो। अब रंग को तारपीन के तेल में अच्छी तरह घोल लो। इस घोल को पिघले मोम में अच्छी प्रकार मिला लो। मोम को नीचे उतार कर बराबर घोटते रहो। जब यह शहद के समान गाढ़ा होने लगे तो इसे डिबियों में भर लो। सुगंध के लिये इसमें थोड़ा मिरबेन का तेल मिला दो। पालिश का पैकिंग करते समय उस पर सीसे का पत्तर रख देते हैं।

यह ध्यान रखो कि घोल को डिबियों में उस समय भरें जब कि शहद के समान गाढ़ा हो जाय। यदि पतली अवस्था में भर दिया तो प्रायः तारपीन का तेल मोम से अलग हो जाता है।

(B) काली पालिश

इस पालिश को बनाने के लिये भी ऊपर वाली विधि का ही उपयोग करते हैं। केवल रंग के स्थान पर कोई तेल में घुलने वाला काला रंग लेते हैं।

(3) स्याही -

आवश्यक सामग्री

1. आसुत जल	500 c.c.
2. मैथलीन या इंकब्लू	10 ग्राम
3. कार्बोलिक एसिड (फीनोल)	200 मि०ग्राम
4. ग्लिसरीन	5 c.c.
5. रेक्टीफाइड स्पिरिट	5 c.c.

विधि -

सबसे पहले आसुत जल में मैथलीन या इंकब्लू (जो भी रंग उपलब्ध हो) डालकर घोल लो। यदि रंग ठंडे जल में न घुले तो थोड़ा गर्म कर लो। जब रंग घुल जाय तो उसमें कार्बोलिक एसिड, ग्लिसरीन और स्पिरिट मिला दो। अब इस स्याही को छन्नक कागज द्वारा छान कर बोतल में भर लो।

सावधानी -

स्याही बनाते समय इस बात का ध्यान रखो कि फीनोल कपड़े या खाल पर न गिरने पाये अन्यथा उस स्थान से खाल व कपड़ा जल जायेगा।

चन्द्रमा की आत्मकथा

● जीवा राम पटेल

मानव ने जन्म लेते ही अपनी आँखें ऊपर को उठाईं और रात के समय आकाश में अपने निकटतम पड़ोसी को आश्चर्य और भय से देखा। विभिन्न लोगों ने मुझको रहस्यमय वस्तु या शक्ति, देवता, मौसम का संकेत या सौभाग्य (अथवा दुर्भाग्य) का चिन्ह समझा है। आज मानव पृथ्वी पर से मुझको सुन्दरता की मूर्ति और रात्रि-आकश के दैवी दीप के रूप में देखता है।

मेरी उत्पत्ति के विषय में बहुत से वैज्ञानिक सिद्धान्त समझाये गए हैं। पहला सिद्धान्त कहता है कि मैं पृथ्वी का ही टूटा हुआ भाग हूँ। जब पृथ्वी नई और अर्ध ठोस अवस्था में थी, तो सूर्य की परिक्रमा में तेजी से घूमने के कारण इसकी आकृति असंतुलित डम्बल के समान हो गयी। इस डम्बल का छोटा भाग टूटकर अलग हो गया और मेरी उत्पत्ति हो गई।

मेरा सम्पूर्ण द्रव्यमान उस गढ्ढे को लगभग पूर्णतया भर देगा, जिसमें आज प्रशान्त महासागर बना हुआ है।

कुछ वैज्ञानिकों का विश्वास है कि मैं सौर-परिवार की उस प्राचीन अवस्था का अवशेष हूँ जो पृथ्वी के निर्माण के पहले थी। पृथ्वी में मुझको अपने गुरुत्व आर्षकण के बल से पकड़ लिया, और मैं पृथ्वी का स्थाई उपग्रह बन गया।

कुछ वैज्ञानिक यह मानते हैं कि अरबों वर्ष पहले हमारा सौर परिवार शीतल धूलि-कणों का एक बादल था जिसके गुरुत्व बल से चक्रिका वलयों में फटने से सूर्य, ग्रह एवं मेरे जैसे अनेक उपग्रह बने।

मेरा व्यास 3475 किमी० है, जो पृथ्वी के व्यास का 1/4 है। मेरा द्रव्यमान पृथ्वी के द्रव्यमान का 1/8 है। मेरे पृष्ठ पर गुरुत्वाकर्षण पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण बल व। ठीक 1/6 है।

मैं पृथ्वी के चारों ओर तनिक दीर्घ वृत्तीय कक्षा में परिक्रमा लगाता हूँ। अतः पृथ्वी से अधिक दूर की स्थिति 406610 किमी०, सबसे निकट की 356620 किमी० है। अतः औसत दूरी 384320 किमी० है। मुझसे निकलने वाले प्रकाश, रेडियो तथा टेलीविजन के संकेत पृथ्वी तक लगभग $1\frac{1}{4}$ सेकंड में पहुँचते हैं।

पृथ्वी अपनी धुरी पर प्रति 24 घन्टे में एक बार घूमती है, अतः औसत दिन-रात की अवधि 12 घंटे होती है। मैं पृथ्वी के चारों ओर अपनी कक्षा में $27\frac{1}{3}$ दिन में, और इतने समय में मैं अपनी धुरी पर केवल एक बार घूमता हूँ। अतः मेरा एक दिन व एक रात पृथ्वी के 14 दिनों व रातों के बराबर होती है। इसी कारण सूर्य का प्रकाश पृथ्वी के समान ही एक पार्श्व पर सदा पड़ता है। मेरा ताप दिन को 103°से० व रात को 121° से० रहता है।

स्वच्छ रात्रि में तुम्हें जो मेरी चाँदनी मिलती है वह मेरे से परावर्तित सूर्य की धूप मात्र होती है। इसी से मेरी विभिन्न कलाएं बनती हैं।

मेरा रंग जाड़े में सफेद या चांदी-सा गर्मियों में नीचे कोण पर चलने से पीला या सुनहरा दिखाई देता है। अपोलो-11 के आर्मस्ट्रांग व ऐल्ड्रिन मुझ पर चलने वाले सबसे पहले व्यक्ति हैं। उनके अनुसार मेरा रंग बहुत हल्का धूमिल है।

जब सूर्य और मैं एक ही रेखा में पृथ्वी से विपरीत दिशाओं में होते हैं तो दोनों के गुरुत्व आकर्षण से असाधारण

रूप से ऊँचा ज्वार (पूर्ण ज्वार) उत्पन्न होता है। जब सूर्य और मैं समकोणों पर होता तो लघुज्वार आता है।

3680 किमी०/घं० का स्पर्शरेखीय वेग मुझको एक सीधी रेखा में पृथ्वी से परे फेंक देने का प्रयत्न करता है पर पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण मुझको अपनी ओर खींचे रहता है। इसलिये मैं शांन्तिपूर्वक अपनी कक्षा में चक्कर लगाता रहता हूँ।

मैं अपने अक्ष पर 5°9′ से घूमता हूँ तो पात बिन्दु को पूर्णिमा को चन्द्रग्रहण होता है।

जब पृथ्वी और सूर्य के बीच से गुजरता हुआ मैं सूर्य को पृथ्वी के एक भाग से छिपा देता हूँ तो सूर्य ग्रहण लगता है।

गैलीलियो, आवर्धक दूरबीन से मुझको देखने वाला पहला मनुष्य था।

मेरा पार्श्व भाग 1959 में सोवियत यान लूना 3 ने 1965 में जोंड-3 ने 1966 में अमेरिकन लूनर आर्बिटर 1 व 2 से देखा गया।

मेरे पृष्ठ की मुख्य रचनाएं मेरी पर्वत श्रृंखलाएं, गर्त और सागर हैं। वैज्ञानिकों ने अपने नाम से सभी का नाम (घोषित) कर रखा है।

मेरे शरीर पर क्षरण नहीं होता, इसलिये सब पर्वतों के शिखर नुकीले और धारदार हैं। जैसे लीबनिज पर्वत (8700 मीटर)।

मेरे शरीर (धरातल) पर लगभग 30000 गर्त मानव द्वारा गिने गये हैं। किलेकिप्रस गर्त का व्यास 234 किमी० है।

मेरी घाटियाँ मेरे पृष्ठ की कम महत्वपूर्ण रचना है। ये लम्बी संकरी खाइयां हैं कुछ गहरी, कुछ छिछली, वृत्ताकार सागरों के निकट स्थित हैं।

मेरी अब्रुभ रचना किरणें भी हैं। ये चमकदार धारियां हैं जो कुछ बड़े गर्तों, जैसे-टाइको कोपरनिकस और केपलर से सब ओर फैली हुई है। ये गर्त से 3200 कि०मी० जाकर क्षितिज के पार मेरे दूरपार्श्व में विलीन हो जाती हैं।

मेरे विशाल समतल क्षेत्र 'सागर' कहे जाते हैं। अपोलो 11 के अन्वेषक आर्मस्ट्रांग और एल्ड्रिन 2 घंटे मेरे पृष्ठ पर रहे। वे 30 किलो मिट्टी पृथ्वी पर लाए।

मेरे धरातल, जलवायु, चट्टानों का मानव परीक्षण कर रहा है। व्यवहारिक रूप से मैं एक अत्यन्त गर्म और ठंडा वायुहीन जलहीन गोला हूँ।

मुझपर किसी प्रकार का जीवन असम्भव है।

मानव अपने ज्ञान की पिपासा हेतु मेरे धरातल पर लूनार-10, सर्वेअर, लूनर आर्बिटर, अपोलो 10-12 भेजकर आये दिन नवीन खोजों, प्रयोगों से अपार ज्ञान की वृद्धि करता रहा है। मैं ऐसा सोचता हूँ कि मानव मस्तिष्क शायद मुझको भी पृथ्वी की तरह रहने प्रयोग में लेने लगेगा।

एल्बर्ट आइन्सटाइन

● डॉ० शिवप्रकाश

आज से 74 वर्ष पूर्व स्विस पेटेंट आफिस के एक 26 वर्षीय साधारण क्लर्क ने एक ऐसा सिद्धान्त प्रस्तुत किया था जिसने तब और बाद के कई वर्षों तक वैज्ञानिक क्षेत्र में तहलका मचा दिया। तब वह साधारण क्लर्क था। परन्तु 1955 में जब उसकी मृत्यु हुई तो संसार का महानतम वैज्ञानिक बन चुका था। वह क्लर्क था एल्बर्ट आइन्सटाइन।

14 मार्च 1879 को उल्न (दक्षिण जर्मनी) में जन्मे इस महान वैज्ञानिक के पिता का नाम हरमैन व माता का नाम पाउलिन कोच था। बालक आइन्सटाइन जब तक 3 वर्ष का न हो गया उसकी आवाज किसी ने नहीं सुनी। कैथोलिक स्कूल में उसकी प्रारम्भिक शिक्षा हुई। उसके चाचा उसे बीजगणित की शिक्षा देते थे। यूक्लिड की रेखा गणित में उसे आनन्द आता था। परन्तु वह कभी मेधावी छात्र नहीं रहा। उसे तो यह कहा गया कि यह एक मूर्ख लड़का है जो साधारण सी बात नहीं समझ सकता। जब वह हाई स्कूल में पढ़ता था उसे स्कूल में रुचि नहीं रहती क्यों कि वहाँ पर ड्रिल कराई जाती थी। और आइन्सटाइन का दुर्बल शरीर ड्रिल करने से अत्यधिक थक जाता था। आइन्सटाइन का विद्यार्थी जीवन प्रतिभामय तो न था परन्तु वह अपने प्रोफेसरों के सम्मुख अद्भुत प्रश्न करके उन्हें परेशानी में डाल देता था। उसने गणित व चलन कलन सीखा पर फाइनल वर्ष में उसे स्कूल से निकाल दिया गया ताकि उसका प्रभाव दूसरे विद्यार्थियों पर न पड़े।

15 वर्ष की उम्र में आइन्सटाइन का परिवार इटली के मिलन नगर पहुँचा। उसे डिप्लोमा एक वर्ष बाद मिला परन्तु ज्युरिख के पॉलीटेकनीक इन्सटीट्यूट की प्रवेश परीक्षा में वह फेल हो गया। दुबारा भी वह पास न हो सका। परन्तु उसकी गणित में विलक्षण प्रतिभा देखकर प्रोफेसर हरमैन मिन्काउस्की ने उसे प्रवेश दिलवा दिया। 21 वर्ष की आयु में वह ग्रेजुएट हुए।

ग्रेजुएट होकर नौकरी की तलाश में वह दर-दर भटकते रहे। वह जूता बनाने तक का काम ढूंढते रहे ताकि दो वक्त का भोजन मिल सके। जब उन्हें पढ़ाने का काम मिला भी तो वह स्थायी न था। उस समय कभी-कभी उन्हें भूखा भी रहना पड़ता था। एक मित्र की सहायता से बर्न में स्विस पेटेंट आफिस में क्लर्क का काम मिला जिसमें वर्ष भर की वेतन 3500 स्विस फ्रांक थी। तभी उन्होंने ज्युरिख में साथ पढ़ने वाली लड़की मिलेवा मासर्च से विवाह किया। इस महिला से दो बच्चे हुये। प्रथम युद्ध छिड़ने के पूर्व मिलेवा बच्चों के साथ बाहर चली गई थी और फिर नहीं लौटी। बाद में आइन्सटाइन ने अपनी चचेरी बहन एल्जा से ब्याह कर लिया जो विधवा थी और जिसके पूर्व पति से दो लड़कियां भी थीं।

1905 में उन्होंने सापेक्षवाद का सिद्धान्त दिया जिसे समझ पाना वैज्ञानिकों की बुद्धि से परे था। उन्होंने प्रसिद्ध समीकरण $E = mC^2$ देकर ऊर्जा तथा द्रव्यमान में सम्बन्ध स्थापित किया जिसके अनुसार तनिक सा भी द्रव्यमान को अत्याधिक ऊर्जा में परिवर्तित करना सैद्धान्तिक रूप से सम्भव था। बाद में परमाणु ऊर्जा के रूप में यह समीकरण खरा उतरा उन्होंने प्रकाश विद्युत प्रभाव भी प्रतिपादित किया जिसके आधार पर टेलीवीजन बनाया गया। 1921 में उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला जिसकी राशि 2 लाख रुपये से अधिक की थी। यह रुपया उन्होंने दान में दे दिया था। वह एक उदार सीधे सादे व्यक्ति थे जिन्हें तड़क भड़क से कोई वास्ता न था।

एक बार आइन्सटाइन को 2500 डालर की एक चेक पुरस्कार में मिली। वह उस चेक को पुस्तक चिह्न के रूप में प्रयोग करते रहे। बाद में पुस्तक भी खोगई और चेक भी। उन्हें कभी भी पैसे से मोह नहीं था।

जब आइन्सटाइन को प्रश्यिन एकेडेमी आफ साइंस (जर्मनी) का फेलो चुना गया वह केवल 34 वर्ष के थे। (इतिहास में इतनी कम आयु में कोई फेलो नहीं चुना गया था।) शीघ्र ही सापेक्षवाद प्रतिपादित करने वाला यह साधारण पुरुष इतना विख्यात हो गया कि यूरोप के सभी विश्वविद्यालय अपने यहाँ उनका ब्याख्यान करवाने और उनका आदर करने की होड़ में लग गए।

सर्वप्रथम उन्होंने ज्युरिख में एसोशिएट प्रोफेसरशिप का पद संभाला बाद में प्राग विश्वविद्यालय चले गये जहाँ उन्हें प्रोफेसर नियुक्त किया गया था। 1909 में ज्युरिख में भौतिकी के प्रोफेसर व 1913 में कैसर विल्हेल्म फिजिकल इन्सटीट्यूट के डायरेक्टर हो गए। 1933 तक बर्लिन में रहे फिर नाजियों के प्रादुर्भाव के समय वह इग्लैण्ड पहुँचे जहाँ आक्सफर्ड व कैम्ब्रिज में लेक्चर दिया। बाद में अमरीका चले गए। 1940 में अमरीकी नागरिकता प्राप्त कर ली। प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी में उनका बाद का समय बीता। उनके पास कोई प्रयोगशाला न थी। कागज पेन्सिल की सहायता से ही वे महत्वपूर्ण व विलक्षण सिद्धान्त प्रतिपादित करते रहे। सापेक्षवाद पर उनका पहला लेख एनालेन डेर फिजिक्स, साइंस पत्रिका में छपा था जो सभी अन्य लेखों से भिन्न था क्यों कि इसमें कोई भी निर्देश न था।

आइन्सटाइन को संगीत से बहुत लगाव था वह वायलिन बजाते थे। संगीत की शिक्षा उनकी माता ने दिया था। जो कभी नौकरी के लिये इधर उधर भटकता था उसने वैज्ञानिक संसार को इतना अधिक ज्ञान दिया है जो अकेले अन्य कोई वैज्ञानिक नहीं कर सका है। जब हम उसकी जन्मशती मना रहे हैं हमें आइन्सटाइन के जीवन से यह शिक्षा लेनी चाहिये कि साधारण जीवन व्यतीत करके, विलक्षण कार्य किया जा सकता है।

आइन्सटाइन ने जब बर्न में 1902 में पेटेंट आफिस में काम करना आरम्भ किया तो आफिस की मेज का दराज सैद्धान्तिक भौतिकी का उनका अलग दफ्तर बना। उसी में अपनी गणनाएं व खोजे गए समीकरणों को वह रखते थे। उस कार्यालय में जब प्रसिद्ध जर्मन प्रोफेसर रूडोल्फ लेडेनबर्ग उनसे 1908 में मिले तो 1902 से 1908 तक में मिलने वाले वह प्रथम भौतिकविद थे। इन्हीं 6 वर्षों के बीच ही उन्होंने सापेक्ष वाद के अपने सिद्धान्त को प्रकाशित किया। साथ ही साथ एक और भी शोध पत्र प्रकाशित किया जिसमें क्वाण्टम भौतिकी की परिकल्पना को प्रकाश के लिये प्रयुक्त किया।

आइन्सटाइन ने किसी वैज्ञानिक गोष्ठी में सर्वप्रथम 1909 में भाषण दिया था। यूरोप में अपनी चरम सीमा पर वह तब पहुँचे थे जब 1913 में वह कैसर इन्सटीट्यूट के निर्देशक नियुक्त हुये। 1913 में ऐसे व्यक्ति का इन्सटीट्यूट का निर्देशक बनना जो जर्मन नहीं था, अपने आप में एक साहसपूर्ण पग था। यहीं पर उन्होंने अपने सिद्धान्त को अन्तिम आकार दिया।

आइन्सटाइन इतने सरल व्यक्ति थे कि कहा जाता है कि वह पैर में मोजे भी नहीं पहनते थे। वह कहते थे कि अंगूठे हमारे मोजे में छेद कर देते हैं। आइन्सटाइन इतना प्रसिद्ध हो गये थे कि हर व्यक्ति उनके निकट सम्पर्क में आना चाहता था पर वह अपने को सबसे अलग रखने का प्रयत्न करते थे। कहते हैं कि किसी आगन्तुक से बातें करते समय जब उनके सामने सूप आता तो दो स्थिति होती। यदि वह सूप स्वीकार कर लेते तो उसका अर्थ था आगन्तुक को अब चला जाना चाहिए और यदि वह सूप का कटोरा न लेते तो वह सूप लाने वाली को इशारा करके वापस कर देते और इसका अर्थ होता वह अभी बातें करेंगे।

*आगामी दशकों के भारत में विज्ञान और तकनीकी की प्रगति

● डॉ० रामचरण मेहरोत्रा

लगभग साठ वर्षों से भारतीय विज्ञान के अधिवेशनों में विभिन्न अनुशासनों में बंटी हुई नाना शाखाओं में जो चर्चाएं होती रहीं और उसमें अनुसंधानकर्त्ताओं ने या तो व्यक्तिगत अनुसंधान कार्यों के विवरण प्रस्तुत किये अथवा पारस्परिक रुचि के विषयों पर विचार विमर्श हुये। राष्ट्रीय समस्याओं के हल प्रस्तुत करने की दिशा में प्रयत्नशील वैज्ञानिक समुदाय के अब बढ़ते हुये आग्रह तथा उत्साह को देखकर पिछले तीन वर्षों से एक नयी पद्धति की शुरुआत की गई है जिसके अनुसार प्रत्येक अधिवेशन के लिये एक केंद्रीय विषय चुना जायेगा एवं जिस पर केवल विभिन्न शाखाओं में ही नहीं सामूहिक रूप से विचार किया जायेगा। वर्तमान अधिवेशन के लिये चुना गया मूल विषय है: "आगामी दशकों के भारत में विज्ञान और तकनीक की प्रगति"

विज्ञान का युग-इसके तकनीकी तथा मानवतावादी-पक्ष

विज्ञान तथा तकनीक के इस आधुनिक युग में पिछले 3-4 दशकों से सारे संसार में विज्ञान की शिक्षा एवं वैज्ञानिकों के प्रशिक्षण में सबसे अधिक ध्यान दिया जा रहा है। हमारे जैसे विकासशील देश के लिये यह प्रश्न और भी महत्वपूर्ण बन जाता है क्योंकि हमारी भौतिक उन्नति एवं राष्ट्रीय सुरक्षा देश में उपलब्ध सु-प्रशिक्षित वैज्ञानिकों की संख्या एवं नानाविध समस्याओं को हल करने में उनकी दक्षता पर निर्भर करती है। सन् 1947 से हमारे देश की अति तीव्र गति से उन्नति होने पर भी इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि भारत तथा समुन्नत देशों के बीच खाई बढ़ती ही जा रही है। हमारे देश के प्राचीन सम्यता के युग में आर्यभट्ट, बारहमिहीर, भास्कराचार्य, नागार्जुन, रामानुज, पतांजलि, चरक तथा शुश्रुत जैसे विख्यात व्यक्तियों ने वैज्ञानिक चिंतन का समारंभ किया था। यह दुःख की बात है कि जब 18वीं तथा 19वीं शती में पश्चिमी देश औद्योगिक क्रांति तथा वैज्ञानिक अनुसंधानों के फलस्वरूप अपने यहाँ एक सशक्त वैज्ञानिक तथा तकनीकी आधार बनाने में समर्थ हुये, तब भारत गुलामी की जँजीरों में फँसा हुआ नये वैज्ञानिक विकास का लाभ नहीं उठा सका।

वर्तमान युग में 1920 के दशक से भारत में आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान का सूत्रपात हुआ। महेंद्रलाल सरकार, श्रीनिवास रामानुजम, जगदीश चंद्र बोस, चन्द्रशेखर वेंकट रमण, प्रफुल्ल चंद्र रे, मेघनाद शाह, बीरबल साहनी, शिशिर कुमार मित्रा, शान्ति स्वरूप भटनागर, कार्य मणिकम श्रीनिवास कृष्णन तथा होमी जहाँगीर भाभा आदि कतिपय प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिकों के व्यक्तिगत प्रयत्नों से विश्व के वैज्ञानिक मानचित्र में भारत का स्थान निर्धारित हुआ। इन व्यक्तियों का योगदान विश्व के किसी भी भाग के समकालीन वैज्ञानिकों के योगदान के समानांतर ही था मगर ये सब गिने-चुने उदाहरण हैं। सामूहिक रूप से सारा देश स्वाधीनता प्राप्ति यानी 1947 तक शैक्षणिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा रहा। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् इस बड़ी खाई को पाटना आवश्यक था और इस ओर बहुत प्रयत्न किये गये। मगर विकसित देशों ने इस बीच विज्ञान

*हैदराबाद में आयोजित भारतीय विज्ञान कांग्रेश के छियासठवें अधिवेशन के अवसर पर दिये गये अध्यक्षीय भाषण का सार।

एवं तकनीक में इतनी द्रुतगति से प्रगति की कि यह खाई और भी अधिक फैलती चली गई।

स्वतंत्र भारत में विज्ञान एवं टेकनोलॉजी का विकास

यह सभी को मालूम है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत विज्ञान एवं टेकनोलॉजी पर जो राशि खर्च की जा रही है वह लगातार बढ़ती जा रही है। 1947 में यह एक करोड़ रुपये थी जो सन् 1977 में बढ़कर 500 करोड़ रुपये से भी अधिक हो चुकी है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत कृषि उद्योग में भारत ने विशेष प्रगति की है। आज विश्व के खास औद्योगिक देशों में उसका स्थान दसवाँ हो गया। प्रशिक्षित तकनीकी वैज्ञानिकों की संख्या की दृष्टि से अमरीका और रूस के बाद भारत का ही स्थान आता है। खाद्य-पदार्थों के उत्पादन में इसका स्थान चौथा है एवं गेहूँ पर किये गये शोध कार्य में तो यह एक अग्रणी देश हैं। कड़ी अंतराष्ट्रीय प्रतियोगिता के बावजूद भारत विश्व के विभिन्न देशों में नाना प्रकार के उत्पादनों का पशुचर्म से लेकर विद्युत उत्पादक मशीनों का केवल निर्यात ही नहीं करता बल्कि मशीनों को प्रतिष्ठित करके पूरे कारखाने को चालू स्थिति में निर्यात करना भी इसमें शामिल है।

विज्ञान और शोध के विकास के लिये हमारे देश में जो महत्वपूर्ण प्रयत्न किये जा रहे हैं वे लगभग सब के सब हमारी राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं सी० एस० आई० आर०, एटोमिक एनर्जी तथा डिफेन्स प्रयोगशालाओं तक ही सीमित हैं। यह दुख की बात है कि देश में टेकनोलॉजी की नींव को विकसित करने के लिये जो राशि खर्च हो रही है उसमें गैर सरकारी उद्योग का योगदान बहुत ही नगण्य (10%) है, यद्यपि देश की तकनीकी प्रगति का सर्वाधिक लाभांश गैर सरकारी उद्योग को ही प्राप्त होता है। इस गंभीर कमी के कारण भविष्य में उद्योग को हानि पहुँच सकती है क्योंकि इसके फलस्वरूप उद्योग परिवर्तित उपायों को ग्रहण कर के अपने को आधुनिकतम तथा अपने स्तर को उन्नत एवं दक्ष बनाये रखने में असमर्थ हो रहे हैं।

भारत की पर्याप्त वैज्ञानिक तथा तकनीकी समर्थता के बावजूद हमें यह स्वीकार करना होगा कि कुछ समय पहले तक ग्रामीण पिछड़ापन तथा गरीबी को दूर करने के लिये इस समर्थता का इन दिशाओं में बहुत ही कम सचेतन प्रयोग किया जाता रहा है। श्रम-प्रधान औद्योगिकियों से जुड़ी हुई टेकनोलॉजी की वैज्ञानिक तथा प्रबंधकीय समस्याओं की ओर आज जो प्राथमिक ध्यान दिया जा रहा है वह निश्चित ही एक सुखद स्थिति है। उदाहरणतया, अधिक-से-अधिक जनसमुदाय को जीविका दिलाने में कृषि के बाद हस्तशिल्प उद्योग का ही स्थान आता है। अतः यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के श्रम-प्रधान क्षेत्रों के प्रसार की ओर वैज्ञानिकों तथा प्रबंधक विशेषज्ञों का ध्यान आकर्षित होना बहुत जरूरी है जिससे आधुनिक विज्ञान तथा टेकनोलॉजी का लाभ हमारे समाज के कमजोर वर्गों के अधिक से अधिक लोगों तक पहुँच सके।

भारत में विज्ञान तथा तकनीकी प्रगति में शिक्षा संस्थाओं का योगदान

अपर्याप्त साधन एवं दूसरी कमियों के बावजूद विश्वविद्यालय के लिये यह गर्व की बात है कि यह उन्नत मान की प्रशिक्षित जनशक्ति का निर्माण कर सका है जो संख्या में संसार की दीर्घतम जनशक्तियों में से एक है। केवल संख्या ही नहीं गुणात्मक दृष्टि से भी हमारे उच्च स्तर के वैज्ञानिकों की तुलना समृद्ध देशों के दूसरे वैज्ञानिकों, से की जा सकती है। विकसित देशों में महत्वपूर्ण पदों को भरने के लिये हमारे वैज्ञानिकों, डाक्टरो तथा इंजीनियरों की सेवाओं की बड़े उत्साह के साथ माँग की जा रही है एवं कम विकसित देशों में हमसे उन्नत देशों के प्रशिक्षित वैज्ञानिकों की अपेक्षा इनकी माँग जिस तरह बढ़ती ही जा रही है उससे आज की प्रतियोगिता मूलक दुनिया में इनकी तुलात्मक वरीयता का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। यहाँ तक कि वैज्ञानिक अनुसंधान के क्षेत्र में, भौतिकी जैसे कतिपय विषयो के व्यवस्थित अध्ययन से यह पता लगा है कि यद्यपि विश्वविद्यालयों को प्रदान किये जाने वाला अनुदान संपूर्ण राष्ट्रीय खर्च का बहुत ही नगण्य अंश है तो भी विश्वविद्यालयों में होने वाले अनुसंधान सम्पूर्ण देश के इस दिशा में योगदान

के एक बहुत बड़े अंश के बराबर है।

यद्यपि हमारी शिक्षा प्रणाली ने उच्च श्रेणी के तकनीकी वैज्ञानिकों को जन्म देने में सफलता पाई है, फिर भी हमें यह मानना पड़ेगा कि सामान्य रूप से यह औपनिवेशिक सत्ता के द्वारा निर्मित प्रतिरूपों तथा मूल्य-व्यवस्था को ही स्वीकार करती चली आ रही है। उदाहरण के रूप में यह प्रणाली संकुचित व्यक्तित्ववाद एवं अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा पर अधिक बल देती है। इन कमियों के कारण हमारी शिक्षा प्रणाली सहकारी अंत:शास्त्रीय शिक्षा-पद्धति तथा टीम-सहयोग पद्यति के अनुसार नहीं पनप पा रही है। वस्तुतः विशिष्ट विषयों एवं उनके वर्द्धमान अतिव्याप्त रूपों के अधिक्रमी विकास के कारण उपर्युक्त सुधारों का समावेश संपूर्ण रूप से आवश्यक हो गया है। व्यक्तिवाद के फलस्वरूप एवं विद्वानों के द्वारा संकुचित विषयों में अपने को समेटे रखने तथा अध्ययन के सजातीय क्षेत्रों में अंत:क्रिया के अभाव में विश्वविद्यालय का अनुसंधान में योगदान मूलतः शास्त्रीय बना रह जाता है एवं अधिकतर स्थितियों में वास्तविक जीवन की समस्याओं को हल करने में उसका प्रयोग नहीं हो पाता क्योंकि इस प्रकार के हल निकालने के लिये सामान्यतः अंत:शास्त्रीय दृष्टि आवश्यक है।

विचार के जगत् में साहसिक अभियान तथा मौलिक अनुसंधान कार्यों के लिये विश्वविद्यालय सर्वश्रेष्ठ स्थान हैं। यद्यपि राष्ट्रीय विकास की वर्तमान स्थिति में यह बहुत जरूरी है कि विकसित देशों में संभाव्य उपयोगिता तथा खास प्रासंगिकता को ध्यान में रखकर शोभाचारी विषयों से संबंधित जो अनुसंधान हो रहे हैं उनकी अपेक्षा हमारी स्थानीय आवश्यकताओं तथा पर्यावरणी स्थितियों की प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए हमें अनुसंधान के विषयों का चुनाव करना चाहिए। वस्तुतः हमारी विश्वविद्यालय प्रणाली की एक विशेष दुर्बलता यह है कि वह समाज से विछिन्न है एवं इसी संदर्भ में आज शैक्षिण क्षेत्रों में "विस्तार-सेवा" की भूमिका पर बल दिया जा रहा है एवं इसे काफी उच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

आगामी दशकों में भारत का विज्ञान और तकनीक

यहाँ इस पर बल दिया जाना आवश्यक है कि अमरीका जर्मनी, जापान तथा रूस आदि देशों में विकसित भविष्यवादी अनुसंधान के सिद्धान्त तथा कार्यप्रणाली का सीधा प्रयोग हमारे जैसे द्रुत विकासशील देशों के लिए सही नहीं होगा। अधिक विकसित देशों का भविष्यवादी दृष्टिकोण साधारणतया प्रचलित प्रवृत्तियों पर आधारित रहा है। ऐतिहासिक प्रक्रिया में मानव-कर्म यदि बाधा न पहुँचाए तो इस प्रकार के बाह्यगणन से भविष्य के संभावित रूप के बारे में हमारी एक धारणा बन जाती है। आज हमारे देश से, सबसे महत्वपूर्ण कार्य कम से कम समय में उस खाई को पाटना है जो शताब्दियों की दासता तथा दुर्दशा के कारण फैल गई थी। हमारा मूल उद्देश्य यही है कि आज जन साधारण की उन्नति तथा सुख-शान्ति की कल्पना से यथार्थ में ढाल सके। निश्चय ही हमारे सपनों के इस भविष्य को हम कभी प्राप्त नहीं कर सकेंगे यदि हम वर्तमान औद्योगिक देशों की ही केवल नकल करते रहे। दूसरे शब्दों में, हमें उन कदमों के बारे में निश्चयता के साथ सोचना होगा जो हमारे द्वारा आकांक्षित भविष्य के बिंब को सार्थक रूप से साकार बना सके।

हमारे देश में इस प्रकार के भविष्यवादी अनुसंधान का उत्तरदायित्व विज्ञान तथा टेकनोलॉजी विभाग को सौंपा गया है तथा सन् 1973 में इस कार्य के लिये नेशनल कमेटी आफ साइंस एण्ड टेकनोलॉजी द्वारा एक पैनल का गठन किया गया है। इस पैनल ने हमारे देश में सन् 1985 की भविष्यवाणी के लिए तथा सन् 2000 ईसवी के संभाव्य भविष्य का रूप कैसा होगा इस बारे में गहन तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिये निम्नलिखित क्षेत्रों का निर्वाचन किया हैं:—

1. ऊर्जा उत्पादन एवं आवश्यकताएं, 2. खा 3. यातायात, 4. संचार-व्यवस्था, 5. शहरीकरण शास्त्र तथा झुग्गी-झोंपड़ी समस्याएं, 6. ग्रामीण विकास तथा ग्राम भारत का जीवन रूप, 7. आवास, 8. प्रबंध, 9. शिक्षा, 10. पानी 11. स्वास्थ्य, 12. भविष्यवादी शास्त्र का अध्यापन एवं अनुसंधान, 13. भारतीय गणतंत्र के द्वीपों का भविष्य।

हमारा एक विशाल देश है एवं यहाँ सब स्तरों पर विज्ञान के प्रत्येक पक्ष का अध्ययन एवं उपयोग होना चाहिए। वर्तमान विज्ञान की विशेषता यह है कि कभी,कभी बिल्कुल आधारभूत या मौलिक प्रतीत होने वाले ज्ञान का भी सहसा ही बहुत उपयोगी व्यवहारिक रूप प्रकट हो जाता है। उदाहरण के लिये 1905 में आइनस्टाइन द्वारा प्रतिपादित "ऊर्जा=मात्रा × वेग²" सूत्र से किसको यह आभास हो सकता था कि एक दिन यही सूत्र ऐटामिक उर्जा के उत्पादन में हमें सफलता देगा। इस परिपेक्ष्य में हमें विज्ञान के मौलिक पक्षों की ओर भी बरावर बल देना होगा जिससे यदि कभी उनकी अप्रत्याशित उपादेयता प्रमाणित हो तो हम इन दिशाओं में पिछड़े न रह जाएं। साथ-ही-साथ, विज्ञान के व्यावहारिक उपयोगों के द्वारा यदि सुस्पष्ट ढंग से हमारी तात्कालिक उत्पाद शक्ति बढ़ न सके तो अपने वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रयत्नों में हम अवास्तविकता का परिचय देंगे। इस उत्पाद शक्ति को बढ़ाना देश की प्रगति के लिऐ ही निहायत जरूरी नहीं है वरन हमारे वैज्ञानिक प्रयत्नों के विकास के लिए आवश्यक भारी लागत के लिये भी जरूरी है। हमारे जैसे गरीब देश के संदर्भ में हमारे वैज्ञानिकों तथा तकनोकी वैज्ञानिकों की सब से भारी चिन्ता यह होनी चाहिए कि आम व्यक्ति की खुशी एवं उसके रहन-सहन के स्तर को कैसे उन्नत किया जाए। इस दिशा में ठोस परिणाम प्राप्त करने के लिए तथाकथित "नग्नपद-टेकनोलांजी" (अर्थात् आवश्यक वस्तुओं को उत्पन्न करने वाली टेकनोलांजी, जो हमारे ग्रामीण कार्यक्रमों की सहायता के लिए है) के प्रसार के प्रति हमें तत्काल एवं अनिवार्य ध्यान देना चाहिए। सम्पूर्ण वैज्ञानिक समुदाय में प्रसारित "उच्च-स्तरीय एकान्त अनुसंधान" से लेकर "आधार स्तरीय" अनुसंधान ज्ञान का लगातार संचारण तथा परिशोधन होना चाहिए। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि भारत में विज्ञान तथा टेकनोलांजी के क्षेत्रों में, यहाँ तक कि आणविक ऊर्जा, अंतरिक्ष अनुसंधान, इलेक्ट्रोनिक्स, धातुविज्ञान तथा दूसरे रासायनिक उद्योगों जैसे विशिष्ट क्षेत्रों में भी अभूतपूर्व प्रगति हुई है। विज्ञान तथा टेकनोलांजी के उपयोग से कृषि के क्षेत्र का तो रूप ही बदल गया है जिसके फलस्वरूप "हरित-क्रांति,, का प्रसार हुआ है तथा हम "खाद्य में आत्मनिर्भर" बन सके हैं। इस तकनीकी प्रगति के कारण दुनिया के प्रथम दस औद्योगिक देशों में हमने अपना स्थान बना लिया है। मगर मूलतः अब भी भारत ग्रामीण तथा कृषि प्रधान देश है एवं इसीलिए यदि हम आधुनिक विज्ञान तथा तकनीकी प्रगति के सुपरिणामों को गाँव के आम व्यक्ति तक नहीं पहुँचा सके (जिनमें भारत की 80 प्रतिशत जनसंख्या शामिल है) तो इस प्रगति का प्रभाव बहुत ही छोटे क्षेत्र में सीमित रह जाएगा। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय स्तर पर उन्नति एवं संतोष की भावना के स्थान पर और भी अधिक असंतुलन एवं संघर्ष के प्रसार की संभावना बन जाएगी। जो निश्चय ही प्रत्येक व्यक्ति को कहीं अधिक असंतुष्ट तथा दुखी बना देगी।

जैसा कि अभी स्पष्ट किया गया, हमें अपने उन तकनीकी कार्यक्रमों के विकास पर और अधिक जोर देना होगा जिनका जन-कल्याण पर सीधा और तात्कालिक प्रभाव पड़ता है, लेकिन विज्ञान की प्रगति की दिशा में हमने जो अभी तक उदारवादी रुख अपनाया है उसको भी बनाए रखना होगा। चीनी प्रणाली के अनुसार "नग्नपद टेकनोलांजी" पर जोर देने एवं केवल उसके विकास के लिए प्रयत्न करते रहने की दिशा में संसार के अन्य सभी देशों का पिछले दो दशकों से ध्यान आकर्षित हुआ है और हमारे देश के भी कुछ लोगों की चिन्तन-प्रक्रिया पर इसका काफी प्रभाव पड़ा है। इस सिलसिले में, पिछले कुछेक महीनों में चीन में हुई घटनाओं की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना उचित ही होगा। मार्च, 1978 के उत्तरार्ध में पीकिंग में हुई लगभग 6000 वैज्ञानिकों की एक संगोष्ठी में एक नयी प्रणाली पर आधारित एक नवीन योजना की घोषणा की गई। इस नई योजना में सक्रिय रूप से शोधकार्य कर रहे वैज्ञानिकों की संख्या बढ़ाकर 8 लाख कर देने की पेशकश की गई है और साथ ही यह भी कहा गया है कि अगर संभव हो तो सन् 1985 तक यह संख्या दस लाख कर दी जाए। इस प्रणाली में वैज्ञानिक शोधकार्य के लिए बहुत बड़ी संख्या में ऐसे आधुनिक किस्म के केन्द्र स्थापित करने

की योजना बनाई गई है जो राष्ट्रीय स्तर पर पारस्परिक सम्पर्क तथा संचार सूत्र में बंधे देश के ऐसे ही अन्य केन्द्रों के साथ मिलकर कार्य कर सकें।

हालांकि जनसंख्या-नियंत्रण और परिवार-कल्याण के विभिन्न कार्यक्रमों पर लगातार ही बल दिया जाता रहा है, फिर भी ऐसा लगता है कि सन् 2000ई० तक हमारे देश की जनसंख्या लगभग एक अरब तक पहुँच जायेगी और हमें लगभग इतनी बड़ी आबादी की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये तैयार रहना होगा। रोहतगी और बोवेंडर ने अपने एक शोध-निबंध में इस बात के लिए पहले से ही चेतावनी देने का प्रयत्न किया है कि हमें इतनी बड़ी जनसंख्या के लिए कितनी अधिक मात्रा में कुछ खास किस्मों की खाद्य-सामाग्रियाँ जुटाने की आवश्यकता होगी। निम्न आँकड़ों में यह अनुमान करने का प्रयत्न किया गया है कि ऐसी प्रत्येक सामग्री की सन् 2000 में हमें कितनी आवश्यकता होगी। साथ ही कोष्ठ में सन् 1971 में वे वास्तव में कितनी मात्रा में उपलब्ध थीं, यह भी अंकित कर दिया गया है ;

अनाज 1400 (810), शर्करा 175 (43), दालें और गरिफल 363 (118), फल और सब्जियाँ 480 (126)'माँस 244 (46), मछली 59 (18), दूध और दूध से बनी वस्तुएं 700 (210), वसा और खाद्य तेल 63 (25) लाख टन। लोहा सीमेंट और नाइट्रोजनी उर्वरकों जैसी आवश्यक वस्तुओं की भी स्थिति निराशाजनक लगती है, जिस पर विजय पाने के लिए या तो अपनी तकनीक में हमें कोई अप्रत्याशित प्रगति करनी होगी या फिर किन्हीं सामाजिक परिवर्तनों के द्वारा या इनके स्थान पर किन्हीं अन्य वस्तुओं का इस्तेमाल करके उक्त वस्तुओं की वर्तमान खपत दर को कम करने की आवश्यकता होगी।

लोहे के संदर्भ में रोहतगी और बोवेंडर ने जो तुलनात्मक आँकड़े दिये हैं, वे वास्तव में बहुत ही निर्ममता के साथ हमारी दयनीय स्थिति को उजागर करते हैं। ये आँकड़े हमें बताते हैं कि अगर सन् 2000 तक हम प्रति वर्ष 55 लाख टन लोहा भी तैयार करने लगें तो भी यह अपर्याप्त होगा और हम प्रति व्यक्ति लोहे की खपत के उस स्तर तक भी नहीं पहुँच पाएंगे जो अर्जेन्टीना में सन् 1950 में अथवा मैक्सिको में सन् 1970 में था।

जहाँ तक और अधिक साधनों को जुटाने का प्रश्न है, हमारे वैज्ञानिकों का ध्यान समुद्र-तल जैसे क्षेत्रों की ओर पहले ही आकर्षित हो चुका है जिनका अपेक्षाकृत कम उपयोग हुआ है। बड़े संतोष की बात है कि समुद्रवैज्ञानिक शोधकार्य के लिये अक्तूबर 1978 में प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक विशिष्ट समिति का गठन किया जा चुका है। हाल ही में किये गए इन सभी प्रयत्नों के बावजूद अनेक दिशाओं में हमें जिन चुनौतियों का सामना करना है वे इतनी प्रबल हैं कि यह संभव नहीं लगता कि इन समस्याओं का समाधान हम केवल विज्ञान और टेकनोलॉजी की उपलब्धियों से ही कर सकेंगे। हमें अपनी जीवन-प्रणाली और सामाजिक मूल्यों में अमूल-चूल परिवर्तन लाने होंगे ताकि हम कुछेक आवश्यक वस्तुओं की खपत में कमी ला सकें और आने वाले दशकों में बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

अंत में मैं इसी बात पर जोर देना चाहूँगा कि भारतवर्ष अभी भी एक विचित्र दौर से गुजर रहा है। हमारे देश में कृषि-परक, औद्योगिकी-परक तथा उत्तर-औद्योगिकी-परक, सभी पहलू समान रूप से समावस्थित हैं और हमने जिस लोकतांत्रिक जीवन पद्धति को अपनया है, उसे ध्यान में रखते हुए इस बात की पूरी संभावना है कि ये तीनों ही पक्ष आगे आने वाले अनेक वर्षों तक साथ-साथ बने रहेंगे। हमारी वर्तमान स्थिति में "समुचित" टेकनोलॉजी और 'विशिष्ट' टेकनोलॉजी में से किसी एक के चुनाव को लेकर जो विवाद चल रहा है, उसकी कोई विशेष प्रासंगिकता नहीं है; वस्तुतः हमारे देश में इन दोनों का ही महत्व बराबर है। ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जिनमें टेकनोलॉजी अपने सक्रिय रूप में (गतिहीन में रूप नहीं) निःसंदेह कहीं अधिक लाभकारी होगी और वास्तव में उसे निरन्तर बढ़ावा मिलना चाहिए। इसके साथ ही इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में 'परिष्कृत टेकनोलॉजी' (जैसे अंतरिक्ष-अनुसंधान, समुद्र साधन, खनन कृषि ओर जल साधनों के लिये दूरस्थ-संवेदी तकनीकों का प्रयोग)

को भी बढ़ावा दिया जाना चाहिए, ताकि हम भविष्य में आशातीत तथा महत्वपूर्ण तरक्की कर सकें। सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि हमें अन्य देशों के अनुभवों से सबक सीखना चाहिए। हाँ, उनके विकास की दिशा का अनुसरण आँख मूद कर नहीं करना चाहिए। साथ ही टेकनोलाँजी की अनियंत्रित वृद्धि के कारण अनेक देशों में हुई गलतियों से अवश्य बचना चाहिए क्योंकि इन गलतियों का ही परिणाम ये देश अब प्रदूषण, पारिस्थितिक विक्षोम और मानव आशांति के रूप में भुगत रहे हैं।

कई बार तो ऐसा लगता है कि मनुष्य मशीन का दास बन गया है। इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्र ई० एफ० शुमाखर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "स्माल इज ब्यूटीफुल" में "मानव केन्द्रित तकनीक" के विकास का जिस उत्साहपूर्ण ढंग से समर्थना किया है उससे हम सब पर गहरा प्रभाव पड़ा है एवं निश्चय ही इस दिशा में प्रगति को जारी रखना हमारे लिए लाभदायक है। यहां यह कहना प्रसांगिक होगा कि कुछ दशकों पहले हमारे राष्ट्रपिता ने भी हमें चेतावनी दी थी कि आधुनिक विज्ञान तथा तकनीक पर आधारित मशीनीकरण के विस्तृत प्रसार के कारण कहीं मानव अपने महत्व और गरिमा को खो न दे। वस्तुतः प्रकृति के रहस्य को पता लगाकर वह जो कुछ भी निर्माण कर सका है उसके केन्द्र में "मनुष्य" का स्थान बना रहना चाहिए। गांधीजी ने हमेशा प्रकृति पर नियंत्रण के स्थान पर उसके साथ मिलकर रहने पर बल दिया था एवं आज यही बात महत्वपूर्ण बनती जा रही है। यद्यपि विज्ञान का विद्यार्थी होने के नाते किसी भी स्त्रोत से प्राप्त सलाह के अंध पालन का मैं हिमायती नहीं हो सकता, फिर भी युग के इस महान मानव के आप्त शब्दों का हमें सदा गम्भीरता से ध्यान देते रहना चाहिए। बहुत कम लोग यह जानते हैं कि गांधीजी स्वयं कितने अधिक क्रान्तिकारी विचारों के थे एवं परिवर्तन में उनकी कितनी गहरी आस्था थी। हमारे लिए यह एक लाभदायक कार्य होगा यदि हम यह अनुमान करने की कोशिश करें की मौजूदा विकास की स्थित में गांधीजी अपनी योजनाओं में क्या कुछ परिवर्तन करते जिससे कि वे अपने सपनों के महान तथा आत्मनिर्भर भारत का निर्माण कर पाते। इन सब बारीकियों का भी इतना महत्व नहीं है जितना गांधीजी की इस गहरी चिन्तनधारा की है जो समस्त मानवता एवं साधारण मनुष्य के मंगल के लिए थी। हमारा वैज्ञानिक यदि उस भावना का एक शतांश भी अपने में पैदा कर सके तो निश्चय ही इस महान देश के उन्नत भविष्य का निर्माण हो सकेगा।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आने वाले अनेक वर्षों में हमारे देश की जनता के जीवन स्तर को बढाने और उसके जीवन को बेहतर बनाने में विज्ञान और टेक्नोलॉजी को एक महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हमें अपनी प्राथमिकताओं को एक नया रूप देना होगा अलगाव और विखन्डन की समस्याओं का हमें सामना न करना पड़े। ये समस्याएं पश्चिमी देशों के लिए आज एक भयंकर सिरदर्द बनी हुई है। उच्चतम टेकनोलॉजी को एक समुचित रुप में विकसित करने के साथ-साथ हमें अपने क्षीण ग्रामीण वातावरण में कम खर्च वाली टेकनोलॉजी को भी बढावा देना पड़ेगा जिससे कि शहरी विशिष्ट वर्ग और ग्रामीण जनता के बीच सामाजिक-आर्थिक विषमताएं दूर हो सकें।

ऐसी स्थिति में, जो बात सबसे अधिक जरुरी है वह यह कि हम अपनी वैज्ञानिक और तकनीकी प्राथमिकताओं को एक ऐसा नया रुप दें जिससे देश संतुलित तरीके से विकसित हो सके। हमें पूरी आशा है कि हम अपने इस संकल्प को पूरा कर सकेंगे और अपने उन देशवासियों को जिन्होंने हम पर आशाएं लगा रखी हैं निराश नहीं करेंगे।

माली के लड़के की अभूतपूर्व खोज

● दया शंकर त्रिपाठी

प्राकृतिक देन की अमर कथा के रूप में 'पेनिसिलियम' पौधे से बनी 'पेनिसिलीन' मानव जीवन के लिए एक विश्वसनीय चिरस्थायी रक्षक है। जिस प्रकार 'पेनिसिलीन' का नाम हर डाक्टर के कलम में होता है, उसी प्रकार 'पेनिसिलीन' अपने विभिन्न रूपों में विकसित मानव को सुरक्षित रखने में एक वरदान सिद्ध हुआ है। इस आणविक-युग में भी विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म एवं जटिल से जटिल रोगों की चिकित्सा हेतु दवाइयों की भीड़ लगी है। ऐसी अवस्था में भी 'पेनिसिलीन' का भी अपना महत्व पूर्ण स्थान सुरक्षित है। इसने मानव के सिर पर सदियों से पड़ी महान व्याधियों से छुटकारा दिलाया है। इसके खोज की कहानी अत्यधिक रोचक है।

इसकी खोज करने वाला वैज्ञानिक एक माली का लड़का था, जिसका नाम अलेक्जेन्डर फ्लेमिंग था। इनका जन्म 6 अगस्त 1881 में स्काटलैन्ड में स्थित एक फार्म में हुआ था। इनसे बड़े भाई-बहनों की संख्या सात थी। ये आठवें नम्बर पर सबसे छोटे थे। इनके पिता की माली होने के कारण आय काफी कम थी और परिवार बड़ा था, जिससे इनके परिवार में आर्थिक परेशानी थी। आर्थिक परेशानियों के बाद भी जब ये सात वर्ष के थे उस समय इन पर प्राकृतिक अत्याचार हुआ इनके पिता का देहान्त। तब इनकी माँ ने किसी तरह इन लोगों की देखभाल की।

इनका नाम पास के स्कूल में लिखवा दिया गया। बड़े होने पर अपने भाइयों के साथ स्कूल जाते थे। इनकी इच्छा डाक्टर बनने की थी। लेकिन आर्थिक स्थिति ठीक न होने के कारण सोलह वर्ष की उम्र में इन्हें जहाज बनाने वाली कम्पनी में नौकरी करनी पड़ी। नौकरी करने के साथ-साथ इन्हें खेल-कूद का काफी शौक था। पानी में 'पोलो' खेलने में आप काफी रुचि लेते थे और अपनी एक टीम बनाकर मुकाबलों में भाग लेते थे। एक बार मुकाबला वहाँ के मेडिकल कालेज से भी हुआ जिसमें इन्होंने काफी कला बाजियाँ दिखायीं। इनके खेल से वहाँ के अध्यक्ष काफी प्रभावित हुए और इनसे मेडिकल कालेज में दाखिल होने के लिये कहा, क्योंकि वे कालेज की टीम में इन्हें रखना चाहते थे। अच्छा खिलाड़ी होने के नाते धीरे-धीरे काफी लोकप्रिय हो गये और समय के अनुसार आर्थिक परेशानियाँ भी कम होने लगीं। ये पढ़ने में काफी तेज थे, लगन एवं परिश्रम से परीक्षा में पहले नम्बर से उत्तीर्ण हुए। इन्हें वहाँ से बहुत से पुरस्कार भी प्राप्त हुए। पढ़ने के साथ-साथ इन्होंने खेल को नहीं छोड़ा। ये नाटक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भी अग्रसर थे।

कुछ लोगों ने इन्हें डाक्टरी करने की सलाह दी लेकिन इन्होंने न माना। वे अनुसंधान कार्य करना चाहते थे। इन्होंने जीवाणुओं पर अनुसंधान कार्य किया। एक बार उन्हें 'जुकाम' हो गया, उन्होंने नाक के पानी को इकट्ठा किया और उस पर जीवाणु पाले। फिर नाक के पानी का एक बूंद जीवाणुओं के समूह पर डाला, परिणाम यह हुआ कि वहाँ के सभी जीवाणु मर गये। इस प्रयोग को उन्होंने कई बार दोहराया, हमेशा यही परिणाम निकला। उन्होंने और भी प्रयोग किये, जानवरों के दूध, अंडे का प्रोटीन, बलगम, आँख का पानी, खून के सफेद कण इत्यादि में भी इसी प्रकार का गुण पाया।

एक बार सन् 1928 में जब अलेक्जेन्डर फ्लेमिंग अपनी

प्रयोग शाला में अनुसंधान कार्य कर रहे थे, उन्होंने देखा कि एक पट्टिका जिस पर जीवाणुओं के समूह पाल कर रखे गये थे किसी कारण से दूषित हो गयी थी। जब उन्होंने परीक्षण किया तो उन्हें मालूम हुआ कि उन पर फफूँद उग आये थे। यह देखकर उन्हें महान आश्चर्य हुआ कि पट्टिका पर के सभी जीवाणु नष्ट हो गये थे। उन्होंने इस फफूँद को फेंका नहीं बल्कि इस पर अनुसंधान कार्य शुरू किया और अन्त में इससे 'पेनिसिलीन' नामक दवा बनायी। इस फफूँद का नाम 'पेनिसिलियम' है। यह एक छोटे वर्ग का पौधा होता है जो स्वयं भोजन का निर्माण नहीं कर सकता बल्कि दूसरे जीवों द्वारा बनाये भोजन को ग्रहण कर अपना जीवन-यापन करता है। 'पेनिसिलीन' विज्ञान की एक महान खोज थी और अब भी है।

अलेक्जेन्डर फ्लेमिंग को नोबल पुरस्कार मिला और सन् 1944 में आपको 'सर' की उपाधि से विभूषित किया गया। सन् 1955 में आप विज्ञान की सेवा करते हुए सुर धाम सिधारे।

'पेनिसिलीन' का उपयोग जीवाणु जन्य रोगों को ठीक करने में होता है। यह घाव, फोड़े, फुन्सियों, निमोनिया एवं शरीर में रोग पैदा करने वाले जीवाणु इत्यादि को नष्ट करता है। आजकल इस दवा का इतना विकास हो गया कि करोड़ों पीड़ित लोगों को काल के गाल से बचाया जा चुका है और बताया जा रहा है। 'पेनिसिलीन' को दवा निर्माण के अलावा और भी विभिन्न कार्यों में उपयोग किया जाता है। इसकी कई जाति के पौधों से रंग बनाया जाता है। एल्कोहल आदि के निर्माण में भी इसका प्रयोग होता है।

किसी भी जीव में केवल गुण ही होना सम्भव नहीं है। पेनिसिलियम में इतने सारे गुण होने के साथ ही कुछ अवगुण भी हैं। इससे कपड़े, रबर, लकड़ी आदि को काफी नुकसान पहुँचता है। 'पेनिसिलीन' शरीर को हानि पहुँचाने वाले जीवाणुओं को नष्ट करने के साथ-साथ शरीर के लिए लाभदायक जीवाणुओं को भी नष्ट कर देता है। इस प्रकार यह लाभदायक होने के साथ-साथ हानिकारक भी है लेकिन लाभ अधिक है, इसलिए इसके अवगुणों को भूल कर गुणों को याद रखते हैं। माली का लड़का अपने अध्ययन और परिश्रम के बल से सारे संसार को ऐसी दवा दे गया कि शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो अपने पूरे जीवन में इसका इस्तेमाल न कर सके। आज सारा संसार महान वैज्ञानिक अलेक्जेन्डर फ्लेमिंग और उनके पिता (जो माली का कार्य करते थे) का ऋणी है।

चार पंखों वाली एक नई अनोखी सेम
चौकोनी सेम

● नरेश चन्द्र पुष्प

विश्व की निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या को प्रोटीन से युक्त वानस्पतिक पोषक पदार्थों का उपलब्ध करना एक जटिल समस्या है। अधिकांश निर्धन और विकास शील देशों में यह समस्या एक विकट रूप धारण किये हुये है। इसका प्रमुख कारण है कि इन देशों की अधिकांश प्रजा शाकाहारी भोजन पर निर्भर है, किन्तु इनके लिए आवश्यक पोषक मानों वाले भोज्य पदार्थों का काफी अभाव है और लोगों को आवश्यक मात्रा में उचित दर पर पोषक पदार्थ प्राप्त नहीं हो पाते। इनमें से प्रोटीनधारी खाद्य पदार्थों का अभाव एक प्रमुख समस्या है। भारत भी इस जटिल समस्या से बच नहीं सका है। इस समस्या के समाधान हेतु समय-समय पर अनेक क्षेत्रों में प्रयास किये जाते रहे हैं, जिनमें वैज्ञानिक प्रयास ही सफल और सस्ते रहे हैं तथा इन्हें स्वीकार भी किया गया है। अन्य क्षेत्रों में किये जाने वाले व्यावसायिक प्रयास इतने अधिक मँहगे रहे हैं कि भारत की सामान्य जनता के लिये सदैव अव्यवहारिक और अनुपयोगी सिद्ध हुए हैं। भारत की आम जनता आर्थिक रूप से इतनी समर्थ नहीं है कि वह अपने समस्त पारिवारिक सदस्यों के लिए डिब्बों और बोतलों में बन्द टॉनिक पेयों और पाउडरों को खरीद सके। इस समस्या के समाधान की दिशा में राष्ट्रीय बनस्पति उद्यान-लखनऊ ने एक सर्वथा नई सेम, 'चौकोनी सेम' की वैज्ञानिक कृषि की तकनीक का विकास किया है।

उपयोगिता

वैज्ञानिक अनुसंधानों और प्रयोगों से सिद्ध हुआ है कि परम्परागत रूप से व्यवहार में लाई जाने वाली सभी सब्जियों, दालों तथा अन्य वानस्पतिक खाद्य पदार्थों की अपेक्षा चौकोनी सेम का पोषक मानों की दृष्टि से अपना एक विशिष्ट महत्व है। इस पौधे की अपनी एक और विशेषता है जो सम्भवतः किसी अन्य भोज्य पौधे में नहीं देखी जाती। इस पौधे के सभी भागों को भोजन के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। इसका कोई भी भाग व्यर्थ पदार्थ के रूप में नहीं फेंका जाता। इस पौधे की फलियों, बीजों जड़ों (प्रकंद), फूलों और पत्तियों आदि सभी भागों को समान रूप से उपयोग में लाया जाता है। विश्व के अनेक देशों में चौकोनी सेम के विभिन्न भागों को तरह-तरह से उपयोग में लाया जाता है। बर्मा में इस पौधे की जड़ों (प्रकंदों) को उबाल कर आलू की भाँति उपयोग किया जाता है। प्रकंदों को पतली-पतली कतरनों (चिप्स) के रूप में काट कर उबलते जल में डाल दिया जाता है और फिर 'स्नैक्स' की भाँति खाया जाता है। प्रकंद स्वाद में मिठास युक्त होते हैं और इसे कच्चा या उबाल कर (पका कर) खाया जा सकता है। वियतनाम और मलेशिया में फलों (फलियों) को सब्जी के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। इन्डोनेशिया में इनके बीजों का किण्वन करके पनीर तैयार किया जाता है जिससे सब्जी तैयार की जाती है। इसकी हरी-ताजी पत्तियों और

और फलियों को कच्चा अथवा पका कर सेम की तरह खाया जाता है। पत्तियों को सलाद में मिलाया जाता है या फिर सलाद की भाँति ही उपयोग किया जाता है। इसे मछली और भींगा के साथ पकाकर भी खाया जाता है। फूलों को तेल में तल कर भी खाया जाता है जिसका स्वाद खुम्भी (मशरूम) की तरह का होता है। इसके रंगीन फूलों से सलाद को सजाया भी जाता है। कच्चे बीजों को कई अन्य रूपों में भी उपयोग किया जाता है। परिपक्व बीजों को भून कर मूँगफली की भाँति खाया जाता है। बीजों को सुखाकर रखा जा सकता है व इच्छानुसार किसी भी सब्जी के रूप में उपयोग किया जा सकता है। इनके सूखे बीजों में कुछ अनावश्यक पदार्थ भी पाये जाते हैं जो मनुष्य के स्वास्थ्य के लिये हाँनिकारक होते हैं अतः बीजों को उपयोग करने के पूर्व इन्हें उबाल लेना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त चौकोनी सेम का पौधा भूमि सुधार और हरी खाद के लिए भी लाभकारी है।

चौकोनी सेम में प्रचुर मात्रा में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और बसा विद्यमान है। इसके बीजों में 29.08 से 37.4 प्रतिशत प्रोटीन, 31.6 से 38 प्रतिशत तक कार्बोहाइड्रेट और 15 से 20 प्रतिशत तक बसा पाई जाती है। इसके प्रकंदों में 12.2 से 15 प्रतिशत प्रोटीन व 27.2 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट पाया जाता है। चौकोनी सेम के विभिन्न भागों में पाये जाने वाले पदार्थों की प्रतिशत मात्रा सारणी-1 में दी गयी है। इस सेम में उपस्थित प्रोटीन में लगभग 8 प्रतिशत से अधिक लाइसीन पाया जाता है। यह प्रोटीन मुख्य रूप से अमीनों अम्लों से बनी होती है। बीजों में बड़ी मात्रा में टोकोफराल पाया जाता है जो मानव शरीर में विटामिन-A की उपयोगिता को बढ़ा देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चौकोनी सेम अनेक दृष्टि से अत्यन्त महत्व पूर्ण है। यह पौधा भारतीय भोजनों के लिए हर प्रकार से उपयुक्त है और इसे सब्जी, सूप, सलाद और स्नैक्स की भाँति उपयोग किया जा सकता है।

चौकोनी सेम को प्रोटीन का प्रमुख स्रोत स्वीकार करते हुए इसकी वैज्ञानिक कृषि का विकास करने, पौधे की उपयोगिता को बढ़ाने और इसका विस्तृत अध्ययन के लिए राष्ट्रीय वनस्पति उद्यान, लखनऊ में निरन्तर शोध कार्य किये जा रहे हैं।

वानस्पतिक विवरण

चौकोनी सेम 'लिग्यूमिनोसी' कुल का आरोही पौधा है जिसका वानस्पतिक नाम **'सोफोकारपस टेट्रागोनोलोबस'** है। अँग्रेजी में इसे 'विंग्डबीन' कहा जाता है तथा हिन्दी में चौकोनी सेम, पक्षवत् अथवा पंखों वाली सेम कहा जाता हैं। यह दक्षिणी-पूर्वी एशिया का मूलवाशी पौधा है। कृषि में यह पौधा एक वर्षीय आरोही पौधे के रूप में उगाया जाता है किन्तु अच्छी देखभाल और उचित आधार प्रदान करने पर यह पौधा बहुवर्षीय रूप प्रदर्शित करता है और भारी बड़ी लताओं के रूप में फैल जाता है। इसके फूल सफेद, नीले और बैंगनी होते हैं। इसकी फलियाँ चार कोणों वाली होती है और इनके चारों कोणों की दीवारों पर बड़ी-बड़ी एवं चौड़ी पंख सदृश रचनायें होती है। अतः इन्हें पंखों वाली सेम या चौकोनी सेम अथवा 'विंग्डबीन' कहा जाता है। इनकी फलियाँ 6 से 36 सेण्टीमीटर तक लम्बी होती हैं जिनमें 5 से लेकर 20 बीज पाये जाते हैं। बीज सख्त, गोलाकार और चिकनी-चमकदार छिलके वाले होते हैं। बीज कवच (छिलका) श्वेत, भूरा, काला अथवा चितकबरे रंग का हो सकता है।

वितरण

सोफोकार्पस टेट्रागोनोलोबस : दक्षिणी एशिया का मूलवाशी पौधा है। समझा जाता है कि इसका मूल देश भारत है। बहुत पहले यह पौधा दक्षिणी भारत में पाया जाता था और सब्जी के रूप में ही उपयोग किया जाता था। लेकिन भारत में इस पौधे की निरन्तर उपेक्षा की जाती रही। परिणाम स्वरूप यह पौधा भारत से एक प्रकार से लुप्त हो गया जबकि विदेशों ने इस पौधे के महत्व को पहचाना और इसकी पोषकता और उत्पादन बढ़ाने के लिए व्यापक पैमाने पर अनुसंधान कार्य आरम्भ किये। आज इसकी वैज्ञानिक कृषि बर्मा, न्यूगिनी, आस्ट्रेलिया, मध्य और दक्षिणी अमेरिका, कैरेबियन द्वीप, अफ्रीका, श्रीलंका आदि में

की जाती है। इन देशों में चौकोनी सेम का बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाता है।

जलवायु

यह एक उष्ण एवं कटिबंधीय पौधा है। यह एशियाई उष्ण कटिबंध में 20° उत्तर तथा 10° अक्षांश दक्षिण में 2000 मीटर की ऊँचाई वाले भागों में सरलता से उगता है। इसके लिए आर्द्र उष्ण जलवायु अधिक उपयुक्त है। लखनऊ की जलवायु इसके लिए उत्तम पाई गयी है तथा उत्तर प्रदेश में इसकी खेती सफलता पूर्वक की जा सकती है।

भूमि

चौकोनी सेम की खेती के लिए हल्की दूमट भूमि अधिक उपयुक्त है। वैसे इनके पौधे कई प्रकार की भूमि में उग सकते हैं लेकिन उपजाऊ भूमि में पौधे अच्छी तरह से विकसित होते हैं। राष्ट्रीय वनस्पति उद्यान द्वारा इनके पौधे उदासीन पी० एच० मान से लेकर परिमित क्षारीय भूमि (पी० एच० 8.5) में भी सफलता पूर्वक उगाये गये हैं। जल का समुचित निकास पौधों के अच्छे विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये बुवाई के पूर्व, खेत की भलीभाँति तैयारी तथा ढाल के साथ समतल सतह बना अच्छी बाढ़ एवं पैदावार के लिये अधिक उपयुक्त रहेगा।

बीज

एक हेक्टेयर भूमि में चौकोनी सेम की खेती करने के लिये लगभग 10-12 कि० ग्रा० बीज की मात्रा की आवश्यकता होती है।

बुवाई का समय

वर्षा आरम्भ होने से पूर्व, जून के मध्य अथवा तीसरे सप्ताह तक चौकोनी सेम के बीजों को अवश्य बो देना चाहिये।

बुवाई

भूमि की उत्पादन क्षमता के अनुसार, बीज की बुवाई खेतों के भीतर, पंक्तियों में 60 से 75 से० मी० की दूरी पर तथा दो पौधों के मध्य आमतौर से लगभग इतनी ही दूरी रखनी चाहिये। बीजों को बोने के लिये 50×50 सेमी० के गड्ढे खोदे जाते हैं। इनके भीतर की मिट्टी भुरभुरी कर ली जाती है। प्रत्येक गड्ढे में दो डलिया गोबर की खाद डाल कर मिट्टी में भली प्रकार मिला देनी चाहिये। प्रत्येक गड्ढे में दो बीजों की बुवाई की जाती है। जिस समय भूमि में पर्याप्त मात्रा में आर्द्रता उपस्थित हो, बीजों को बोना अधिक लाभप्रद रहता है। बीजों के अंकुरित होने में लगभग 10-12 दिन का समय लगता है तथा पौधे एक माह उपरान्त बेलें फेंकने लगते हैं। मानसून के स्थिर हो जाने पर पौधे तीव्रता से वृद्धि करते हैं।

खाद और उर्वरक

चौकोनी सेम की उत्तम वृद्धि के लिये भूमि में प्रचुर मात्रा में जैविक खादों का होना काफी है। यदि भूमि में जैविक खादों की कमी हो तो 10-15 टन प्रति हेक्टेयर की दर से भली प्रकार से सड़ी हुई खाद अथवा कोई अन्य जैविक खाद खेतों में अनिवार्य रूप से डालना चाहिये। चकोनी सेम की जड़ों में वायुमण्डलीय नाइट्रोजन का स्थरीकरण करने वाली गाठें पाई जाती है जो भूमि में नाइट्रोजन का स्थरीकरण करती है। अतः इनके पौधों को नाइट्रोजन उर्वरकों की विशेष आवश्यकता नहीं होती। किन्तु यदि उत्पादन कम होना है तो 30 किलोग्राम नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर की दर से खेतों में डालना उत्तम रहेगा। फास्फेट उर्वरकों का चौकोनी सेम पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। इसके लिये 60-70 किलोग्राम फास्फेट उर्वरक खेतों में डालना उत्तम रहेगा। 20 किलो पोटाश प्रति हेक्टेयर भूमि में देना लाभ कारी होगा।

आधार प्रदान करना

चौकोनी सेम एक आरोही पौधा है अतः इनकी लताओं की भरपूर वृद्धि और फैलाव के लिए बाँस की खपच्चियों का सहारा (सपोर्ट) देना उपयोगी रहता है। इसका उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है और उपज 2-3 गुना अधिक बढ़ जाती है। खपच्चियों को भूमि से लगभग डेढ़-दो मीटर की ऊँचाई तक ही लगाना चाहिये जिससे फलियों को तोड़ने

में किसी प्रकार की बाधा न हो। आधार के अभाव में पौधे भूमि पर ही फैलने लगते हैं किन्तु इस प्रकार उत्पादन कम होता है।

सिंचाई

चौकोनी सेम की सफल कृषि करने के लिए सिंचाई की उत्तम और सुलभ सुविधायें अनिवार्य रूप से होना चाहिये। वर्षाकाल में फसल को सिंचाई की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। भूमि में आर्द्रता की क्षमता को देखते हुए वर्षा के पश्चात् लगभग 3-4 सप्ताह के अन्तराल पर सिंचाइ करना चाहिये। इस प्रकार लगभग 6-7 बार पौधों को सीचने की जरूरत होती है।

निराई-गुड़ाई

चौकोनी सेम वर्षाकालीन फसल होने के कारण, आरम्भिक दिनों में खरपतवार बहुतायत से खेतों में उग आते हैं। इन खरपतवारों से खेतों को सदैव मुक्त रखना चाहिये। निराई कार्य शुरू से ही करना चाहिये।

मिश्रित कृषि

अन्य फलीदार फसलों की भाँति, चौकोनी सेम की मिलवां कृषि अधिक व्यावहारिक सिद्ध होती है। इसे मक्का तथा प्रकंदीय फसलों आदि के साथ उगाना अधिक लाभकारी सिद्ध हुआ है।

कटाई

फलियों की तुड़ाई उनके उपयोग पर आधारित है। सामान्यतया हरी फलियाँ सब्जी के उपयोग के लिए बुवाई से लगभग 15-16 सप्ताह पश्चात् प्राप्त होने लगती है। परिपक्व फलियाँ बीज के लिए बुवाई से लगभग 6 महीने उपरान्त निकलने लगती हैं जिसका क्रम 2 माह तक चलता रहता है। प्रति पौधा औसतन 50-60 फलियाँ निकलती हैं।

उत्पादन

पौधों में सितम्बर तक फूल खिलने लगते हैं और इसके लगभग 5 सप्ताह के पश्चात् फलियाँ तोड़ने योग्य हो जाती हैं। वस्तुतः पौधे के सभी भागों को खाया जाता है किन्तु फलियों का स्थान प्रमुख है। छोटी फलियाँ सब्जी के लिए हर दृष्टि से उपयोगी होती है। पूर्ण परिपक्व फलियों में कषैलापन पैदा हो जाता है और ये खाने योग्य नहीं रह जाती हैं। अतः सदैव कच्ची फलियों को ही तोड़ना चाहिये। रा० व० उ०-लखनऊ में आरम्भिक प्रयोगों से जो उत्पादन देखा गया है उसमें 8.5 पी० एच० मान वाली क्षारीय भूमि में प्रति पौधे से औसतन 75 फलियाँ और 7.5 पी० एच० मान वाली उदासीन भूमि से औसतन प्रति पौधा 100 फलियाँ प्राप्त हुई है। फलियों का भार तुड़ाई के समय पर निर्भर होता है। इसी प्रकार बीजों की मात्रा, फलियों की संख्या और उनकी परिपक्वता-आकार पर निर्भर है। प्रथम वर्ष की अपेक्षा द्वितीय वर्ष अधिक उत्पादन होता है। इसका कारण जड़ों में गाठों का उपस्थित होना। चौकोनी सेम की औसत उपज प्रति हेक्टेयर 10-12 क्विन्टल आंकी गई है।

रोग और कीट

लखनऊ की परिस्थितियों में इसकी फसल में अभी तक किसी प्रकार का रोग और हानिकारक कीट नहीं देखा गया है। इनके पौधों पर विषाणु (वायरस) का संक्रमण देखा गया है। जैसे ही ऐसे लक्षण पौधों पर प्रकट हो, खेतों से पौधों को निकाल कर नष्ट कर देना चाहिये। ऐसा करने से रोग आगे नहीं फैलने पाता। फलियों के पकते समय, जंगली तोतों द्वारा भी काफी नुकसान पहुँचता है जिससे बचाव का उचित प्रबन्ध करना अनिवार्य है।

सारणी—1
पक्षवत सेम में विद्यमान विभिन्न पदार्थों की प्रतिशत मात्रा

क्र० सं०	पदार्थ	अपरिपक्व फली	बीज	प्रकंद	पत्तियां	फूल
1.	प्रोटीन	1.9— 2.9	29.8--37.4	12.2—15.0	5.7—15.0	5.6
2.	कार्बोहाइड्रेट	3.1— 3.8	21.6—38.0	27.2	—	—
3.	वसा	0.2— 0.3	15.0—20.0	0.5— 1.1	0.7— 1.1	0.9
4.	तन्तु	1.2— 2.6	5.0—12.5	17.0	—	—
5.	जल	76.0—12.0	6.7—24.6	54.9—65.2	64.2—77.7	82.2
6.	राख	0.4-- 1.9	3.6— 4.0	0.9	—	—
7.	गंधक/नाइट्रोजन अनुपात	—	2.7— 3.4	—	—	—

पौष्टिक फल और सब्जियाँ

● शिरीष कुमार

फलों और सब्जियों का नित्य के भोजन में महत्वपूर्ण स्थान है। फलों और सब्जियों में लगभग 75 से 80% तक जल की मात्रा होती है। इस कारण इनके प्रयोग से पाचन शक्ति ठीक रहती है। फलों और सब्जियों में विभिन्न प्रकार की जीवतियाँ (विटामिन्न)और खनिज पदार्थ विद्यमान रहते हैं जो शरीर की समुचित वृद्धि व स्वास्थ्य के लिये बड़े आवश्यक होते हैं।

भिन्न-भिन्न जीवतियों में सबसे अधिक आवश्यकता जीवति 'सी' (एस्कौरबिक अम्ल) की होती है। प्रतिदिन एक युवक के लिये 75 ग्राम जीवति 'सी' की आवश्यकता होती है। जीवति 'सी' की उपलब्धता से मसूड़ों मे रक्त बहने व दाँतों के गिरने एवं प्रशीताद (स्कर्वी) रोग से बचाव रहता है। जीवति 'सी' के बाद जीवति 'ए' (कैरोटिन) की उपलब्धता भी बहुत महत्वपूर्ण होती है। भोजन में जीवति 'ए' उपलब्ध रहने से आँखों की रोशनी बनी रहती है। इसके अतिरिक्त शरीर की वृद्धि भी भली-भाँति होती रहती है। जीवति 'ए' की कमी से रतौंधी तथा त्वचा और पाचन सम्बंधी रोग हो जाते हैं।

जीवति 'बी$_1$' की कमी से बेरी-बेरी और भूख न लगने का रोग तथा जीवति 'बी$_2$' की कमी से वल्क-चर्म (पेलैगरा) का रोग हो जाता है जो चूर्णातु (कैल्शियम) और भास्वर (फास्फोरस) के संतुलन में विघ्न पड़ने के कारण होता है। भोजन में जीवति 'ई' की कमी से बांझपन हो जाता है। भोजन में चूर्णातु और भास्वर के उपलब्ध रहने से दाँत और शरीर की हड्डियाँ पुष्ट रहती हैं। गर्भवती स्त्रियों में भ्रूण के विकास के लिये प्रचुर मात्रा में चूर्णातु का उपलब्ध रहना अति आवश्यक है। अयस (लोहा) की कमी से रक्तहीनता का रोग हो जाता है। सामान्यतः जम्बुकी (आयोडीन) भी एक अत्यन्त आवश्यक खनिज है।, जिसकी कमी से घेंघा (ग्वायटर) रोग हो जाता है। ये सभी खनिज पदार्थ संतुलित आहार के लिए आवश्यक होते हैं।

आहार में प्रांगोदीय (कारबोहाइड्रेट), प्रोभोजिन (प्रोटीन) तथा वसा (फैट) उपलब्ध रहना भी आवश्यक है। अन्न और दाल वाली फसलों के अतिरिक्त बहुत से फलों और सब्जियों द्वारा भी ये सामग्रियाँ प्राप्त की जा सकती है। जैसे—केला, आलू, शकरकंद, सिंघाड़ा आदि प्रांगोदीय के उत्तम स्रोत हैं। प्रांगोदीय शरीर में शक्ति तथा ताप उत्पन्न करते हैं। प्रोभोजिन शरीर की वृद्धि व नई पेशियों के निर्माण में सहायक होते है। वसा भी शरीर में ताप उत्पन्न करती है।

फल व सब्जियाँ औषधि का भी कार्य करती हैं। रोगावस्था मे मुसम्मी, अनार, अंगूर तथा परवल के रस उपयोगी होते हैं।

कुछ मुख्य फलों और सब्जियों में जीवतियों तथा खनिज पदार्थों की उपलब्धता से सम्बन्धित विवरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं:—

आँवले का फल जीवति'सी' का सर्वोत्तम स्त्रोत है। आँवले के 100 ग्रा० ताजे गूदे में 540 से 720 मिली ग्राम जीवति 'सी' उपलब्ध होती है। चटनी बनाकर ताजे आँवले का प्रयोग करना उपयोगी होता है। इसके अतिरिक्त आंवले का मुरब्बा, अचार आदि बनाकर प्रयोग करना अत्यन्त उपयोगी है।

अनन्नास (पाइनएपिल) भी एक बड़ा ही उपयोगी फल है। इसमें एक विकर (एन्जाइम) होता है जो प्रोमोजिन के पाचन में सहायक होता है। अनन्नास के गूदे में जीवित 'ए' 'बी', 'सी' तथा जम्बुकी विद्यमान होते है। अनन्नास का फल ताजा अथवा रस के रूप में प्रयोग कर सकते हैं। इसके फल के फाँकों की डिब्बाबन्दी भी की जाती हैं।

अंगूर का फल बड़ा ही पाचक होता है, क्योंकि इसके रस में शक्कर की प्रचुर मात्रा (15 से 20%) होती है। अयस तथा अन्य खनिज पदार्थ भी अंगूर में उपलब्ध होते है।

आम के पके फल में जीवति 'ए' और 'सी' प्रचुर ात्रा मे उपलब्ध रहते हैं। आम के पके फल में जीवति ए' तथा कच्चे फल में जीवति 'सी' अधिक विद्यमान होते, ं। उपज अधिक होने पर आम खाकर तथा इसके साथ छ दूध का प्रयोग करके दिन भर विना भोजन के बिताया ा सकता है।

अमरूद के 100 ग्राम ताजे गूदे मे 266 मिली ग्राम जीवति 'सी' उपलब्ध होता है। इस प्रकार अमरूद भी जीवति 'सी' का अच्छा स्रोत है। अयस का भी अमरूद एक अच्छा स्रोत है। जो इसके बीजों में पाया जाता है। अमरूद में चुर्णातु और भास्वर भी पाये जाते हैं।

केले के फल में भी दहातु (पोटेशियम), भास्वर तथा लोहा की मात्रा संतरे और सेब से भी अधिक होती है। केले के प्रयोग से जम्बुकी की भी पूर्ति हो सकती है। केला भोजन के रूप में भी प्रयोग हो सकता है।

पपीते के फल में जीवति 'ए', 'सी' चुर्णातु भी उपलब्ध होते हैं। पपीते के फल का प्रयोग पेट को साफ रखता है।

नींबू प्रजाति के फलों मे कागजी नींबू, मोसम्मी, द्राक्षा फल ग्रेप फ्रूट और संतरे महत्वपूर्ण फल हैं। इनमें जीवति सी' की प्रचुर मात्रा होती है। इनके रस पाचक तथा औषधि युक्त होते हैं।

पत्ती वाले सागों में पालक बहुत ही महत्वपूर्ण सब्जी है। इनकी पत्तियों में जीवति 'ए' तथा लवंण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। पालक के मुलायम पत्तों को सलाद के रूप मे प्रयोग करना अधिक उपयोगी होता है। सामान्यतः मूली और शलजम के पत्ते भी बड़े उपयोगी होते हैं। शलजम के पत्तों में अयस की मात्रा प्रचुर होती है। बन्द-गोभी में जीवति 'सी' प्रचुरता से साथ उपलब्ध रहता है। इसके अतिरिक्त इसमें जीवति 'बी', 'डी', 'ई' तथा जम्बुकी और गंधक भ उपलब्ध होते हैं। सामान्यतः बथुआ, मेथी, चौलाई आदि के साग भी बड़े पौष्टिक होते हैं।

हरी मटर में जीवति 'सी' की प्रचुरता अधिक होती है। जैसे-जैसे मटर की फलियां पकती जाती हैं, जीवति 'सी' की मात्रा कम होती जाती है। हरी मटर को ताजा खाने, सब्जी व अन्य पकवान बनाने तथा डिब्बा-बन्दी करने मे प्रयोग करते हैं।

टमाटर जीवति 'ए', 'सी' और 'बी' का उत्तम स्रोत है। जीवति 'सी' चूर्णातु और अयस प्राप्त करने के लिये टमाटर एक उत्तम साधन है। टमाटर को सलाद सब्जी, चटनी आदि के रूप में भली-भांति प्रयोग कर सकते हैं।

गाजर में प्रचुर जीवति 'ए' होता है। कुछ अंश तक जीवति 'सी' और 'डी' तथा जम्बुकी भी गाजर में उपलब्ध होते हैं। गाजर को ताजा खाने, सब्जी बनाने एवं मुरब्बा व सलाद के रूप में प्रयोग कर सकते हैं।

अतः मनुष्य के नित्य के भोजन में, विशेषकर शाका-हारियों के लिये फलों और सब्जियों का प्रयोग विशेष महत्व रखता है।

प्रधानाचार्य । प्रधानाचार्या,

महोदय । महोदया,

विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद की 64 वर्ष पुरानी सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त संस्था है। हम इतने ही वर्षों से 'विज्ञान' नामक पत्रिका प्रकाशित करते आ रहे हैं। इस पत्रिका द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से विज्ञान का प्रचार-प्रसार करके विज्ञान के विभिन्न तथ्यों, नई नई खोजों एवं सरल सिद्धान्तों को जनजन तक पहुँचाने का प्रयास कर रहें हैं। प्रत्येक वर्ष एक विशेषांक निकाल कर किसी विषय विशेष की सम्पूर्ण जानकारी देने में भी प्रयत्नशील रहे हैं। स्कूल तथा कालेज के विद्यार्थियों के स्तर की सामग्री छाप कर उनकी ज्ञानवृद्धि करना हमारा मुख्य उद्देश्य है।

अब हम एक नई योजना चलाने जा रहे हैं जिसके लिए हमें आपके सहयोग तथा सद्भाव की अपेक्षा है। इस योजना के अन्तर्गत स्कूल व कालेज के विद्यार्थियों द्वारा विज्ञान सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर विशेषज्ञों की सहायता से पत्रिका में प्रकाशित करेंगे। विद्यार्थी अपने प्रश्न सीधे हमारे कार्यालय में संपादक के नाम भेज सकते हैं। उनके नाम व पते भी प्रश्न व उत्तर के साथ प्रकाशित किये जायेंगे। वर्ष के अन्त में अच्छे प्रश्नकर्ताओं के कुछ चित्र भी पत्रिका में प्रकाशित किए जायेंगे तथा उन्हें पुरस्कृत भी किया जायेगा।

इसके अतिरिक्त एक अन्य योजना के अन्तर्गत हम वैज्ञानिक निबन्ध प्रतियोगताओं का आयोजन करेंगे। प्रथम, द्वितीय व तृतीय आने वाले विद्यार्थियों के लेख उनके चित्र सहित प्रकाशित किए जायेंगे तथा उन विद्यार्थियों को पुरस्कृत भी किया जायेगा। हम अपनी पत्रिका में 'स्कूल तथा कालेजों से' नामक स्तम्भ के अन्तर्गत प्रश्नों व लेखों को छापेंगे।

एक तृतीय योजना यह है कि आपके कालेज के विज्ञान अध्यापक पठन. पाठन, प्रयोग प्रदर्शन, प्रदर्शनी आदि से सम्बन्धित अपने अनुभव यदि हमें लिख भेजें तो उसे हम 'अनुभव' स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित करेंगे।

हमारी उपर्युक्त योजनाओं की सफलता आपके, आपके अध्यापकों के तथा आपके विद्यार्थियों के सहयोग पर ही निर्भर करती है।

विद्यार्थियों में रुचि जगाने के लिए इस योजना का योगदान होगा। अतएव आपसे निवेदन है कि आप अपनी पाठशाला के कक्षा 8 से 12 तक के विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को हमारी योजना के बारे में सम्पूर्ण जानकारी दें तथा उन्हें इसमें भाग लेने के लिये प्रेरित करें। हमारी पत्रिका मासिक है और वार्षिक चन्दा मात्र 6 रुपया है तथा प्रत्येक अंक का मूल्य 0.50 पैसा है। आपका कालेज, कोई प्राध्यापक या विद्यार्थी यदि सदस्य बनना चाहें तो उपरोक्त पते पर चन्दा भेजकर सदस्य बन सकते हैं उसे पत्रिका प्रत्येक मासें मिलती रहेगी। "विज्ञान" पत्रिका की एक प्रति आपके पास अवलोकनार्थ भेजने का प्रबन्ध हो रहा है।

भवदीय
शिव प्रकाश
(संपादक)

अमीबीय अतिसार या खूनी आँव

● संजय कुमार पाण्डेय

संसार में पेट की बीमारी प्रायः सभी मनुष्यों को हो जाया करती है। ये बीमारियां उचित आहार के न होने से तथा आहार ग्रहण करने में अनियमितता के कारण ही मुख्यतया होती हैं। पेट में कई प्रकार की बीमारियां हो सकती हैं जिनमें कुछ मुख्य के नाम इस प्रकार हैं कब्ज, पेटदर्द, आँव, कृमि पड़ जाना, गैस बनना इत्यादि।

वास्तव में मनुष्य का स्वास्थ्य उसके पेट के स्वास्थ्य पर निर्भर करता है, अर्थात् उसके पाचन तंत्र के स्वास्थ्य पर ही आश्रित रहता है। यदि किसी कारणवश यह खराब अथवा कमजोर हो जाता है तो अनेक प्रकार की बीमारियां मनुष्य को घेर लेती हैं। मनुष्य के पाचन अंग (1) मुख (2) आहारनाल (3) आमाशय (4) यकृत (5) अग्नाशय (6) छोटी आँत (7) बड़ी आँत (8)गुदाद्वार हैं।

जब हम कोई खाद्य पदार्थ खाते हैं तो सर्वप्रथम दातों की सहायता से चबाकर उसे पेस्ट के रूप में तैयार कर लेते हैं। यहीं पर इसमें लार ग्रन्थियों द्वारा लार भी मिल जाता है जो भोजन के निवाले को आगे सरकने और शीघ्रता से पचने में कुछ हद तक सहायता करता है। मुख के बाद भोजन आमाशय में जाता है। जहाँ इसके पाचन की क्रिया पूर्ण रुप से आरम्भ होती है। आमाशय की दीवारों से कई प्रकार के जठर रस स्त्रावित होते हैं जो कि भोजन में उपस्थित हानिकारक जीवाणुओं को मारने में सहायक सिद्ध होते हैं और भोजन को पचाने का कार्य भी करते हैं। आमाशय में स्त्रावित जठर रसों का माध्यम अम्लीय होता है। यहां से अधपचा भोजन छोटी आंत में पहुँचता है जहां यकृत द्वारा एक विशेष प्रकार का स्त्राव निकल कर इसमें मिलता है यह भोजन में मिले पूर्व अम्लीय रस के प्रभाव को नष्ट करता है और वसा इत्यादि का पाचन करता है। पूर्ण रुप से तरल भोजन का यहीं पर आंत की दीवारों द्वारा अवशोषण भी होता है जो बाद में रक्त में मिलकर इसके द्वारा सम्पूर्ण शरीर में पहुँच जाता है। इस प्रकार अपचा भोजन आंत से होकर गुदा द्वार से मल के रूप में बाहर निकल जाता है।

जब हम देर से कटी कोई सब्जी या फल खाते हैं, या गन्दा पानी पीते हैं या अस्वक्षता से बनाया भोजन ग्रहण करते हैं तब इस प्रकार कई रोगों के कीटाणु जो पहले से उसमें विद्यमान थे हमारे पेट में चले जाते हैं और वहां जाकर अपनी संख्या में वृद्धि करते हैं एवं हमको हानि पहुँचाते हैं।

पेट में खूनी आंव या अतिसार भी एक प्रकार के सूक्ष्म जीव (एण्ट अमीबा हिस्टोलिटिका) के शरीर में प्रवेश करने से होता है। यह एक पराश्रयी अमीबा होता है जो मनुष्य की बड़ी आंत के ऊपरी भाग में पाया जाता है। यह आंत की दीवारों को एक विशेष प्रकार के रस से (जिसका स्त्राव यह स्वयं करता है) गला देता है। वहां के ऊतक और लाल रक्त कणिकाओं को अपना भोजन बनाता है जिससे आँत की दीवारों में घाव बन जाता है और उसमें से लगातार रक्त स्त्राव होने लगता है जो रोगी के मल के साथ बाहर आता रहता है। ऐसी स्थिति में रोगी एक दिन में कई बार शौच जाता है। और उसका शरीर बहुत कमजोर हो जाता है, पाचन तंत्र अव्यवस्थित हो जाता है। यद्यपि यह रोग दुनियां के सभी देशों में पाया जाता है किन्तु उष्ण कटिबद्धीय देशों में अधिकता से मिलता है। सर्वप्रथम लाशे ने सन् 1873 ई० में इसका विवरण प्रस्तुत किया था।

वयस्क एण्ट अमीबा को ट्रोफोजाइट कहते हैं यह आंत में दो प्रकार से रहता है।

(1) सक्रिय अवस्था

यह अवस्था परपोषी के लिए घातक होती है इसमें यह परिपोषी के ऊतक को खाता है जिससे उसकी आंत में फोड़ा हो जाता है और रुधिर स्राव होने लगता है जिससे पेचिश हो जाती है। ये आकार में बड़े होते हैं तथा इनका व्यास 40 μ से 50 μ तक होता है। इसकी वृद्धि केवल द्विविभाजन द्वारा होती है। कभी-कभी यह आँत की दीवारों को फाड़कर रुधिर परिसंचरण में भी मिल जाता है वहां से ये शरीर के अन्य अंगों जैसे— फेफड़ा, मस्तिष्क, यकृत जनद इत्यादि में भी पहुँच जाते हैं और दूसरी प्रकार की बीमारियों को जन्म देते हैं।

(2) संक्रमण अवस्था

इस अवस्था में एण्ट आमीवा परपोषी की आँत, गुदा में पाये जाने वाले बैक्टीरिया इत्यादि को अपना भोजन बनाता है और पोषक को कोई हानि नहीं पहुँचाता है। इस अवस्था में इसका आकार अपेक्षाकृत छोटा होता है --13μ से 25μ। इस दशा में यह एक परपोषी से दूसरे परपोषी में परिकोष्ठित होता है। एण्ट अमीबा की इस अवस्था को माइन्युटा अवस्था भी कहते हैं जो संक्रमण अवस्था को प्रदर्शित करती है। एण्टअमीबा का जीवनचक्र एक पोषिद्क होता है अर्थात् इसका जीवनचक्र एक ही परपोषी में पूर्ण होता है। यह परपोषी मनुष्य है। संक्रमण अवस्था के दौरान यह एक परपोषी से दूसरे परपोषी में गन्दे पानी के साथ, मक्खियों या तिलचट्टों द्वारा पहुँच जाता है।

जब यह नये परपोषी में भोजन या पानी द्वारा उसके आमाशय में जाता है तो उस समय इसमें चार केंद्रक होते हैं जो कि एक दृढ़ भित्ती या खोल के द्वारा ढके रहते हैं। आमाशय में पहुँचते ही आमाशय के पाचक रसों की क्रिया इस पर होती है जिसके द्वारा इसकी दृढ़ भित्ती घुल जाती है किन्तु फिर भी अमीबा नष्ट नहीं होने पाता और आमाशय से बड़ी आँत में पहुँच कर अपना जीवनचक्र पुनः आरम्भ कर देता है। इस प्रकार यह एक खतरनाक अमीबा है जो मनुष्यों को बहुत कष्ट देता है। इसके प्रभाव से बचने के लिए प्राथमिक रोकथाम के उपाय अवश्य करना चाहिए जिनके नियम निम्नलिखित हैं जिससे इस रोग से बचा जा सकता है :—

(1) हाथों को भोजन करने से पूर्व भली-भाँति साफ कर लेना चाहिए।

(2) नाखूनों को समय-समय पर काट कर साफ रखना चाहिए।

(3) सब्जियों को भली-भाँति धोकर या उबाल कर खाना चाहिए।

(4) पीने का जल शुद्ध होना चाहिए।

(5) खाने-पीने की वस्तुओं को ढक कर रखना चाहिए।

(6) देर से कटे फल व सब्जियों को नहीं खाना चाहिए।

चिकित्सा--

एण्ट अमीबा द्वारा उत्पन्न पेचिश का उपचार करना कोइ कठिन कार्य नहीं है, किन्तु कभी-कभी यह आँत की दीवार में अपने सिस्ट में बने रहते हैं अर्थात् एक विशेष प्रकार की संरक्षक खोल दारा ढके रहते हैं जिससे यह रोग जल्दी नही छूटता है और पुनः उत्पन्न हो जाया करता है। एमीटीन नामक औषधी आंशिक रूप से लाभकारी सिद्ध होती है परन्तु इस परपोषी को समूल नष्ट करने के लिए वायोफार्म डायोफार्म, टेरामाईसिन, रनोमाइसिन, इन्ट्रोक्यू नाल इत्यादि औषधियां दी जाती हैं परन्तु इनका भी अधिक प्रयोग स्वास्थ्य के लिए हानिकर होता है।

इस रोग के लिए गूलर के दूध का चीनी के साथ प्रयोग हितकारी होता है।

कम्प्यूटर में सख्याओं एव प्रकृतियों का प्रतिनिधित्व

● मनीषी बरनवाल

अधिकतर व्यक्तियों के लिये कम्प्यूटर अब भी एक रहस्य बना हुआ है और इसके बारे में वे बहुत धुंधला ज्ञान रखते हैं। औद्योगिक एवं वाणिज्य क्षेत्र में कम्प्यूटर एक महत्वपूर्ण साधन माने जाते हैं न कि एक विजातीय विलास। यहाँ पर एक कम्प्यूटर द्वारा गणनाओं में प्रयोग की जाने वाली संख्याओं एवं प्रकृतियों का प्रतिनिधित्व करने की तकनीक का वर्णन किया गया है। इस संबंध में केवल मूल तथ्य ही दिये गये हैं।

कम्प्यूटर अपने सारे काम केवल दो मूल संख्याओं '0' और '1' के द्वारा ही करते हैं। इस पद्धति को द्विवर्णी पद्यति कहते हैं। प्रतिदिन के कार्य में, आने वाली पद्धति को दशमलव पद्धति कहते हैं, जिसमें '1' से '9' तक एवं '0' मूल संख्याऐं होती हैं। द्विवर्णी पद्धति में एक पद संहति में दायें से बायें की ओर जाने पर स्थान मूल्य 2 की एक अधिक घात से बढ़ता है जब कि दशमलव अंकगणित में स्थान मूल्य 10 की एक अधिक घात से बढ़ता है। द्विवर्णी अंकगणित में प्रथम स्तंभ बायें से दायें केवल एक (इकाई) का प्रतिनिधित्व करता है, अगला स्तंभ 2 का प्रतिनिधित्व और उससे अगला 4 का, इसी प्रकार क्रमशः अगले स्तंभ 8, 16, 32, 64 इत्यादि का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्थान मूल द्विवर्णी पद्धतिमें—2^5, 2^4, 2^3, 2^2, 2^1, 2^0 स्थान मूल्य दशमलव पद्धति में—10^5, 10^4, 10^3, 10^2, 10^1, 10^0 उदाहरण के लिए संख्या 1111 द्विवर्णी अंकगणित में दशमलव संख्या 15 का प्रतिनिधित्व करती है क्योंकि प्रथम 1 इकाई के स्थान पर 1 को, द्वितीय 1 दहाई के स्थान पर 2 का, तृतीय 1 सैकड़े के स्थान पर 4 का एवं चतुर्थ 1 हजार के स्थान पर 8 का प्रतिनिधित्व करती है $(8+4+2+1=15)$।

द्विवर्णी	संख्या	111 = 7	दशमलव संख्या के
,,	,,	1100 = 12	,, ,, ,,
,,	,,	10001 = 17	,, ,, ,,
,,	,,	1111101000 = 1000	,, ,, ,,

द्विवर्णीय संख्यायें लिखने में लम्बी और कठिन होती हैं यह संख्यायें 'षड्दशमलव (हेक्सादेसियल) संख्याओं' के रूप में षड्दशमलव अंकों के द्वारा लिखी जा सकती है। प्रत्येक षड्दशमलव अंक 4 द्विवर्णीय अंकों को एक दूसरे के पास-पास लिखे जाने से निर्मित होती है। इस प्रकार केवल 16 अलग-अलग सम्भव तरीकों से 4 द्विवर्णीय अंक 0000 से 1111 तक लिखे जा सकते हैं। नीचे दी गई तालिका में ये 16 अलग-अलग समुदाय स्तम्भ 1 में नीचे दिये गये हैं; स्तम्भ 2 में इन द्विवर्णीय संख्याओं को प्रदर्शित करने वाली दशमलव संख्या दी गई है। स्तंभ 3 में 4 अंकों द्वारा प्राप्त द्विवर्णी संख्या को प्रदर्शित करने वाले षड्दशमलव अंक दिये गये हैं। षड्दशमलव अंकों को काले अक्षरों में लिखा गया हैं जिससे उन्हें सामान्य दशमलव अंक एवं वर्णमाला के अक्षरों से अलग किया जा सके।

तालिका नं० 1 —षड्-दशमलव अंक

चार दिवर्णी अंको का समुदाय	तुल्य दशमलव संख्या	षड्-दशमलव अंक
0000	0	**0**
0001	1	**1**
0010	2	**2**
0011	3	**3**
0100	4	**4**
0101	5	**5**
0110	6	**6**
0111	7	**7**
1000	8	**8**
1001	9	**9**
1010	10	**A**
1011	11	**B**
1100	12	**C**
1101	13	**D**
1110	14	**E**
1111	15	**F**

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि साधारण अंक **9** के बाद समाप्त हो गये और बाकी बचे हुये द्विवर्णीय अंक समुदायों को प्रदर्शित करने के लिये **A** से लेकर F तक के अक्षरों का प्रयोग करना पड़ा। काले अक्षर हमें यह बताते हैं कि ये षड्दशमलव अंक हैं न कि वर्ण माला के अक्षर। उदाहरण के लिये षड्दशमलव अंक **F** दिवर्णीय अंक 1111 को प्रदर्शित करता है और इसे साधारण **F** से अलग समझना चाहिये।

'बाइनरी डिजिट' अर्थात दिवर्णीय अंक को संक्षिप्त रूप में बिट लिखा जाता है। प्रत्येक षड्-दशमलव अंक 4 बिटों को प्रदर्शित करता है।

यह षड्-दशमलव रूप 8 बिटों के एक समुदाय को एक साथ लिखने में प्रयोग किया जा सकता है आठ बिटों का एक समुदाय 10111001, 4 बिटों के दो समूहों में विभक्त किया जा सकता है अर्थात 1011 एवं 1001। प्रथम समूह षड्-दशमलव अंक **B** द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है और दूसरा समूह षड्-दशमलव **9** द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। इस प्रकार **8** बिटों का समुदाय षड्-दशमलव रूप में **B9** द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। इस प्रकार से 8 बिटों के समूह वास्तव में एक कम्प्यूटर मशीन के सुसंगठित स्मरण इकाई की एक प्रयोगात्मक इकाई है। इस प्रकार के 8 बिट के एक समूह को बाइट कहते हैं और प्रत्येक बाइट मशीन अपना स्वयं का एक 'पता' (एड्रेस) रखती है। इस 'पते' द्वारा मशीनी भाषा 'प्रोग्राम' में संदर्भित (रेफर) की जा सकती है। दूसरी ओर सूचना की एक बिट को संदर्भित करने के लिये यह आवश्यक है कि पहले उस बाइट को 'पकड़ा' जाये जिसमें यह बिट शामिल हैं और तत्पश्चात् दूसरे कार्य किये जायें जिनके द्वारा एक बिट को दूसरे अन्य 7 बिटों से अलग किया जा सके जो कि एक बाइट में सम्मिलित हैं।

चूंकि एक बाइट में सूचना की 8 बिट होती है इस कुल मिला कर $2^8=256$ अलग अलग वैकल्प एक बाइट के लिये संभव हैं षड्-दशमलव कोड में यह वैकल्प **OO, 01, ... OF, OF, 10,11,000, 1E, 1F, 21, 22, FE, FF, 256** द्वारा 256 संयोगों में प्रदर्शित किये जा सकते हैं। इन सबमें से केवल कुछ ही वैकल्प मशीन में उन 'प्रकृतियों' (करैक्टर्स) को प्रदर्शित करने में प्रयोग में लाये जाते हैं जो फोर्ट्रान के अन्तर्धारित पंच कार्डों पर दिखाई देते हैं। इस प्रकार फोट्रीन अन्तर्धारित में केवल 49 संभव 'प्रकृतियाँ' हैं जो नीचे लिखे तीन भागों में आती हैं:—

(1) वर्णमाला को प्रदर्शित करने वाली प्रकृतियाँ (करैक्टर्स), चिन्ह $ को लेकर (27 प्रकृतियां)

(2) दशमलव अंक (10 प्रकृतियाँ) (न्यूमेरिक करैक्टर्स)

(3) विशेष प्रकृतियाँ अर्थात=रिक्त स्थान, +, —, /, = (पीरियड), (,), *, , (अर्ध विराम), ' (सम्बोधन), एवं & (ऐम्पर्सैन्ड) (12 प्रकृतियाँ)

इनमें से प्रत्येक प्रकृति 8 बिट के एक विशेष समूह द्वारा अर्थात एक विशेष बाइट द्वारा मशीन की स्मरण इकाई में प्रदर्शित की जाती है।

यदि एक बाइट का प्रयोग एक संख्या को जो कि गणनाओं को करने में प्रयोग की जाती हैं, प्रदर्शित करने में करें तब केवल 0 से 255 तक की संख्यायें ही प्रदर्शित की जा सकती है। धन व ऋण संख्या अथवा 256 या उससे बड़ी संख्यायें नहीं प्रदर्शित की जा सकती है।

एक संख्या को प्रदर्शित करने के लिये कई बाइटों को एक दूसरे से मिलाकर एक समूह रूप में लिखने से इस प्रकार की सीमित परिधि से बाहर की संख्याओं को भी प्रदर्शित किया जा सकता है। अधिकतर मशीनों की स्मरण इकाइयों में 4 बाइटों को साथ-साथ एक समूह में प्रयोग किया जाता है जो सूचना की 32 बिट को प्रदर्शित करते हैं। एक मशीन में यह 'स्मरण स्थान' (मेमरी लोकेशन) का साधारण आकार है। किसी स्मरण स्थान का 'पता' बाइट के समूह में प्रथम बाइट का पता होता है। सभी 'स्मरण स्थान' चार बाइट लम्बे नही होते हैं; परन्तु साधारण फोट्रीन प्रोगाम में अधिकतर इतने ही लम्बे होते हैं। चार बाइट से अधिक लम्बे समूह को विशेष घोषणा द्वारा बताया जाता है। चार बाइट की पूर्ण संख्याऐं (इन्टिजर) मशीन के भंडार में 4 बाइट के समुदाय अर्थात 32 बिट में एक दूसरे के पास-पास भंडारित की जाती है। प्रथम बिट चिन्ह बिट कहलाती है, यदि यह '0' है तो यह धन संख्या प्रदर्शित करती है और यदि यह '1' है तो ऋण संख्या प्रदर्शित करती है। शेष 31 बिट पूर्ण संख्या का मान कोड रूप में प्रदर्शित करती है। इकतीस बिट द्वारा $2^{31}=2147483648$ वैकला प्राप्त हैं और इस प्रकार 0से $2^{31}-1=2147483647$ पूर्ण संख्या को चिन्ह बिट के साथ प्रदर्शित किया जा सकता है। सभी प्रयोगात्मक कार्यों के लिये यह संख्या प्रर्याप्त है; केवल कुछ विशेष कार्यों को छोड़कर।

वास्तव में अधिकतर कार्यों के लिये यह विस्तार अत्याधिक है और भंडार में प्राप्त भंडारिक क्षमता का दुरुपयोग है इसलिये दो बाइट की पूर्ण संख्याऐं मशीन में दो बाइट अर्थात 16 बिट के रूप में एक दूसरे के पास भंडारिन किये जाते हैं। इनमें से प्रथम बिट चिन्ह बिट को दर्शाती है और शेष 15 बिट पूर्ण संख्या का मान कोड रूप में दर्शाती पंद्रह बिटसे $2^{15}=32768$ अलग-अलग अवस्थायें सम्भव हैं और उनके द्वारा 0 से लेकर $2^{15}-1=32767$ संख्यायें चिन्ह बिट के साथ दर्शायी जा सकती हैं। यह एक लूप द्वारा कुल की गई गणनाओं को नापने और दूसरी 'इन्डेक्सिंग गणनाओं को गिनने के लिये जो कि कम्प्यूटर प्रोग्राम में आवश्यक होती हैं, करने में प्रयोग में लायी जाती हैं।

पूर्ण संख्यायें या पूर्णांक को दशमलव बिन्दु की आवश्यकता नही होती; हम इस प्रकार सोच सकते हैं यदि आवश्यकता हो कि प्रत्येक पूर्ण संख्या के दाहिने तरफ आखिरी में दशमलव बिन्दु है, इस कारण से, पूर्ण संख्यायें कभी-कभी मशीन में 'स्थिर बिन्दुओं वाली (फिक्स्ड प्वाइंट) संख्याओं के नाम से जानी जाती हैं, उन्हें परिमेय संख्याओं (रेशनल नम्बर) से अलग पहचानने के लिये जिन्हें कभी-कभी 'चल संख्याओं' या 'प्लवमान संख्याओं (फ्लोटिंग प्वाइंट)' द्वारा जाना जाता है (कम्प्यूटर IBM/360 में परिमेय संख्यायें 'सामान्यीकृत रूप (नारमलाइज्ड फार्म)' में लिखी जाती हैं।

$$r=f\times(16)^{k-64} \text{ जहाँ पर } 1|16\leqslant|f|<1$$

$$0\leqslant k\leqslant127$$

(k=पूर्ण संख्या)

$k-64$ को "घातांक" कहते हैं और f को "भिन्नीय हिस्सा" या "दशमलवांश" कहते हैं। उदाहरण के लिए, संख्या 25.0 लीजिए, इसे हम $(25/16)\times16^1$ नहीं लिख सकते हैं क्योंकि $f=25/16$ एक से अधिक हो जायेगा। इसलिये हम लिखेंगें

$$25.0=\left(\frac{25}{256}\right)\times16^2, \text{ अर्थात् } =\frac{25}{256} \text{ एवं } k=66$$

(जिसके $k-64=2$)

क्योंकि k का मान 0 से 127 तक हो सकता है इसलिये प्लवमान संख्या का मान $(16)^{-64}$ से $(16)^{+63}$ अर्थात्

लगभग 10^{-78} से 10^{+78} तक हो सकता है । अधिकतर उपयोगों में यह ठीक है ।

चार बाइट वाली वास्तविक संख्या (रियल नम्बर) मशीन में 4 बाइट अर्थात 32 बिट में पास-पास एक पैटर्न में भंडारित किये जाते हैं । प्रथम बिट चिन्ह बिट को प्रदर्शित करती है जो कि संख्या का चिन्ह बताती है । अगली 7 बिटों में से प्रथम बिट पूर्ण संख्या (इन्टिजर) k का मान प्रदर्शित करती है । सात बिटों से $2^7=128$ वैकल्प k के लिये प्राप्त हैं और इन्हें $k=0$ से $k=127$ तक के विस्तार को प्रदर्शित करने में प्रयोग करते हैं । बाकी बची हुई 3 बाइट अर्थात 24 बिट द्वारा भिन्नीय भाग f का चरम (एबसलूट) मान कोड रूप में प्रदर्शित किया जाता है ।

भिन्नीय भाग f की सूचना के लिये केवल 24 बिट एक चिन्तनीय सीमा है संख्याओं के मान को ठीक प्रकार से प्रदर्शित करने के लिये । कोई दो परिमेय संख्यायें जो एक दूसरे से दो करोड़वें मान (10^7 हिस्से में दो हिस्सा) से कम अन्तर की है वह मशीन में चार बाइट पैटर्न में एक ही प्रकार से प्रदर्शित की जायेंगी । देखने में 10^7 हिस्से में दो हिस्से की परिशुद्धता ठीक दिखाई देती है परन्तु गणनाओं के बाद मिलने वाले परिणाम में केवल 2 से कम अर्थपूर्ण अंक ही ठीक होगी ।

इस समस्या को सुलझाने के लिये 8 बाइट की वास्तविक संख्या को 'दोहरी परिशुद्धता पूर्ण प्लावन बिन्दु वाली (डबल प्रिसीजन फ्लोटिंग प्वाइंट) संख्या, से प्रदर्शित किया जा सकता है । यह संख्या मशीन में 8 बाइट अर्थात 64 बिट के पैटर्न में भंडारित की जाती है प्रथम बाइट में चिन्ह बिट और 7 अन्य बिट होते हैं जो पूर्ण संख्या k का मान प्रदर्शित करते हैं जैसा कि पहले; परन्तु अब 7 बाइट या 56 बिट दशमलवांश (मैन्टीसा) f को प्रदर्शित करती हैं । इस प्रकार से प्राप्त परिशुद्धता लगभग 10^{16} हिस्से में एक हिस्सा भिन्न f के लिये है । यह प्रयोगात्मक गणनाओं के लिये ठीक ही परिणाम देता है ।

डोडो और कैलवेरिया

डोडो वह पक्षी है जिसे अब पुनः देखा नहीं जा सकेगा डोडो अफरीका के पूर्वी तट पर स्थित मारीशस द्वीप में पाया जाता था और अब यह लुप्त हो गया है । हालैण्ड का जब इस द्वीप पर कब्जा था तो डच लोग इस पक्षी को मूर्खता का प्रतीक मानकर इसका शिकार करते थे । परिणाम यह हुआ कि सन 1685 तक सभी डोडो पक्षी समाप्त हो गये । डोडो के लुप्त हो जाने से अब वहाँ पाए जाने वाले कैलवरिया मेजर जाति के वृक्षों को एक सर्वेक्षण के अनुसार सारे द्वीप में अब केवल 10 - 15 वृक्ष बचे हैं और भय यह है कि ये भी न शीघ्र ही समाप्त हो जायँ । कैलवरिया के बीजों का छिलका बहुत कड़ा होता है । डोडो को कैलवरिया के फल बहुत पसंद थे । जब डोडो यह फल खाता तो उसकी कठोर पेषणी में पिसकर ही बीजों का छिलका टूट पाता । बीज बिना हज़म हुए बाहर निकल आते । बीज के कड़े छिलके के टूट जाने के कारण ये बीज आसानी से उग आते थे । अब जब डोडो लुप्त हो गये तो इन बीजों का छिलका न टूट सका और नये बीज उगे ही नहीं । इस प्रकार इन वृक्षों की संख्या निरन्तर कम होती गई । विस्कान्सिन विश्वविद्यालन के डां० टेपिल को तीन पौधों का उगाने में सफलता मिली है । यह पौधे 300 वर्ष बाद उगे हैं । डा० पेन्टिल ने कैलवरिया के बीज पीरू नामक पक्षी को खिलाए । पीरू की पेषणी डोडो की पेषणी की ही भाँति होती है । अगर इस प्रयोग से वृक्ष पुनः संख्या में बढ जांय तो यह एक बहुत बड़ी सफलता होगी ।

मच्छर महिलाओं को अधिक काटते हैं

● कृष्ण किसलय

अगर आपसे पूछा जाय कि मच्छर महिलाओं को अधिक क्यों काटते हैं, तो आप यही कहेंगे कि भला मच्छर पुरुषों को कम और महिलाओं को अधिक क्यों काटने लगे। लेकिन यह वैज्ञानिक तथ्य है कि मच्छर महिलाओं पर पुरुषों की अपेक्षा अधिक आक्रमण करते हैं। काटने वाले मच्छर 'मादा मच्छर' होते हैं।

कनाडा के वेस्टर्न आनटारियो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर पी० रोजेलर के अनुसार मनुष्य के पसीने में वर्तमान एस्ट्रोजीन (सेक्सुअल हारमोन) मच्छरों को अधिक आकर्षित करता है। पसीने में दो तरह के एस्ट्रोजीन पाये जाते हैं। 17- एलकोहलिक एस्ट्रोजीन और 17- फिटो एस्ट्रोजीन। 17- एलकोहलिक एस्ट्रोजीन अधिक शक्तिशाली होता है। यदि प्रति ग्राम पसीने से एक माइक्रो ग्राम के लाखवां भाग के बराबर की मात्रा के बराबर एस्ट्रोजीन भी शरीर से वाष्पित हो, तो वह मात्रा मच्छर को आकर्षित करने के लिए पर्याप्त है।

म्यूनिख विश्वविद्यालय के प्रोफेसर बोजे ने एक प्रयोग के अंतर्गत 175 महिलाओं के शरीर के पसीने के साथ निकलने वाले एस्ट्रोजीन का अध्ययन किया। उन्होंने निष्कर्ष दिया है कि 'मासिक-क्रिया' के समाप्त होने के बाद पहले से चौथे, नौवें से बारहवें, सतरहवें से बीसवें और इक्कीसवें से चौबीसवें दिनों में एस्ट्रोजीन की सान्द्रता अधिक हो जाती है। इन्ही दिनों में मच्छर महिलाओं पर अधिक आक्रमण करते हैं। मच्छरों का अधिकतम आक्रमण सतरहवें से बीसवें दिनों में अधिकतम होता है, क्योंकि इन्हीं दिनों पसीने के साथ यह हारमोन अधिक मात्रा में निकलता है।

महिलाओं में दोनों प्रकार के एस्ट्रोजीन वर्तमान होते हैं। लेकिन पुरुषों में '17- एलकोहलिक एस्ट्रोजीन नहीं पाया जाता है। पाया जाता है भी तो नगण्य मात्रा में। 17- फिटो एस्ट्रोजीन महिलाओं के एक ग्राम पसीने में औसतन 423 से 487 माइक्रो ग्राम तक तथा पुरूषों के एक ग्राम पसीने में 74 से 378 माइक्रो ग्राम तक रहता है।

प्रोफेसर बोजे का कहना है कि एमीनो अम्ल, एस्पर्टिक अम्ल, सेरीन, ग्लुटानिक अम्ल, प्रोलीन, थियोनाइन आदि पदार्थ भी मच्छर से काटे जाने के कारण हैं। ये पदार्थ भी पुरूषों व महिलाओं के शरीर में भिन्न-भिन्न मात्रा में विद्यमान होते हैं।

अखिल भारतीय वानिकी साहित्य पुरस्कार
1979
वानिकी विषयों पर मूलतः हिन्दी में लिखे ग्रन्थों और लेखों के लिये
वन अनुसंधान संस्थान एवं महाविद्यालय, देहरादून के नगद पुरस्कार

ग्रन्थ पुरस्कार	5,000रु० का एक
	2,500 रु० का एक
लेख पुरस्कार :	500 रु० का एक, 300 रु० का एक तथा 100—100 रु० के दो

प्रविष्टियाँ 31 जुलाई 1979 तक स्वीकार्य।

विशेष जानकारी के लिये अपना पता लिखा और शीर्ष पर अखिल भारतीय वानिकी साहित्य पुरस्कार योजना विवरण और नियम शब्दांकित 10 सेंमी० × 25 सेंमी० का बिना टिकट लगा लिफाफा भेजते हुए कृपया लिखिए-सचिव, अ० भा० वानिकी साहित्य पुरस्कार योजना, वन अनुसंधान संस्थान एवं महाविद्यालय, न्यू फॉरेस्ट (देहरादून) 248006।

हिन्दी वानिकी साहित्य पुरस्कारार्थ आमंत्रित

वन अनुसंधान संस्थान, देहरादून ने अपनी अखिल भारतीय वानिकी साहित्य पुरस्कार योजना के अन्तर्गत वर्ष 1979 के पुरस्कारों के लिए रचनाएं आमंत्रित की हैं। गत वर्ष की भांति इस वर्ष भी वानिकी विषयों पर मूलतः हिन्दी में लिखी स्तरीय पुस्तकों और लेखों को नगद पुरस्कार प्रदान किये जायेंगे। ग्रन्थ पुरस्कारों के अन्तर्गत 5,0001 रु० का एक पुरस्कार श्रेष्ठ लेखन के लिए और 2,5001 रु० का पुरस्कार उत्तम लेखन के लिए रखा गया है। लेख पुरस्कारों के अन्तर्गत चार पुरस्कार हैं : पहला 5001 रु० का, दूसरा 3001 रु० का और शेष दो एक-एक सौ रुपये के।

वर्ष 1979 के पुरस्कारों के लिए 1 जनवरी 1974 से लेकर 31 दिसम्बर 78 तक की पांच वर्षीय अवधि में वानिकी विषयों पर लिखे गये हिन्दी ग्रन्थ और लेख विचारार्थ स्वीकार किए जायेंगे। प्रविष्टियां मुद्रित, टंकित और हस्तलिखित तीनों प्रकार से भेजी जा सकती हैं। तथापि प्रतियोगी को अपनी रचना और उसके सार-संक्षेप की छह-छह प्रतियां भेजनी होंगी। प्रतियोगी जितनी चाहे उतनी प्रविष्टियां भेज सकता है। भारत का कोई भी नागरिक इस योजना में भाग ले सकता है। प्रविष्टियां स्वीकार करने की अन्तिम तिथि 31 जुलाई है।

विस्तृत जानकारी सचिव' अ० भा० वानिकी साहित्य पुरस्कार योजना, वन अनुसंधान संस्थान एवं महाविद्यालय, न्यू फारेस्ट (देहरादून) —248006 से स्वयं मिलकर अथवा उन्हें 10 सेंमी० × 25सेंमी० का बिना टिकट लगा और अपना पता लिखा व शीर्ष पर अ० भा० वानिकी साहित्य पुरस्कार योजना का विवरण व नियम शब्दांकित लिफाफा भेजकर प्राप्त की जा सकती है।

तपेदिक की चुनौती

तपेदिक एक संक्रामक रोग है और फेफड़ों, हड्डियों जोड़ों, स्नायु-तंत्रों अंतड़ियों, खाल, आँखों और शरीर के कई अन्य भागों पर इसका प्रभाव पड़ता है। कोई 60-70 वर्ष पहले, तपेदिक एक असाध्य रोग माना जाता था, लेकिन अब यह धारणा निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। सोवियत संघ के नगरों और जिलों में तो विविध स्तरों पर कार्यरत 1,500 से भी अधिक विशेष बहिरंग रोगी औषधालय समेत देश में कई तरह के तपेदिक निरोधी संस्थान हैं। बहिरंग निदान-गृहों तथा अस्पतालों में विशेषीकृत अस्पताल, निदानगृह और तपेदिक कक्ष तथा तपेदिक सैनीटोरियम के जाल बिछे होंने के साथ-साथ रोग के विशिष्ट रूपों के उपचार के लिए विशेषीकृत रोगीकक्ष भी वहाँ हैं।

सोवियत संघ के जन-स्वास्थ्य मंत्रालय के अनुसार तपेदिक अस्पताल औरे सैनीटोरियम सभी तरह के 5,00,000 रोगियों को ठहराने का प्रबन्ध कर सकते हैं और मामूली तपेदिक से पीड़ित बच्चों के इलाज के लिए बने विशेषीकृत सैनीटोरियम नर्सरी और किंडरगार्टन के तंत्रों के साथ-साथ छात्रावास में भी 7,00,000 से अधिक बच्चों का प्रबन्ध हो सकता है। कई कारखानों में "गैस चिकित्सा" तपेदिक निरोधक संस्थान भी हैं। यह रात भर के उपचार आरोग्य-गृह हैं, जहाँ लोगों को उपचार के साथ कार्य को शामिल करने की आज्ञा रहती है।

शीघ्र उपचार

चिकित्सक यथासम्भव कम समय में तपेदिक के लक्षण की खोज करने का प्रयत्न करते हैं, जब कि कोच बासिल्ली औषधियों के प्रति बेहद संवेदनशील रहते हैं। प्रारम्भिक खोज का एक तरीका नियमित सामूहिक एक्स-रे प्रेक्षण है, जो नर्सरी, किंडरगार्टन, स्कूलों में प्रवेश लेने वाले बच्चों के साथ ही छात्रों और किन्हीं खास व्यवसायों में कार्यरत लोगों के लिए अनिवार्य है।

स्वाभावतः अकेले तपेदिक विशेषज्ञ इतने बड़े कार्य का संचालन नहीं कर सकते, इसीलिये तपेदिक विशेषज्ञो के मार्गदर्शन में अन्य क्षेत्रों के डाक्टर भी काम में लगाये जाते हैं। फ्लुओरोग्राफ्स के नाम से विख्यात विशेष एक्स-रे संयंत्र द्वारा सामूहिक एक्स-रे प्रेक्षण किया जाता है जो एक घंटे में 100 से लेकर 150 तक फ्लुओरोग्राम—छाती के छोटे एक्स-रे चित्र—ले सकता है। कई जनतंत्रों में समूचे जनतंत्र के 12 वर्ष तथा इसके ऊपर के प्रत्येक का ऐसा परीक्षण किया जाता है।

तपेदिक का इलाज

तपेदिक का, विशेषकर उसके अधिक गम्भीर रूप धारण करने पर उपचार एक लम्बी प्रक्रिया है, जिसके लिये अस्पताल में कई महीने रहने, घर में इलाज, कई तरह की औषधियाँ और विटामिन, विशेष आहार और स्पा-उपचार की आवश्यकता होती है।

मुख्य रूप से प्रारम्भिक उपचार निदानगृह या औषधालय में एन्टीबायटिक द्वारा किया जाता है। कभी-कभी एन्टीबायटिक उद्दीपन तकनीक के साथ जोड़ दिया जाता है। इस तरह, सन् 1975 में, सोवियत संघ जन-स्वास्थ्य मंत्रालय के केन्द्रीय शोध तपेदिक संस्थान ने तपेदिक से मुक्ति में निर्मित सहायता देने वाला हार्मोन—थाइमोसिन के एक शुद्ध स्वरूप को सुझाया था।

सामान्यतौर पर तपेदिक विशेषज्ञ अपने रोगियों का बहिरंग रोगी क्लीनिकों में ही उपचार करते हैं और इस

तरह उन्हें घर में ही रहने और अपना कार्य जारी रखने की अनुमति देते हैं। यह परिणाम तपेदिक के क्रियात्मक रूपों की संख्या में कमी और कारगर औषध के प्रयोग के साथ सम्बद्ध है। तपेदिक की प्रथम अवस्था या क्रियात्मक रूप वाले रोगियों को अस्पताल में रखा जाता है और उसके बाद सैनीटोरियम में उनका उपचार होता है। इलाज कई महीनों तक जारी रहना चाहिए और किसी विशेषीकृत सैनीटोरियम में रहकर में रहकर इसे पूरा कर लेना चाहिये

कार्य के माध्यम से स्वास्थ्य लाभ को भी महत्वपूर्ण माना जाता है। ऐसा लगता है कि प्रारम्भिक और ठीक तरह से नियंत्रित श्रम-रोगोपचार, विश्राम की अवस्था से [निदानगृह और सैनीटोरियम में उपचार का समय] सामान्य कार्य करने की स्थिति में वापस लाना सुनिश्चित करता है।

शल्य चिकित्सा ने अस्थिमय तपेदिक फुस्फुस का राजयक्ष्मा तथा अन्य अंगों के तपेदिक के उपचार में अच्छे परिणाम पेश किए हैं। आजकल सोवियत चिकित्सक उन रोगियों को भला-चंगा कर देते हैं, जो असाध्य मामले मान लिए गए थे और वास्तव में ऐसे मामलों की संख्या अब घटती जा रही है।

रोकथाम

तपेदिक के उपचार में जो कुछ भी सफलताएँ मिली हों इनकी रोकथाम में अब भी जोर दिया जाता है। इस सम्बन्ध में तपेदिक के टीके बेहद महत्वपूर्ण हैं।

पिछले 30 वर्षों के दौरान, टीके तैयार करने की तकनीक में अत्यधिक सुधार हुआ है, जिसकी वजह से पहले बनने वाले तरल बैक्सीन के स्थान पर; जो कि सिर्फ दस दिनों के अन्दर प्रयोग करने के लायक रहते थे, वैसे ही शक्तिशाली शुष्क वैक्सीन हमारे पास उपलब्ध हो सके हैं।

तपेदिक के टीके सभी बच्चों के लिए जरूरी है। नवजात शिशुओं को प्रसूतिगृह में ही टीका लगा देना चाहिए एक निश्चित समय में टीके दोबारा लगाए जाते हैं। सोवियत संघ में तपेदिक से बीमारी दर तथा मृत्यु दर औद्योगिक रूप से विकसित अन्य देशों की तुलना में अधिक कम है और निरन्तर कम होती जा रही है। तपेदिक नियंत्रण सेवा कोच बासिल्ली को चुनौती देने में महान् भूमिका निभाती है।

श्वसन क्रिया

● नमिता श्रीवास्तव

जिस प्रकार मशीन को ईंधन जलने से ऊर्जा प्राप्त होती है ठीक उसी प्रकार शरीर को भोजन रूपी ईंधन के आक्सीकरण से ऊर्जा प्राप्त होती है। शरीर के अंदर चलने वाली इन आक्सीकरण क्रियाओं को ही श्वसन कहते हैं।

श्वसन एक रासायनिक क्रिया है जिसमें बाहर (वायुमंडल) से ली गई ऑक्सीजन ऊतकों में संचित खाद्य पदार्थों के कार्बन व हाइड्रोजन अणुओं से मिलकर जल व कार्बन-डाई आक्साइड बनाती है और जीवन के कार्यों के लिये ऊर्जा मुक्त करती है। अतः श्वसन वह जैव क्रिया है जिसमें प्राणी अपने अन्दर आक्सीजन लेकर शरीर में ऊर्जा की उत्पत्ति करते हैं। इस क्रिया में लगभग आक्सीजन के समान आयतन की कार्बन डाइ आक्साइड बाहर निकलती है तथा अमोनिया जलवाष्प आदि भी बनते हैं। इस क्रिया में शरीर का भार घटता है अतः यह एक प्रकार की अपचय क्रिया हैं।

वास्तव में श्वसन का अर्थ कोशिकाओं के अन्दर जैव अणुओं के रासायनिक-ऊर्जा-बन्धनों को विघाटित कर उपापचयिक ऊर्जा में परिवर्तित करना है, जिससे कि वह ऊर्जा जीवित कोशिकओं द्वारा कार्य में लायी जा सके।

श्वसन अंग :

किसी श्वसन अंग में चार बातों का होना आवश्यक है :-

(1) अंग की वह सतह, जिसका संपर्क बाहर की वायु से हो, काफी फैली होनी चाहिए जिससे कि रुधिर कोशिकाओं को फैलकर एक जाल बनाने में सुबिधा हो। केशिकायें जितनी ही फैली होंगी उतना अच्छा श्वसन होगा; अर्थात् उस अंग का तल क्षेत्र बड़ा होना चाहिए।

(2) अंग की वह सतह इतनी पतली होनी चाहिए कि आक्सीजन आदि गैसें सुगमता से आर पार हो सके।

(3) सतह का सदा नम रहना आवश्यक है।

(4) उस अंग में बाहर से वायु के साथ आक्सीजन लाने व कार्बन डाई आक्साइड को बाहर ले जाने का उचित प्रबन्ध होना चाहिये।

जन्तु शरीर में हर समय उपापचयी क्रियायें होती हैं, इनके लिए उर्जा की आवश्यकता होती है। साथ ही जन्तु शरीर का ताप बनाये रखने के लिये ऊष्मा की आवश्कता होती है। यह ऊर्जा एवं ऊष्मा श्वसन से प्राप्त होती है। श्वसन जीवित कोशिकाओं में होने वाली अपचयी क्रिया हैं जिसमें कार्बनिक अणुओं की रासायनिक ऊर्जा, उपापचयी क्रियाओं में इस्तेमाल हो सकने योग्य ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है। यह जारण या दहन की एक अपघटनात्मक क्रिया है जिसमें कार्बनिक अणुओं के ऊर्जा बन्ध टूटते हैं और अणु में बन्द ऊर्जा उपापचयी क्रियाओं के लिये स्वतन्त्र हो जाती है। जैसे एक अणु ग्लूकोज श्वसन में रासायनिक दहन द्वारा 380,000 कैलोरी ऐसी उर्जा को स्वतंत्र करता हैं जिसे कि जीवतंत्र तुरन्त रासायनिक ऊर्जा अर्थात् ए० टी० पी० के रूप में संचित कर लेता है और शेष ऊर्जा ऊष्मा का रूप लेतीहै जिससे हमारे (मनुष्य) शरीर का ताप 98.4°F बना रहता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शक्कर तथा वसा के अणु और आवश्यकता पड़ने पर प्रोटीन के अणु श्वसन में अपने भीतर संचित ऊर्जा को स्वतन्त्र कर देते हैं और जीव कोशिकायें इसे ए० टी० पी० नामक यौगिक बनाकर संचित कर लेती हैं। आवश्यकता पड़ने पर ए० टी० पी० तुरन्त ए०डी०पी०

में टूटकर लगभग 10,000 कैलोरी ऊर्जा स्वतन्त्र कर देता है।

श्वसन की यह क्रिया दो प्रावस्थाओं में बांटी जा सकती है -

(1) **वाह्य श्वसन :–** इसके अन्तर्गत केवल गैस का विनिमय आता है अर्थात् आक्सीजन को ग्रहण करके कोशिका तक पहुँचाना और कोशिका में बनी कार्बन डाई आक्साइड को बाहर निकालना।

(2) **ऊतक श्वसन :–** इसके अन्तर्गत ग्लूकोज के जारन या दहन की वह सब रासायनिक क्रियायें आती हैं जिनके द्वारा ऊर्जा स्वतन्त्र होती है और कार्बन डाइ आक्साइड तथा जल बनते हैं।

बाह्य श्वसन :– आक्सीजन तथा कार्बन डाइ आक्साइड का आदान-प्रदान बाह्य श्वसन कहलाता है। इसके तीन आवश्यक कारक हैं। :-

(1) **आक्सीजन का स्त्रोत :–** पृथ्वी पर रहने वाले जंतुओं को वायु से और जलीय जन्तुओं को जल में घुली आक्सीजन प्राप्त होती है।

(2) **गैसीय विनमय का धरातल :–** स्थलज जंतुओं में गैसों का आदान-प्रदान फेफड़े की भीतरी सतह पर और जलीय जंतुओं में क्लोम (गलफेफड़े) द्वारा तथा एम्फीबिया में फेफड़ों के अतिरिक्त त्वचा एवं मुखगुहा के धरातल पर होता है। श्वसनांग की सतह सदैव गीली होती है क्यों कि आक्सीजन केवल जलीय घोल में ही श्वसन के उपयोग में आ सकती है। श्वसनांग में रक्त कोशिकाओं का घना जाल भी होना चाहिए।

(3) **आक्सीजन का वाहक :–** बहुकोशीय जलीय जंतुओं में प्रत्येक कोशिका आक्सीजन के सीधे संपर्क में नहीं आ पाती है अतः आक्सीजन को प्रत्येक कोशिका तक पहुँचाने का कार्य रक्त में उपस्थित लोहे का एक जटिल कार्बनिक यौगिक हीमोग्लोबीन करता है। जहाँ आक्सीजन का घनत्व (मात्रा) अधिक होती है। हीमोग्लोबीन आक्सीजन से संयोग करके एक अस्थाई यौगिक आक्सी हीमोग्लोबीन बना लेता है। इस रूप में आक्सीजन रक्त वाहिनियों द्वारा कोशिकाओं को चलती हैं। अम्लीय माध्यम मिलने पर कार्बोनिक अम्ल की उपस्थिति में तथा आक्सीजन का घनत्व कम होने पर यौगिक पुनः आक्सीजन तथा हीमोग्लोबीन में टूट जाता है इस प्रकार कोशिकाओं को आक्सीजन प्राप्त हो जाती है।

विज्ञान वार्ता

कर्णातीत ध्वनि से अधिक उत्पादन में सहायता

सोवियत विशेषज्ञों के अनुसार कर्णातीत ध्वनि द्वारा गेहूँ की पाला प्रतिरोध क्षमता में वृद्धि हो जाती है। गेहूँ के दानों को यदि 10 मिनट तक कर्णातीत ध्वनि सुनाई जाय तो उनमें पाला प्रतिरोध क्षमता बढ़ने का निरीक्षण किया गया है। यह भी पता चला है कि तीव्र कर्णातीत ध्वनि का बढ़ते हुये पौधों की जल सम्बन्धी आवश्यकताओं पर भी प्रभाव पड़ता है। ध्वनि उपचारित बीजों को प्रायोगिक रूप म ऐसे शुष्क क्षेत्र में बोया गया जहाँ वर्ष में 25 सेंमी० से अधिक पानी नहीं बरसता। देखा गया कि उपचारित बीज सामान्य बीजों से अधिक उपज देते हैं। अधिक अच्छे क्षेत्र में इनसे उपज तीन गुना पाई गई। बीजों का औद्योगिक पैमाने पर ध्वनि उपचार करने के लिए जनरेटरों एवं क्वार्ट्ज प्लेटों का विकास किया जा रहा है।

मद्यपान से गंजापन में कमी

न्यूयार्क के शोध कर्ता जार्ज डीलियोन ने अपने सर्वेक्षण से यह परिणाम निकाला है कि शराब पीने वालों के गंजा होने की संभावना कम रहती है। शिक्षाविदों, दूकानदारों, व्यापारियों, वकीलों आदि कई वर्ग के लोगों के अध्ययन से पता चला कि गंजों में अधिकतर शिक्षाविद् हैं। शिक्षाविदों के बाद वकीलों का नम्बर है। लियोन ने पाया कि 71% अध्यापक या अधिक दिनों तक अध्ययन करने वाले शोध छात्र धीरे धीरे गंजेपन की ओर बढ़ रहे हैं। एक अनोखी बात जो पाई गई वह यह है कि उन लोगों में गंजापन कम है जो नियमित शराब पीते हैं।

सस्ता और प्रदूषण मुक्त ईंधन का विकास

देश की प्रगति के लिए ग्रामीण ईंधन की समस्याओं के हल की आवश्यकता को देखते हुए वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद की अनेक प्रयोगशालायें इस क्षेत्र में का कर रही हैं। रीजनल रिसर्च लैबोरेटरी, हैदराबाद और केन्द्रीय ईंधन शोधन संस्थान, धनबाद ने ऐसी तकनीकों का विकास किया है जिनसे ग्रामीण ईंधन के रूप में उपयोग के लिये ऐसे कोयले और उपले बनाये जा सकते हैं जिनको जलाने से धुआँ नहीं निकलता।

हैदराबाद प्रयोगशाला की तकनीक पर आधारित नौ सौ टन प्रतिदिन की क्षमता वाला एक संयन्त्र आन्ध्र प्रदेश में स्थापित किया जा रहा है। धनबाद में विकसित तकनीक में हल्के किस्म के पत्थर के कोयले, कोयले के चूरे, छीजन आदि का उपयोग किया जाता है। धनबाद संस्थान ने घरेलू चूल्हे भी बनाये हैं जिनकी ईंधन के उपयोग की क्षमता चालीस प्रतिशत है। आमतौर पर यह क्षमता 20 प्रतिशत ही होती है। दुर्गापुर स्थित सेन्ट्रल मेकेनिकल इंजीनियरिंग इन्सटीट्यूट ने भी एक अच्छी घरेलू अंगीठी बनाई है जिसमें कोयले के सस्ते चूरे का उपयोग होता है। इसमें धुआँ बहुत कम निकलता है और ईंधन उपयोग की क्षमता बहुत अधिक है।

कचरे से जलने वाला स्टोव

स्वीडेन के एक अनुसंधानकर्ता ने एक ऐसा स्टोव तैयार किया है जो कूड़े कचरों से जलता है। स्वीडेन की एक पत्रिका के अनुसार यह स्टोव जलाने के कुछ ही क्षणों में काफी गर्मी पैदा करता है। केवल 4 किलोग्राम अखबार से 20 किलोवाट प्रति घण्टे की गर्मी पैदा हो जाती है। इसकी डिजाइन स्वीडेन राष्ट्रीय डिफेंस अनुसंधान संस्थान के भूतपूर्व अध्यक्ष ने तैयार की है। इस स्टोव से न तो धुआँ होता है और न आग जलने का डर रहता है। इसके जलने से जह-रीली कार्बन मोनोआक्साइड गैस भी पैदा नहीं होती।

स्वचालित झलाई यंत्र

सोवियत विशेषज्ञों ने बड़े व्यास लाले पाइपों की झलाई करने के लिए एक स्वचालित संयंत्र तैयार किया है। सम्पूर्ण रूस में सभी प्रकार की झलाई प्रक्रियाएँ सम्पन्न करने वाला प्रत्येक ऐसा यूनिट, 100 मजदूरों का काम पूरा करता है। गणनाओं के अनुसार, इस प्रकार का एक यंत्र वर्ष भर में 10,00,000 रूबल की बचत करेगा।

सोवियत पाइप लाइन परिवहन तंत्र में प्रतिदिन 40-50 किलोमीटर पाइप जोडे जाते है, जो इस समय 1,70,000 किलोमीटर तक पहुँच गये हैं। साथ ही प्रत्येक झलाईगर लगभग 30,00,000 जोड़ों को जोड़ते हैं। श्रम साध्य इन प्रक्रियाओं में से अधिकांश, पश्चिमी साइबेरिया की कठोर परिस्थितियों की जो सोवियत संघ का प्रमुख तेल और गैस उत्पादक क्षेत्र है, और मध्य एशिया में संचालित होती है।

नया यंत्र कैसे कार्य करता है? विद्युत् तरंग के प्रभाव के अन्तर्गत पाइप के सिरे 1420 मि० मी० व्यास में गरम किए जाते हैं और पिघलाये जाते हैं और तब ऊर्जा से एक दूसरे के साथ दबाये जाते हैं। झलाईगिरी विधि के प्रमुख प्रचलित प्रदत्त कार्यक्रम के अनुसार, इलैक्ट्रोनिक नियंत्रण उपकरणों द्वारा बदले जाते हैं।

जब पाइपों की जोड़ाई हो जाती है, तो एक मशीन द्वारा पाइप के अन्दर और बाहर के जोड़ उभर आये मोटे हिस्से को काटा जाता है और उसके बाद ड्रेसिंग यंत्र का उपयोग किया जाता है। झलाईगिरी के इस पूरे चक्र में मुश्किल से 6 से 8 मिनट लगते हैं, जब कि श्रमिकों का दल इस कार्य में लगभग एक घंटा लगाता है।

हिम-मुक्त विद्युत-चुम्बकीय क्षेत्र

वायुयान में बर्फ जमना इसके वायुगति लक्षण और उड़ान कार्य को विकृत कर देता है, इसकी नियंत्रण क्षमता पर प्रभाव डालता है और अन्ततोगत्वा एक भयंकर दुर्घटना घट सकती है। वैमानिकी में इस नैसर्गिक घटना के विरुद्ध संरक्षण के लिए तापीय प्रणालियां व्यापक रूप से काम में लाई जाती हैं और वे विश्वस्त भी हैं, लेकिन इन पर पर्याप्त मात्रा में ऊर्जा व्यय होती है। सोवियत विशेषज्ञों द्वारा वायुयानों को हिम-मुक्त करने के लिए कार्यक्षम और आर्थिक रूप से युक्तिसंगत उपकरणों के निर्माण की समस्या सुलझा ली गई है, जिसने मूलतः नवीन विद्युत स्पंद हिम-मर्दित प्रणाली को प्रतिपादित किया है।

बर्फ हटाने की बेहद लाभप्रद विधि यांत्रिक है। दूसरे शब्दों में इसके लिए प्रघात का प्रयोग किया जाता है। एक किलोग्राम बर्फ नष्ट करने के लिए जितनी ऊर्जा प्रयोग में लाई जाती है, वह बर्फ पिघलाने के लिए अपेक्षित ऊर्जा की तुलना में कई लाख गुनी कम मात्रा में रहती है। लेकिन क्या वायुयान की चादर पर विना कोई नुकसान पहुँचाए आघात करना सम्भव है? इसका समाधान एक-बारगी ही नहीं हो सका था, हालाकि यह बिलकुल ही सरल साबित हुआ : विद्युत-चुम्बकीय क्षेत्र को "हथौड़े" के रूप में काम में लाया जा सकता है।

अपनी रूपरेखा में विद्युत स्पन्द हिममुक्त प्रणाली सरल है। इसका मुख्य घटक-प्रेरित एक पलास्टिक सन्दूक का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके माध्यम से तारों के कई फेरे गुजरते हैं। इन घटकों को संधारित्रों की बैटरी समेत विद्युत ऊर्जा संचायक से जोड़ा जाता है। विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र की शक्तिशाली स्पंद को प्रेरित्र में उद्भूत किया जाता है। यह एक सेकंड के 10,000वें क्षण तक रहता है। चादर के ऊपर इस "प्रहार" के फलस्वरूप बाहरी हिस्से से बर्फ हटा ली जाती है। यह प्रणाली तात्कालिक और विश्वस्त रूप में संचालित होती है। मुख्यतया, इसमें न्यूनतम ऊर्जा का व्यय होता है। जबकि पहले वायुयान को बर्फ जमने से बचाने के लिए 2000 किलोवाट ऊर्जा की जरूरत पड़ती थी वहाँ अब केवल एक या दो किलोवाट से ही हिम-निरोधी प्रक्रिया पूरी हो जाती है। इस प्रणाली की प्रयोगिक बानगी उड़ान के साथ परीक्षण में सफल रही। आजकल नए यंत्र नवनिर्मित वायुयान में प्रस्थापित किये जा रहे हैं।

बनस्पति और एलर्जी :-- बिना बनस्पति के मनुष्य जीवन नहीं चल सकता, हमारे आस पास की बनस्पति में कुछ ऐसे पेड़ पौधे आदि भी हो सकते हैं, जो हमारे लिए लाभकर होने के वजाय हानिकर हो सकते हैं। शोधकर्ताओं का कहना है कि कुछ पौधे मनुष्य में एलर्जी उत्पन्न कर सकते हैं या यों कहिये कि कुछ व्यक्ति कुछ खास पेड़ पौधे के प्रति विशेष रूप से एलर्जिक होते हैं और यदि वे उन पेड़ पौधों से दूर न रहें, तो वे जाने अनजाने कई प्रकार से कष्टकारी शारीरिक रोगों के शिकार बन सकते हैं।

नई दिल्ली के पटेल चेस्ट इन्सटीयूट्ट में श्वसन-एलर्जी पर विशेष शोध कर रहे खोजियों का कहना है कि वृक्षों से प्राप्त पराग एलर्जी पैदा करने वाली चीजों में से एक है और उससे काफी लोगों को एलर्जी होती है। एलर्जी पैदा करने वाले दूसरे घटक हैं फंगस (फंफूदी), स्पोर (जीवांणु), धूल और कीटाणु आदि। मजे की बात यह है कि चंपा, नीम और कीकर जैसे सामान्य वृक्ष भी वर्ष के कुछ विशेष महीनों में एलर्जी जनक हो जाते हैं। दूसरी बात यह भी सामने आई है कि मनुष्य की एलर्जी सम्बन्धी संवेदन शीलता का उसकी उम्र से भी काफी गहरा सम्बन्ध है। इनकी जांच के लिए अनेक विधियां काम में लाई जा रहीं हैं। इनमें से एक विधि में त्वचा की ऊपरी सतहों में पराग का प्रवेश कराकर उसकी प्रतिकिया देखी जाती है।

इस सब गहरी छान बीन का एक कारण यह भी है कि एलर्जी का कोई पक्का और पूरी तरह से संतोषप्रद इलाज चिकित्सा विज्ञान के पास नहीं है। इसलिए एलर्जी उत्पादक परिस्थियों से दूर रहना विशेष आवश्यक है। इसी दृष्टि से हाल में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद और दिल्ली प्रशासन ने मिलकर यह तय किया है कि दिल्ली के कुछ इलाकों, रेल की पटरी के आस पास की खुली जगहों और खाली पड़े मैदानों में बहुतायत से उग आई पार्थेनियम नामक खर-पतवार को तत्काल जड़ से साफ कराया जाय। वरना उससे त्वचा रोगों के बढ़ जाने की संभावना है। भारत में ऐसी कितनी एलर्जी-जनक बनस्पतियां हैं इसके सर्वेक्षण की आवश्कता है। आपको सुन कर आश्चर्य होगा; रोगहारी समझे जाने वाले नीम पर भी उंगली उठाई जा रही है।

भ्रूण निदान :-- रोगी की परीक्षा के लिए सार्वाधिक प्रयोग किए जाने वाले उपकरण हैं -- थर्मामीटर व स्टेथेस्कोप। थर्मामीटर का काम शरीर के ताप का पता लगाना है। स्टेथे स्कोप की सहायता से शरीर की ध्वनियों को पकड़कर उनका अध्ययन किया जाता है। अब एक ऐसे नये स्टेथे स्कोप के निर्माण की घोषणा की गई है जो गर्भस्त भ्रूण के अध्ययन के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

इस यंत्र का निर्माण चंडीगढ़ के केन्द्रीय वैज्ञानिक उपकरण संघटन ने किया है। यह गर्भाधान के तीन मास बाद से भ्रूण की ध्वनियों को पकड़ सकता है इसकी सहायता से भ्रूण की असामान्य दशा, प्लेसेन्टा की स्थिति और भ्रूण एक है या जुड़वा-इसका शत प्रतिशत सही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यंत्र को जेब में रखा जा सकता है और यह मंहगा भी नहीं।

तारा पुंज का भार :-- अल्मा-अता के निकट सागर तल से 1450 मीटर ऊँचाई पर स्थिति पाइलीस्की अला-ताऊँ पर्वतों पर स्थिति वेधशाला के वैज्ञानिकों ने 16 तारा पुंजों का भार ज्ञात करने में सफलता प्राप्त की है। इसके लिए उन्होंने शक्तिशाली गुरुत्वआकर्षण क्षेत्र के प्रभाव के अन्तर्गत प्रकाश किरणपुंज वितर्तन के प्रभाव पर आधारित पद्धति का प्रयोग किया। गणनाओं से पता चला कि अध्ययनाधीन प्रत्येक तारापुंज समूह 10000 करोड़ सूर्यों के समान विशाल है। संस्थान के वैज्ञानिकों ने विसरित गैस व धूल नीहारिकाओं की एक एटलस तैयार की है जिसमें धूल व गैस के अन्तरातारकीय बादलों के हजारों चित्रों का प्रयोग किया गया है। इन बादलों का पहले या तो अध्ययन ही नहीं किया गया था, और अगर किया भी गया था तो पर्याप्त न था इस एटलस का अब अनेक देशों में ब्रह्माण्ड के अन्वेषकों द्वारा इस्तेमाल किया जाने लगा है।

शोक समाचार

श्री ब्रजमोहन लाल का निधन

श्री ब्रजमोहन लाल जी का निधन 1 मार्च, 1979 को दिल्ली में हो गया। आप 80 वर्ष के थे। आप अवकाश प्राप्त इंजीनियर तथा हिन्दी के श्रेष्ठ लेखक थे। आपकी बचपन से ही हिन्दी के प्रति रुचि थी। आपने 'विशारद' परीक्षा उत्तीर्ण की थी। हिन्दी में आपकी रुचि देखते हुए 1952 में भारत सरकार ने हिन्दी पारिभाषिक शब्दावली की जो उच्च समिति नियुक्त की थी, उसमें आपको सिविल इंजीनियर तथा परिवहन (जिसमें जहाजरानी भी सम्मिलित थी) सम्बन्धी उपसमिति का संयोजक बनाया था। जब 'इन्स्टीट्यूशन आफ इंजीनियर्स' नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ तो आप उसके सम्पादक बनाये गये। आप उसके हिन्दी अनुभाग के लगातार परामर्शदाता रहे। आप नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी विश्व कोश' के सिविल इंजीनियरी सम्बन्धी लेखों के भी सम्पादक रह चुके हैं। आपने भारतीय शिल्पशास्त्र, मानसार, नामक संस्कृत ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त आपने प्राचीन प्रौद्योगिकी पर लगभग 200 दुर्लभ पुस्तकों का संग्रह नागपुर स्थित इन्स्टीट्यूशन के लिए किया।

आप 1921 में रुड़की के थामसन सिविल इंजीनियरी कालेज से शिक्षा प्राप्त करने के बाद ही पंजाब पी० डब्ल्यू० डी० में इंजीनियरी सिविल सर्विस में चुन लिये गए। 1947 में आप चीफ इंजीनियर तथा पंजाब सरकार के सचिव नियुक्त हुए। पंजाब में रहते हुए आपने दिल्ली से पाकिस्तान जाने वाले प्रमुख मार्गों के निर्माण एवं उनके विस्तीर्ण कराने में महत्वपूर्ण कार्य किया। 1941 में आपको राय साहब तथा 1946 में रायबहादुर की पदवियों से अलंकृत किया गया।

आप आजीवन हिन्दी के मूक साधक रहे। आप विज्ञान परिषद के सम्मानित सभ्य थे। आपकी मृत्यु से वैज्ञानिक साहित्यिक जगत की अपूरणीय क्षति हुई है।

आखिर कब तक प्रतीक्षा की जाय ?

महाराजाओं के दरबारों में रहने वाले हमारे देश के प्रमुख विदूषकों में एक गोपाल भांड़ भी थे। ये बंगाल के नदिया (शांतिपुर) के रहने वाले थे। निर्धनता के कारण इनकी शिक्षा-दीक्षा का कोई प्रबंध न हो सका। परन्तु वे बड़ी सूझ-बूझ वाले आदमी थे और इसी के बल पर महाराजा कृष्णचन्द्र के दरबार में पहुँच गये और अपनी बुद्धिमानी तथा चाटुकारिता से उनके प्रिय बन गये।

एक दिन कृष्णचन्द्र के दरबार में एक विद्वान पंडित पधारे। उन्हें भारत की कई भाषायें आती थीं जिन्हें वे स्पष्ट व धाराप्रवाह बोलते थे। महाराजा के दरबार में कोई यह न जान सका कि पंडित जी की मातृ-भाषा क्या है? दरबारियों ने गोपाल भांड़ की ओर देखा और उन्हें यह कार्य सौंपा।

सभा समाप्त हुई। पंडितजी दरबारियों के साथ सीढ़ियों से उतर रहे थे। गोपाल भांड ने पंडित जी को जान-बूझ कर ऐसा धक्का दिया कि वे नीचे गिर पड़े और क्रोध में अपनी भाषा में गोपाल भांड़ को गालियां देने लगे।

दरबारी लोग हैरानी से गोपाल की ओर देखने लगे और इसे उनका अशिष्ट व्यवहार कहा। गोपाल ने उत्तर दिया, "मैं तो पंडित जी की मातृ-भाषा जानना चाहता था। तोते को सीता-राम या राम-राम जो भी रटाया जाय, रट लेगा और उसे दोहरा भी देगा, किन्तु जब बिल्ली आकर उसे दबोचना चाहती है तो टें-टें के अतिरिक्त उसके मुंह से कुछ नहीं निकलता। आराम के समय अन्य सभी भाषायें चल जाती हैं परन्तु मुसीबत में मातृ-भाषा ही काम आती है।"

हिन्दी हमारी मातृ-भाषा है और इसे समृद्ध बनाने के लिए हमें हर संभव प्रयत्न करना चाहिये। भारत को स्वतन्त्र हुए लगभग 32 वर्ष हो गये हैं। क्या हमने अपनी मातृ-भाषा के महत्व को समझा? संभवतः नहीं। मातृ-भाषा मां के समान होती है और ये दोनों जन्म के समय ही तय हो जाती हैं। हमारा पुनीत कर्तव्य है कि हम उनका सम्मान करें।

मातृ-भाषा को समृद्ध बनाने में प्रत्येक वर्ग के लोगों का सहयोग आवश्यक है। इसके लिये विशेषतः उत्तरदायित्व सरकार का है क्योंकि भारत में अब कुछ ऐसा माहौल बन गया है कि अन्य लोग किसी को तभी

मान्यता देते हैं जब सरकार उसे मान्य मान लेती है। ऐसा नहीं है कि भारत सरकार ने इस दिशा में कदम नहीं उठाये हैं। वह इसके प्रति जागरूक भी है और खर्च भी कर रही है। परन्तु इस खर्चे को व्यापारिक दृष्टि से देखना उचित नहीं है। जिस भाषा को समाप्तप्राय कर दिया गया हो उसे उभारने में समय भी काफी लगेगा और पैसा भी खूब खर्च होगा। हो सकता है कि खर्चे के अनुसार तुरंत लाभ न मिले।

ऐसा प्रसिद्ध है कि यदि किसी देश को परतंत्र बनाये रखना हो तो पहले वहाँ की मातृभाषा को समाप्त करो और दुर्भाग्य से भारत के साथ भी ऐसा ही हुआ। इतने दिनों की स्वतन्त्रता के बाद भी हममें अपनी भाषा के प्रति वह निष्ठा नही आई है जो आनी चाहिए थी। आज भी जो आदमी थोड़ी भी अंग्रेजी पढ़ जाता है तो वह फिर अंग्रेजी में ही बात करना चाहता है चाहे गलत ही बोले। हिन्दी में बातचीत करना वह हीन समझता है। यह बात केवल भारत में ही लागू है। अन्य देशों के लोग अपनी मातृ-भाषा बोलने में गर्व का अनुभव करते हैं और अन्य भाषायें जानते हुए भी अपनी ही भाषा में लिखते और बोलते हैं।

ऐसी विषम परिस्थिति में हमें अपनी मातृ-भाषा हिन्दी को उठाना है और यह तभी संभव है जब सभी वर्गों के लोग उसमें सहयोग करें। विशेषतः हमाराअनुरोध विज्ञान के लेखकों एवं पाठकों से है कि वे अपने जीवन में हिन्दी को अधिकाधिक प्रश्रय दें। तभी हिन्दी का उत्थान संभव है और यह सच्चे अर्थ में राष्ट्रभाषा बनने की अधिकारिणी हो सकेगी। आखिर कब तक प्रतीक्षा की जाय ? आइये हम सभी मिलकर इसे समृद्ध बनाने के लिए कटिबद्ध हो जायें ताकि प्रतीक्षा की घड़ी शीघ्र ही समाप्त हो जाय।

खनिज जल

● डॉ० शिवगोपाल मिश्र

जल को जीवन का पर्याय कहा गया है। रासायनिक दृष्टि से जल को सार्विक विलायक (Universal Solvent) होने का गौरव प्राप्त है। जल के कई रूप ज्ञात हैं—इनमें भारी जल सर्वाधिक औद्योगिक महत्व की सामग्री बन चुका है। मृदा के भीतर जो जल होता है वह 'मृदा जल' कहलाता है किन्तु यह कोई विशिष्ट जल नहीं होता। पृथ्वी की सतह पर पाया जाने वाला जल जब मृदा कणों के बीच में पहुँचता है तो वह विशेष प्रकार की आकर्षण शक्तियों के फलस्वरूप कोशिका नलियों में स्थित रहकर इधर उधर गति करता है। यदि वर्षा जल को हम सामान्य जल का वास्तविक रूप (एक प्रकार से यह आसुत जल के सदृश है) मान लें तो मिट्टी के सम्पर्क में आते ही वह अनेक प्रकार के खनिज लवणों से संदूषित (या कि युक्त) हो जाता है। लेकिन यह इस रूप में पौदों के लिये, यहाँ तक कि पशुओं एवं मनुष्यों के लिये भी उपयोगी है।

कभी कभी पहाड़ी झरनों या सोतों का पानी विशेष स्वादगुण से युक्त होता है। यही नहीं इस जल में कुछ अन्य विलक्षण गुण भी पाये जाते हैं। ऐसा जल **खनिज जल** कहलाता है। स्वाद तथा विलयित पदार्थों के अनुसार खनिज जल कई प्रकार का हो सकता है।

1. **कार्बोनेटित जल**—इसमें कार्बन डाइआक्साइड गैस की प्रचुर मात्रा विद्यमान रहती है।

2. **खारी जल**—इसमें सोडियम या लीथियम के क्लोराइड घुले रहते हैं। ऐसा जल गठवा या सन्धिवात रोगों के लिये लाभदायक है। यदि सोडियम अथवा मैग्नीशियम के सल्फेट प्रचुर मात्रा में घुले हों तो खारे स्वाद का जल प्राप्त होगा।

3. **गंधक युक्त जल**—अनेक पहाड़ी झरनों के जल में क्षारीय सल्फाइड या हाइड्रोजन सल्फाइड गैस (H_2S) घुली रहती है जिसके कारण उनका स्वाद काले नमक का सा होता है। यह गंधक युक्त जल होता है। इसमें चर्म रोगों को ठीक करने का गुण पाया जाता है।

4. **लोह युक्त जल**—यदि जल में फेरस लवण घुला हो तो वह वायु के सम्पर्क में आने पर लाल (गेरुआ) रंग का हो जाता है। ऐसा जल पीने के लिये अनुपयुक्त होता है।

कुछ जलों में आयोडाइड भी घुला रह सकता है। ऐसा जल पीने पर कंठ माला जैसे रोगों में लाभप्रद सिद्ध होता है। **वस्तुतः यह विभाजन रासायनिक संरचना के अनुसार है।** स्पष्ट है कि खनिज जल वर्षा जल न होकर विभिन्न अपद्रव्यों से युक्त जल है। जब पहाड़ी सोतों के रूप में यह जल फूट निकलता है तो उसे **खनिज सोता** कहते हैं। प्रायः ऐसे सोतों का जल गर्म होता है। लेकिन खनिज सोते चाहे ठण्डे हों या गर्म, इनके खनिज जलों में लवणों की कुछ न कुछ मात्रा मिली रहती है। भारत में भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग ने लगभग 300 सोतों का उल्लेख किया है। इनमें लोग नहाते हैं, इनका पानी पीते हैं और औषधि के रूप में जल प्रयोग करते हैं। यह विश्वास प्रबल है कि इनमें से कुछ शारीरिक रोगों को अच्छा करते हैं। गुजरात के सूरत जिले में देवकी उनाई, बिहार के मुंगेर जिले में सीताकुंड; पश्चिमी बंगाल के वीरभूम जिले में वक्रेश्वर और अन्य स्थानों में पाये जाने वाले कुछ सोतों को लोग दैवी मानते

हैं। अनेक तीर्थ स्थल यथा गढ़वाल जिले में बद्रीनाथ और टेहरी में जमनोत्री गर्म सोतों के निकट स्थित हैं। उच्च-ताप इस बात का सूचक है कि सोते का उद्गम गहरा है। सतही उद्गम वाले सोतों का पानी ठंडा होता है। बिहार में हजारी बाग के सूरजकुंड सोते का ताप 87° है जो भारतीय सोतों में सबसे अधिक है। दिल्ली से 54·5 किमी० दूर सोहना गाँव में एक गर्म सोता है जिसका पानी पीने और नहाने के लिये प्रयुक्त होता है। स्नान के लिये निजी प्रयोग करने हेतु प्रतिवर्ष इसकी नीलामी की जाती है। ज्वालामुखी के पास 6 सोते हैं जिनके पानी में आयोडीन लवणों की अत्यल्प मात्रा सूचित की गई है। पंजाब तथा हरियाणा में खारी तथा गंधकी सोते तातवानी, टीवा, मनाली, मणिकर्ण तथा पिंजौर में पाये जाते हैं (देखिये सारणी 1)।

खनिज जल के रसायनिक विश्लेषण से कार्बन डाइ-आक्साइड गैस, कार्बोनेट, बाइकार्बोनेट, आयोडाइड, सल्फाइड, क्लोराइड, सोडियम, कैल्सियम, मैग्नीशियम, लोह की उपस्थित सूचित होती है। सादे जलों में खनिजों की मात्रा शायद ही 50 लाख अंश प्रति एक लाख अंश से अधिक होती है।

ऐसे खनिज जलों के सोते विदेशों में भी पाये गये हैं। उदाहरणार्थ फ्रांस में ऐ-लेबेन्स और संयुक्त राज्य अमरीका में टेलर (कैलिफोर्निया) के गंधकी गर्म जल के सोते एवं इंगलैंड में लीमिंगटन, जर्मनी में मैरीनकल तथा अमरीका में एरोण्डार्क के नमकीन जल के सोते। इनकी रासायनिक संरचना भारतीय खनिज जलों की रासायनिक संरचना से मिलती जुलती है: (देखिये सारणी 2)।

लेकिन खनिज जलों की एक विशिष्टता और है जिसे हम सामान्य परीक्षण से नहीं जान सकते। यह है **रेडियोऐक्टिवता**। यह सक्रियता रेडॉन की उपस्थिति के कारण होती है। यह रेडॉन पृथ्वी की पपड़ी के भीतर रेडियोऐक्टिव तत्वों (विशेष रूप से रेडियम) के स्वतः विघटन से उत्पन्न होती है और सोते के जल में विलयित हो जाती है। खनिज जलों के अश्चर्यजनक औषधीय गुणों के लिये रेडॉन ही उत्तरदायी है।

रेडान शून्य वर्ग के तत्वों में से है जो अत्यन्त निष्क्रिय एवं गैस रूप में होते हैं। लेकिन अन्य सदस्यों से रेडॉन इस बात में भिन्न है कि यह रेडियो सक्रिय होता है और इसकी उत्पत्ति रेडियो सक्रिय तत्वों से हुई रहती है। प्रकृति में 222 से अधिक परमाणु भार वाले तत्व प्रसर्ग (Emanation) उत्पन्न करते हैं। प्रकृति में रेडान की मात्रा अत्यल्प हैं किन्तु यह सर्वव्यापी है - पृथ्वी, समुद्र, जल, खनिज तेल, वनस्पति, यहाँ तक कि मनुष्य के शरीर ($0 \cdot 6 \times 10^{-13}$ ग्राम) में भी यह पाया जाता है। एक ग्राम रेडियम से $6 \cdot 5 \times 10^{-6}$ ग्राम रेडान प्राप्त होता है। इस मात्रा को इकाई मानकर इसका नाम **क्यूरी** रखा गया है। रेडान अँधेरे में विघटन ऊर्जा के कारण चमकता है। एक क्यूरी रेडान से 28·6 कैलोरी प्रति घंटा उष्मा मुक्त होती है फलतः 1 ग्राम रेडान प्रति घंटे 4400 कि० कैलोरी उष्मा देता है। यह जल तथा अन्य तरल पदार्थों में अच्छी तरह से घुल सकता है। उबलते पानी में भी इसकी 10% मात्रा घुली रहती है। स्पष्ट है कि पानी का ताप (गरम सोते) रेडान की उपस्थिति के कारण है।

रेडान विघटनशील है। इसके विघटन से α, β, γ किरणें उत्पन्न होती हैं। जीवित पदार्थों पर इन किरणों की एक पतली परत जमती जाती है। इन किरणों में से β तथा γ किरणों की वेधनशीलता अधिक होती है। रेडान के प्रभाव से रक्तस्राव हो सकता है, अर्बुद बन सकता है, और फेफड़े तथा त्वचा का कैंसर हो सकता है।

सौभाग्यवश समस्त संसार में रेडान की मात्रा अल्प है—कारण कि पृथ्वी पर रेडियम के भंडार सीमित हैं और उससे यह गैस धीरे धीरे निकलती है। फिर भी जितनी रेडान उपलब्ध हो सकती है उससे लाखों रोगियों को रोग-मुक्त किया जाता है।

रेडियोऐक्टिवता की खोज बहुत पुरानी नहीं है लेकिन हजारों वर्षों के लोग कुछ सोतों के जल के चिकित्सा एवं स्वास्थ्यप्रद प्रभावों से परिचित थे। एक किम्बदन्ती है कि जार्जिया में 12वीं शती में एक गड़रिये को पाँव का रोग था। जब भी वह पाँव को सोते के पानी में डुबोता उसे शान्ति मिलती किन्तु अधिक देर तक रखने पर उसे बेहोशी

आ जाती थी। सोलहवीं शती में प्रसिद्ध रसायनी चिकित्सक पैरासेल्सस ने आस्ट्रिया के एक झरने के जल से अनेक रोगियों का इलाज किया था। सुप्रसिद्ध रसायनज्ञ लीबिग के सम्बन्ध में यह जनश्रुति है कि डाक्टरों ने उन्हें सलाह दी थी कि वे इस झरने के जल से अपना इलाज करावें लेकिन उन्होंने यह कह कर इंकार कर दिया कि उन्होंने स्वयं उसके जल का विश्लेषण किया है और उसमें उन्हें सामान्य जल से कोई भिन्नता नहीं मिली किन्तु अन्ततः लाभ इसी सोते के जल से हुआ।

वर्तमान शती में ऐसे जलों के चिकित्सीय गुणों का रहस्य तब प्रकट हुआ जब इलेक्टोमीटर द्वारा जल में प्रसर्ग निकालने की क्षमता देखी गई। जिस जल में 100 इकाइयों से अधिक रेडान होता है वह जल उत्तम माना जाता है। भारतीय खनिज सोतों को रेडियोऐक्टिवता के अनुसार चार वर्गों में बाँटा गया है :

(1) अत्यन्त तीव्र रेडियोसक्रिय 17·7 से 6·1 मिमा क्यू० तक रेडान

(2) तीव्र रेडियोसक्रिय 5·06 - 2·80 मिमा क्यू० रेडान

(3) सामान्य रेडियोसक्रिय 2·19 - 1·0 मिमा क्यू० रेडान

(4) मंद रेडियोसक्रिय 0·98 से कम

प्रथम श्रेणी के सोतों का जल अधिकांशतः बिहार के पालामऊ हजारी बाग तथा मुंगेर जिलों में स्थित हैं। राजगिरि श्रेणी में स्थित कुछ सोते भी अत्यन्त तीव्र रेडियोसक्रिय हैं। महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश (देहरादून) के सोतों एवं भरतपुर तथा बनारस के वृद्धकाल तथा गैबी के कुंओं में भी रेडियो ऐक्टिवता पाई गई है किन्तु वह मन्द श्रेणी की है। रूस में रेडान युक्त जलों की प्रचुरता है अतः उनके आस पास अनेक चिकित्सा संस्थान खुल गये हैं। आजकल तो कृत्रिम स्नानागर बनाये गये हैं जिनमें वांछित मात्रा में रेडान घुली रहती है। रेडानयुक्त जल कई प्रकार से चिकित्सा में प्रयुक्त होता है—रोगी को जल पिलाया जाता है, उसे जल में नहलाया जाता है। रोगी की आँतों को साफ करने तथा रेडान युक्त वायुमण्डल में श्वांस लेने का भी प्रबन्ध किया जाता है। अनुमान है कि स्नान करते समय जल में रेडान चमड़ी में प्रविष्ट हो जाती है और केन्द्रीय नाड़ी तन्त्र को प्रभावित करती है। इससे रोगी को लाभ पहुँचता है। इसमें कृमिनाशक गुण हो सकते हैं। लेकिन कुछ लोगों को रेडान चिकित्सा से हानि भी होती है।

स्पष्ट है कि खनिज जलों का चमत्कार उनमें विलयित लवणों या खनिजों के कारण ही नहीं है अपितु उनमें निहित रेडान की अत्यल्प मात्रा के कारण है।

सारणी 1

कुछ भारतीय खनिज जलों के लक्षण

उत्तर प्रदेश	ताप डिग्री से०	रेडान मिमा० क्यू०/ली०	औषधीय उपयोग
वृद्धकाल कुंआ (बनारस)	25	0·52	कुष्ट तथा अन्य चर्मरोग, गठिया, यकृत रोग
गैबी कुंआ (बनारस)	25	0·25	,, ,, ,,
सहस्रधारा (देहरादून)	23	0·27	त्वचा रोग तथा पाचन संबंधी विकार

गुजरात तथा महाराष्ट्र			
वज्रेश्वरी	44	नहीं	त्वचारोग, गठिया, पक्षाघात, मुटापा, घेघा, फीलपाँव, क्षुधावर्धक
अग्निकुंड	58	×	त्वचा रोग, गठिया, क्षुधावर्धक
हरियाणा			
सोहना	46	3·0	कुष्ट तथा अन्य चर्म रोग, गठिया, यकृत रोग
पश्चिम बंगाल			
बक्रेश्वर सोते (बीरभूम)	71	2·8	त्वचा रोग, गठिया, पाचन रोग, क्षुधावर्धक
बिहार			
ऋषिकुंड (मुंगेर)	40	5	त्वचा रोग, गठिया, शरीरशोधक
जैरोम (पालामऊ)	55·5	17·7	त्वचा रोग, गठिया, शरीरशोधक
सूरजकुंड (हजारीबाग)	87°	1·4	त्वचा रोग पाचन रोग, गठिया, क्षुधावर्धक
दुआरी (हजारीबाग)	45°	3·2	त्वचा रोग, पाचन रोग, गठिया, क्षुधावर्धक

नोट : इनमें H_2S, CO_2 गैसे विद्यमान देखी गई हैं।

सारणी 2

देशी तथा विदेशी गर्म गंधकी तथा लवणीय जलों का तुलनात्मक अध्ययन

(रासायनिक संरचना) अंश/लाख अंश

	भारत				विदेश			
	उन्हारा,	बज्रेश्वरी,	दुआरी,	सूरज कुंड	ऐलेबेन्स (फ्रांस)	टेलर (कैलिफोर्निया)	लीमिंगटन इंगलैंड	मैरीनकल (जर्मनी)
सोडियम	67·0	71·0	12·8	14·6	3·4	9·3	71·4	97·2
मैग्नीशियम	—	—	—	—	1·9	3·5	7·8	4·0
कैल्सियम	15·3	15·3	0·3	0·3	6·4	0·7	27·3	12·3
लौह	0·3	—	—	—	0·4	—	0·4	0·27
सल्फाइड	—	—	2·0		3·4	1·3	—	—
क्लोराइड	109·0	124·0	7·0	9·0	1·8	5·9	125·0	156·0
कार्बोनेट+ बाइकार्बोनेट	0·8·0	0·9	12·1	12·3	11·2	3·5	15·0	23·0

मछलियों का आहार : प्लैंक्टान का संसार

राजीव रंजन प्रसाद

आम लोग अक्सर ही यह पूछते हैं कि मछलियां खाती क्या हैं, और यह भोजन उन्हें कहां से प्राप्त होता है ? यह तो सर्वविदित है कि भोजन के अनुसार मछलियाँ शाकाहारी मांसाहारी, सर्वहारा और "प्लैंकटानिक फीडर" होती हैं। परन्तु शैशवावस्था में सभी मछलियों का एकमात्र भोजन प्लैंक्टान ही होते हैं। आप किसी भी जलाशय से नायलान या बोल्टिंग सिल्क के कपड़े से बने शंक्वाकार जाल से पानी को छान लें तो ग्राहक पात्र में नन्हें-नन्हें जीव तैरते नजर आयेंगे। हेन्सन (1887) ने सर्वप्रथम इनका अवलोकन कर इस जीव समूह को 'प्लैंक्टान' नाम दिया। इस समूह का एक जीव 'प्लेंक्टर' कहलाता है। हार्वे नामक वैज्ञानिक ने उन अणु-जीवों (माइक्रोस्कोपिक बायोमास) को प्लैंक्टान कहा जिनका आकार अणुवीक्षीय हो और जिनमें सक्रिय गति का अभाव हो। इनमें गति, जल की तरंग अथवा उसकी धारा से नियन्त्रित होती है। प्लैंक्टान समूह, वानस्पतिक अथवा जीव स्रोतों के बने होते हैं। जलाशयों में विभिन्न प्रक्रियाओं के फलस्वरूप इनकी उत्पत्ति होती है। किसी भी जलक्षेत्र की उत्पादन क्षमता प्लैंक्टान की उपस्थिति एवं प्रचुरता पर निर्भर करती है। मत्स्य विज्ञान में इसका बड़ा ही प्रमुख स्थान है।

प्लैंकटान - संग्रह की विधि :

प्लैंक्टान संग्रह करने के लिए शंक्वाकार प्लैंक्टान संग्रह-जाल का उपयोग किया जाता है। इस जाल का अगला भाग काफी चौड़ा और पिछला भाग संकरा होता है। छोटे-छोटे जलाशयों से प्लैंक्टान संग्रह करने हेतु जाल का फ्रेम धातु का बना होता है, जिसमें लकड़ी के एक हैंडिल लगा रहता है। जाल में बोल्टेन सिल्क का 22 नम्बर वाले कपड़े का जाल लगा दिया जाता है। जाल के संकरे मुँह वाले सिरे में 2.5 सेमी० व्यास वाली एक काँच की नलिका बाँध दी जाती है।

समुद्र अथवा वृहत् जलाशयों से प्लैंक्टान संग्रह करने के लिये बड़े आकार के जाल का उपयोग किया जाता है और इसमें रस्सी बाँध कर इसे नाव से खींचा जाता हैं। समुद्र से प्लैंक्टान संग्रह करने के लिए 'हाई स्पीड प्लैंक्टान नेट', 'क्लार्क बम्पस सैम्पलर', 'हार्डिज कंटीन्युअस प्लैंक्टान रेकार्ड' या पम्प का भी उपयोग किया जाता है। किसी विशेष गहराई से इसे संग्रह करने हेतु विशेष प्रकार की बोतलों का प्रयोग किया जाता है।

प्लैंक्टान संग्रह करने की मूल विधि एक ही है, और वह है जल के एक निश्चित आयतन को छानना। एक निश्चित आयतन (10 या 20 लीटर) वाले पात्र से जल लेकर छान लिया जाता है। बड़े-तड़े जलाशयों से जब जाल को खींचकर पानी छाना जाता है, तो निम्नांकित सूत्र से पानी का आयतन निकालते हैं।

छाने गये पानी का आयतन $= \pi r^2 l$

(मिली लीटर में)

जहाँ $\pi = 3.1416$

r = जाल के मुँह का अर्द्ध व्यास

l = छाने गये पानी के स्तम्भ की लम्बाई अर्थात् गहराई

इस प्रकार संग्रहीत प्लैंक्टान का अब आयतनात्मक, भारात्मक अथवा आंकिक विश्लेषण किया जाता है।

आयतनात्मक विश्लेषण

उपरोक्त विधि से प्राप्त सारे प्लैंक्टान को एक सोख्ता कागज पर लेकर सुखा लिया जाता है। फिर इसे एक मापक बेलन, जिसमें एक निश्चित आयतन तक पानी लिया जाता हैं, डुबा दिया जाता है। इससे जल के आयतन में एक अन्तर आता है। यही संग्रहीत प्लैंक्टान का आयतन होता है।

भारात्मक विश्लेषण

इस विश्लेषण में प्राप्त प्लैंक्टान को शून्य में छानकर पहले से तौले हुए एक बोतल में रख दिया जाता है। फिर इस बोतल को वायु-धमन में 50° से० ग्रे० ताप पर 6 घंटे तक गरम किया जाता है। इससे प्लैंक्टान नमी मुक्त हो जाता है। बोतल को ठंडा कर पुनः तौला जाता है। भार का अंतर ही प्लैंक्टान का भार होता है।

आंकिक विश्लेषण

इस विधि के अन्तर्गत एक निश्चित आयतन या भार वाले प्लैंक्टान को प्रजातिवार गिना जाता है: जिससे उनकी प्रतिशत गणना ज्ञात हो सके। इस कार्य के लिए प्लैंक्टान-गणक कोष्ठ का प्रयोग किया जाता है।

प्लैंक्टान का अध्ययन, इसकी ताजी अवस्था में ही करना चाहिये। परन्तु यह सम्भव नहीं है। क्योंकि यह हमेशा फैलता और सिकुड़ता रहता है। अतएव इसे 'स्थिर' करना आवश्यक होता है। स्थिरीकरण से इसके जीवन-क्रिया में क्रमिक ह्रास होता है। स्थिरीकरण हेतु प्लैंक्टान को आधे घंटे के लिए मिथेनाल में रख दिया जाता है। इसके बाद इसे पोटैशियम आयोडाइड के घोल में धोकर 5 प्रतिशत उदासीन फार्मेलिन में रखकर सुरक्षित किया जाता है। 5% उदासीन फार्मेलिन प्राप्त करने के लिए व्यापारिक फार्मेलिन में आठ गुना पानी मिलाया जाता है, फिर इसमें संगमरमर का एक टुकड़ा डाल दिया जाता है। इस प्रकार से सुरक्षित किये गये प्लैंक्टान को प्लास्टिक की नली में लेबल लगाकर अध्ययन हेतु अँधेरे में रख दिया जाता है।

कभी-कभी प्लैंक्टान के स्नायुक मंडल के अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है। उस स्थिति में इसकी सुरक्षा के लिए विशेष प्रकार का प्रबन्ध करना पड़ता है। प्लैंक्टान को एम० ए० एफ० (80% मिथेनाल, 10% ग्लेशियल एसीटिक अम्ल और 10% फार्मेलिन) के घोल में रखा जाता है। हिस्टोलौजिकल कार्य के लिए बाउन्स घोल (75% पिक्रिक अम्ल, 20% फार्मेलिन, 5% ग्लेशियल एसीटिक अम्ल) का प्रयोग किया जाता है।

प्लैंकटान का वर्गीकरण

प्लैंकटान मूलतः दो श्रेणी—फाइटोप्लैंक्टान (वानस्पतिक मूलक) और जूप्लैकटान (प्राणीमूलक) के होते हैं। जिन फाइटोप्लैकटान में क्लोरोफिल का अभाव होता है उन्हें वास्तविक फाइटोप्लैंक्टान कहते हैं। फूफूंदी या जीवाणु कुल के फाइटोप्लैंक्टान को (सैप्रोप्लैंक्टान) कहते हैं। ये सभी प्लैंक्टान काफी छोटे-छोटे होते हैं और जल क्षेत्रों में विस्तृत रूप से पाये जाते हैं। फाइटोप्लैंक्टान, जल-जीवन की अर्थ-व्यवस्था का आधार-स्तम्भ होते हैं। चूँकि सभी फाइटोप्लैंक्टान सक्रिय रूप से प्रकाश संश्लेषण करते हैं, अतएव ये पानी में उस गहराई तक पाये जाते हैं जहाँ तक सूर्य की किरणें पानी को भेदती हैं। इस समूह के अन्तर्गत डायनोफ्लैजलेट्स और डायएटम वर्ग प्रमुख हैं। जूप्लैंक्टान के अन्तर्गत प्रोटोजोआ, क्रस्टेशिया, मोलस्क, पौलिकिटा समूहों के सदस्य तथा हर जन्तु के अंडा एवं लार्वा आते हैं।

इसके अतिरिक्त प्लैंक्टान का वर्गीकरण निम्न प्रकार से भी किया जाता है।

(क) आकार के अनुसार : जिन प्लैंक्टान को हम बिना सूक्ष्मदर्शी की सहायता के अपनी आँखों से देख सकते हैं और जिनका आकार तीन मि०मि० से अधिक होता है इन्हें मैक्रोप्लैंक्टान कहते हैं। जो प्लैंक्टन 22 नम्बर के बोल्टिंग सिल्क के कपड़े को पार न कर पायें और 3 मि० मि० से छोटे हों, उन्हें माइक्रोप्लैंक्टान कहते हैं। जो प्लैंक्टान 22 नम्बर वाले कपड़े को पार कर जायें उन्हें नैनोप्लैंक्टान कहते हैं। इसके अन्तर्गत मुख्यतः फाइटो-

प्लैंकटान ही आते हैं। इसे संग्रह करने के लिए पानी को केन्द्रपसारी विधि (सेन्ट्रीफ्यूगेशन) से निथार कर किया जाता है।

(ख) वास-स्थान के अनुसार : समुद्र, नदी, इस्चुरी, झील एवं तालाबों में पाये जाने वाले प्लैंकटान को क्रमशः हालीप्लैंक्टान स्टाइनोप्लैंक्टान हाइपलमिरोप्लैंक्टान लिम्नोप्लैंक्टान एवं हेलियोप्लैंक्टान कहते हैं।

(ग) मूल के अनुसार : जो प्लैंक्टान एक ही स्थान पर उत्पन्न होते हैं, उन्हें आटोजेनिकप्लैंक्टान कहते हैं। जो प्लैंक्टान दूसरे स्थान से आकर उत्पन्न होते हैं, उन्हें एलोजेनिकप्लैंक्टान कहते हैं। वास्तविक प्लैकटान को यूप्लैंक्टान एवं मलवे से उत्पन्न प्लैकटान को सूडोप्लैंक्टान कहते हैं।

(घ) जीवन-चक्र के अनुसार : जो प्लैंकटान अपना स्वतन्त्र जीवन-चक्र पूरा करते हैं, उन्हें होलोप्लैंक्टान या स्थायी प्लैंक्टान कहते हैं। जो प्लैंक्टान किसी विशेष समय या जीवन-क्रम के किसी निश्चित चक्र में समावेश पाते हैं, उन्हें मेटाप्लैंक्टान या अस्थायी प्लैकटान कहते हैं।

प्लैंक्टान का भोजन

फाइटोप्लैंक्टान का भोजन उनकी प्रकृति के अनुसार होता है। क्लोरोफिलयुक्त फाइटोप्लैंक्टान के भोजन में घुलनशील कार्बनिक और अकार्बनिक पदार्थ होते हैं। जब कि क्लोरोफिल रहित प्लैंक्टान जल में घुलनशील या अघुलनशील पदार्थों का शोषण करते हैं।

जूप्लैंक्टान के भोजन में छोटे-छोटे शैवाल, जीवाणु और फाइटोप्लैंकटान का स्थान प्रमुख होता है। पिनक के अनुसार जूप्लैंक्टान का मुख्य आहार सड़ा-गला पदार्थ होता है। लेकिन पेरिंगटन ने इन्हें फाइटोप्लैंक्टान का शोषण करते हुए पाया।

प्लैंक्टान का विस्तार

विश्व के सभी क्षेत्रों में प्लैंक्टान का विस्तार समान रूप से नहीं होता। इनका विस्तार जलक्षेत्र की प्रत्येक सतह में भी समान नहीं होता। नीले हरे रंग या हरे रंग के फाइटोप्लैंक्टान सामान्यतः जल के ऊपरी सतह पर प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। लेकिन जूप्लैंक्टान के साथ ऐसी बात नहीं है। सार्कोडिना समुदाय के प्लैंक्टान जल क्षेत्र के निचली सतह पर रहते हैं, जबकि डायनोपलैजलेटा समुदाय के सदस्य जलक्षेत्र के ऊपरी सतह पर तथा सिलियेटा समुदाय के सदस्य सभी ओर फैले रहते हैं।

जल आर्थिकी में प्लैंक्टान का महत्व

जल आर्थिकी में प्लैंक्टान प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में सक्रिय रूप से कार्य करते हैं। फाइटोप्लैंक्टान मुख्यतः अकार्बनिक लवणों को संश्लेषित कर जटिल कार्बनिक अणुओं में परिवर्तित कर देता है। इससे कार्बोहाइड्रेट, शर्करा और आक्सीजन का निर्माण होता है। बड़े-बड़े जन्तु इन जटिल अणुओं एवं फाइटोप्लैंक्टान का शोषण करते हैं।

अप्रत्यक्ष रूप से प्लैंक्टान के कार्यों को कहा जाता है कि इनके द्वारा संश्लेषित जटिल कार्बनिक अवयव मछलियों के समूह द्वारा शोषित किये जाते हैं। जुप्लैंक्टान, फाइटो-प्लैंक्टान का और मछली जुप्लैंकटान का भोजन करती है। वेल्स के अनुसार 100 टन फाइटोप्लैंक्टान से 10 ग्राम मछली तैयार होती है।

प्लैंक्टान की अत्यधिक वृद्धि से जल जगत की हानि भी होती है। इनकी वृद्धि से पानी में घुलनशील आक्सीजन की कमी हो जाती है, जिससे मछलियों में बेचैनी हो जाती है। काई के फैलाव से मछलियों के गलफड़ों में इनका जमाव हो जाता है, जिससे मछलियों की मृत्यु भी हो जाती है।

● ●

भारत का दूसरा उपग्रह - भास्कर

● डा० शिव प्रकाश

1962 में थुम्बा (केरल) में रॉकेट प्रक्षेपण स्टेशन बनाया गया तब से लगातार अन्तरिक्ष अनुसंधान के क्षेत्र में भारत प्रगति करता आ रहा हैं। 21 नवम्बर 1963 को जो पहला राकेट प्रक्षेपित किया गया था उसे उस समय तो 'खिलौना' ही माना गया था। पर जब 19 अप्रैल 1975 को प्रथम उपग्रह 'आर्य भट्ट' रूस की सहाता से अंतरिक्ष में प्रक्षेपित किया गया तो भारत ने अंतरिक्ष युग में वास्तविक रूप में प्रवेश किया। इस उपग्रह को रूसी उड़न पट्टी से रूसी प्रक्षेपक द्वारा प्रक्षेपित किया गया था पर उस उपग्रह को पूर्णतया भारत में ही बनाया गया था और उसमें रखे उपकरणों ने सिद्ध कर दिया था कि भारतीय वैज्ञानिक भी सुग्राही तथा अच्छे उपकरण का निर्माण कर सकते हैं। इस समय तो प्रक्षेपक के निर्माण पर भी भारतीय वैज्ञानिक व तकनीशियन लगे हुये हैं और आशा की जाती है कि इसी वर्ष से यह कार्य आरम्भ होकर सन् 83-84 तक पूरा हो जायगा और तब स्वयं भारतीय भूमि से उपग्रह प्रक्षेपित किये जा सकेंगे।

भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन द्वारा निर्मित दूसरा उपग्रह 'भास्कर' जब 7 जून को प्रक्षेपित किया गया तो इस संगठन के सिर पर एक और सेहरा बँध गया। आर्यभट्ट की ही भाँति इस द्वितीय भारतीय उपग्रह को अंतरिक्ष में प्रक्षेपित करने में सोवियत संघ ने महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। आर्यभट्ट की ही भाँति 'भास्कर' को भी सोवियत अंतरिक्ष स्टेशन से सोवियत राकेट द्वारा अंतरिक्ष में स्थापित किया गया। मास्को स्थित वियर्सलेक स्टेशन तथा बंगलौर के पास श्रीहरिकोटा के स्टेशन में वैज्ञानिकी के तालमेल से 'भास्कर' के सफल प्रक्षेपण के बाद अब महत्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त करने का कार्यक्रम चलाया जा रहा है।

1975 में छोड़े गये उपग्रह का नाम आर्य भट्ट भारत के महान ज्योतिषाचार्य के नाम पर रखा गया था। अब जो दूसरा उपग्रह छोड़ा गया है, इसका नामकरण भास्कर भारत के दो महान वैज्ञानिकों के नाम पर किया गया है। इनमें से प्रथम भास्कर खगोल शास्त्री थे जिन्होंने 7वीं शताब्दी में अपना ज्ञान देश को दिया और दूसरे भास्कर एक ज्योतिषाचार्य थे। भास्कर द्वितीय 12वीं शताब्दी के वैज्ञानिक थे। इन दो महान भारतीय वैज्ञानिकों की स्मृति में नये उपग्रह का नाम भास्कर रखकर उन्हें तो सम्मानित किया ही गया इससे हमारी आधुनिक पीढ़ी तथा विदेशियों को भी यह ज्ञात हो गया कि भारत में कई सौ वर्ष पूर्व इस प्रतिभा के विद्वान हो चुके हैं।

भास्कर प्रथम आर्यभट्ट के ग्रन्थ पर अपनी टीका 'आर्य भट्टीय भाष्य' के लिये, प्रसिद्ध हैं। उन्होंने दो अन्य ग्रन्थ 'महाभास्करीय' तथा 'लघुभास्करीय' भी लिखे थे। भास्कर द्वितीय की गणित में अत्यधिक रुचि थी। इनके लीलावती, बीजगणित, सिद्धान्तशिरोमणि आदि ग्रन्थ बहुत ही प्रख्यात हैं।

प्रथम भारतीय उपग्रह में 12000 इलेक्ट्रानिक उपकरण तथा 18000 सौर बैटरियाँ लगी थीं। उसमें कुल 25000 विद्युतपथ थे और उसके अन्दर कुल जितने तार का उपयोग हुआ था उसकी लम्बाई 7 किलोमीटर थी। तकनीकी दृष्टि से 'भास्कर' पहले उपग्रह से कहीं अधिक उन्नत है और उससे कहीं अधिक सूचनायें एकत्र कर सकेगा।

यह दो टेलीविजन कैमराओं से युक्त है। प्रत्येक कैमरा पृथ्वी के 325 किलोमीटर क्षेत्र के चित्र ले सकेगा। इसके अतिरिक्त इस पर तीन माइक्रोवेव रेडियो मोटर भी लगाये गये हैं। यह पृथ्वी से रेडियो तरंगों से भेजे गये 150 निर्देशों को ग्रहण कर सकने की क्षमता रखता है। आर्यभट्ट में इस प्रकार के केवल 35 निर्देश ग्रहण करने की क्षमता थी।

भास्कर में लगे उपकरणों की स्थिति तथा अन्य बातों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि 'भास्कर' पूरे एक वर्ष तक अन्तरिक्ष में स्थित रहेगा। आश्चर्य न होगा यदि वह और भी अधिक समय तक स्थित रह सके। यह उपग्रह पृथ्वी से 530 किलोमीटर की ऊँचाई पर गोलाकार पथ में परिक्रमा कर रहा है। एक परिक्रमा पूरी करने में 1½ घण्टे का समय लगता है। भास्कर के प्रक्षेपण से सम्बन्धित वैज्ञानिकों के अनुसार इस उपग्रह की सहायता से जल विज्ञान, समुद्र विज्ञान, वन शास्त्र तथा मौसम विज्ञान के क्षेत्रों में अध्ययन हेतु प्रचुर सूचनायें प्राप्त हो सकेंगीं। इसकी सहायता से भारतीय वैज्ञानिकों को हिमपात का पता लगाने, भारत के समुद्र तटवर्ती क्षेत्रों का अध्ययन करने, बाढ़ की अग्रिम सूचनायें देने तथा विविध प्रकार की मिट्टियों के अन्तर को समझाने में महत्पूर्ण जानकारी प्राप्त होगी।

भास्कर की परिक्रमा तथा उसमें लगे उपकरणों की गतिविधियों पर श्रीहरिकोटा कमान तथा कियर्सलेक (मास्को) द्वारा नियंत्रण रखा गया। इस सिलसिले में श्रीहरिकोटा, कियर्सलेक तथा अहमदाबाद के अन्तरिक्ष अनुसंधान केन्द्रों के बीच बरावर सम्पर्क बना रहा और ध्वनि तथा टेलेक्स सूचनाओं का नियन्त्रित रूप से आदान-प्रदान होता रहा। उपग्रह के भीतर का तापमान स्थिर कर दिया गया था और उसके परिक्रमा पथ को भी काफी सही ढंग से निर्दिष्ट किया जा सका।

अन्तरिक्ष क्षेत्र में भारत ने यह दर्शा दिया है कि वह राकेटों तथा भू-उपग्रहों का निर्माण करने की पूरी क्षमता रखता है। भारतीय अन्तरिक्ष अनुसंधान विभाग 500-600 किलोग्राम भार का एक भू-उपग्रह अन्तरिक्ष में स्थापित करने के लिये विकसित कर रहा है जो अगले 4-5 वर्षों में बनकर तैयार हो जायगा। यदि अन्य देशों से दौड़ के पीछे न रहने का वैज्ञानिकों का संकल्प है तो आशा की जाती है कि उन्हें बराबर प्रोत्साहन मिलता रहेगा और वह दिन दूर नहीं जब उपग्रह को अन्तरिक्ष में स्थापित करने के लिये हमें मास्को जाकर सोवियत संघ की सहायता नहीं लेनी पड़ेगी और हम भारतीय उड़नपट्टी से ही अगला उपग्रह प्रक्षेपित कर सकेंगे।

(अभी हाल में श्री हरिकोटा से एक, उपग्रह छोड़ा गया था किन्तु वह सफल नहीं हो सका)

सम्पादक

● ●

क्रोध पूर्ण मुद्रा में 67 मांस पेशियों को श्रम करना पड़ता है जबकि मुस्कराने में केवल 17। अतः सदा मुस्कराइये।

कार्बन डाइआक्साइड लेसर

● श्याम लाल काकानी

आज कई भारतीय वैज्ञानिक, इंजीनियर एवं डाक्टर विदेशों में कार्य कर रहे हैं। इनमें से कई वैज्ञानिकों, इंजीनियरों इत्यादि ने अपने उल्लेखनीय अनुसंधान कार्यों एवं आविष्कारों से विज्ञान के क्षेत्र में नये आयाम स्थापित किये हैं, वहीं विदेशों में भारत के गौरव को भी बढ़ाया है। वैज्ञानिकों में से अति उल्लेखनीय है प्रो० चन्द्र शेखर, प्रो० सुदर्शन, डा० खुराना, डा० पटेल इत्यादि। इस लेख में हम आपको डा० सी० कुमार, एन० पटेल एवं उनके महत्वपूर्ण आविष्कार से परिचित करायेंगे।

डा० सी० के० एन० पटेल

आपकी प्रारंभिक शिक्षा भारत में ही हुई। आपने पूना विश्वविद्यालय, पूना से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् उच्च शिक्षा के लिए आप अमेरिका चले गये। अमेरिका में आपने स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर उपाधि एवं पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

डा० पटेल सन् 1961 में बैल प्रयोगशालाओं में टेक्नीकल स्टॉफ के सदस्य के रूप में सम्मिलित हुए और 1970 में ये इलेक्ट्रॉनिक रिसर्च लेबोरेटरी के निदेशक नियुक्त हुए। अप्रैल, 1976 में फिजिकल रिसर्च लेबोरेटरी, बैल प्रयोगशालाओं के निदेशक नियुक्त किये गये एवं तभी से आप इसी पद पर कार्य कर रहे हैं। यह पहला अवसर है जब कि भारतीय वैज्ञानिक को संयुक्त राज्य अमेरिका में इतने ऊँचे पद पर नियुक्त किया गया है। बैल प्रयोगशालाओं का विश्व में अपना एक विशिष्ट स्थान और महत्व है। इन प्रयोगशालाओं में आज विश्व के कई हजार महान वैज्ञानिक, इंजीनियर अनुसंधान कार्यों में लगे हुए हैं। निस्संदेह विश्वप्रसिद्ध इन प्रयोगशालाओं में फिजिकल रिसर्च लेबोरेटरी के निदेशक पद पर डा० पटेल की नियुक्ति से प्रत्येक भारतवासी गौरव अनुभव करता है।

उल्लेखनीय आविष्कार एवं अनुसंधान कार्य

डा० पटेल के महत्वपूर्ण आविष्कार कार्बन डाइ आक्सॉइड लेसर और स्पिन फ्लिप रमन लेसर हैं। कार्बन डाइआक्साइड लेसर की हम विस्तार से आगे चर्चा करेंगे। इन आविष्कारों के अतिरिक्त डा० पटेल ने लेसरों के प्रचालन और लेसर तकनीकी में कई महत्वपूर्ण योगदान किये हैं। मुख्य रूप से डा० पटेल कार्बन डाइआक्साइड गैस लेसर के आविष्कार के लिए प्रसिद्ध हैं। डा० पटेल के कई अनुसंधान पत्र विश्व के चोटी के जर्नलों में प्रकाशित हो चुके हैं।

पुरस्कार एवं अन्य सम्मान: मानव की सेवा के लिए प्रयुक्त इलेक्ट्रॉनिकी के क्षेत्र में उल्लेखनीय उपलब्धियों और विशेष रूप से लेसर तकनीकी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान के लिए डा० पटेल को व्लादिमिर के० ज्वॉरिकिन पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया गया। पुरस्कार 5000 डालर का था। कई व्यवसायी सोसाइटियों ने भी आपको सम्मानित किया है। इनमें से कुछ प्रमुख हैं, ऑप्टिकल सोसायटी ऑफ अमेरिका, दी नेशनल एकेडेमी ऑफ साइंसेज, अमेरिका और इंस्टीट्यूट ऑफ इलेक्ट्रीकल एवं इलेक्ट्रॉनिक इंजीनियर्स। 1976 में ही डा० पटेल को लेसरों पर उनके उल्लेखनीय कार्यों एवं गैसों और ठोसों की अवरक्त स्पेक्ट्रोस्कोपी में उनके महत्व पूर्ण योगदान के लिये आई० ई० ई० ई० द्वारा लामे मेडल प्रदान कर सम्मानित किया गया है। डा०

पटेल का आविष्कार इतने महत्व का है कि इन्हें नोबल पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया जाना चाहिये।

कार्बन डाइआक्साइड लेसर (CO_2 लेसर)

सन् 1967 से पूर्व अधिकांश वैज्ञानिकों का यह मत था कि ठोस अवस्था (सॉलिड स्टेट) लेसर ही अत्यधिक शक्तिशाली हो सकते हैं। ठोस अवस्था लेसरों से निर्गत पुंज स्पंद के रूप में प्राप्त होता है अतः अधिकांश ठोस अवस्था लेसरों से शक्ति रुक-रुक कर ही प्राप्त होती है अर्थात् दूसरे शब्दों में ठोस अवस्था लेसर लगातार कार्य नहीं कर सकते हैं। ठोस अवस्था लेसरों की दूसरी प्रमुख कमी यह है कि इनकी वर्णिक शुद्धता और स्थानिक संसक्तता (Coherence) गैस लेसरों की तुलना में बहुत कम होती है। निस्संदेह ठोस लेसरों की तुलना में गैस लेसरों की स्थानिक संसक्तता और वर्णिक शुद्धता उच्च होती है और गैस लेसरों से शक्ति पुंज लगातार प्राप्त नहीं कर सकते हैं। गैस लेसरों की उपर्युक्त कमी को डा० पटेल ने कार्बन डाइआक्साइड आणविक गैस लेसर के आविष्कार से दूर कर दी है। CO_2 लेसर से कई किलोवाट शक्ति का निर्गत लेसर पुंज लगातार प्राप्त किया जा सकता है। CO_2 लेसर की वर्णिक शुद्धता और स्थानिक संसक्तता अति उच्च होती है।

CO_2 लेसर का सिद्धान्त

CO_2 का परमाणु विन्यास रैखिक और सममित है। इसकी कंपन स्वतन्त्रता की तीन कोटियाँ (डिग्री) होती हैं। सममित तान विधा में CO_2 अणु के परमाणु अंतरानाभिक अक्ष के साथ सममित ढंग से कंपन करते हैं। बंकन विधा में CO_2 के अणु अन्तरानाभिक अक्ष के लम्बवत् कंपन करते हैं। कंपन की तीसरी विधा असममित विधा कहलाती है। इस विधा में CO_2 अणु के परमाणु अंतरानाभिक अक्ष के साथ असममित ढंग से कंपन करते हैं। कंपन की इन तीनों विधाओं की आवृत्तियों को क्रमशा ν_1, ν_2 एवं ν_3 से प्रदर्शित कर सकते हैं। क्वांटम-यांत्रिकी के नियमों के अनुसार कंपनों की ऊर्जा का क्वांटीकरण हो जाता है लेकिन तीनों विधाओं की ऊर्जा परस्पर एक दूसरे से भिन्न होती है। प्रथम अनुमान के अनुसार कंपन की इन तीनों विधाओं को एक दूसरे से स्वतन्त्र मान सकते हैं। परिणामस्वरूप CO_2 अणु की कंपन की तीनों स्वतन्त्र विधाओं में किसी भी रैखिक संयोग से उत्तेजित किया जा सकता है। कार्बन डाइ आक्साइड आणविक लेसर इसी सिद्धान्त पर कार्य करता है। प्रारूपिक CO_2 लेसर की लम्बाई लगभग 2 मीटर होती है और इससे निर्गत शक्ति पुंज लगभग 150 वाट का होता है। लम्बाई में वृद्धि करने पर CO_2 लेसरों की निर्गत शक्ति में भी वृद्धि हो जाती है। 600 फीट लम्बाई पर निर्गत शक्ति 8.8 किलोवाट होती है।

डा० पटेल ने अपने अनुसंधानों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि CO_2 में नाइट्रोजन (N_2) की कुछ मात्रा मिलाने से CO_2 लेसर की क्षमता में तो वृद्धि होती ही है निर्गत पुंज भी अधिक शक्तिशाली होता है। CO_2 में N_2 मिलाने से लेसर के ऊपरी तल (उत्तेजन अवस्था) में वरणात्मक उत्तेजन होता है। चूँकि नाइट्रोजन के अणु में दो परमाणु होते हैं अतः इसकी स्वतन्त्रता की केवल एक ही कोटि होती है अर्थात इसकी व्याख्या हम केवल एक ही क्वांटम संख्या (ν) से कर सकते हैं। निम्न दाब पर नाइट्रोजन विसर्जन में इलेक्ट्रानों को परस्पर टक्कर से नाइट्रोजन अणुओं को पूर्ण क्षमता से मूल अवस्था ($\nu=0$) से प्रथम उत्तेजित अवस्था ($\nu=1$) में उत्तेजित किया जा सकता है। चूंकि नाइट्रोजन की यह उत्तेजन ऊर्जा CO_2 की उत्तेजन ऊर्जा के लगभग बराबर होती है अतः N_2 और CO_2 के अणुओं के मध्य टक्करों से CO_2 अणुओं में कंपन ऊर्जा का स्थानान्तरण हो जाता है। इस क्रिया में N_2 के अणु अपने उत्तेजन ऊर्जा के क्वांटम को CO_2 अणु को स्थानान्तरित कर मूल अवस्था में लौट आते हैं और CO_2 अणु इस ऊर्जा को ग्रहण कर उत्तेजित अवस्था में पहुँच जाते हैं। CO_2 के ये उत्तेजित अणु 10.6 या 9.6 माइक्रोन पर अवरक्त प्रकाश का उत्सर्जन कर पुनः अपनी सामान्य अवस्था में लौट आते हैं। यही लेसर पुंज होता है।

डा० पटेल ने नाइट्रोजन कार्बन डाइ सल्फाइड (N_2-CS_2) लेसर को भी तैयार किया है। अब तो CO_2–NH_3 (कार्बन डाइ आक्साइड-अमोनिया), CS_2-N_2O (नाइट्रास सॉक्साइड) इत्यादि आणविक लेसरों का विकास कर लिया गया है।

CO_2 आणविक लेसर का महत्व

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि CO_2 आणविक लेसर से निर्गत लेसर पुंज विद्युतचुम्बकीय स्पेक्ट्रम की अवरक्त (इन्फ्रा रेड) परास में होता है अत: इससे CO_2 लेसर की गैसों, ठोसों और द्रवों के साथ प्रकाशीय अन्योन्यक्रियाओं के अध्ययन के लिए एक सम्पूर्ण नई तरंगदैर्ध्य की परास खुल गई है। इस प्रकार की प्रकाशिक अन्योन्क्रियाओं में अरैखिक प्रक्रियायें भी सम्मिलित हो जाती हैं जिसे कोई भी अवरक्त विकिरण का एक कला सम्बद्ध या संसक्त स्रोत ही उत्पन्न कर सकता है और जो आवृत्तियों की एक परास के लिए लगातार समस्वरणीय (ट्युनेबल) बना रह सकता है।

CO_2 लेसर का सबसे महत्वपूर्ण उपयोग प्रकाशिक संचार और प्रकाशिक रडार में है। यह उल्लेखनीय है कि CO_2 लेसर विशिष्ट रूप से पार्थिव और अपार्थिव दोनों ही संचार प्रणालियों के लिए अति उपयोगी पाया गया है। यद्यपि लेसर से संचार अभी प्रयोगशालाओं तक ही सीमित है लेकिन निकट भविष्य में ही यह एक वास्तविकता होगी और विश्व का कायाकल्प ही कर देगी। CO_2 लेसर से निर्गत अवरक्त पुंज का वायुमंडल में अवशोषण नहीं होता है। यह संचार व्यवस्था में अति उपयोगी है।

स्पिन फ्लिप रमन लेसर

डा० पटेल का अन्य महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय आविष्कार स्पेक्ट्रम के अवरक्त भाग समस्वरित लेसर विकिरण उत्पन्न करने के लिये स्पिन फ्लिप रमन (SFR) लेसरों का आविष्कार है। प्रथम SFR लेसर सन् 1970 में In, Sb अर्धचालक पदार्थ में 10.6 माइक्रोन वाले CO_2 लेसर से पंपन कर प्राप्त किया गया था। तब से अब तक इस क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति हो चुकी है। ये लेसर उच्च स्पंदित और उच्च शक्ति वाले होते हैं। इन लेसरों के प्रमुख उपयोग (i) उच्च विभेदित स्पेक्ट्रोस्कोपी (ii) प्रदूषण संसूचन और (iii) संचार और रडार में उल्लेखनीय हैं।

डा० सी० कुमार एन० पटेल ऐसे महान वैज्ञानिक हैं जिन्हें निस्संदेह डा० सी० वी० रमन, डा० होमी भाभा, टॉउन्स आर्थर शैलो जैसे महान वैज्ञानिकों की कोटि में रखा जा सकता है। डा० पटेल द्वारा विकसित CO_2 और स्पिन फ्लिप लेसरों ने लेसर से संचार अनुसंधान को एक नया आयाम प्रदान किया है। लेसर से संचार शीघ्र ही संचार में एक नई क्रांति लाने वाला है। ● ●

डा० गोरखप्रसाद पुरस्कार घोषित

प्रतिवर्ष विज्ञान परिषद प्रयाग द्वारा उसके मुखपत्र "विज्ञान" में प्रकाशित लेखों पर डा०गोरखप्रसाद पुरस्कार प्रदान किया जाता है। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पुरस्कार की राशियां क्रमश: १५०)रु०, ७५)रु० तथा ५०)रु हैं। १९७८ का पुरस्कार निम्नलिखित लेखकों को विज्ञान में प्रकाशित उनके लेखों पर देना स्वीकृत हुआ।

प्रथम- "सौर सागर शक्ति" लेखक- श्री श्यामलाल काकानी

द्वितीय- "कला वस्तुओं की प्रमाणिकता, सिद्धि और संरक्षण में विज्ञान का योगदान" लेखक- श्री गणेशदत्त पाण्डे

तृतीय- "शुक्र ग्रह पर जीवन की संभावनाएं" लेखक- श्री अखिलेश्वर राठौर

शिवगोपाल मिश्र
प्रधान मंत्री

भारतीय विज्ञान किधर ?

● विज्ञानधर्मी

आज़ादी से पहले हमारे देश में वैज्ञानिक अनुसन्धान कुछ मनीषी वैज्ञानिकों के इर्द-गिर्द ही विकसित हुआ। प्रफुल्लचन्द राय, सी० वी० रामन, मेघनाद साहा, सत्येन बोस और बीरबल साहनी जैसे वैज्ञानिकों ने आधुनिक विज्ञान की जड़ें भारत की धरती में रोपीं। ब्रिटिश सरकार को भारत में विज्ञान की जड़ें जमाने में कोई खास दिलचस्पी नहीं थी। वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए बड़ी कठिनाई से फण्ड मिल पाते थे। उदाहरण के लिये डा० मेघनाद साहा सन् 1923 में इलाहाबाद में भौतिकी विभाग के प्रोफेसर बन कर आये थे, पर उत्तर प्रदेश के तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नर सर विलियम मौरिस से 5000 रुपये का वार्षिक अनुदान उन्हें सन् 1927 में तभी मिल पाया, जब लन्दन की रायल सोसाइटी ने डा० साहा को अपना फैलो घोषित किया। बाद में खुद सोसाइटी ने लगभग 20,000 रुपये उपकरणों की खरीद के लिये भी दिये थे।

खर्च ज्यादा : उपलब्धियाँ कम

इस तरह स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय पूरे देश में वैज्ञानिक अनुसन्धान पर कुल मिला कर एक करोड़ रुपये से ज्यादा खर्च नहीं होता था। आज 32 साल की आजादी के बाद यह खर्च बढ़कर लगभग 5 करोड़ रुपया प्रतिवर्ष हो गया है। विश्वविद्यालयों से लेकर राष्ट्रीय संस्थानों तक वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं का जाल बिछा हुआ है। वैज्ञानिकों और तकनीशियनों की संख्या की दृष्टि से हम दुनिया में तीसरे स्थान तक पहुँच गये हैं, सिर्फ रूस और अमेरिका ही इस मामले में हमसे आगे है।

फिर भी हमसे ऐसी क्या चूक हो गई कि विज्ञान और तकनालाजी की सहायता से जहाँ दूसरे देश दिन-दूने रात चौगुने बढ़े, वहाँ हम आज भी अपनी आधी आजादी को दो जून भर पेट खाना भी नहीं खिला पाते। आज भी अधिकतर लोगों को, दूसरी सुख-सुविधाओं की बात छोड़िये, पीने को शुद्ध पानी तक नहीं मिलता। आज भी देश की अधिकांश जनता गरीबी के दलदल में फँसी हुई है। थाईलैण्ड, फिलीपीन, मलयेशिया और चीन की तुलना में हमारे यहाँ मृत्युदर अधिक है—बच्चों और गर्भवती स्त्रियों की मृत्युदर अधिक है। जहां हम मृत्यु-दर में आगे हैं, वहीं आयु-दर में छोटे-छोटे देशों से भी पीछे हैं। हम अपने देश में औसत उम्र मुश्किल से 50 वर्ष तक कर पाये हैं, जबकि दूसरे देशों में यह 60 वर्ष के आस-पास है। सौ में से चालीस लोग ऐसे हैं जो साल भर में डेढ़-दो सौ रुपये भी नही कमा पाते। यानी ये गरीबी की रेखा से भी नीचे जी रहे हैं।

नेहरू-भटनागर इफैक्ट

जब हमारे प्रथम प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने स्वतन्त्र भारत के विकास के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी की शरण में जाने का सुखद निर्णय लिया था, तब यह सोच कर ही कि एकमात्र विज्ञान ही भूख और गरीबी की समस्या को सुलझा सकता है। सन् 1940 में सर रामास्वामी मुदालियार की अध्यक्षता में वैज्ञानिक अनुसन्धान का बोर्ड ब्रिटिश सरकार ने बनाया था, जो सन् 1942 में सर शान्तिस्वरूप भटनागर की अध्यक्षता में 'कौंसिल' बना दिया गया। पर इसका वास्तविक विस्तार स्वतन्त्रता के बाद हुआ और 'रामन-इफैक्ट' की तुक में नेहरू-भटनागर इफैक्ट के तहत सी० एस० आई० आर० (वैज्ञानिक एवं औद्योगिक परिषद्) के अधीन राष्ट्रीय प्रयोगशालाओ की एक विशाल श्रृंखला स्थापित की गई।

रसायन विज्ञान में अनुसन्धान के लिए सन् 1950 में राष्ट्रीय रसायन प्रयोगशाला, पूना के निकट खोली गई। सन् 1950 में ही नई दिल्ली में राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला का उद्घाटन किया गया। इसी साल धनबाद में केन्द्रीय ईंधन अनुसन्धान संस्थान बना। सन् 1950 में ही केन्द्रीय कांच और सिरेमिक अनुसन्धान संस्था ने काम करना शुरू किया। इसी वर्ष अक्टूबर में मैसूर में केन्द्रीय खाद्य प्रोद्योगिकी अधुसन्धान संस्था की स्थापना हुई। जमशेदपुर में राष्ट्रीय धातुविज्ञान अनुसंधानशाला, लखनऊ में केन्द्रीय औषधि अधुसन्धान संस्थान (1951), नई दिल्ली में ओखला के पास केन्द्रीय सड़क अनुसन्धान संस्थान (1952) भी स्थापित किये गये।

काराइकुड़ी में केन्द्रीय विद्युत रसायन अनुसन्धान संस्थान बनाया गया, ताकि विद्युत-रासायनिक उद्योगों का मार्ग प्रशस्त करने के लिए आवश्यक खोजों पर कार्य शुरू किया जा सके। चमड़ा उद्योग की सहायता के लिये मद्रास में केन्द्रीय चमड़ा अनुसन्धान संस्थान की आधारशिला 24 अप्रैल 1948 को तत्कालीन उद्योगमन्त्री डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने रखी। आवास-समस्या के समाधान के लिये केन्द्रीय भवन अनुसन्धान संस्थान, रुड़की में सन् 1953 में बनाया गया। पिलानी (राजस्थान) में केन्द्रीय इलैक्ट्रोनिक इंजीनियरिंग अनुसन्धान संस्थान बनाया गया। भावनगर में सन् 1954 में केन्द्रीय लवण और समुद्री रसायन अनुसन्धान संस्थान बना। केन्द्रीय खनन अनुसन्धान संस्थान, धनबाद में सन् 1961 में खोला गया।

प्रायोगिक भेषज का भारतीय संस्थान कलकत्ता में है जो दवाओं की खोज करता है। इनके अलावा हैदराबाद, जम्मू, भुवनेश्वर और जोरहाट में क्षेत्रीय अनुसन्धानशालायें खोली गईं। मशीनरी पर अनुसन्धान के लिए सन् 1958 में केन्द्रीय यान्त्रिक इन्जीनियरी अनुसन्धान संस्थान, दुर्गापुर में बनाया गया। सन् 1959 के आखिर में राष्ट्रीय विमानन प्रयोगशाला, बंगलौर में स्थापित हुई। इसी वर्ष चंडीगढ़ में केन्द्रीय वैज्ञानिक उपकरण संगठन बना। 1961 में हैदराबाद में राष्ट्रीय भू-भौतिकी अनुसन्धान संस्थान ने काम शुरू किया। गोवा में राष्ट्रीय समुद्र विज्ञान संस्थान जनवरी, 1966 में खोला गया। इससे पहले 1965 में लखनऊ में औद्योगिक विष विज्ञान का सस्थान बनाया गया था। नागपुर में 1958 में स्वास्थ्य इंजीनियरिंग इंस्टीट्यूट खोला गया था, जिसे अब राष्ट्रीय पर्यावरण इंजीनियरिंग संस्थान में बदल दिया गया है।

लखनऊ के केन्द्रीय भारतीय औषधीय वनस्पति संगठन और राष्ट्रीय वनस्पति विज्ञान अनुसन्धान संस्थान (पुराने राष्ट्रीय वनस्पति उद्यान) तथा अक्टूबर 1959 में देहरादून में स्थापित केन्द्रीय पेट्रोलियम अनुसन्धान संस्थान को मिला कर सी०एस०आई०आर० के इस विशाल वैज्ञानिक संगठन का बहुत व्यापक फैलाव हुआ। अनुसन्धान का काम भी चला—यह प्रयोगशालाओं में नियुक्त वैज्ञानिकों के अनुसार अच्छा भी हुआ और सिफर भी।

पहला प्रयास : आप्टिकल ग्लास

कलकत्ता के कांच और सिरेमिक अनुसन्धान संस्थान की अनुसन्धान मण्डली ने डा० आत्माराम के नेतृत्व में 'आप्टिकल ग्लास' बनाने की तरकीब खोज निकाली। इस महत्वपूर्ण शुद्ध कांच को बनाने की विधि कोई न बताता था, न बेचता था। अन्त में रूस की सहायता से भारत में इसके निर्माण के लिए कारखाना खोलने का सिलसिला शुरू हो ही रहा था कि तब तक भारतीय वैज्ञानिकों की इस कर्म मण्डली ने इसे बना डाला। इस खोज से हर साल कोई ढाई करोड़ रुपये की विदेशी-मुद्रा बचने लगी और 'आप्टिकल ग्लास' देश में ही बनने लगा।

मैसूर की संस्था ने 'बेबी-फूड' बनाने का तरीका खोजा, जिससे स्वदेश में ही बैबी-फूड (अमूल) बनाया जाने लगा। पूना की रसायन अनुसन्धानशाला की 60 से अधिक प्रविधियां औद्योगिक निर्माण में इस्तेमाल की गई हैं। भौतिक-अनुसन्धान से भी इलेक्ट्रोनिक उद्योग को बड़ा बल मिला—जैसे कि ट्रांजिस्टर और पिक्चर-ट्यूब यहीं बनने लगे।

लेकिन इससे कहीं अधिक लाभ कृषि अनुसंधान से हुआ। यों तो आजादी से पहले सन् 1905 में पूसा (बिहार) में कृषि अनुसन्धान कुछ अंग्रेज वैज्ञानिकों ने शुरू कर दिया

था, लेकिन कृषि अनुसन्धान परिषद की स्थापना सन् 1929 में ही हो पाई। इसका भी अधिक विस्तार आज़ादी के बाद हुआ। पहले के अकालों ने इसे बनाया और बाद के अकालों ने बढ़ाया। सन् 30 के भूकम्प ने पूसा इंस्टीट्यूट को पूसा (बिहार) से उठाकर दिल्ली ला पटका। सन् 65-66 के अकाल ने कृषि अनुसन्धान परिषद् का पुनर्गठन कराया। आज नई दिल्ली में सभी कृषि-विषयों के अलावा जल-प्रोद्योगिकी तथा नाभिकीय तकनीकों पर भी अनुसन्धान चल रहा है। यहीं पर कृषि-सांख्यिकी का भी संस्थान है। आलू पर शिमला में, धान पर कटक में, तम्बाकू पर राज-मुंद्री में, कपास पर नागपुर में, गन्ने पर लखनऊ और कोयम्बतूर में, बागानी फसलों पर कासरगोड में, पटसन पर बैरकपुर में, मछलियों पर बैरकपुर और कोचीन में, पशुविज्ञान पर इज्जतनगर में और रेही जमीनों के सुधार पर करनाल में, उद्यान विज्ञान पर बंगलोर में, जोधपुर में मरुस्थलीय समस्याओं पर, करनाल में ही डेरी पर, भेड़ और ऊन पर जयपुर के पास अविकानगर में अनुसन्धान संस्थान कार्यरत हैं। इसके अलावा हाल ही में कृषि इंजी-नियरी संस्थान भोपाल में खुला है।

उधार की प्रौद्योगिकी से कृषि-क्रान्ति

इसके अलावा परिषद् के ही अधीन सारे देश को आठ कृषि-जलवायु क्षेत्रों में बांट कर क्षेत्रीय संकेन्द्र खोले गये हैं तथा सभी प्रमुख समस्याओं पर अखिल भारतीय समन्वित अनुसन्धान प्रायोजनाएं चल रही हैं। और लगभग सभी राज्यों में कृषि विश्वविद्यालय खुल गये हैं। लेकिन असली चमत्कार बौने गेहूँ के जिन बीजों ने किया था, वे मैक्सिको से मँगाये गये थे। इस विदेशी प्रौद्योगिकी में देशी अनु-सन्धान से यहां की जलवायु के अनुसार उस बौने गेहूँ को उगाने की कृषि-विधियां विकसित की गईं। साथ ही देशी किस्मों से संकरण करके लाल दानों की बजाय शरबती दानों वाली किस्में विकसित की गईं और कृषि अनुसन्धान की उपलब्धियाँ किसानों तक पहुँचाने के लिए कारगर कदम उठाये गये। इस सबके फलस्वरूप गेहूँ की उपज में सचमुच क्रान्ति हुई और कृषि-अनुसन्धान की छवि निखरी।

पर इसके साथ ही भारतीय कृषि-अनुसन्धान-जगत पर प्रोफेसर विनोद शाह जैसे वैज्ञानिकों की आत्महत्या का कलंक भी लगा हुआ है। युवा वैज्ञानिकों में असन्तोष की इस भावना का मूल खोजने लगें तो हम उस समस्या की तह तक भी पहुँच सकते हैं, जिसके कारण विज्ञान का यह विशाल बुनियादी ढांचा हमारी समस्याओं को सुलझाने में उतना समर्थ सिद्ध क्यों नहीं हो सका, जितनी आशा की जाती थी। इस वैज्ञानिक ढांचे में आप परमाणु-ऊर्जा विभाग और उसके अधीन काम करने वाले संगठन तथा इण्डियन कौंसिल आफ मेडिकल रिसर्च के अधीन विविध चिकित्सा-समस्याओं पर कार्यरत लगभग एक दर्जन संस्थानों और कोई सवा सौ बड़े अस्पतालों को भी जोड़ लें।

लालफीताशाही और भाई-भतीजावाद

हुआ यह कि जहां पहले कुछ विशिष्ट वैज्ञानिकों के गिर्द संस्थायें खड़ी हुईं, वहीं आजादी के बाद उनमें वैज्ञा-निक भर्ती किये गये। शुरू-शुरू में कर्मठ वैज्ञानिकों ने विश्व-विद्यालयों के बौद्धिक वातावरण को छोड़कर इन सरकारी दफ्तरों-सी लगने वाली प्रयोगशालाओं में विशेष दिलचस्पी नहीं ली। यानी प्रथम श्रेणी के लोग तो विश्वविद्यालयों में गये और दूसरी-तीसरी श्रेणी के लोग इन प्रयोगशालाओं में गये। फिर भर्तियों में राजनीतिक दखलन्दाजी और भाई-भतीजावाद का प्रकोप महामारी की तरह फैला। इसकी चरम परिणति के रूप में सी०एस०आई०आर० जैसे विशाल वैज्ञानिक संगठन का अध्यक्ष एक ऐसे वैज्ञानिक को चुना जाना था, जिनकी वैज्ञानिक उपलब्धियां सिफर थीं, पर जो राजनीतिक पहुँच में शिखर पर थे। इनके शासन-काल में इस वैज्ञानिक संगठन में सुरा-सुन्दरी और लूट-खसोट तथा पक्षपात का बोलबाला हो गया। शान-शौकत से रहना और लम्बी-चौड़ी हांकना ही बड़े होने की पहचान मानी गई। वैज्ञानिकों के बीच प्रतिद्वन्द्विता इस बात को लेकर चली कि किसकी प्रयोगशाला में कितने महँगे कालीन बिछे हैं, कितने फ्रिज हैं, कितने एयरकण्डीशनर हैं, कितनी सुन्दरियां भी हैं, कौन कितनी बार विदेश गया, यह भी बड़प्पन का प्रतीक बन गया। पी०एल० 480 तथा अन्य स्रोतों से आये बेशुमार विदेशी अनुदान ने आग में घी का काम किया।

विशुद्ध सरकारी दफ्तरों की तरह लालफीताशाही इन प्रयोगशालाओं पर भी हावी हो गई। जिसकी हेडक्वार्टर में पहुँच हो, वह तो अपनी स्कीम पास करा सकता था, बाकी बैठे-बैठे किस्मत को कोसते रहते। जो बड़ों की सेवा करने के गुर सीख गये, वे वरिष्ठों के सिरों पर पांव रख कर ऊँची-ऊँची कुर्सियां पा गये। जो कर्मठ थे, वे उपेक्षित हो गये। हेडक्वार्टर का एक मामूली क्लर्क भी प्रयोगशालाओं के डाइरेक्टरों के लिये खुदा बन गया—मसौदा तो वही बनाता है, ऊपर वाले तो बस दस्तखत करते हैं।

जांच आयोग और बढ़ता रोग

ऐसे माहौल में अनुसन्धान क्या खाक होता! युवा वैज्ञानिक के काम पर ऊपर बैठे वैज्ञानिक फूलने लगे। काम कोई करता, नाम किसी और का होता। बहुत से वैज्ञानिक इस सबसे तंग आकर विदेश चले गये। अनेक निजी संगठनों में आ बैठे। कुछ निराश होकर आत्महत्या कर बैठे। सच बोलना गुनाह हो गया। फिर जो मुंह खोलने से बाज न आये, उनको दुनिया भर की जहालत भुगतनी पड़ी। इस निष्कर्ष के प्रमाण में सी०एस०आई०आर० की जांच के लिये आयोग बिठाये गये। सरकार-आयोग या आई०सी०ए०आर० की जांच के लिये बनाये गये गजेन्द्र गड़कर आयोग की रिपोर्टों से सैकड़ों उदाहरण गिनाये जा सकते हैं। आज तो यह महामारी प्रयोगशालाओं तक सीमित नहीं रही है, बल्कि विद्या के मन्दिर समझे जाने वाले विश्वविद्यालयों तक जा पहुँची है।

कोई भी विश्वविद्यालय इसका अपवाद नहीं है। विज्ञान के किसी भी नामी विभाग में घुस जाइये, हर जगह दो-तीन खेमों में बँटे एक-दूसरे को लँगड़ी मारने में व्यस्त वैज्ञानिक मिल जएँगे। एक वर्ग के शिष्यों की कापियां दूसरे वर्ग में पहुँच गईं, तो शिष्यों की खैर नहीं। बिहार में तो डाक्टरेट की कीमत तय थी। दस हजार रुपये दो, और डाक्टरेट ले लो। डाक्टरी और इंजीनियरिंग में प्रवेश, वांछित स्थान पर ट्रांसफर आदि के लिये अब वैज्ञानिक संगठनों में भी खुलेआम पैसा लिया जाता है। स्वाध्याय-चिन्तन-मनन की सारी परम्परायें ध्वस्त हो गई हैं। सच्चे, ईमानदार और कर्मठ प्राणी का जीना मुश्किल है।

सच्चाई की कीमत

वैज्ञानिक संगठनों में फैले इस कोढ़ को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। दिल्ली विश्वविद्यालय में एक वैज्ञानिक हो गये हैं—प्रोफेसर टी०आर०शेषाद्रि। सन् 1900 में तमिलनाडु में जन्मे शेषाद्रि ने लन्दन से रसायन विज्ञान में डाक्टरेट ली थी। नोबल-प्राइज विजेता प्रो० राबर्ट रोबिन्सन उनके शोध-गुरु थे। डा० शेषाद्रि सन् 1933 में भारत लौटे और सन् 1959 में दिल्ली विश्वविद्यालय के रसायन विभाग में अध्यक्ष होकर आये। यह स्वर्णयुग था दिल्ली विश्वविद्यालय का। भौतिकी में प्रो० कोठारी, वनस्पतिविज्ञान में प्रो० माहेश्वरी और अर्थशास्त्र में प्रो० वी०के०आर०वी० राव। शेषाद्रि को 1936 में ही रायल सोसाइटी ने अपना फैलो चुन लिया था। पौधों के रसायन-विज्ञान फाइटोकेमिस्ट्री में शेषाद्रि जितने बेजोड़ थे, उतने ही घटिया रिसर्च और भ्रष्टाचार के आलोचक थे।

डा० शेषाद्रि की यह सत्यवादिता सी०एस०आई०आर० के तत्कालीन शहंशाह डा० हुसैन जहीर साहब को कभी नहीं भाई। इसका नतीजा यह हुआ कि शेषाद्रि रिटायर हो गये, पर नेशनल प्रोफेसरशिप न पा सके। अपनी ही कमाई से आखिरी दम तक अनुसन्धान में लगे रहे और सीधे प्रयोगशाला से ही श्मशानघाट ले जाये गये। इसके विपरीत अनेक मध्यम श्रेणी के वैज्ञानिक तलुए चाट-चाट कर नेशनल प्रोफेसरशिप की 3000 रुपये की मासिक वृत्ति का घर बैठे भोग लगा रहे हैं।

सत्य की ऐसी कीमत चुकाने वाले वैज्ञानिक आज हमारे देश की प्रयोगशालाओं में चिराग लेकर भी नहीं मिलेंगे, भले ही यह सी०एस०आई०आर० रूपी 'अलादीन का चिराग' क्यों न हो। आज के इस घटाटोप अन्धकार की जड़ें नेहरू-युग में खोज पाना कठिन नहीं है।

नेहरू जी विज्ञान के भक्त थे, देश के भी भक्त थे; पर उनसे अग्रिमताएँ निर्धारित करने में बड़ी भूल हुई। डा० भाभा ने उन्हें ऐसा भरमाया कि पन-बिजली पीछे पड़ गई और आज कोई 50 अरब रुपये परमाणु-ऊर्जा के दिवा-स्वप्न में खपा कर हम

तय किये गये लक्ष्यों से कोसों दूर बैठे आसमान को ताक रहे हैं। बड़े विज्ञान के धोखे में छोटे और उपयोगी विज्ञान की उपेक्षा हो गई। बड़ी-बड़ी बातों के मायाजाल में छोटी-छोटी ठोस बातें और जरूरी काम नजरन्दाज हो गये। इसी बीच चाचा नेहरू के चारों ओर भतीजों की ऐसी भीड़ पनप आई, जिसके मुँह में चुरुट और लच्छेदार अंग्रेजी की लफ्फाजी थी, गले में नेकटाई, देह पर दो पीस वाला सूट और आंखों पर इम्पोर्टेड चश्मा। अंग्रेजी दिमाग वाले ये लोग भारतीय विज्ञान को अपनी जमीन से काटकर अन्तरिक्ष में उड़ा ले गये और भूखा-नंगा देश पोखरन में एटमी विस्फोट करने लगा, 'आर्यभट' और 'भास्कर' छोड़ने लगा। इन विलायती बबूलों से जनता आम टपकने के इन्तजार में बैठी रही। 32 साल के इस सत्र का जो भी फल आम आदमी को मिला, उसका स्वाद कड़ुआ और कसैला ही रहा, मीठे फल तो चन्द भाग्यवानों को ही मिल पाये। इस मीठे आकाशी फल को आप लाख डिग्रियों और ठोस कार्य का ठप्पा लगाकर भी तब तक नहीं पा सकते, जब तक आपका कोई राजनीतिक आका न हो। जिसने भी इस स्थिति का विरोध करके परिवर्तन लाना चाहा उसे घोर विरोध का सामना करना पड़ा—जैसे कि डा० आत्मा-राम को।

वैज्ञानिक भी हाड़-मांस का इंसान ही है। चरित्र के इस भयानक अकाल ने विज्ञान-जगत को भी डस लिया है। जिस तरह आज के अनेक राजनेता एक-दूसरे को फूटी आंखों नहीं सुहाते, वैसे ही यदि डा० सेठना और डा० रामण्णा छत्तीस हो गये, तो उनका क्या दोष! यथा राजा, तथा प्रजा। शायद कोई बड़ी क्रान्ति ही इस जड़ता को दूर कर पायेगी।

***

साप्ताहिक हिन्दुस्तान 19 अगस्त, 1979 से साभार

शेष पृष्ठ 20 का

खनिज पदार्थों का खनन के पश्चात् स्थानान्तरण अत्यन्त कठिन कार्य है। आकाशीय पिंडों से पृथ्वी पर पदार्थों के लाने में कई बिन्दुओं पर पदार्थों को रोकना पड़ेगा। स्थानान्तरण प्रक्रिया में प्रयोग होने वाली ऊर्जा से वातावरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यह गणना की गई है कि 1 किलोग्राम पदार्थ को आकाशीय स्थलों से पृथ्वी पर लाने में 5 से 100 मेगाजूल ऊर्जा की आवश्यकता पड़ेगी। स्थानान्तरण में दो प्रकार के वेग की आवश्यकता पड़ेगी। प्रथम वेग से पदार्थ आकाशीय पिंड कक्षा से निकाला जायेगा। दूसरे वेग से पदार्थ को पृथ्वी की कक्षा में प्रवेश कराया जायेगा। पदार्थ को पृथ्वी की कक्षा में आने के बाद पृष्ठ पर उतारना पड़ेगा। इसमें भी पहले वेग को कम करके पृथ्वी पृष्ठ पर उतारा जायेगा। पृथ्वी के वातावरण में आने से पदार्थ पर वातावरण का प्रभाव पड़ेगा इसलिए पदार्थ को अत्यन्त वेग से पृथ्वी के किसी सुरक्षित स्थान में उतारना पड़ेगा। पृथ्वी की कक्षा में यान को शून्य गुरुत्व की अवस्था में उतारना पड़ेगा इसलिए खनन पदार्थ को अत्यन्त हल्का बनना पड़ेगा। पदार्थ में अत्यधिक मात्रा में गैस या वाष्पीय पदार्थ डालना पड़ेगा ताकि गुरुत्व कम किया जा सके। कम गुरुत्व वाला पदार्थ सुरक्षा की दृष्टि से भी उत्तम माना जाता है।

आकाशीय पिंडों में खनन कार्य के लिए उन स्थानों पर खनन बस्तियाँ बसानी पड़ेंगी। इन बस्तियों में आवश्यकता की सभी चीजें पहुँचानी पड़ेंगी। इस प्रकार आवागमन बढ़ता जायेगा; वातावरण की सभी कमियों को दूर करना पड़ेगा; आकाशीय पिंडों पर ही खनिजों में गैस या वाष्प डालकर गुरुत्व कम करना पड़ेगा; पृथ्वी की कक्षा तथा आकाशीय पिंडों की कक्षा के वेग का निर्धारण करना पड़ेगा तथा दोनों पृष्ठों पर स्टेशन बनाना पड़ेगा।

आकाशीय पिंडों पर खनन कार्य का विचार नवीन है परन्तु वैज्ञानिक प्रगति तथा मानवीय आवश्यकताओं को देखते हुए सम्भव प्रतीत होता है। इस प्रकार के खनन से आर्थिक लाभ बहुत हैं परन्तु इस सम्बन्ध में बहुत ही तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता है। ● ●

[स्पैन से साभार]

अन्तरिक्ष में खनन

● विजयकान्त श्रीवास्तव

पृथ्वी पर खनिजों की दिनोंदिन कमी हो रही है। खपत भी बढ़ रही है अतः खनिजों की अधोमात्रा का भी प्रयोग होता है। नवीन क्षेत्रों के पता न लगने से इस प्रकार के खनिजों का खनन भी भविष्य में मंहगा पड़ेगा। सभ्यता के विकास के लिए खनिजों की उपयोगिता सदैव बनी रहेगी। ऐसी संभावना है कि भविष्य में खनिजों की खोज पृथ्वी पृष्ठ पर न करके अन्तरिक्ष में करनी पड़ेगी क्योंकि पृथ्वी का सारा भंडार लगभग समाप्त ही हो रहा है। इस दिशा में वैज्ञानिकों ने नवीन क्षेत्र की खोज प्रारम्भ कर दी है और ये नवीन क्षेत्र अन्तरिक्ष में ही मिलेंगे।

अन्तरिक्ष में खनिजों की विद्यमानता का पता लगाना खनन तथा वहाँ से पृथ्वी पर लाना आसान काम नहीं हैं। पृथ्वी पृष्ठ से नमूना लेकर उसका विश्लेषण करके खनिजों का पता लगाया जा सकता है परन्तु अन्तरिक्ष में यह कठिन है। नमूना न मिलने की अवस्था में सुदूर संवेदन का प्रयोग किया जाता है। पृथ्वी को आधार बना करके प्रयोग किये गये टेलिस्कोप में कम खर्च आता है। अपोलो प्रयोगों से चन्द्रमा पर टाइटेनियम का पता लगा है। सुदूर संवेदन विधियों से चन्द्र पृष्ठ पर निकेल तथा लौह खनिजों का पता लगा है। चन्द्र पृष्ठ के अधिकांश भाग पर इन खनिजों का पता लगा है। विद्युतचुम्बकीय तरंगों से लगभग 100 आकाशीय पिंडों के धरातल का सर्वेक्षण किया गया है।

आकाशीय पिंडों पर खनिजों का खनन तभी सम्भव हो सकेगा जबकि खनिज अधिक हो तथा खनन लाभदायक हो। अब तक के परीक्षणों से पता चला है कि इन आकाशीय पिंडों में निकेल की मात्रा पूरे संयुक्त राज्य अमेरिका में पाये जाने वाले निकेल की मात्रा से 5 गुनी अधिक है। इसी सर्वेक्षण के आधार पर यह भी गणना की गई है कि प्रतिदिन 650,000 मीटरी टन लौह अयस्क निकालने से खनन अत्यधिक लाभप्रद होगा। निकेल अयस्क की मात्रा 10,000 से 50,000 मीटरी टन होने से खनन लाभप्रद होगा।

अन्तरिक्ष में प्राप्त खनिजों के खनन से पर्यावरण पर तथा वनस्पतियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा अपितु लाभ ही होगा। अल्प मात्रा वाले अयस्कों के खनन से अत्यधिक पर्यावरणीय प्रदूषण होता है तथा जंगल, नदी तल पर बहुत ही खराब प्रभाव पड़ता है। केवल 1972 में ही 450 मिलियन मीटरिक टन या पूरे विश्व का 15 % कोयला 750 मिलियन मीटरिक टन लौह बनाने में खर्च हुआ। अयस्क मात्रा के कम होने से अधिक मात्रा का खनन करना पड़ता है, धातु बनाने में अधिक ऊर्जा की भी जरूरत पड़ती है तथा अधिक मात्रा में पदार्थ का नाश होता है। पर्यावरण का प्रदूषण आकाशीय पिंडों से खनिजों के खनन से नहीं होता है।

सौर ऊर्जा का उपयोग पदार्थों के शुद्धीकरण में किया जा सकता है जिससे कि अन्य स्रोत की बचत होगी तथा प्रदूषण भी नहीं होगा। आकाशीय पिंडों में निकेल, लौह तथा कोबाल्ट का दोहन सौर ऊर्जा तथा चुम्बकीय प्रभाव से किया जा सकता है। खनन स्थानों पर सौर ऊर्जा के प्रयोग से खनन क्रिया में अन्य ऊर्जा स्रोत की बचत हो सकती है। लगभग 150 मीटरिक टन निकेल, लौह तथा कोबाल्ट खंड को पिघलाने के लिए एक वर्गमीटर क्षेत्र में प्राप्त सौर ऊर्जा पर्याप्त होती है। [शेष पृष्ठ 19 पर]

बाल वर्ष पर

घातक बाल रोगों की रोकथाम

● प्रेम चन्द्र श्रीवास्तव

विश्व स्वास्थ्य संगठन के एक अध्ययन के अनुसार विश्व के विकासशील देशों में प्रतिवर्ष लगभग 50 लाख बच्चे केवल 6 घातक रोगों से ग्रसित होकर काल के ग्रास बन जाते हैं। यही नहीं लगभग इतने ही बच्चे (50 लाख) विकलांग, अंधे या मानसिक रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। ये 6 घातक रोग, डिफ्थीरिया, पोलियो, टिटेनस, कुकुर खांसी, क्षयरोग और मीज़िल्स (खसरा) हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि विकसित देशों में इन रोगों का प्रभाव नहीं है।

अपने देश में बच्चों की संख्या 230,245,000 है। यह कुल आबादी का 42% है। इससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि यहाँ बालरोग कितनी बड़ी समस्या है। यह संख्या 1971 की जनगणना के अनुसार है। अब तो इस संख्या में और भी तेजी से वृद्धि हुई है। बाल वर्ष के अवसर पर आवश्यकता इस बात की है कि हम बच्चों को इन घातक रोगों के विषय में जानकारी प्राप्त करके इनकी रोकथाम के लिये सचेष्ठ हो जायें। बच्चे कल के राष्ट्र निर्माता हैं। किसी भी देश के विकास की पहली शर्त है उस देश के बच्चों का स्वास्थ्य।

भारत में 1000 पैदा होने वाले बच्चों में 120 पहले ही वर्ष मर जाते हैं। अन्य मरने वाले बच्चों में 40% पाँच वर्ष भी पूरा नहीं कर पाते। इस लेख में कुछ बाल रोगोंके वि षय लिखा जा रहा है।

1. डिफ्थीरिया (Diphtheria)

यह एक संक्रामक रोग है जो एक जीवाणु, बैसिलस कोरीन बैक्टीरियम डिफ्थीरिया (Coryne becteium diphtheria) के कारण होता है। यह रोग पहले गले की सूजन से प्रारम्भ होता है। किसी भी चीज के खाने में कठिनाई होना पहला लक्षण है। यह 2-5 वर्ष के बच्चों में अधिक होता है। कभी-कभी वयस्कों को भी यह रोग हो जाता है। इस रोग से टांसिल भी खराब हो जाते हैं। हलका बुखार और जाड़ा भी लगता है। कभी कभी उल्टी भी होती है। गले और टांसिल में बाद में चमकीली भूरी या सफेद झिल्ली दिखाई पड़ती है जो शीघ्र बढ़ जाती है। इन स्थानों पर डिफ्थीरिया के जीवाणु मौजूद रहते हैं। बाद में यह जहर रक्त में पहुँच जाता है और स्नायुतंत्र और हृदय को भी प्रभावित करता है। सांस लेने में कठिनाई होती है और मृत्यु भी हो सकती है। इस लिये शीघ्र ही इसका उपचार प्रारम्भ कर देना चाहिए। बच्चों को इसकी रोकथाम के लिये टीका लगवा देना चाहिए।

2. खसरा या मीजिल्स (Measles)

इस रोग को लगभग 20 वर्ष पहले फिर से खोजा गया है। यह रोग जानलेवा है। अधिकतर यह उन बच्चों में होता है जो कुपोषण के शिकार होते हैं। यह एक प्रकार के विषाणु (वायरस) के कारण होता है। यह छूत का रोग हैं। रोगी बच्चों के थूक या नाक के बहने से फैलता है।

दस या 11 दिनों में बच्चे को ज्वर हो जाता है। सर्दी लगने लगती है और उल्टी और दस्त होता है। चार दिन बाद शरीर पर लाल ददोरे निकल आते हैं। बहुधा ददोरों के निकल आने पर ज्वर कम हो जाता है। इस रोग से मुँह के अन्दर के चमड़े पर भी प्रभाव पड़ता है। कभी कभी निमोनिया भी हो जाता है। बहुधा यह रोग उन बच्चों में होता है जिनकी उम्र स्कूल जाने लायक बच्चों से कुछ ही कम होती है या जिन्होंने स्कूल जाना प्रारम्भ कर दिया है। किन्तु कभी कभी 5 महीने से लेकर 3 वर्ष के बच्चों को भी यह रोग हो जाता है। इस रोग में मृत्यु का कारण निमोनिया या दस्त होता है। कुछ देशों में आधे से अधिक बच्चों का अंधा हो जाने का कारण उन बच्चों में इस रोग का होना है जो पहले से कुपोषण के शिकार रहते हैं और जिनमें विटामिन ए की कमी पाई जाती है। इस रोग की रोकथाम के लिये बच्चों को टीका लगवा देना चाहिये।

3. **पोलियो (Poliomelitis or Infantile paralysis)**

यह रोग एक विशेष प्रकार के विषाणु (पोलियो-मायलिटिस) के कारण होता है। इस रोग के प्रभाव से बच्चों के अंग टेढ़े-मेढ़े हो जाते हैं। इसे बच्चों का लकवा-रोग या पोलियो कहते हैं। प्रारम्भ में इस बीमारी में ठंडा बुखार, बेचैनी, कमजोरी और सिर दर्द होता है। पैर में दर्द और पैर का सुन्न हो जाना भी पाया गया है। इस रोग में बहुद ही सावधानी की आवश्यकता है। कभी-कभी माता-पिता रोग के लक्षणों के बाद बच्चे को सूई लगवा देते हैं। इससे पैर या हाथ का लकवा हो जाता है। अधिकतर रोग का प्रभाव बच्चे के पैर पर पड़ता है और पैर का लकवा हो जाता है किन्तु ऐसे बच्चे युवा होने से पहले ही मृत्यु के शिकार हो जाते हैं। यह सौभाग्य की बात है कि एक अमेरिकी वैज्ञानिक जोनास साक ने एक प्रकार के टीके की खोज कर ली है जिससे सफलतापूर्वक इस रोग की रोकथाम की जा सकती है। बच्चों को यह टीका अवश्य लगवा देना चाहिए।

4. **कुकुर खांसी (Woopping cough)**

यह बच्चों का ऐसा रोग है जिसे आसानी से पहचाना जा सकता है। मातायें विशेष रूप से इसे शीघ्र ही पहचान लेती हैं। इस रोग का प्रारम्भिक लक्षण है आंखों का लाल होना, नाक का बहना, गला खराब होना और खांसी आना। खांसते समय गले से खों-खों की आवाज होती है। इसी कारण इसे कुकुर खांसी कहते हैं। यह रोग एक प्रकार के जीवाणु से होता हैं और इसका आक्रमण पांच वर्ष तक के बच्चे पर अधिकतर होता है। यह अधिक दिनों तक चलने वाली बीमारी है। इसी कारण इसे चीन में 'सौ दिनों वाली खांसी' के नाम से पुकारते हैं। इस रोग का इलाज एक हफ्ते के अंदर कर लेना चाहिये अन्यथा बाद में कठि-नाई होती है। एक वर्ष से कम आयु के बच्चों की तो इस रोग से मृत्यु भी हो जाती है। इससे बच्चों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यह छूत की बीमारी है और खाने और पोने वाली वस्तुओं से फैलता है। बहुत से देशों में रोगी बच्चों को गधे के पेट के नीचे से निकालते हैं और विश्वास करते हैं कि इससे रोग ठीक हो जायेगा। किन्तु इस प्रकार का उपचार उचित नहीं है और न ही इससे कोई लाभ होता है। रोगी को डाक्टर को दिखाकर इलाज करना चाहिये। बच्चे को प्रतिबंधक उपचार के लिए टीका लगवा देना चाहिए।

5. **टिटेनस (Tetanus or lockjaw)**

यह एक प्रकार के जीवाणु से उत्पन्न रोग है जिसे टिटनेस वैसिलस कहते हैं। इस रोग में जबड़े की माँस पेशियों में दर्द होता है। इसी कारण इसका नाम 'लाकजा' पड़ा। इस रोग के वैक्टीरिया बहुधा खुली चोटों या घावों के द्वारा प्रवेश कर जाते है। रोग का प्रारम्भिक लक्षण 4 दिन से लेकर 3 हफ्ते में प्रगट होता है। गर्दन की मांश-पेशियों में कड़ापन और जबड़े की मांश पेशियों में दर्द होता है। बाद में शरीर के अन्य अंगों की मांसपेशियों में तनाव तथा कड़ापन हो जाता है। शरीर में ऐंठन और दर्द होता है। यदि समय से इसका उपचार न हो पाया तो मृत्यु भी हो जाती है। इस कारण खेलते-कूदते समय यदि बच्चे के चोट लग जाय या कट जाय तो तुरन्त उसका उपचार करना चाहिये। घाव को कभी खुला नहीं छोड़ना चाहिए।

यह रोग बड़ों को भी हो सकता है। इसकी रोकथाम के लिये इसका टीका या सूई लगाई जाती है जिसे अवश्य लगवा लेना चाहिये। चोट को डाक्टर को अवश्य दिखा लेना चाहिये और यह बात बता देनी चाहिये कि टिटेनस का प्रतिरक्षात्मक टीका लगा है या नहीं।

देहातों में नवजात शिशुओं की अक्सर शरीर में ऐंठन-होकर मृत्यु हो जाती है। इसका कारण गंदे तरीके से नाड़ा काटने के कारण होता है।

6 **क्षय रोग (Tuberculosis)**

बच्चों में इस रोग का लक्षण कई प्रकार से होता है। यह रोग एक प्रकार के जीवाणु के कारण होता है जिसे क्षय रोग का बैसिलस कहते हैं। इस रोग का प्रभाव हड्डियों पर पड़ता है। अंदर-अंदर हड्डियों में छेद होने लगते हैं और मनुष्य कमजोर हो जाता है। रीढ़ की हड्डी टेढ़ी हो जाने से पीठ पर कूबड़ निकल आता है। इसके स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। खांसी आती है सांस फूलता है और ज्वर भी रहता है। यह रोग बड़ों को भी हो जाता है पर बड़ों की अपेक्षा बच्चों में अधिक खतरनाक होता है। रोग के जीवाणु कभी-कभी मस्तिष्क को भी प्रभावित करते हैं। इस रोग को तब मेनिन्जाइटिस कहते हैं। यह रोग जानलेवा भी होता है किन्तु यदि इसका उपचार सफलता पूर्वक हो गया और जान बच गई तो भी ऐसे बच्चों का मस्तिष्क सदा के लिये विकृत हो जाता है। इसकी रोकथाम के लिये बी सी जी (B C G) का टीका अवश्य लगवा लेना चाहिये। B C G का पूरा नाम Bacille Calmette Guerin है। समय से रोग का इलाज करवा लेने से यह रोग बच्चों और बड़ों दोनों में ठीक हो जाता है।

बच्चों को इन घातक रोगों का सबसे अच्छा उपचार है बच्चों के शरीर में इन रोगों के खिलाफ प्रतिकार क्षमता बढ़ाना। इसे टीकों (Vaccines) ने विकसित देशों में सफलता पूर्वक किया है। बड़ी माता (Smallpox) गायब हो चुकी है। डिफ्थीरिया, टिटेनस, कुकुर खांसी और पोलियो पर नियन्त्रण प्राप्त हो चुका है। क्षय रोग पर बी सी जी ने विजय प्राप्त कर ली है और मीजिल्स के खिलाफ मीजिल्स का टीका प्रभावशाली ढंग से सफलता प्राप्त कर रहा है। यही नहीं डिफ्थीरिया, कुकुर खांसी और टिटेनस के टीकों को एक साथ मिलाकर एक ही सूई से एक साथ शरीर के अंदर प्रवेश कर सकते हैं। दूसरे टीकों को भी एक समय में ही डी पी टी (D P T) के रूप में लगाया जा सकता है।

भारत जैसे निर्धन और विकासशील देश में बाल रोग की समस्या विकराल रूप से मुंह बाये खड़ी है। शहरों में तो बहुत से अस्पताल और स्वास्थ्य केन्द्र ऐसे हैं जहाँ बच्चों के लिये टीकों को लगाने या बूंदों के रूप में देने की सुविधा है किन्तु देहातों और सभ्यता से दूर स्थानों में अभी बहुत कुछ करना शेष है। भारत जैसे देश जहाँ 80% प्रतिशत जनता गांवों में रहती है और जहाँ आधे से कुछ ही कम लोग गरीबी की सीमा रेखा से नीचे का जीवन जी रहे हैं, वहाँ बाल रोगों की रोकथाम अत्यन्त आवश्यक है। हमारे साधन सीमित हैं और हमारी जरूरतें बहुत अधिक हैं। आइये बाल वर्ष के पुनीत अवसर पर हम इस बात का संकल्प करें कि आने वाले बाल वर्षों में हम अपने बालकों को रोगमुक्त कर देश को स्वस्थ पीढ़ी प्रदान करेंगे। इसी में बालवर्ष की सार्थकता है।

● ●

सूजन का रक्षात्मक स्वरूप

● डा० देवेन्द्र चन्द्र

प्राय: आपने देखा होगा कि ततैये-मच्छर आदि के काटने पर या कहीं घिसट लग जाने पर उस जगह एक लाल दाना या सूजन हो जाती है। इसमें खूब जलन तथा दर्द होता है। जहाँ एक ओर आप इससे परेशान होते हैं, इसे नोंचते व दबाते या सहलाते हैं वहीं यह सूजन आपके लिये एक सैनिक का कार्य कर रही होती है।

सूजन शरीर की रक्षात्मक प्रतिक्रिया है। यह निम्न कारणों से ऊत्पन्न हो सकती है।

जीवित कारक : जीवाणु, वाइरस, कवक, परजीवी कृमि प्रोटोजोआ आदि।

भौतिक कारक : चोट, अग्नि, विद्युत, क्ष-किरणें, लगातार पड़ने वाला दवाब आदि।

रासायनिक कारक : अम्ल, क्षार, विष आदि।

सूजन के होने में घायल कोशिकाओं का प्रधान कार्य होता है।

जब कोई मच्छर या ततैया काटता है या अंग छिल जाता है तो कुछ कोशिकाऐं घायल हो जाती हैं। घायल कोशिकाओं से कुछ विशिष्ट पदार्थ स्रवित होते हैं। इनमें मुख्य हैं—हिस्टामीन तथा सिरोटोनिन।

हिस्टामीन तथा सिरोटोनिन दर्द की संवाहक तंत्रिकाओं को उत्तेजित करते हैं जिससे दर्द अनुभव होता है।

यह तो आपको ज्ञात ही है कि शरीर के प्रत्येक भाग में अति सूक्ष्म कोशिकाओं का जाल फैला हुआ है। इन कोशिकाओं की दीवार एकहरी कोशिका परत से बनी होती है और इसमें अनेक सूक्ष्म रंध्र होते है। सामान्य दशा में रक्त तरल ऊतक द्रव्य के मध्य पोषक पदार्थो, ऑक्सीजन एवं कार्बन डाइ-आक्साइड तथा उपापचयी का आदान प्रदान इन्हीं रंध्रों से होता है।

हिस्टामीन तथा सिराटोनिन इन रंध्रों का आकार बढ़ा देते हैं। इससे अधिक रक्ततरल कोशिकाओं से बाहर आ जाता हैं। इस अधिक रक्ततरल के कारण मच्छर की काटी जगह सूज जाती है।

बढ़े हुए रक्ततरल का एक लाभ भी है। यह कोशिकाओं को घायल करने वाले विषैले पदार्थ की सांद्रता कम कर देता है। सांद्रता कम हो जाने पर जलन भी कम हो जाती है। रंध्रों का आकार बड़ा हो जाने पर रक्त की सफेद कोशिकाएें सुगमता से बाहर आ जाती हैं।

यह तो सर्वविदित है कि सफेद रक्त कोशिकाएें अमीबीय गति कर सकती हैं। अत: वे सरलता से घायल हिस्से तक पहुँच जाती हैं। सफेद रक्त कोशिकाओं के दो कार्य होते हैं—एक तो वे चोट ग्रस्त स्थान पर उपस्थित जीवाणुओं, वाइरसों आदि का भक्षण करती हैं। इस क्रिया को फैगोसाइटोसिस कहा जाता है। दूसरे वे विशेष प्रकार के प्रोटीन एंटीवाडीज या इम्यूनोग्लोबुलिन बनाती हैं। इनका कार्य भी अनचाहे रूप से प्रविष्ट जीवाणुओं-वाइरसों को समाप्त करना है।

जब सूजन का कारक समाप्त हो जाता है तो रक्त तरल पुनरवशोषित हो जाता है, सफेद रक्त कोशिकाएें वापस रक्त में पहुँच जाती हैं तथा सूजन धीरे-धीरे घटती हुई समाप्त हो जाती है।

यदि सूजन न हो तो रोगजनक जीवाणु-वाइरस सरलता से रक्त में प्रवेश पा सकते है। इस प्रकार सूजन शरीर को संभाव्य रोगों से बचने में मदद करती है। साथ ही विषैले पदार्थ की सांद्रता कम हो जाने से दर्द भी कम होता है। ● ●

विज्ञान वार्ता

और अब गोबर से स्याही

गोबर से खाद, गोबर से उपले तथा गोबर से गैस की बात तो पुरानी हो गई। कैलीफोर्निया के वैज्ञानिक डा० मैकेंजी ने गोबर से स्याही बनाने की विधि खोज निकाली है। गोबर को एक विशिष्ट ताप पर गरम करने पर एक काला पाउडर प्राप्त होता है जिसका उपयोग स्याही बनाने में किया जा सकता है। इसे टायरों तथा भवन निर्माण की सामग्री में भी उपयोग किया जा सकता है।

गिरगिटी काँच

अभी तक तो गिरगिट ही रंग बदलता सुना जाता था परन्तु अब धूप के ऐसे चश्में भी बनने लगे हैं जिनका रंग धूप के तेज़ अथवा कम होने पर स्वतः गहरा या हल्का हो जाता है। ये चश्मे फोटोक्रोमिक काँच के बने होते हैं। रंग बदलने की क्रिया को फोटोक्रोमिज़्म कहते हैं। फोटोग्राफी फिल्म की भाँति फोटोक्रोमिक काँच में भी सिल्वर हैलाइड के क्रिस्टल होते हैं जिनका रंग पराबैगनी प्रकाश पड़ने पर गहरा (काला) हो जाता है। फोटोक्रोमिक काँच से बने चश्में का रंग धूप में जाने से गहरा और छाया में लौटने पर पुनः हल्का पड़ जाता है। ये चश्में अभी वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा कुछ विशिष्ट औद्योगिक कार्यों के लिए ही उपलब्ध हैं। आशा है कि कुछ समय बाद ये चश्में आम लोगों को भी सुलभ हो जायेंगे।

कालेस्ट्रॉल अब हृदय रोग में सहायक

अभी तक हृदय रोग के लिए सामान्यतः कोलेस्ट्रॉल को ही उत्तरदायी समझा जाता था, परन्तु अभी हाल में एक आस्ट्रेलियायी वैज्ञानिक डा० आइन क्रेग ने स्वीडेन के विश्वविद्यालय में एक विभिन्न प्रकार के उच्च-घनत्व वाले कालेस्ट्रॉल का पता लगाया है।

पहले शोधों के आधार पर यह ज्ञात हुआ था कि हृदय रोग के रोगियों में उच्च-घनत्व लीपोप्रोटीन कोलेस्ट्रॉल (HDL—C) की मात्रा कम होती है। अभी तक डाक्टरों का पूरा ध्यान निम्न-घनत्व लीपोप्रोटीन कॉलेस्ट्रॉल (LDL-C) पर ही केन्द्रित था जो अन्डे मक्खन आदि के खाने से बनता है और हृदय रोग को बढ़ाता है।

डॉ० क्रेग ने हृदय रोग से पीड़ित रोगियों में HDL - C के तल का अध्ययन किया और पाया कि हृदय रोगी 44 में से 40 लोगों में HDL - C का निम्न तल होता है। ऐसा भी पाया गया है कि स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा HDL - C का तल सामान्यतः अधिक होता है और यही कारण है कि स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा हृदय रोग कम होता है।

अभी तक हृदय रोग की रोकथाम के लिए जो भी अध्ययन किये गये हैं वे इसी पर आधारित थे कि भोजन अथवा दवाओं के अध्ययन से रोगियों में LDL - C का तल कम हो जाय। परन्तु इनसे रोगी के HDL - C के तल में बहुत ही कम अन्तर पड़ता है।

डॉ० क्रेग के अनुसार उनके शोधो के आधार पर ऐसी आशा है कि मनुष्यों में HDL - C के तल को बढ़ाकर हृदय रोगो को कम किया जा सकता है। नियमित व्यायाम HDL - C तल बढाने में सहायक होता है।

कृत्रिम रक्त

रक्त बैंकों में रक्त की कमी की एक बड़ी समस्या है। इसी समस्या को दूर करने के लिए वैज्ञानिक भरसक प्रयत्न कर रहे हैं और इसका एक ही उपाय है कृत्रिम रक्त का निर्माण। प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि कार्बन तथा

फ्लोरीन युक्त यौगिक फ्लोरोकार्बनों को रक्त के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है। इस दिशा में अभी तक पशु पक्षियों पर ही प्रयोग किये गये है और ये काफी सफल रहे हैं। फ्लोकार्बन निष्क्रिय होते हैं और विलेय आक्सीजन को हीमोग्लोबिन के समान ही शरीर के विभिन्न ऊतकों तक पहुँचा सकते हैं।

ऐसा पाया गया है कि फ्लोरोकार्बनों की एक संतुलित मात्रा में जल, लवण तथा ग्लूकोस मिलाकर पशुओं के शरीर में चढ़ाये जाने पर वे ज़ीवित रह सकते हैं। कृत्रिम रक्त के साथ किये गये प्रयोग अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं।

पोस्टरों से राहत

दीवारों पर चिपके हुए राजनीतिक दलों तथा फिल्मों के पोस्टर राह चलते लोगों के मनोरंजन तथा थकान दूर करने का साधन तो होते हैं परन्तु जिनकी दीवारों पर ये चिपकाये जाते हैं उनके लिए यह एक निरन्तर बना रहने वाला सर दर्द हो जाता है। फ्रान्स की एक फर्म ने इस मुसीबत से छुटकारा दिलाने के लिए पाराकोल नामक एक रसायन बनाया है जिसे दीवारों पर पोत देने के बाद उस पर कोई पोस्टर चिपक ही नहीं सकता।

ताप-नाभिकीय रिएक्टर से हाइड्रोजन का उत्पादन

रूसी वैज्ञानिकों ने एक ऐसा ताप नाभिकीय रिएक्टर बनाया है जो आदर्श ईंधन हाइड्रोजन का उत्पादन करेगा। हाइड्रोजन की सापेक्षिक कैलोरी शक्ति पेट्रोल से अधिक है और इसके जलने से वातावरण दूषित भी नहीं होता क्योंकि हाइड्रोजन के जलने पर शुद्ध जल ही बनता है।

हाइड्रोजन के उत्पादन की प्रक्रिया जल के विखण्डन की दो अवस्थाओं में होती है। यह प्रक्रिया सीधे रिएक्टर में 2300° पर प्रारम होती है और एक रासायनिक प्रतिष्ठान में आणविक हाइड्रोजन के विसर्जन में समाप्त होती है।

नई पद्धति में रिएक्टर की ताप ऊर्जा के 70 प्रतिशत अंश का उपयोग होता हैं। शेष 30 प्रतिशत ऊर्जा को विद्युत उत्पादन या विद्युत विश्लेषण के माध्यम से और अधिक हाड्रोजन उत्पन्न करने के लिए उपयोग किया जा सकता है। ● ●

जीव उत्पत्ति बनाम सौर ऊर्जा

● डा० कृष्ण बहादुर
रीडर रसायन विभाग
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

वर्तमान काल "ऊर्जा संकट काल" है। अनुमान है कि पृथ्वी का सारा पेट्रोलियम 20 वर्षों में समाप्त हो जायेगा। इसके बाद कोयले का नम्बर आयेगा। पेट्रोलियम के समाप्त हो जाने के बाद कोयला ही मुख्य स्रोत बचेगा। वह भी बहुत वर्षों तक नहीं चलेगा। इसके बाद क्या होगा? साधारण आदमी ऊर्जा की कमी को केवल इससे मोटर, वायुयान रेलगाड़ी इत्यादि चलाने की कठिनाई ही समझता है। ठंडे देश के लोग घर गरम करने के लिए ऊर्जा चाहते हैं। मगर ऊर्जा का संकट यहीं समाप्त नहीं होता। अनुमान है कि 1990 आते आते सम्भवतः हम इतना खाद्य पदार्थ उगाने लगेंगे जो सम्पूर्ण दुनिया के आदमियों के खाने के लिये पर्याप्त होगा, मगर उसको पकाने के लिए भी हमें ऊर्जा चाहिये। फिर भारतवर्ष-जैसे अधिक जनसंख्या वाले देश को एक और संकट होगा और वह होगा नाइट्रोजन खाद्य पदार्थ प्राप्त करने के लिए। आणविक नाइट्रोजन पृथ्वी पर काफी है, परन्तु इसका प्रत्यक्ष उपयोग पेड़-पौधे नहीं कर सकते। इससे संयुक्त नाइट्रोजन बनाया जाता है, जिसे हम यूरिया, अमोनियम सल्फेट, सोडियम नाइट्रेट इत्यादि नाम से खाद के रूप में उपयोग करते हैं। आणविक नाइट्रोजन से संयुक्त नाइट्रोजन बनाने के लिए भी ऊर्जा चाहिए। अर्थात् बिना उचित स्रोत के पृथ्वी पर जीव का रहना कठिन हो जायेगा। यह ऊर्जा परमाणु शक्ति द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती, क्योंकि न तो परमाणु शक्ति से ऊर्जा प्राप्त करने वाले खनिज ही पृथ्वी पर इतने हैं, और न इतनी बड़ी मात्रा में परमाणु शक्ति बनाना सुरक्षा की दृष्टि से ही उचित है। परमाणु शक्ति के कारखानों में दुर्घटना होने से भयंकर परिणाम होते हैं। हाइड्रोजन बम की अभिक्रिया से जो ऊर्जा मिलती है, वह नियंत्रित रूप से उपयोग नहीं की जा सकती और उसके शान्तिमय उपयोग में जो तकनीकी परेशानी है उसके अभी 40-50 वर्षों तक सुलझ सकने की आशा नहीं है।

ऊर्जा के इस संकट काल में मनुष्य का ध्यान ऊर्जा के इस आदि प्रश्न पर गया कि आखिर यह ऊर्जा जो हमें पेट्रोलियम या कोयले के रूप में आज उपलब्ध है, वह आई कहाँ से? हम भोजन के रूप में जो ऊर्जा ग्रहण करते हैं, वह वनस्पति से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होती है। पेट्रोलियम तथा कोयले की ऊर्जा भी पृथ्वी पर उपस्थित प्राचीन वनस्पतियों एवं जन्तुओं से प्राप्त हुई थी। अर्थात्, जीव ही, विशेषकर वनस्पति, ऊर्जा एकत्र करते हैं और इसे वह सूर्य के प्रकाश से लेते हैं। पेड़-पौधों का हरा क्लोरोफिल वाला भाग यह काम करता है।

तो निष्कर्ष यह निकला कि सूर्य का प्रकाश ही हमारे पृथ्वी का प्रमुख ऊर्जा स्रोत है, जिसको यौगिकों के रूप में बांध कर रखने की क्षमता वनस्पति में ही है। सूर्य की किरणों द्वारा जो ऊर्जा पृथ्वी पर प्रतिवर्ष आती है, उसको यदि कोयले के रूप में आंका जाय तो यह लगभग $1 \cdot 5 \times 10^{15}$ किलोग्राम कोयले के भार के बराबर होगी। यह ऊर्जा कितनी बड़ी है, इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि यदि पृथ्वी के सब पेट्रोलियम और कोयले को ऊर्जा की दृष्टि से कोयले की मात्रा में बदला जाय तो वह केवल 1×10^{12} किलोग्राम कोयला ही होगा। अर्थात् जितना सब मिला कर पृथ्वी के पास पेट्रोलियम और कोयले के रूप में ऊर्जा एकत्र थी, उसकी एक हजार गुना ऊर्जा पृथ्वी पर सूर्य के प्रकाश के रूप में प्रतिवर्ष आती है। इसकी एक अत्यन्त ही छोटी मात्रा वनस्पति उपयोग करके कार्बनिक यौगिक के रूप में एकत्र कर लेते हैं और शेष व्यर्थ हो
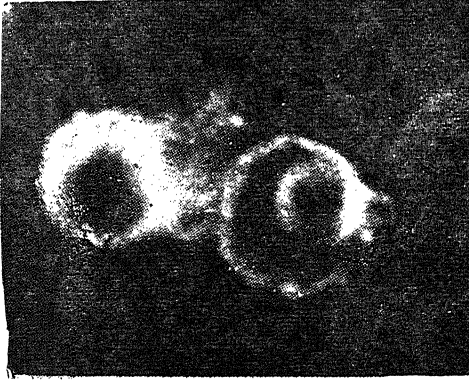
चित्र 1. दो जीवाणुओं के माइक्रोग्राफ (आवर्धन 2000): दाहिने ओर के जीवाणु से एक कलिका निक ल रही है जिसमें अन्तर्वस्तु का आकार स्पष्ट है।

चित्र 2. कई जीवाणुओं का एक गुच्छ जिसमें मध्य के दो जीवाणुओं की आन्तरिक रचना स्पष्ट है (आवर्धन 2000)

जाती है। काश ! हम इसका उपयोग करके अपने ऊर्जा संकट का समाधान कर सकते।

जहाँ ऊर्जा के इस संकट को दूर करने के लिये मनुष्य सूर्य की किरणों से ऊर्जा प्राप्त करने की विधियों पर खोज कर रहा था, वहीं जीव की उत्पत्ति पर काम करने वाले वैज्ञानिकों को ऐसे प्रमाण मिलने प्रारम्भ हुए हैं जिनसे लगा कि जीव की उत्पत्ति ही ऐसे तत्वों के प्रदुर्भाव में हुई जिनमें सूर्य की किरणों की ऊर्जा को उपयोग करने का गुण था। इस कल्पना का प्रारम्भ पृथ्वी के उस काल के वायुमण्डल के अनुमान से हुआ जिसमें पृथ्वी पर सर्वजीव उत्पन्न हुये। पहले कुछ वैज्ञानिकों का मत था कि पृथ्वी के वायुमण्डल में उस समय मेथेन, अमोनिया, हाइड्रोजन और पानी की बाष्पें थीं। **यूरे** और **मिलर** के प्रयोग इसी वायुमण्डल में विद्युत चिंगारियां प्रवाहित कर ऐमीनो अम्ल बनाने के थे। परन्तु अन्य ग्रहों के अध्ययनों से एवं अपने पृथ्वी के खनिजों के विश्लेषणों द्वारा जो प्रमाण मिले उनसे यह कल्पना गलत सिद्ध हुई और **एबल्सन** की कल्पना कि पृथ्वी पर जीव की उत्पत्ति के समय वायुमण्डल में नाइट्रोजन, कार्बनडाइ-आक्साइड और पानी की वाष्पें ही थीं, सत्य प्रतीत होने लगी। फिर पृथ्वी पर कार्बनिक यौगिकों तथा संयुक्त नाइ-ट्रोजन के यौगिकों का पहले "**प्रिमार्डियल सूप**" था, यह कल्पना जो **ओपेरिन** तथा **हेल्डेन** की थी और जिसमें यह भी कल्पना की गयी थी कि जीव इसी कार्बनिक और अकार्बनिक सूप से सर्वप्रथम बना, भी असत्य प्रतीत होने लगी। आधुनिक भूगर्भविद्या की खोजों से यह ज्ञात हुआ कि सम्भवत: पृथ्वी पर कभी कार्बनिक यौगिकों का सूप था ही नहीं। यदि कुछ कार्बनिक यौगिक रहे भी होंगे तो उनका सान्द्रण नहीं के बराबर ही था। जीव की उत्पत्ति के शोधकार्यों पर इन दो मूल तत्वों के ज्ञान से वैज्ञानिकों के विचार में अमूल परिवर्तन आने लगा।

ऐसा लगने लगा कि पृथ्वी के आदि जीवों में ही यह गुण था कि वह सूर्य के प्रकाश से ऊर्जा ग्रहण करके पानी के अणु को तोड़ सकते थे और इससे प्राप्त हाइड्रोजन द्वारा वह आणविक नाइट्रोजन को संयुक्त नाइट्रोजन में और कार्बन डाइआक्साइड से कार्बनिक यौगिक बना सकते थे। पिछले तीन-चार वर्षों में ऐसे कई खनिज भी ज्ञात हुए जिनमें कुछ में ये गुण हैं।

सरल कार्बनिक यौगिक जैसे फार्मेल्डिहाइड, अमोनियम मालिब्डेट, डाइअमोनियम हाइड्रोजन फास्फेट और जीवों

साधारणतया: पाये जाने वाले अकार्बनिक यौगिकों के पानी में मिश्रण पर, सूर्य के प्रकाश से बने कोशिका रूपी पिंड, "**जीवाणु**" की खोज भारतवर्ष में हुई। इनमें वर्तमान कोशिका के बहुत से रासायनिक पदार्थ बन जाते हैं। इन्हें, जैव रंजकों से 'स्टेन' किया जा सकता है तथा इनमें अन्दर से बढ़ने का, बढ़कर कलिका द्वारा गुणन करने का तथा कुछ जैविक प्रक्रियाओं को करने का गुण होता है। इसीलिए इन्हें 'जीवाणु' नाम दिया गया जिसका अर्थ है- जीव के कण।

पानी को सूर्य के प्रकाश से तोड़ने का गुण कुछ शैवालों में होता है। इस क्रिया में तीन तन्त्रों की आवश्यकता होती है। एक है, **क्लोरोप्लास्ट**, जिसकी बाह्य झिल्ली सुरक्षित हो, उसमें क्लोरोफिल हो तथा उस पर सूर्य का प्रकाश पड़ रहा हो। दूसरा तन्त्र, फेरीडॉक्सीन का है जो एक लौह-सल्फर यौगिक प्रोटीन है। तीसरा है, हाइड्रोजनेस का जो एक एन्जाइम है, जिसमें प्रोटीन को हाइड्रोजन गैस में परिवर्तित करने का गुण होता है। 1977 में, लंदन यूनवर्सिटी, किंग्स कालेज के वनस्पति शास्त्री, **डा० डी० ओ० हॉल** ने यह सूचित किया कि फेरीडॉक्सीन सब जीवों में होता है। जीवाणु में जीवों के अनेक गुण हैं अतः वे जीवाणु में फेरीडॉक्सीन की उपस्थित देखना चाहते थे। उनको जीवाणुओं के कई नमूने भेजे गये। उन्होने पाया कि सब जीवाणु नमूनों में फेरीडॉक्सीन के गुण थे। अर्थात्, पानी से हाइड्रोजन मुक्त करने की प्रक्रिया में फेरीडॉक्सीन के स्थान पर जीवाणु का पानी में मिश्रण, उपयोग हो सकता है। नवम्बर 1978, में मदुराई में हुए "**सोलर एनर्जी सिम्पोजियम**" में डा० हॉल ने जीवाणु में फेरीडॉक्सीन की उपस्थिति बताते हुए एक शोधपत्र पढ़ा। यह हम लोगों को पहले ही ज्ञात था कि जीवाणु में प्रकाश द्वारा उत्क्रमणीय इलेक्ट्रान मुक्त करने का एक तन्त्र होता है। यह उक्त प्रक्रिया में क्लोरोप्लास्ट तन्त्र का कार्य करता है। कुछ फेरीडॉक्सीन में हाइड्रोजनेस का गुण भी होता है। इस लिए इस पर खोज प्रारम्भ हुई कि क्या केवल जीवाणु किसी स्थिति में प्रकाश द्वारा पानी के अणु को हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन में तोड़ सकते हैं। और, फल शीघ्र प्राप्त हुआ। यह देखा गया कि जीवाणु बनाने वाले मिश्रण में जीवाणु बनाने के लिए मिश्रण को सूर्य के प्रकाश में 24 घण्टे रखने के बाद यदि उसमें उसके आयतन से चौगुना पानी डालकर अच्छी तरह से मिश्रण में मिलाने के बाद सूर्य के प्रकाश में रखा जाय तो पानी से गैस के बुलबुले निकलने लगते हैं। लगभग 2 घण्टे बाद गैस के निकलने की प्रक्रिया बन्द हो जाती है। मिश्रण को भली भाँति हिला कर पुनः प्रकाश में रखने पर पुनः गैस निकलती है। इससे पुनः गैस निकलने के लिए इस मिश्रण को रातभर अंधेरे में रखना पड़ता है।

चित्र 3. एक खण्डित जीवाणु का माइक्रोग्राफ (आवर्धन 2000)

उधर कैलीफोर्निया के मफेट-फील्ड के नेसा के एम्स रिसर्च सेंटर में **डा० स्मिथ** ने जीवाणु में नाइट्रोजनेस के गुणों की खोज प्रारम्भ की। नाइट्रोजनेस एक इन्जाइम है जो नाइट्रोजन संयुक्त करने वाले बैक्टीरिया में पाया जाता है। इस एन्जाइम की क्रिया ऐसेटिलीन को एथिलीन में परिवर्तन द्वारा देखी जा सकती है। अर्थात् नाइट्रोजनेस एन्जाइम में यह गुण होता है कि वह ऐसेटिलीन को दो हाइड्रोजन परमाणु देकर एथिलीन में परिवर्तित कर देता

है। यह हाइड्रोजन, इस अभिक्रिया मिश्रण में अन्य यौगिक से प्राप्त होती है। साधारण बैक्टीरिया में यह कार्बनिक यौगिक से प्राप्त होती है और अभिक्रिया में आवश्यक ऊर्जा "ATP" अणुओं द्वारा प्राप्त होती है। डा० स्मिथ ने जीवाणु और पानी के मिश्रण के ऊपर ऐसेटिलीन का वायुमण्डल रखा और ऊर्जा के लिए उन्होंने मिश्रण पर ज़ीनॉन लैम्प के प्रकाश को डाला। ज़ीनॉन लैम्प के द्वारा जो प्रकाश निकलता है वह सूर्य के प्रकाश की भांति ही होता है। उन्होंने देखा कि ऐसेटिलीन, एथिलीन में परिवर्तित होने लगी। अर्थात् जीवाणु में नाइट्रोजनेस के सब एन्जाइमिक गुण हैं। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात थी क्योंकि इससे सूर्य के प्रकाश द्वारा जीवाणु से संयुक्त नाइट्रोजन बनाने की एक विधि निकाली जा सकती है और ऊर्जा संकट में संयुक्त नाइट्रोजन बनाना भी शामिल है।

डा० स्मिथ प्रयाग आये। यहाँ तय हुआ कि जीवाणु में अब कार्बन डाइऑक्साइड को 'स्थिर' करने का गुण देखा जाय। शीघ्र ही ज्ञात हुआ कि जीवाणु और पानी के मिश्रण में कार्बन डाइऑक्साइड प्रवाहित करते हुए यदि मिश्रण को प्रकाश में रखा जाय तो मिश्रण में असंतृप्त हाइड्रोकार्बन बनने लगते हैं। अर्थात् अकार्बनिक कार्बन, कार्बनिक कार्बन में परिवर्तित होने लगता है। यही क्रिया पौधों के हरे भाग में होती है। अन्तर केवल यह है कि यहाँ ऐल्डिहाइड बनते हैं परन्तु जीवाणु हाइड्रोकार्बन बनाता है। मगर इन दोनों में ही कार्बन डाइऑक्साइड हमारे ऑक्सीजन युक्त वायुमन्डल में निम्न ऊर्जा सतह से उच्च ऊर्जा सतह पर पहुँच जाता है और यह ऊर्जा सूर्य के प्रकाश से प्राप्त होती है। हवाई विश्वविद्यालय के **डा० फोल्सम** ने इस कार्बन डाइऑक्साइड स्थिरीकरण की प्रक्रिया का $H^{14}CO_3$ द्वारा अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि नये बने कार्बनिक यौगिक में ^{14}C रहता है। अर्थात् जीवाणु सूर्य के प्रकाश में कार्बन डाइऑक्साइड स्थिर करता है। नाइट्रोजन स्थिरीकरण की क्रिया का अध्ययन केल्डाल विधि द्वारा संयुक्त नाइट्रोजन का अनुमापन करके भी किया गया। ज्ञात हुआ कि जीवाणु काफी मात्रा में नाइट्रोजन स्थिरीकरण प्रक्रिया करते हैं।

अब एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात ज्ञात करने की रह गयी है। प्रकाश द्वारा पानी के विघटन से जो हाइड्रोजन निकलती है, तथा नाइट्रोजन को स्थिर नाइट्रोजन बनाने में जो हाइड्रोजन और कार्बन डाइऑक्साइड के स्थिरीकरण में जो हाइड्रोजन लगती है उसका स्रोत क्या है? साधारणतः तो पानी ही लगता है परन्तु एक अन्य भी सम्भावना हो सकती है, वह यह कि जीवाणु में कई कार्बनिक यौगिक हैं। कहीं ऐसा तो नहीं होता कि इन कार्बनिक यौगिकों का हाइड्रोजन प्रकाश द्वारा किन्हीं अज्ञात अभिक्रियाओं से मुक्त होता हो और वही उक्त अभिक्रियाएं कर रहे हों। यदि ऐसा भी हो तो यह जीव की उत्पत्ति के लिए महत्वपूर्ण प्रक्रिया है क्योंकि इसमें प्रकाश से ऊर्जा ग्रहण करके अभिक्रियायें हो रही हैं। परंतु यह ऊर्जा संकट में सूर्य के प्रकाश द्वारा पानी को हाइड्रोजन और ऑक्सीजन में तोड़ने की प्रक्रिया की खोज में महत्वपूर्ण न होगी।

इसका उत्तर केवल पानी के स्थान पर भारी जल 'D_2O' के उपयोग से ही प्राप्त हो सकता है। इसलिये जीवाणु के नाइट्रोजनेस अभिक्रिया का अध्ययन हवाई में D_2O से उपयोग करके किया गया। जीवाणु और D_2O के मिश्रण के ऊपर ऐसेटिलीन का वायुमंडल बनाया गया और मिश्रण को प्रकाश में रख दिया गया। ऐसेटिलीन एथिलीन में परिवर्तित होने लगी। बनी एथिलीन के परीक्षण द्वारा ज्ञात हुआ कि वह $CHD=CHD$ है, अर्थात् पानी के हाइड्रोजन द्वारा ही ऐसेटिलीन से एथिलीन बना अर्थात् जीवाणु प्रकाश की किरणों से ऊर्जा ग्रहण कर पानी को ऑक्सीजन और हाइड्रोजन में तोड़ सकता है।

यह खोज जीव की उत्पत्ति और सौर ऊर्जा का उपयोग दोनों ही क्षेत्रों में महत्वपूर्ण है। आज तक जीव की उत्पत्ति के क्षेत्र में जिन कणों पर काम हो रहा था, उनमें रूस के ओपेरिन के **कोजरवेट**, अमरीका के फॉक्स के **माइक्रोस्फियर** और भारतवर्ष के **जीवाणु**, यही तीन कण विशेष महत्व के थे। इनमें कोजरवेट व माइक्रोस्फियर में प्रकाश का कोई महत्व नहीं है। जीवाणु की पूर्ण रचना ही प्रकाश में होती है और इसमें आद्य स्वपोषी (primitive

शेष पृष्ठ 16 पर

नया परमाणु: पॉज़िट्रोनियम

● डा० बिन्दा प्रसाद

ब्रह्मांड की रचना, छोटे-छोटे परमाणुओं, उनके पारस्परिक सम्बन्धों द्वारा बने अणुओं तथा अणुओं और परमाणुओं द्वारा बने अक्रिस्टलीय (amorphous) ठोस एवं उनके क्रमबद्ध रूप में सजे क्रिस्टल और पदार्थ के पूरक भाग ऊर्जा द्वारा हुई है। लगभग नब्बे प्रकार के स्थिर परमाणु पृथ्वी पर पाये जाते हैं। इन परमाणुओं को डाल्टन ने अविभाज्य बताया था परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में किये गये प्रयोगों द्वारा इस बात की स्पष्ट जानकारी मिली कि परमाणु को और छोटे-छोटे कणों में तोड़ा जा सकता है। हमारे आधुनिक ज्ञान के अनुसार परमाणु धन तथा ऋण विद्युत आवेशित कणों के संयोग से बनी एक उदासीन रचना है।

चिर परिचित परमाणुओं में धन विद्युत आवेशित कण को प्रोटॉन (भार 1.6725×10^{-27} कि०ग्रा०) तथा ऋण विद्युत आवेशित कण को इलेक्ट्रान (भार 9.1091×10^{-31} कि०ग्रा०) कहते हैं। इस प्रकार के बने परमाणुओं में सबसे हल्का परमाणु एक प्रोटॉन तथा एक इलेक्ट्रॉन के संयोग से बना हाइड्रोजन का परमाणु है। दूसरे भारी परमाणुओं में प्रोटॉन तथा इलेक्ट्रॉन के अतिरिक्त उदासीन कण न्यूट्रॉन (भार 1.6748×10^{-27} कि०ग्रा०) भी होते हैं। परमाणु में प्रोटॉन तथा न्यूट्रॉन संयुक्त रूप से वही स्थान ग्रहण करते हैं जो कि सौरमंडल में सूर्य का है और इलेक्ट्रॉन अन्य ग्रहों की भाँति होते हैं।

प्रोटॉन, न्यूट्रॉन तथा इलेक्ट्रॉन के संयोग से बने परमाणुओं में कुछ परमाणु अस्थाई होते हैं और रेडियोएक्टिवता के द्वारा अन्य परमाणुओं में बदलते रहते हैं। ऐसे रेडियोऐक्टिव परमाणुओं में बहुत तो पूर्णतः दूसरे परमाणुओं में बदल चुके हैं और अब पृथ्वी पर नहीं पाये जाते हैं। वैज्ञानिकों ने अपनी प्रयोगशालाओं में ऐसे कई परमाणुओं को पुनः बनाने में सफलता प्राप्त कर ली है।

चिर परिचित परमाणुओं के घटकों प्रोट्रॉन, न्यूट्रॉन तथा इलेक्ट्रॉन को हम आधारभूत कण कहते हैं। इन तीन आधारभूत कणों के विपरीत कण प्रति प्रोट्रॉन, प्रति न्यूट्रॉन यथा प्रति इलेक्ट्रॉन या पाजिट्रॉन हैं। इन तीन प्रति कणों की गणना भी हम आधारभूत कणों में करते हैं। इन छः आधारभूत कणों के अतिरिक्त और भी कई तरह के आधारभूत कण यथा धनात्मक एवं ऋणात्मक पाई-मीसॉन, धनात्मक एवं ऋणात्मक, न्यू-मीसॉन, के मीसॉन, हाइपरॉन इत्यादि हैं। दो प्रति आधारभूत कणों के-मिलने पर उनका कणिक अस्तित्व नष्ट हो जाता है और आइन्सटाइन समीकरण ($E = mc^2$) के अनुरूप ऊर्जा उत्पन्न होती है।

प्रोटॉन तथा इलेक्ट्रॉन के संयोग से बने परमाणुओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी परमाणु होते हैं जिनमें प्रोटॉन के स्थान पर कोई अन्य धनात्मक आधारभूत कण या इलेक्ट्रॉन के स्थान पर कोई अन्य ऋणात्मक आधारभूत कण होता है। ऐसे परमाणुओं को हम नये परमाणु कहते हैं। नया परमाणु यदि प्रोटॉन के प्रतिस्थापन से बना है तो उसे प्रोटॉन के स्थान पर आये आधारभूत कण के नाम के आगे 'इयम' लगाकर पुकारते हैं जैसे पॉज़िट्रोनियम, म्यूओनियम इत्यादि। दूसरी तरफ यदि नया परमाणु इलेक्ट्रॉन को मीसॉन द्वारा विस्थापित करके बना है तो उसे मेसो-परमाणु कहते हैं जैसे मेसो-हाइड्रोजन।

पॉज़िट्रोनियम परमाणु—नये परमाणुओं में सबसे हल्का परमाणु पाजिट्रॉन (e^+) तथा इलेक्ट्रॉन (e^-) के

संयोग से बना परमाणु पॉज़िट्रोनियम (Ps) है। इस परमाणु के अस्तित्व की कल्पना सर्वप्रथम युगोस्लाबिया के वैज्ञानिक **एस० मोहोरोवाइसिस** (S. Mohorovicic) द्वारा 1934 में की गई थी और इसे प्रायोगिक स्तर पर बनाने में सफलता 1951 में अमरीकी वैज्ञानिक **मार्टिन डायस** (Martin Deutsch) को मिली।

पॉज़िट्रोनियम परमाणु के भौतिक गुण—पाज़िट्रोनियम परमाणु का भार इलेक्ट्रॉन के भार का दो गुना अर्थात् 1.8208×10^{-31} कि०ग्रा० होता है। इस परमाणु का आयनन विभव हाइड्रोजन परमाणु के आयनन विभव का आधा अर्थात् 6.77 eV है। इसकी इलेक्ट्रॉन बन्धुता (affinity) लगभग 0.2 eV है जबकि हाइड्रोजन परमाणु की इलेक्ट्रान बन्धुता लगभग 0.75 eV है। हाइड्रोजन परमाणु में धनात्मक तथा ऋणात्मक कणों के बीच की दूरी' जिसे बोर के पहले पथ की त्रिज्या कहते हैं, 0.53×10^{-10} मीटर है जबकि पॉज़िट्रोनियम परमाणु में यह दूरी 1.06×10^{-10} मीटर है और यह दूरी परमाणु की त्रिज्या न होकर परमाणु का व्यास है क्योंकि इस परमाणु के दोनों सहयोगी कण समान भार के होते हैं।

पॉज़िट्रोनियम परमाणु दो आद्य अवस्थाओं में पाया जाता है। जब इस परमाणु के दोनों कण समानान्तर चक्रण में होते हैं तो इसे ऑर्थो-पॉज़िट्रोनियम ($P_s{}^T$) और जब विपरीत चक्रण में होते हैं तो इसे पैरा-पॉज़िट्रोनियम ($P_s{}^S$) कहते हैं। ऑर्थो-पॉज़िट्रोनियम तीन उपअवस्थाओं, जिनके लिए चुम्बकीय क्वान्टम संख्यायें क्रमशः $+1$, 0 और -1 होती हैं तथा पैरा-पॉज़िट्रोनियम केवल एक अवस्था, में जिस की चुम्बकीय क्वान्टम संख्या शून्य होती है, पाया जाता है। पॉज़िट्रोनियम परमाणु की दो अवस्थाओं में चुम्बकीय क्वान्टम संख्याओं का अनुपात 3:1 होने के कारण इसकी गैस में आर्थो-तथा पैरा-पॉज़िट्रोनियम का अनुपात भी 3:1 होता है।

दोनो अवस्थाओं में पॉज़िट्रोनियम परमाणु अस्थाई होता है। निर्वात में पैरा-पॉज़िट्रोनियम का जीवन काल (1.25×10^{-10} से०) आर्थो-पॉज़िट्रोनियम के जीवन काल ($1.40 \times 10-7$ से०) से लगभग 1120 गुना कम होता है अर्थात् आर्थो-पॉज़िट्रोनियम का जीवन काल पैरा-पॉज़िट्रोनियम के जीवन काल से अधिक है। अपने कणिक अस्तित्व समाप्त करके पैरा-पॉज़िट्रोनियम गामा-किरण के दो क्वान्टा तथा आर्थो-पॉज़िट्रोनियम तीन-क्वान्टा में बदल जाता है।

पॉज़िट्रोनियम परमाणु के बनने की संभावना—प्रयोगशाला में पॉज़िट्रोनियम परमाणु को बनने के लिए सर्वाधिक आवश्यक वस्तु पॉज़िट्रान के स्रोत की है। इस कार्य के लिए 22 परमाणुभार वाला सोडियम या 64 परमाणुभार वाला ताँबा प्रयोग में लाया जाता है। अपने स्रोत से निकलने के पश्चात् पॉज़िट्रान माध्यम में उपस्थित अणुओं एवं परमाणुओं के आयनन एवं उत्तेजन (excitation) में अपनी काफी ऊर्जा खर्च कर देता है और इसके पश्चात् उसके सामने केवल तीन विकल्प शेष रह जाते हैं।

(1) पॉज़िट्रान अपने विपरीत कण इलेक्ट्रान के साथ तेज़ी से क्रिया करके ऊर्जा में विलोप (annihilate) हो जाये।

(2) पॉज़िट्रॉन माध्यम के उदासीन अणु (M) के साथ बन्ध बना कर (e^+M) अथवा ऋण आयन (A^-) के साथ (e^+A^-) के रूप में अनुबन्धित होकर विलोप हो।

(3) पॉज़िट्रॉन इलेक्ट्रॉन के साथ अनुबन्धित होकर पॉज़िट्रोनियम परमाणु बनाने के पश्चात् विलोप हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीसरी प्रक्रिया अर्थात् पाज़िट्रोनियम परमाणु के बनने की संभावना काफी कम है। इन प्रक्रियाओं की संभावनायें माध्यम के अणुओं के आयनन विभव (V), उत्तेजन ऊर्जा (E) और पॉज़िट्रान की गतिज उर्जा पर निर्भर करती है। पॉज़िट्रोनियम परमाणु तभी बनता है जब पॉज़िट्रॉन की गतिज ऊर्जा माध्यम की उत्तेजन ऊर्जा E और $(V-6.8)$ eV के बीच में होती है। पॉज़िट्रोनियम परमाणु के बनने की संभावना $6.8/V$ और $E-\frac{(v-6.8)}{E}$

के बीच में पायी जाती है। इस प्रकार आर्गन गैस($V=15.8$ और $E=11.6\ eV$) में पॉज़िट्रोनियम परमाणु के बनने की संभावना 0.22 और 0.43 के बीच में निकलती है जबकि प्रयोग द्वारा संभावना 0.30 प्राप्त की गई है। संघनित माध्यम में इस परमाणु के बनने की संभावना की गणना कई कारणों से कठिन हो जाती है।

पॉज़िट्रोनियम परमाणु के रासायनिक गुण—पॉज़िट्रोनियम परमाणु रासायनिक अभिक्रियाओं में संकेतक(tracer) के रूप में प्रयुक्त होता है। इसके गुण, जीवन काल तथा कणिक रूप से ऊर्जा में परिवर्तित होने की क्रियाविधि वातावरण के गुणों के ऊपर निर्भर करती है। दीर्घ जीवनकाली आर्थो-पॉज़िट्रोनियम संघनित प्रावस्था में 10^{-9} से० और गैसीय प्रावस्था में $10^{-7}-10^{-8}$ से० तक स्थिर रह सकता है। लघु जीवन काल होने के कारण पॉज़िट्रोनियम परमाणु हाइड्रोजन एवं हाइड्रोजन की तरह के अन्य परमाणुओं से समावेशित द्रुतगति से होने वाली अभिक्रियाओं की गति में विसरण तथा टनल (tunnel) प्रभाव की भूमिका को जानने में प्रयुक्त होता है।

रासायनिक अभिक्रियाओं में पॉज़िट्रोनियम परमाणु हाइड्रोजन परमाणु की तरह व्यवहार करता है परन्तु भार में अत्यधिक अन्तर होने के कारण पॉज़िट्रोनियम परमाणु के साथ बने यौगिकों और हाइड्रोजन परमाणु के साथ बने उसी प्रकार के यौगिकों की संरचना, उनकी संभवन (formation) ऊर्जा तथा गतिकी में काफी अन्तर होता है। किसी परमाणु के साथ हाइड्रोजन के संयोग से बना यौगिक द्विकेन्द्रीय होता है जबकि पॉज़िट्रोनियम परमाणु के साथ बना वैसा ही यौगिक एक केन्द्रीय अर्थात् नाभिक एवं इलेक्ट्रॉन तथा पॉज़िट्रॉन की मिली जुली-कक्षाओं से बना एक परमाणु होता है। दो हाइड्रोजन परमाणुओं से बने हाइड्रोजन अणु की बन्ध ऊर्जा $4.5eV$ होती है जबकि एक पॉज़िट्रोनियम तथा एक हाइड्रोजन परमाणु से बने अणु और दो पॉज़ि ट्रोनियम परमाणुओं से बने अणु की बन्ध ऊर्जा क्रमशः $0.657eV$ और $0.110eV$ होती है।

जिन रासायनिक अभिक्रियाओं में हाइड्रोजन परमाणु पॉज़िट्रोनियम परमाणु द्वारा विस्थापित किया जाता है, जैसे,

$$HA+P_s \rightarrow P_sA+H,$$
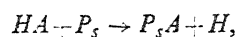
वे ऊष्माशोषी होती हैं और बना हुआ अणु मूल अणु से काफी कम स्थाई होता है।

गैसीय अवस्था में पॉज़िट्रोनियम परमाणु का हाइड्रोजन आयन द्वारा आक्सीकरण, अर्थात्,

$$P_s+H^+ \rightarrow H+e^+ + 6.8\ eV$$
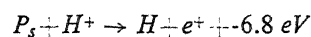
ऊष्माक्षेपी और विलेय अवस्था में यही अभिक्रिया ऊष्माशोषी होती है क्योंकि हाइड्रोजन आयन या प्रोट्रॉन ($11eV$) और पॉज़िट्रॉन ($1.5-2.0\ eV$) की जलयोजना (Hydration) ऊष्माओं में $9.0-9.5\ eV$ का अन्तर है।

पॉज़िट्रोनियम परमाणु अपचायक के रूप में भी कार्य करता है और क्रियागति, आक्सीकारक की सान्द्रता तथा एक ही सान्द्रता के कई आक्सीकारकों के लिए उनके आक्सीकरण-अपचयन विभव के ऊपर निर्भर करती है। इस प्रकार पॉज़िट्रोनियम परमाणु फेरिक आयन का अपचयन हाइड्रोजन परमाणु की तरह करता है परन्तु पाजिट्रोनियम परमाणु द्वारा होने वाली अपचयन क्रियागति हाइड्रोजन परमाणु द्वारा होने वाली क्रिया से लगभग 130 गुना अधिक होती है। पॉज़िट्रोनियम तथा हाइड्रोजन परमाणुओं द्वारा हुई अभिक्रियाओं का अन्तर मूलतः इन दोनों परमाणुओं के तापीय वेगों (1:30), विसरण गुणांकों (1:10) और टनल क्षमताओं में विषमता के कारण होता है।

आर्थो-पॉज़िट्रोनियम परमाणु अयुग्मित इलेक्ट्रान रखने वाले अणुओं यथा NO, NO_2 इत्यादि, पैरामैगनेटिक आयन यथा Fe^{++}, Co^{++} इत्यादि एवं मुक्त मूलक यथा डाइफेनिल पिक्रिल हाइड्राजिल ($DPPH$), टेट्रामेथिल ऑक्सो पाइपेरीजीन आक्साइड ($TMOPO$) इत्यादि से क्रिया करके पैरा-पॉज़िट्रोनियम परमाणु में बदल जाता है। इन क्रियाओं पर ताप का प्रभाव साधारणतया सामान्य क्रियाओं से भिन्न पाया जाता है। इस प्रकार —20° पर जमे आक्टानाल माध्यम में पॉज़िट्रोनियम—$TMOPO$ की क्रियागति

शेष पृष्ठ 23 पर

यह जानलेवा शोर

● शक्ति प्रकाश रावत

आज से कई वर्षों पूर्व सन् 1919 में तपेदिक के जीवाणुओं के अन्वेषक **राबर्ट कोच** ने यह भविष्यवाणी की थी कि एक न एक दिन मनुष्य को शोरगुल के विरुद्ध वैसी ही लड़ाई करनी पड़ेगी जैसी कि हैजे के रोग के साथ करनी पड़ी थी। इस महान वैज्ञानिक की भविष्यवाणी आज अक्षरशः सत्य सिद्ध हो रही है।

धरती और आकाश दोनों आज शोर के शोर-शराबे से पीड़ित हैं। शोर के कारण स्वास्थ्य को होने वाली हानि के प्रति मनुष्य बहुत पहले से सजग रहा है परंतु इस दशक में इसे अब काफी गंभीरता से लिया जाने लगा है। सही है कि आधुनिक सभ्यता की चकाचौंध से एक नया प्रदूषण उत्पन्न हो गया है और वह है-'शोर प्रदूषण'। मनुष्य के अस्तित्व के सामने यह एक रुकावट बन कर उभर रहा है।

हम इस मामले में अपने-आप को सौभाग्यशाली समझते हैं कि हम वैज्ञानिक युग में जी रहे हैं। अब मनुष्य अपनी सहूलियत के अनुसार प्रत्येक काम को मशीन के अध्ययन से सम्पन्न करने लगा है। ये मशीनें मदद तो करती हैं पर उनका शोर हमारे स्वास्थ्य पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालता है। मशीनें, मोटरें, रेलें, कलकारखानें और जेट विमानों से उत्पन्न शोर अब असह्य होता जा रहा है। हमारे स्वास्थ्य पर उसके घातक प्रभाव शनैः शनैः दृष्टिगोचर होने लगे हैं।

इटली के वैज्ञानिक लेखक **रमजीनी** ने आज से तीन शताब्दी पूर्व अपनी पुस्तक **'ड़ि मोराबेस आर्टिफिकम'** में लिखा था कि ताँबा कूटने वाले मजदूर जल्दी ही बहरे हो जाते हैं। उस समय से अब तक के वर्तमान समय तक अनेक राष्ट्रों ने शोर के घातक प्रभावों पर अनुसंधान किया है व इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि शोर से हमारे कानों के अतिरिक्त हृदय, मस्तिष्क, केंद्रीय तंत्रिका तंत्र तथा आमाशय पर बुरा प्रभाव पड़ता है। कारखानों में हुई अनेक दुर्घटनाओं का मूल कारण शोर को पाया गया है।

शोर के दुष्प्रभाव : भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद् द्वारा किये गये अनुसंधानों से यह ज्ञात हुआ है कि बहुत अधिक शोर न केवल कानों पर दुष्प्रभाव डालता है बल्कि इससे सारा शरीर ही प्रभावित होता है। इसकी दुरूहता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि शोर से शरीर पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों का इलाज आज के उन्नत चिकित्साविज्ञान से भी आसानी से संभव नहीं है। फ्रांस में हुए एक अनुसंधान के अनुसार शोर से हाइपरटेंशन (अतिरुधिर तनाव) हो सकता है, जो आगे चलकर हृदय रोग व मस्तिष्क रोग जैसे घातक रोगों को जन्म देता है। आस्ट्रिया के **डा० ग्रिफिथ** के अनुसार शोर आदमी को समय से पहले ही बूढ़ा कर देता है। ब्रिटेन में एक सर्वेक्षण के अनुसार वहां की एक तिहाई महिलाएं और एक चौथाई पुरुष शोर के कारण न्यूरोसिस (अर्द्ध विक्षिप्तता) के शिकार हैं। इसी प्रकार अमरीका में 45 लाख कारखाना मजदूरों में 10 लाख मजदूरों के कान खराब पाये गये हैं। अनुमान लगाया गया है कि औद्योगिक उत्पादन की वर्तमान परिस्थितियों में लगभग 500 ऐसे पेशे या काम हैं, जिनमें शोर के कारण श्रवण शक्ति कम हो सकती है।

शोर पर अनुसंधान कर रहे डॉक्टर **नडसन** का अपने 45 वर्ष के अनुभव के आधार पर कहना है कि 'धुंध' की तरह शोर भी मृत्यु का एक कारण होता है। पर्यावरण में

शोर की तीव्रता प्रत्येक 10 वर्ष में दुगनी होती जा रही है जो कि मानव-सभ्यता के लिए एक भावी खतरे की घंटी है।

स्कैंडिनेविया, अमेरिका और प० जर्मनी में छः वर्ष और उससे अधिक आयु के किशोरों पर किये गये परीक्षणों से पता चला है कि 10-12 प्रतिशत युवकों के श्रवणतंत्र में कोई न कोई गड़बड़ है। नवीनतम अनुसंधानों से मालूम हुआ कि युवकों में बहरापन दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। वैज्ञानिकों ने इसका कारण उद्योग, यातायात और नाचघर सरीखे मनोरंजक स्थलों के बढ़ते शोर को माना है।

वैज्ञानिकों के अनुसार शोर के कारण स्थाई श्रवण दोष तो होता ही है परन्तु इससे कार्यक्षमता में भारी कमी आती है। भुंझलाहट पैदा करने में इसका भरपूर हाथ होता है। आज इसीलिए मिल व कल-कारखानों में कार्यरत मजदूरों की कार्यक्षमता दिनों-दिन घटती जा रही है। वहां काम करने वाले अन्य कर्मचारी भी अपनी कार्यक्षमता को धीरे-धीरे खोते जा रहे हैं। इससे उत्पादन में प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अमरीकी सरकार ने पिछले महायुद्ध से अब तक अपने इस हरजाने का हिसाब लगाया तो वह 45 लाख डालर से अधिक आया। अमरीका में एक सर्वेक्षण के अनुसार मात्र सन् 1971 में ही औद्योगिक शोर से होने वाली दुर्घटनाओं एवं उससे होने वाली अन्य अनियमितताओं से जो क्षति हुई, वह 4 अरब डालर के बराबर थी।

बहुत से अन्वेषकों ने यह भी मालूम किया है कि शोर से शारीरिक तनाव बढ़ता है। अत्यधिक शोर (120 या अधिक डेसीबेल) से **अक्षिदोलन (निस्टैग्मस)** हो जाता है तथा चक्कर आने लगते हैं। अभी ठीक-ठीक यह ज्ञात नहीं हो पाया है कि ये लक्षण किस प्रकार प्रकट होते हैं। शोर के कारण श्वसन गति, रक्तचाप, नाड़ी गति में उतार-चढ़ाव, जठरांत्र गतिशीलता में कमी, रुधिर संचरण में परिवर्तन और यहां तक कि हृदय पेशियों में भी परिवर्तन हो जाता है जो कि हृदय रोग को जन्म देता है।

भीड़ भरी सड़कों व बाजारों का शोरगुल प्रतिक्षण मकानों के भीतर प्रविष्ट होता रहता है। यद्यपि निद्रा के समय इस प्रकार के शोरगुल से किसी प्रकार की हानि प्रतीत नहीं होती किन्तु इसका प्रभाव रक्त-प्रवाह पर पड़ता है। रक्त-संपूर्ति ठीक से न होने के कारण विभिन्न इन्द्रियों की कार्यक्षमता में बाधा आ सकती है। यह भी देखा गया है कि कोलाहल से पूर्ण नगरों में रहने वाले बच्चों की वृद्धि पर बुरा प्रभाव पड़ा है। शोरगुल के कारण उनकी वृद्धि रुक जाती है। हवाई-अड्डों या रेलवे स्टेशन के पास के अस्पतालों में रहने वाले रोगियों पर तो शोरगुल का प्रभाव बहुत बुरा पड़ता है।

शोरगुल की प्रतिक्रिया मनोवैज्ञानिक भी है। कुछ लोगों पर शोरगुल का कोई प्रभाव नहीं देखा जाता। इसका कारण यह है कि वे इसके अभ्यस्त हैं किन्तु अभ्यस्त होना यह नहीं प्रदर्शित करता कि उन पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ा। यही कारण है कि अमरीकी वायुसेना विभाग इस ओर सतर्कता बरतने लगा है व अनवरत रूप से अपना अनुसंधान जारी रखे हुए है।

सुपरसॉनिक विमानों के आवागमन से संबंधित कर्मचारियों के वासस्थल बेकार हो जाते हैं। यद्यपि वर्षों से काम करने के कारण वे कार्यरत कर्मचारी अभ्यस्त तो हो जाते हैं किंतु शोरगुल के कारण उनकी धड़कन बढ़ जाती है, पेशियों में तनाव आ जाता है और रुधिर संचरण प्रणाली में गड़बड़ पैदा हो जाती है जो रोगी हृदय रोग से पीड़ित हैं अथवा जिन रोगियों की वृहत् शल्य-क्रिया होनी है, उनका ठीक रहना इस बात पर निर्भर करता है कि वे शोरगुल से कितने दूर हैं।

यही नहीं कि शोर से हमारी कार्यक्षमता व स्वास्थ्य पर ही दुष्प्रभाव पड़ता है बल्कि इससे इमारतों को भी नुकसान होता है। मवेशियों पर भी यह मानव-सदृश्य लक्षण उत्पन्न करता है। अंडा-उत्पादन पर भी इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

शोर की इकाई और तीव्रता : शोर की इकाई को

'डेसीबेल' नाम से पुकारा जाता है। अंग्रेजी में इसे संक्षिप्त रूप में **'डी०बी०'** लिखते हैं। 5 डी० बी० वाली ध्वनि अत्यंत धीमी होती है तथा 100 डी० बी० की ध्वनि प्रतिकूल असर डालती है। यद्यपि अधिकतम तीव्रता के संबंध में अभी तक विशेषज्ञ एक राय पर सहमत नहीं हैं, लेकिन सभी इस बात को एक स्वर में लम्बे समय तक रहने पर व्यक्ति बहरा हो सकता है।

अमरीका में चूहों पर इस सन्दर्भ को लेकर एक दिलचस्प प्रयोग किया गया। कुछ चूहों को 120 डी० बी० की ध्वनि में तथा कुछ को इससे अधिक तीव्र ध्वनि में रखा गया। 120 डी० बी० से अधिक की ध्वनि चूहे सहन नहीं कर पाये। कई तो परलोक ही सिधार गये। प्रयोगों ने सिद्ध कर दिया है कि 120 डी० बी० से अधिक तीव्रता की ध्वनि गर्भवती स्त्रियां व उनके गर्भस्थ शिशुओं पर हानिकारक प्रभाव डालती है। आश्चर्य है कि कारखानों में मजदूर 135 डी० बी० तक तीव्रता वाली ध्वनि को हर वक्त सुनते रहते हैं। भारत में उनमें से एक संख्या स्त्री मजदूरों की हैं!

आइये, 'डेसीबेल' की व्यावहारिक अनुभूति के बारे में भी कुछ जान लिया जाय। शून्य डेसीबेल (0 डी०बी०) की ध्वनि हम सुन नहीं सकते हैं। हां, जानवर जरूर इसे सुनने की क्षमता रखते हैं। पत्तियों की खड़खड़ाहट 10 डी० बी० की होती है। हम लोग फुसफुसाहट में जो बातें करते हैं, उसकी तीव्रता 20 डी० बी० होती है। एक मीटर की दूरी पर रखी दीवार घड़ी टिक् टिक् की आवाज 30 डी० बी० तीव्रता की होती है। साधारण बातचीत 60 डी० बी०, गलियों का शोरगुल 40-70 डी० बी०, टाइपराइटर की खट-पट 50 डी० बी०, टेलीफोन की घनघनाहट 70 डी० बी०, कार का हार्न 85-95 डी० बी०, सर्क्युलर आरा मशीन की आवाज 100-110 डी० बी० और मोटर साइकिल (बिना साइलेंसर की) 120 डी० बी० की ध्वनि उत्पन्न करती है।

50 डेसीबेल तक की आवाज बुरी नहीं लगती, वैसे मनुष्य के लिए 25-30 डी० बी० की आवाज काफी होती है। 30 डी० बी० से ऊपर की ध्वनि से स्वाभाविक निद्रा में लीन व्यक्ति भी उठ खड़ा होता है। सड़क के निकट भारी यातायात व चीखते हुए लाउडस्पीकरों के मध्य रहने वाले व्यक्तियों को हर क्षण 90 डी० बी० की ध्वनि का सामना करना पड़ता है। 130 डी० बी० से अधिक ध्वनि से तो पीड़ा ही अनुभव होने लगती है।

पाश्चात्य संगीत की मधुरता कितनी ? : आइये, पश्चात्य संगीत पर एक नजर डाल ली जाय। रॉक-एन-रॉल बैंड साधारण तौर पर 10 डी० बी० की ध्वनि पैदा करता है। पॉप संगीत भी 50-100 डी० बी० की ध्वनि का होता है। यही संगीत कभी-कभी 120 डी० बी० की सीमा तक या उसे भी पार कर जाता है। अब जरा सोचिये कि ऐसी अवस्था में वह संगीत स्वास्थ्य के लिए कितना लाभप्रद सिद्ध होगा ? उससे मस्तिष्क तंत्रिकाओं को आराम मिलेगा या तंत्रिकायें और अधिक विक्षिप्त होंगी ? शनैः शनैः भारतीय युवकों व युवतियों में पश्चिमी संगीत लोकप्रिय हो रहा है। जब वे गाते हैं तो इतना चीख-चीख कर कि बरबस हाथ कानों पर चले जाते हैं। आजकल त्यौहारों में या शादी-बारातों में लाउडस्पीकरों को पूरी शक्ति से बजाना शान समझा जाता है। इससे आसपास के लोगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अक्सर देखा गया है कि शादी-बारातों में कर्कश बैंड की धुन पर थिरकने वाले व्यक्तियों में शिथिलता शीघ्रता से दृष्टिगोचर होती है। इसे दूर करने के लिए वे लोग शराब आदि एल्कोहॉलिक पेय की शरण में जाते हैं। इस शिथिलता का कारण तीव्र शोर का दुष्प्रभाव होता है।

जेट विमानों से उत्पन्न खतरा : शोर के मामले में वायुयान की ही, बिशेषकर जेट विमान जो कि ध्वनि से भी तीव्र गति से उड़ते हैं, सबसे अधिक अपराधी ठहराया गया है। जेट विमान व कंकार्ड विमान की कर्कश कान-फोड़ ध्वनि तीव्रता 150 डी० बी० होती है। इस तीव्रता पर मनुष्य बहरा हो जाता है। इस बात का अनुभव उन व्यक्तियों को तब अवश्य हुआ होगा जब उनके सिर के ऊपर

निकट से कोई जेट विमान गुजरा होगा। सहसा उस वक्त कुछ देर के लिए वे बहरे हो गये होंगे ।

अमरीका के सुपरमैगनक सैनिक जेट विमान से उठने वाली ध्वनि तरंगों ने केन्योन की कुछ प्राचीन गुफाओं में दरार डाल दीं। इस विमान की ध्वनि तरंगें 50 मील के क्षेत्र पर अपना प्रभाव डालती हैं और यह प्रभाव बिजली गिरने जैसा ही होता है। ब्रिटेन व फ्रांस के सहयोग से बने नये विवादास्पद कंकार्ड जेट विमान ने तो तहलका मचा रखा है। इसकी ध्वनि तरंगों से लन्दन के सैंटपाल गिरजाघर और पार्लियामेंट भवन को खतरा पैदा हो गया था। अतः विवशतः ब्रिटिश सरकार को उसकी उड़ानों पर विशेषकर 'प्रभावित क्षेत्रों' के ऊपर से उड़ने पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा। वैज्ञानिकों ने यह चेतावनी दी है कि इस विमान के रास्ते में पड़ने वाले 150 किलोमीटर तक के क्षेत्र में हृदय रोग के रोगियों का जीवन संकट में पड़ जायेगा।

ध्वनि की गति से भी तेज उड़ने वाले यात्री और सैनिक विमानों की संख्या संसार में दिनोंदिन बढ़ती जा रही है क्योंकि यातायात और प्रतिरक्षा की दृष्टि से ये अधिक प्रभावी समझे जाते है। केलीफोर्निया विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका) के एक वैज्ञानिक **डा० हेरल्स जॉन्सन** का कहना है कि ये विमान सूर्य की परावैंगनी किरणों (अल्ट्रावायलेट रेज) से धरती की रक्षा करने वाली ओजोन परत को दो साल में ही आधा कर डालेंगे। इससे धरती की सतह पर पराबैंगनी विकिरणों से वे नये खतरे उत्पन्न हो जायेंगे जिनसे अभी मानव परिचित तक नहीं है। इससे उसकी आंखों की दृष्टि जा सकती है, और यही नहीं स्वयं उसका जीवन भी संकट में पड़ सकता है।

आज दुनिया भर में विभिन्न सड़कों पर 25 करोड़ से अधिक वाहन दोड़ लग रहे हैं। ब्रिटेन के **बार्वरा वार्ड** का कहना है कि मोटर वाहन परमाणु बमों के जितने ही घातक हैं। अंतर केवल इतना है कि बम तुरंत मार डालते हैं और ये धीरे-धीरे। कारों तथा मोटरकारों की संख्या किस गति से दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि 1960 में इनकी संख्या जहां 10 करोड़ थी, वह 1970 में 20 करोड़ हो गयी और 1980 में जाकर यह संख्या 30 करोड़ से ऊपर पहुँच जायेगी। मोटर कारों व अन्य वाहनों का यह बढ़ता काफिला अब एक सरदर्द बनता जा रहा है।

शोर से रक्षा व उसकी रोकथाम—वर्तमान और भूत-काल में मनुष्य को उत्पीड़ित करने वाले शोर को उत्पन्न करने का दोष प्रौद्योगिकी के मत्थे मढ़ना सही नहीं होगा। प्रौद्योगिकी अपने में न अच्छी है न बुरी। उसके पीछे काम करने वाले लोग ही शोर के लिए उत्तरदायी हैं और उन्हीं को अंततः इसका इलाज भी खोजना होगा। शोर विरोधी अंतर्राष्ट्रीय संस्था के प्रधान **प्रोफेसर गुन्थेर लेहमान** तो कहते हैं —**'शोर प्रौद्योगिकी की प्रगति का नहीं अपितु उसकी प्रतिगति का प्रतीक है'**।

जल प्रदूषण तथा वायु प्रदूषण से सभी परिचित हैं। परंतु आधुनिक सभ्यता के अभिशाप के रूप में पल रहा यह शोर प्रदूषण अपने आप में अनोखा है। यह प्रदूषण सभी जगह फैलने लगा है। जहां वायु एवं जलप्रदूषण का प्रभावी क्षेत्र काफी विस्तृत होता है वहीं शोर का प्रभावी क्षेत्र उसके स्रोत के आसपास ही होता है।

विश्व के कई राष्ट्र शोर के घातक परिणामों को रोकने में लगे हैं। अंतर्राष्ट्रीय मानकीकरण संगठन ने कुछ मानक भी तैयार किये हैं। अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में सन् 1977 में औद्योगिक कर्मचारियों के शोर-कम्पन आदि के कारण होने वाले खतरों से बचाव के लिए कुछ महत्वपूर्ण सिफारशें की गयी थीं। ब्रिटेन ने 1960 में ही ध्वनि उपशमन अधिनियम लागू कर दिया था। रूस ने भी इस ओर पूर्ण सतर्कता बरत ली है। वहां अब ध्वनि-शोषक यंत्रों तथा कानों को सुरक्षित रखने के उपकरणों का प्रयोग आम बात हो गयी है। आस्ट्रिया, चैकोस्लोवाकिया, डेनमार्क, फिनलैंड तथा अन्य कई देशों ने इस ओर महत्त्वपूर्ण कदम उठाये हैं। अमेरिका सरीखे कुछ देशों ने तो दिन में 8 घंटे के काम में 90 डेसीबेल तक के शोर की अनुमति दी है। अनेक

राष्ट्रों ने अधिकतम शोर की सीमा 75 डी० बी० तथा 85 डी०बी० के बीच निर्धारित कर दी है। कई जगह कानून भी बना दिये गये हैं। भारत में अभी शोर के विरुद्ध सरकारी स्तर पर मोर्चा नहीं जमाया गया है हालांकि भारतीय मानक संस्था इस ओर अपना प्रयास जारी रखे हुए है। हाल में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने कुछ नियमों की घोषणा की है। उनका अध्ययन करके प्रत्येक राष्ट्र को उन्हें अपने यहां अपनाना चाहिए।

केन्द्रीय भवन अनुसंधान संस्थान (रुड़की), केंद्रीय यांत्रिकी अनुसंधान संस्थान (दुर्गापुर), राष्ट्रीय भवन निर्माण संगठन तथा अखिल भारतीय चिकित्सा अनुसंधान संस्थान (दिल्ली) आदि कुछ संस्थाएं भारत में शोर के विभिन्न क्षेत्रों में पड़ने वाले प्रभाव पर तथा उसके निवारण की खोज पर सतत अनुसंधानरत हैं। अब ज्ञात हुआ है कि घनी बस्तियों या शोरगुल वाले कल-कारख़ानों के निकट यदि वृक्षों की संख्या अधिक हो तो शोर उन्हें चीर कर आगे नहीं बढ़ (फैल) पाता। यह एक आश्चर्य की बात है कि बेचारे ये निरीह मूक प्राणी-वृक्ष मानव द्वारा उत्पन्न सभी घातक प्रदूषणों (वायु प्रदूषण, शोर प्रदूषण इत्यादि) में बचाव का साधन सिद्ध हो रहे हैं।

कारखानों में शोर नियंत्रण:– कारखानों व मिलों में शोर को विभिन्न तरीकों से रोका जा सकता है। सर्वप्रथम जिन मशीनों में शोर कम करने वाले साइलेंसर लगाए जा सकते हैं, वहां साइलेंसर अवश्य लगा देने चाहिए। मजदूरों को इयर प्लग्स्, इयर मफ्स अथवा हेल-मेट्स के उपयोग की ओर प्रेरित किया जाना चाहिए। वेल्डिंग में होने वाले शोर को रिवेटिंग का प्रचलन बढ़ा कर कम किया जा सकता है। इसके अलावा मशीनों की समय-समय पर सफाई करके तथा उन्हें तेल, ग्रीस आदि मशीनी तेल देकर उत्पन्न होने वाली अप्रिय खड़खड़ाहट को कम किया जा सकता है। यदि कोई पुर्जा घिस गया हो तो उसे भी तत्काल बदल दिया जाना चाहिए।

शोर को कारखानों में रोकने के लिए अन्य उपाय भी हैं। जैसे प्लास्टिक के फर्श का निर्माण, चावल की भूसी से निर्मित टाइल्स को दीवारों पर लगाना, लकड़ी की छीलन से बनी पट्टियों को दीवार पर लगाना, इत्यादि। आजकल शोर विरोधी फर्श तो क्या सड़कें भी बनने लगी हैं। ये सड़कें इन दिनों काफी चर्चा का विषय हैं तथा साथ ही वे आश्चर्यजनक रूपसे लोकप्रियता भी प्राप्त करती जा रही हैं।

सरकार को खराब इंजनों वाले वाहनों के चलने पर तुरंत प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए। वाहनों के तीखे हार्न का जहां तक हो सके कम उपयोग करना चाहिए। लाउड-स्पीकरों को कम से कम उपयोग में लाया जाना चाहिए। कुल मिलाकर दैनिक जीवन में यदि हम कुछ सावधानी बरत लें और 75 डी०बी० से अधिक शोर को उत्पन्न ही न होने दें तो इस नये शोर प्रदूषण से सफलतापूर्वक बचा जा सकता है।

भारत के प्रमुख साँप

● अरविन्द मिश्र

साँप प्राणि जगत् के रेप्टिलिया (सरीसृप) वर्ग (गण: स्क्वामाटा; उपगण ओफिडिया) के अन्तर्गत आते हैं। ये 'असमतापी' यानी ठन्डे रक्त वाले प्राणी हैं और केवल आर्कटिक क्षेत्र, न्यूज़ीलैण्ड एवं आयरलैण्ड को छोड़कर इनकी लगभग 2,500 प्रजातियाँ समूचे विश्व में फैली हुई हैं। भारत में साँपों की लगभग 250 प्रजातियाँ पायी गयी हैं, जिनमें से मात्र 52 नस्लें ही विषैली होती हैं। इन्हीं साँपों को लेकर हमारे जनमानस में अनेकानेक हास्यास्पद भ्रान्तियाँ व्याप्त हैं, जिनका कोई ठोस वैज्ञानिक आधार नहीं है। साँप न तो अपना रूप बदल सकने में समर्थ हैं और न अपने 'मानव' शत्रु के प्रति इनमें कोई प्रतिशोध की भावना ही होती है। इसी तरह न तो साँपों का गड़े खजानों से कोई सम्बन्ध है और न ही उनकी आँखों में दुश्मन का चिरस्थायी प्रतिबिम्ब या फोटो ही बना रह सकता है। इन सब के बावजूद फसलों को भारी क्षति पहुँचाने वाले जीव जन्तुओं, मुख्यतः चूहों का निरन्तर भक्षण करते रहने वाले इन साँपों ने पर्यावरणीय सन्तुलन (Ecological balance) को स्थिर बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यही नहीं, सर्पविष आजकल अनेक जीवन-दायिनी औषधियों के निर्माण में भी प्रयुक्त हो रहा है। इस तरह सही अर्थों में ये साँप हमारे मित्र हैं। आइये, अपने भारत के कुछ प्रमुख सर्प मित्रों का परिचय प्राप्त करें।

1. **नाग** (Cobra; Naja naja) : नाग भारत का एक प्रमुख साँप है। यह विषैले साँपों की श्रेणी में आता है। फणधर (Hood) होना इसकी प्रमुख पहिचान हैं। इसके फण वाले भाग पर चश्मे के आकार का एक चिन्ह् होता है। आसाम में पाये जाने वाले नागों के 'फणों' पर चश्मे का यही चिन्ह् केवल एक धब्बे का रूप ले लेता है। इन्हें केवटिया (monocellate) कहते हैं। राजस्थान और आसाम में मिलने वाले नागों की कुछ प्रजातियों के फण पर चश्मे वाला यह निशान पाया ही नहीं जाता। उत्तर प्रदेश में पाये जाने वाले अधिकांश नागों के फणों पर चश्मे का निशान बिल्कुल स्पष्ट होता है। गाँवों में इसे गोखुरा (bicellate) भी कहते हैं। सँपेरे इन्हीं नागों को प्रदर्शनों के लिए पालते हैं। ये सामान्यतः क्रोधी स्वभाव के नहीं होते, जबकि केवटिया नागों की आक्रामकता प्रसिद्ध है।

नागों की एक और प्रजाति भारतीय जंगलों में बहुधा पायी जाती है। इसे नागराज या शेषनाग (King Cabra Naja hannah) कहते हैं। स्थलीय विषैले साँपों में ये सबसे लम्बे साँप हैं। इनकी लम्बाई तो कभी-कभी 18 फीट तक भी पहुँच जाती है। नर मादा से अधिक लम्बा होता है। इनके फणों पर चश्मे के चिन्ह् के बजाय पीले रंग की अनुप्रस्थ धारियाँ होती हैं। इनमें स्वजाति भक्षण (Cannibalism) की तीव्र प्रवृत्ति देखी गयी है।

हमारे भारतीय जनमानस में नाग पूज्य समझे गये हैं। नाग पंचमी और अनन्तचतुर्दशी का त्योहार तो मुख्यतः इन्हीं नागों को ही समर्पित है।

2. **करईत** (Krait; Bungaras Caeruleus) : भारत के स्थलिय साँपों में करईत सबसे विषैला साँप है। लगभग $1\frac{1}{2}$ मीटर लम्बा, काले रंग का यह साँप भारत के कोने-कोने में पाया गया है। इसके शरीर की पूरी लम्बाई तक, पतली सफेद धारियाँ फैली होती हैं। यह वैसे तो एक शान्त स्वभाव का साँप है, किन्तु छेड़े जाने पर आक्रामक हो उठता है और काट भी लेता है। घरों के
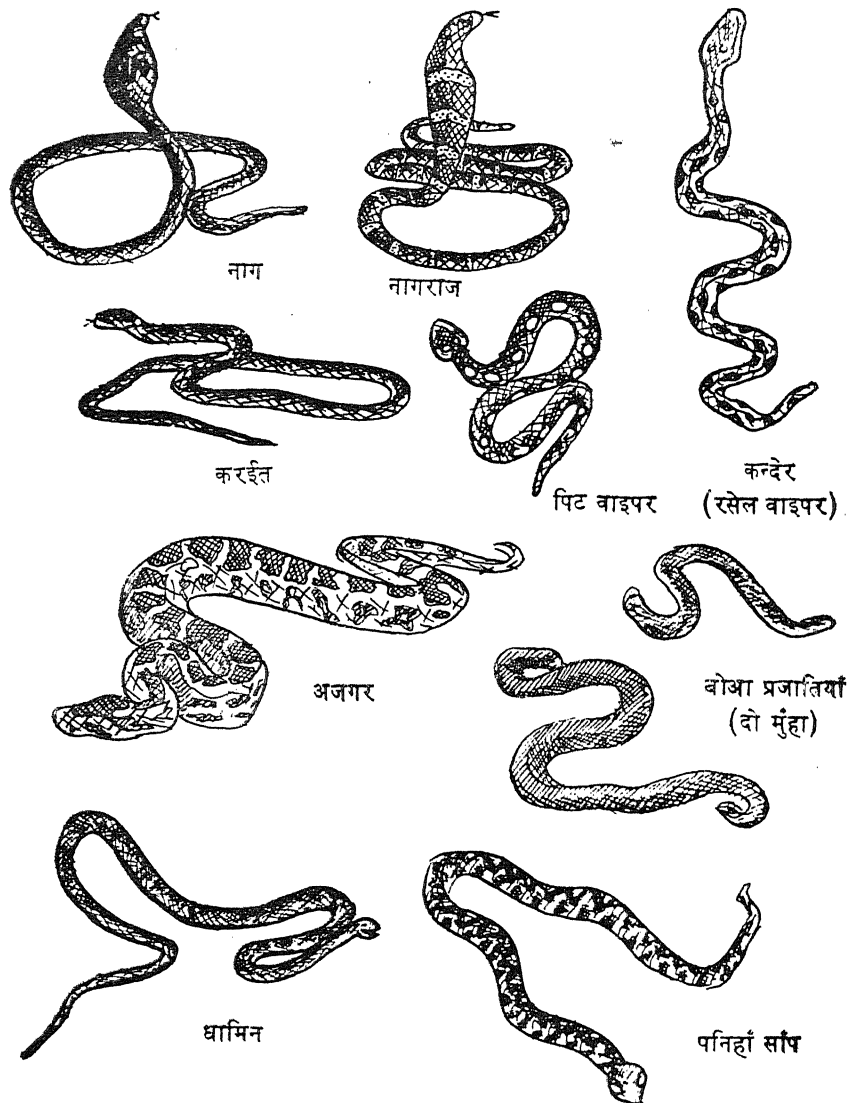
चित्र : भारत के प्रमुख साँप (रेखांकन)

अन्दर पाये जाने वाले विषैले साँपों में यह प्रमुख है। ऐसी आम धारणा कि प्रातःकाल अपने स्वरकंठों से ये एक विचित्र डरावनी आवाज निकालते हैं, निर्मूल है। करईत, एक रात्रिचर साँप है। मादा अप्रैल और मई के बीच अंडे देती है, जिनसे 45 या 60 दिनों में बच्चे निकल आते हैं। इसमें भी स्वजाति भक्षण की प्रवृत्ति देखी गयी है। लेखक ने स्वयं एक करईत को अपने दूसरे साथी करईत को समूचा निगलते हुये देखा है। करईत की ही एक दूसरी प्रजाति, आसाम, मध्यप्रदेश, उड़ीसा व उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्रों में देखी गयी है। इसे धारीदार करईत (Banded Krait : B. fasciatus) कहते हैं, और यह देखने में बहुत सुन्दर प्रतीत होता है। इसका पूरा शरीर पीला होता है, जिस पर काले रंग की धारियाँ होती हैं।

3. **कन्देर** (Russell's Viper: Viper russelli): भूरे रंग का यह विषैला साँप भारत के मैदानी तथा पहाड़ी भागों में प्रायः देखा जाता है। इसके शरीर की पूरी लंबाई तक गोल धब्बों की तीन कतारें फैली होती हैं। ये लगभग 1½ मीटर लम्बे होते हैं। इन साँपों का सिर त्रिभुजाकार (Triangular) होता है, जिस पर बहुत छोटे-छोटे शल्क (Scales) पाये जाते हैं। किसी शत्रु का आभास मिलते ही यह एक विशेष ढंग से, तेज आवाज में फुँफकारना आरम्भ करता है। वाइपर साँपों का फुँफकारना नागों से बिल्कुल भिन्न होता है। नाग तो रुक-रुक कर फुँफकारता है परन्तु वाइपर बिना रुके अविचल भाव से फुँफकारता चला जाता है। यह प्रायः सामने से नहीं वरन् पीछे से वार करता है। इसके विषदन्त लम्बे और मजबूत होते हैं। अतः इनके द्वारा किया गया घाव भी गहरा होता है। इनमें एक विलक्षण बात यह है कि ये अंडे देने के बजाय बच्चे जनते हैं। महाराष्ट्र में वाइपरों की ही एक और प्रजाति बहुतायत में मिलती है, जिसे वहाँ 'फूरसा' या Saw scaled viper कहते हैं। इसका प्राणिशास्त्रीय नाम, एकिस केरिनेटस (Echis Corinatus) है। काश्मीर और हिमालय की तराइयों में वाइपरों की एक और नस्ल मिलती है, जिनके नासाछिद्र और आँखों के बीच एक 'गड्ढे' जैसी संरचना होती है। इन्हें 'पिट वाइपर' कहते हैं। इन साँपों का यही 'पिट' (गड्ढा) ही इन्हें रात्रि में शिकार करने में मदद देता है, क्योंकि यह 'ऊष्माग्राही (Thermoreceptor) होता है और रात्रि में प्राणियों (शिकार) के शरीर से निकलने वाली ऊष्मा या अवरक्त किरणों (infrared rays) को शीघ्रता से ग्रहण कर उनकी उपस्थिति का पता लगा लेता है। इस गड्ढे को वैज्ञानिकों ने पिट वाइपर साँपों का 'तीसरा नेत्र' भी कहा है।

4. **घामिन** (Rat snake : Ptyas mucosus) : यह भारत के मैदानों का एक प्रमुख विषहीन साँप है। हल्का भूरापन लिये हुए पीले रंग का यह साँप लगभग 2 मीटर लम्बा होता है। अपनी चंचल प्रवृत्ति के कारण यह पेड़ों पर भी आसानी से चढ़ जाता है। चूहे इसके सर्वप्रिय भोजन हैं। चूहों का भक्षण कर यह उनसे प्रति वर्ष होने वाली फसलों की क्षति पर अंकुश लगाता है। इस साँप को लेकर भारतीय जनमानस में अनेक भ्रान्तियाँ व्याप्त हैं। कहते हैं, यह गाय या भैंसों के 'थनों' से दूध पी लेता है। परन्तु यह नितान्त गलत है। इसे लोग घोड़े से भी तेज दौड़ने वाला साँप मानते हैं और इसीलिए इसका एक नाम 'घोड़ापछाड़' भी है, परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि अन्य साँपों की तुलना में यह तेज दौड़ता है। इसकी पूँछ के वार से, कोढ़ हो जाने की बात भी गाँवों में कही जाती हैं, जोकि बिल्कुल गलत है। अंडों से बच्चे बरसात के मौसम में निकलते हैं।

5. **पनिहाँ साँप** (Checkered keel black : Natrix Piscator) : पनिहाँ साँप भी भारत का एक उल्लेखनीय विषहीन साँप हैं। लगभग 1½ मीटर लम्बे इस साँप के पृष्ठतल पर काले धब्बों का क्रम 'शतरंजनुमा' (Chess board arrangement) प्रतीत होता है। यह साँप अपने भोजन (मुख्यतः मेढक व मछलियों) की खोज में जलाशयों, जलकुंडों तक जाता है। मछलियाँ, पनिहाँ साँपों की प्रिय भोजन हैं। छिछले जलकुंडों व धान के खेतों में भी पनिहाँ साँप प्रायः दिखलायी देता है। हजारों लोग

प्रतिवर्ष इस विषहीन साँप द्वारा काटे जाते हैं और केवल भयवश ही अपनी जान गँवा बैठते हैं। यह सर्वथा अहानिकर साँप है, अतः इससे डरने की कोई आवश्यकता नहीं। मादा, मार्च अप्रैल माह में अंडे देती है। इन अंडों से बच्चे मई जून तक उसी वर्ष निकल आते हैं।

6. **अजगर** (Python molurus) : अजगर संपूर्ण भारत में पाया जाने वाला एक भीमकाय विषहीन साँप है। भूरे रंग का यह साँप 8 मीटर तक लम्बा हो सकता है। पूरे शरीर पर हीरे के आकार वाले भूरे रंग के धब्बे आसानी से देखे जा सकते हैं। एक वयस्क अजगर 250 पौन्ड तक भारी हो सकता है। यह आमधारणा कि अजगर किसी भी शिकार को अपनी साँस के सहारे दूर से ही खींच कर उदरस्थ कर सकता है, मात्र एक भ्रान्ति है। कहते हैं कि इसके आँखों में सम्मोहन शक्ति होती है, जिसके वशीभूत हो पशु-पक्षी इसके पास तक खिंचे चले आते हैं। परन्तु इस आमधारणा का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। यह अपने शिकार को चारों ओर से लपेट कर, उस पर अपनी मजबूत मांसपेशियों का दबाव डालता है। फलस्वरूप, दम घुटने के कारण शिकार की मृत्यु हो जाती है और यह उसे समूचा निगल जाता है। अजगरों की पाचन-शक्ति बहुत तीव्र होती है। ये अपने शिकार की हड्डियाँ तक पचा ले जाते हैं, केवल दाँत और नाखून पचने से बच रहते हैं जो अवशिष्ट पदार्थों के रूप में मलद्वार से बाहर निकल जाते हैं। वैसे तो अजगरों का शिकार प्रायः छोटे स्तनपायी और पक्षी ही बनते हैं, परन्तु कभी भूले भटके सुअर, हिरन आदि भी इसकी चपेट में आ जाते हैं।

भारत के प्रख्यात सर्पशास्त्री डा० पी० जे० देवरस ने अजगर की एक दूसरी नस्ल (Python reticulatus) को रत्नापुर के घने जंगल (मध्य प्रदेश) में देखने का दावा किया है। उनका कहना है कि यह संसार का सबसे लम्बा साँप है जिसकी लम्बाई 30 मीटर तक भी पहुँच सकती है।

अजगरों के मलद्वार के पास पिछली टाँगों के दो छोटे-छोटे अवशेष मिलते हैं, जो यह दर्शाते हैं कि बिना टाँग वाले साँपों के पूर्वज टाँग वाले सरीसृप ही रहे होंगे।

भारी-भरकम शरीर वाले ये साँप, बच्चा पैदा करने के बजाय अंडा ही देते हैं। जाड़े के तत्काल बाद मादा लगभग 107 अंडे देती है। 60 दिनों में अंडों से बच्चे निकल आते हैं। अजगरों के ही परिवार में आने वाला एक अन्य छोटा साँप, जिसे प्रायः दोमुँहा (Sand boa) भी कहते हैं, भारत में प्रायः मिलता है। इसकी दो प्रजातियाँ पायी गयी हैं दो मुँहा (Eryxconicus) और गेहुअंन (Eryx johini)। इसके सन्दर्भ में यह धारणा कि इसके दो मुँह होते हैं और ये दोनों ओर से चल सकते हैं, निराधार है।

पृष्ठ 4 का शेषांश

autotroph) के गुण भी हैं। ऊर्जा के क्षेत्र में यह खोज यह स्थापित करती है कि इस प्रकार की प्रक्रिया ही ऊर्जा संकट से मनुष्य को बचा सकती है। यह भी स्पष्ट होता है कि जीव की उत्पत्ति में उन्हीं गुणों की आवश्यकता थी जो पृथ्वी पर के जीव की सत्ता के लिये आवश्यक हैं अर्थात् सूर्य की ऊर्जा का उपयोग करके, ऊर्जा के नीचे सतह के यौगिकों को ऊर्जा की ऊपर की सतह पर ले जाना।

इस तरह से यह निष्कर्ष निकलता है कि जीव की उत्पत्ति और सौर ऊर्जा को उपयोग कर सकने की विधि ज्ञात करने वालों का लक्ष्य एक ही है।

रसायन के कुछ वस्तुनिष्ठ प्रश्न-२

● देवेन्द्र कुमार

⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙

इस लेखमाला के अन्तर्गत पिछले अंक (अक्टूबर) में परमाणु संरचना, रेडियो ऐक्टिवता एवम् आवर्त सारणी पर 31 प्रश्न दिये गये थे जिनके उत्तर नीचे दिये गये हैं।

प्रश्न संख्या	उत्तर	प्रश्न संख्या	उत्तर	प्रश्न संख्या	उत्तर
1	ब	11	स	21	स
2	द	12	ब	22	ब
3	ब	13	द	23	ब
4	स	14	स	24	स
5	स	15	ब	25	ब
6	अ	16	स	26	स
7	ब	17	ब	27	द
8	अ	18	ब	28	अ
9	ब	19	अ	29	ब
10	ब	20	ब	30	ब
				31	द

खेद है कि प्रश्न संख्या 3, 14 तथा 15 में कुछ गलतियाँ हैं। प्रश्न 3 में द्रव्यमान क्षति ·06 के स्थान पर ·03 होनी चाहिये। प्रश्न 14 के (स) में प्रोटॉन के स्थान पर न्यूट्रॉन तथा न्यूट्रॉन के स्थान पर प्रोटॉन होना चाहिये। प्रश्न 15 में $_5B^{11}$ के स्थान पर $_{12}Mg^{24}$ तथा $2He^4$ के स्थान पर $_2He^4$ होना चाहिये।

⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙⊙

इस बार कुछ प्रश्न संयोजकता, ऑक्सीकरण अपचयन, आयनिक समीकरण तथा गैसीय नियमों पर दिये गये हैं। अगले अंक में कार्बनिक रसायन पर प्रश्न होंगे।

(32) दो तत्व A तथा B के परमाणु क्रमांक क्रमशः 14 तथा 35 हैं। इन तत्वों से बने हुए स्थायी यौगिक का सूत्र क्या होगा ?

(अ) AB (ब) AB_2

(स) AB_3 (द) AB_4

(33) निम्नलिखित पदार्थों में सबसे अधिक विद्युत संयोजी यौगिक कौन सा होगा ?

(अ) LiI (ब) KCl (स) RbBr (द) CsF

(34) निम्न कथनों में कौन सा असत्य है ?

(अ) विद्युतसंयोजी पदार्थों का गलनांक अधिक होता है।

(ब) सहसंयोजी बन्ध विद्युतसंयोजी बन्ध से अधिक दृढ़ होता है।

(स) साधारण ताप पर गैसीय अणुओं में विद्युत संयोजी बन्ध होता है।

(द) सहसंयोजी पदार्थ समावयवता दिखा सकते हैं।

(35) यदि चार तत्वों, A,B,C, तथा D के परमाणु क्रमांक क्रमशः 8, 9, 10 तथा 11 हैं तो इनमें से कौन से दो तत्व मिल कर सबसे अधिक विद्युतसंयोजी पदार्थ बनायेंगे ?

(a) A तथा C (b) B तथा D

(c) A तथा D (d) C तथा D

(36) प्रश्न संख्या 35 में दिये गये तत्वों द्वारा बना हुआ सबसे अधिक सहसंयोजी अणु निम्नलिखित में से कौन सा होगा ?

(a) AB_2 (b) AD

(c) B_2 (d) BC

(37) आवर्त सारणी के किन दो ब्लॉकों के तत्व आपस में मिलकर सबसे अच्छे विद्युतसंयोजी पदार्थों को बनाते हैं ?

(a) s तथा p (b) p तथा d

(c) d तथा f (d) f तथा p

(38) MnO_4^- में Mn की ऑक्सीकरण संख्या······है

(a) +8 (b) +7

(c) +6 (d) +4

(39) निम्नलिखित में से किसमें P की ऑक्सीकरण संख्या +1 है।

(a) PH_4^+ (b) P_4

(c) $H_2PO_2^-$ (d) PO_2^-

(40) निम्नलिखित अभिक्रियाओं में से किसमें ऑक्सीकरण-अपचयन नहीं हो रहा है ?

(a) $PCl_5 \rightarrow PCl_3 + Cl_2$

(b) $NH_4NO_3 \rightarrow N_2O + H_2O$

(c) $Al_2Cl_6 \rightarrow 2\ AlCl_3$

(d) $H_2 + Cl_2 \rightarrow 2\ HCl$

(41) ऐसेटिलीन में कार्बन की सहसंयोजकता तथा ऑक्सीकरण संख्या क्रमशः ... है ?

(a) 2 तथा −2 (b) 4 तथा −2

(c) 4 तथा −1 (d) 2 तथा −1

(42) निम्नलिखित अभिक्रियाओं में कौन सी अभिक्रिया ऑक्सीकरण की प्रथम परिभाषा, "ऑक्सीकरण, ऑक्सीजन के संयोग को कहते हैं", का अपवाद है ?

(a) $2\ F_2 + O_2 \rightarrow 2\ F_2O$

(b) $2\ Cl_2 + O_2 \rightarrow 2\ Cl_2O$

(c) $2\ H_2 + O_2 \rightarrow 2\ H_2O$

d) $S + O_2 \rightarrow SO_2$

(43) यदि किसी अभिक्रिया में $KBrO_3$ आयन KBr में बदल रहा है तो $KBrO_3$ का तुल्य भार उसके अणु भार में ... ... का भाग देने से प्राप्त होता है।

(a) 4 (b) 5

(c) 6 (d) 8

(44) यदि किसी अभिक्रिया में NO_3^- आयन NO में बदलता है तो इस परिवर्तन में एक NO_3^- आयन

(a) 4 इलेक्ट्रॉन देता है ?

(b) 3 इलेक्ट्रॉन लेता है ?

(c) 2 इलेक्ट्रॉन लेता है ?

(d) 2 इलेक्ट्रॉन देता है ?

(45) निम्न अर्ध आयनिक समीकरणों में कौन सा **असंतुलित** है ?

(a) $MnO_4^- + 8 H^+ + Se^- \rightarrow Mn^{++} + 4 H_2O$

(b) $Cr_2O_7^{2-} + 14 H^+ + 3 e^- \rightarrow 2 Cr^{+3} + 7 H_2O$

(c) $BrO_3^- + 6 H^+ + 6 e^- \rightarrow Br^- + 3 H_2O$

(d) $CO_3^{2-} + 2 H^+ \rightarrow H_2O + CO_2$

(46) $2O_3 \rightarrow 3O_2$

इस अभिक्रिया में ओज़ोन

(a) ऑक्सीकृत होता है।

(b) अपचित होता है।

(c) ऑक्सीकृत तथा अपचित दोनों एक साथ होता है।

(d) यह ऑक्सीकरण-अपचयन अभिक्रिया नहीं है।

(47) यदि किसी गैस का 273°C पर आयतन V cc है तो उसी दाब पर किस ताप पर आयतन 2 V cc होगा ?

(a) 546°C (b) 813°C

(c) 1092°C (d) 1365°C

(48) निम्नलिखित किन परिस्थितियों में कोई गैस, गैसीय नियमों से सबसे अधिक विचलित होती है ?

(अ) निम्न ताप, उच्च दाब।

(ब) उच्च ताप, उच्च दाब।

(स) उच्च ताप, निम्न दाब।

(द) निम्न ताप, निम्न दाब।

(49) गैस A तथा B के अणु भार क्रमश: 2 तथा 50 हैं। गैस A गैस B से

(अ) 25 गुना जल्दी विसर्जित होगी

(ब) 5 गुना जल्दी विसर्जित होगी

(स) 1/5 गुना जल्दी विसर्जित होगी

(द) दोनों की विसर्जन दर बराबर होगी

(50) यदि किसी गैस के 112 cc का STP पर भार 0·08 ग्राम है तो यह गैस है।

(अ) ऑक्सीजन (ब) नाइट्रोजन

(स) कार्बन मॉनो ऑक्साइड (द) मेथेन।

(51) कार्बन डाइऑक्साइड के 560 cc गैस का S.T.P. पर भार होगा

(a) 2.2 gm (b) 1.1 gm

(c) 11 gm (d) 0.44 gm

(52) यदि किसी गैस का वाष्प घनत्व X है तो इस गैस का आपेक्षिक घनत्व (जल की तुलना में) क्या होगा ?

(अ) X/11200 (ब) 11200X

(स) X/22400 (द) 18X/11200

(53) किसी बर्तन में 1 ग्राम हाइड्रोजन 8 ग्राम ऑक्सीजन तथा 7 ग्राम नाइट्रोजन हैं और ये आपस में अभिक्रिया नहीं कर रही हैं। यदि गैस का दाब 500 mm मर्करी के बराबर है तो बर्तन में नाइट्रोजन का आंशिक दाब कितना होगा ?

(अ) 250 mm. (ब) 125 mm.

(स) 62.5 mm. (द) 187.5 mm.

(54) यदि एक 10 cm लम्बी नली के एक किनारे से अमोनिया गैस और दूसरे किनारे से HCl गैस साथ-साथ छोड़ी जाय तो सर्वप्रथम अमोनिया वाले छोर से लगभग कितनी दूर सफेद धुआँ दिखेगा (अमोनिया तथा HCl के अणु भार क्रमशः 16 तथा 36 मानकर गणना कीजिये) ?

(a) 4 cm (b) 5 cm
(c) 6 cm (d) 8 cm

(55) एक गैस A एक 2 लिटर के बर्तन में 3 वायुमण्डलीय दाब पर भरी है तथा दूसरी गैस B 3 लिटर के बर्तन में 4 वायुमण्डलीय दाब पर भरी है। यदि इन दोनों गैसों को एक 5 लिटर के बर्तन में भर दिया जाय तो गैस A का आंशिक दाब होगा :

(अ) 3 वायुमंडल (ब) 1.2 वायुमंडल
(स) 3.5 वायुमंडल (स) 7 वायुमंडल

(56) प्रश्न 55 के अनुसार 5 लिटर के बर्तन में गैसों का पूर्ण दाब होगा ?

(अ) 7 वायुमंडल (ब) 3.6 वायुमंडल
(स) 10.5 वायुमंडल (द) 2.8 वायुमंडल

(57) किसी गैस के 11200 cc STP पर लिये गये, तो निम्नलिखित में से कौन सा गैसीय समीकरण सही होगा ?

(अ) $PV = RT$ (ब) $PV = 1/2\ RT$
(स) $PV = 0.1\ RT$ (द) $PV = 2\ RT$

(58) R का मान 0.0821 किस इकाई में है ?

(अ) अर्ग प्रति मोल प्रति डिगरी
(ब) कैलोरी प्रति मोल प्रति डिगरी
(स) लिटर वायुमंडल प्रति मोल प्रति डिगरी
(द) जूल प्रति मोल प्रति डिगरी

(59) STP पर किसी गैस के 112 cc में अणुओं की संख्या ···के बराबर होगी

(अ) N/100 (ब) N/200
(स) N/20 (द) N/10

जहाँ N एवोगैड्रो संख्या है।

(60) यदि वायुमंडल में केवल ऑक्सीजन तथा नाइट्रोजन 1:4 अनुपात में है तो वायु का वाष्प घनत्व क्या होगा ?

(अ) 15 (ब) 14.5
(स) 15.5 (द) 14.75

(प्रश्नों के उत्तर अगले अंक में प्रकाशित होंगे)

—सम्पादक

विज्ञान वार्ता

और अब साँपों से शराब भी

इस तथ्य से बहुत से लोग परिचित हैं कि साँपों का मांस खाने में बढ़िया और स्वादिष्ट होता है यही नहीं साँपों का 'सूप, पीने में स्वादिष्ट और स्वास्थ के लिए लाभकारी होता है। दक्षिण कोरिया के लोग साँप के सूप से सेहत बनाते हैं। दक्षिण कोरिया की राजधानी सियोल में ही लगभग 700 ऐसे रेस्तरां है, जहाँ साँप का सूप मिलता है। एक कटोरे सूप की कीमत 20 डालर से 200 डालर (200 रुपये से 2000 रुपये तक) होती है। किन्तु दक्षिण कोरिया के लोग इससे संतुष्ट नहीं हुये और उन्होंने साँपों की शराब भी बना डाली। अभी पिछले दिनों अगस्त में दक्षिण कोरिया के राजदूत श्री बम सुक ली ने मद्रास में पत्रकारों से बात-चीत करते हुए शराब बनाने का तरीका भी बताया। दक्षिण कोरिया में साँपों से शराब बनाने के लिये साँपों को मदिरा भरे जारों में वर्षों तक रखते हैं कुछ उसी तरह जैसे हमारे यहाँ अंचार बनाये जाते है। जब साँपों के शरीर का केवल कंकाल रह जाता है तो द्रव को निकाल कर पीने के काम में लाते हैं। कोरिया निवासी इस प्रकार बनाई गई मदिरा को चाव से पीते हैं। श्री बमसुकली ने बताया कि अब विदेशी भी इस मदिरा को पसंद करने लगे हैं।

आग में न जलने वाला कपड़ा

यह पौराणिक कथा तो सभी ने अवश्य ही पढ़ी या सुनी होगी कि हिरण्यकश्यप की बहन और प्रह्लाद की बुआ होलिका को यह वरदान प्राप्त था कि वह आग में नहीं जलेगी। ऐसा कैसे संभव हुआ इस पर इस कथा में से कोई प्रकाश नही पड़ता है किन्तु हरियाणा (भारत) के वैज्ञानिकों ने एक विशेष प्रकार का सूती कपड़ा तैयार कर लिया है जो आग में नहीं जलेगा। इसमें प्रयोग होने वाले रसायन की खोज कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने की है और इस विशेष प्रकार के कपड़े को भी वहीं बनाया गया है। इसे साफ करने के लिए कम से कम 30 बार धोया जा सकता है और घंटों साबुन के पानी या सोडे के पानी में रखकर उबालने से भी खराब होने की संभावना नहीं है। अब इस वरदान को प्राप्त करेंगे सैनिक और आग बुझाने वाले कर्मचारी। वैसे आपकी इच्छा हो तो शौकिया भी पहन सकते हैं।

लाइकेन से औषधि

रूसी वैज्ञानिकों को मन्ना लाइकेन से एक नयी औषधि प्राप्त करने में सफलता मिल गयी है। यह लाइकेन एशिया, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिणी-पूर्वी यूरोप में उगता है। इससे बनायी गई औषधि का नाम मन्नित (Mannit) रखा गया और इसका परीक्षण लेनिनग्राद अनुसंधान शाला में करने के बाद इसके औद्योगिक-उत्पादन की संस्तुति की गयी। यह औषधि गुर्दें की अक्षमता, सबलबाय (Glaucoma), जल जाना, घाव और कुछ प्रकार के विषाक्तीकरण के उपचार में कारगर (प्रभावी) है।

सैकैरिन और कैंसर

पिछले लम्बे अर्से से लोग सैकैरिन को शर्करा (चीनी) के स्थान पर इस्तेमाल करते आये हैं, मधुमेह (Diabetes) के रोगियों के लिये तो यह वरदान स्वरूप है। कुछ खाद्य-पदार्थों और अमादक पेयों में भी इसे प्रयुक्त करते हैं। प्रति वर्ष 50 लाख पाउण्ड सैकैरिन की खपत केवल अमरीका में

ही है। यह शर्करा से 550 गुणा अधिक मीठा होता है और इसी गुण के कारण सैकैरिन शीघ्र ही अधिक से अधिक लोकप्रिय हो गया। किन्तु इधर कुछ ऐसे तथ्य सामने उभर कर आये हैं जिन्होंने सैकैरिन के प्रयोग पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। कनाडा के राष्ट्रीय कैंसर संस्थान ने पिछले दिनों 723 ऐसे स्त्री-पुरुषों से पूछताछ की जो मूत्राशय के कैंसर से ग्रसित थे। आसपास के इसी वय के 723 नीरोग स्त्री-पुरुषों से भी पूछताछ की गयी। अधिकतर रोगी धूम्र-पान करने वाले थे या औद्योगिक संस्थाओं में कार्य करने वाले थे। रोगियों में से 15 प्रतिशत ऐसे लोग थे जिन्होंने पहले सैकैरिन का सेवन किया था जबकि निरोग लोगों में सैकैरिन का सेवन करने वालों की संख्या बहुत ही कम थी। इस सर्वेक्षण का निष्कर्ष यह निकला कि सैकैरिन का सेवन करने वालों में 90 प्रतिशत मूत्राशय के कैंसर से ग्रसित हो जाने की संभावना बढ़ जाती है। परिणामस्वरूप कनाडा सरकार ने सैकैरिन का इस्तेमाल बंद कर दिया। अमरीका की भी कई प्रयोगशालाओं में सैकैरिन से कैंसर पर अनुसंधान चल रहा है किन्तु अमरीकी वैज्ञानिक अभी किसी निश्चित मत पर नहीं पंहुचे हैं। जबकि यह पूर्णरूप से सिद्ध न हो जाय कि सैकैरिन से कैंसर नहीं होता है तब तक सैकैरिन के इस्तेमाल पर पाबंदी होनी चाहिये। सभी अमादक पेयों में सैकैरिन का इस्तेमाल बंद कर दिया जाना और साथ ही खुले बाजारों में सैकैरिन का बेचा जाना रोक देना चाहिये। इसे केवल चिकित्सकों के नुसखों (Prescriptions) पर ही देना चाहिये।

कृत्रिम रक्त : उपयोग उचित या अनुचित

कृत्रिम रक्त 1962 से ही चर्चा का विषय रहा है। ऐसा बहुधा देखने सुनने को मिलता है कि दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति की मृत्यु अस्पताल पँहुचने के पूर्व ही रास्ते में हो जाती है या रक्त के अभाव में व्यक्ति अस्पताल में ही दम तोड़ देता है। और शायद इसी कारण वैज्ञानिकों ने कृत्रिम रक्त तैयार करने की बात सोची। बम्बई अस्पताल के डा० बी० के० अमीन कहते हैं कि अभी कृत्रिम रक्त आदमियों के लिये प्रयुक्त होने में पचासों वर्ष लग जायेंगे किन्तु भारत में जन्मे अमरीकी वैज्ञानिक डा० दयाल टी० मेश्री बहुत ही आशावान हैं और उनका कहना है अब वह दिन दूर नहीं जब कृत्रिम रक्त का इस्तेमाल प्रारम्भ हो जायगा। डा० मेश्री ने कृत्रिम रक्त पर ओहियो के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० क्लार्क के साथ काम किया है। अन्य शोधार्थियों में हार्वर्ड के डा० रोबर्ट गेयर का नाम प्रमुख है।

ताजे प्राकृतिक रक्त को अधिक समय तक संग्रह करने की समस्या होती है। परिरक्षी के साथ रक्त को बोतलों में 3 हफ्ते तक ही रखा जा सकता है, तीन महीने तक कम ताप, 4° सेंटीग्रेड पर रखा जा सकता है और चूर्ण के रूप में कमरे के ताप पर 3 वर्ष तक रख सकते हैं। दूसरी समस्या रक्त के ग्रुप की होती है। किन्तु कृत्रिम रक्त के साथ न तो संग्रह की सुरक्षा की समस्या है और न ही रक्त के ग्रुप की।

जानवरों के शरीर में रक्त के स्थान पर फ्लोरोकार्बन (Fluorocarbons) अंत: क्षेपित (inject) करने का विचार डा० क्लार्क का ही था। फ्लोरोकार्बन में प्राकृतिक रक्त की ही तरह आक्सीजन को घुलाने या ले जाने का गुण होता है। इसमें स्थिरता और अविषाक्तता भी होती है। प्रथम सफल प्रयोग 1975 में किया गया और कृत्रिम रक्त 68 घंटे तक जीवित दशा में रहा। डा० मेश्री का कहना है कि रोगियों में कृत्रिम रक्त 72-96 घंटे तक जीवित दशा में रह सकता है और यह समय, शरीर में फिर से प्राकृतिक रक्त बनने लगे, इसके लिये पर्याप्त है। कृत्रिम रक्त दुर्घटनाग्रस्त, रोगियों, और विशेष रूप से रक्त कैंसर के रोगियों के लिये आशा के नये द्वार खोलता है। किन्तु अभी धैर्य की आवश्यकता है। कुछ प्रश्न अभी भी अनुत्तरित रह जाते हैं जिनका हल ढूढ़ना ही होगा। प्रश्न है, एक बार शरीर में प्रविष्ट हो जाने के बाद में फ्लोरोकार्बन कहाँ जायेंगे? शरीर को इनसे छुटकारा कैसे मिलेगा? ये हड्डियों और तिल्ली (Spleen) में तो नहीं चले जायेंगे? यह बाहरी पदार्थ क्या शरीर में दूसरे प्रकार की गड़बड़ियां नहीं पैदा करेगा? बाम्बे की टाटा रक्त बैंक की डा० (श्रीमती) सुमति नायर की आशंका निर्मूल नहीं है जब वे

फ्लोरोकार्बन के शरीर में एकत्रित हो जाने की तुलना शरीर में लोहे (iron) के एकत्रित हो जाने से करती हैं। यह सर्वविदित है कि 'कूले अनीमिया' (Cooleys anaemia) नामक रोग में रोगी के शरीर में जल्दी-जल्दी रक्त पंहुचाना पड़ता है, जब तक कि रोगी जीवित रहता है। इस रोग से मृत्यु हो जाने पर रोगी के शरीर की जाँच से पता चला है कि मृत्यु का कारण रोग नहीं वरन शरीर में लोहे का अत्यधिक मात्रा में एकत्रित हो जाना होता है। और इसी कारण कृत्रिम रक्त के मनुष्य के शरीर में प्रविष्ठ कराने में जल्दबाजी करना भयानक भूल होगी। अभी इस विषय पर और खोज की आवश्यकता है।

(श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव के सौजन्य से)

(पृष्ठ 12 का शेषांश)

द्रवीय आक्टानाल (−12°) माध्यम की क्रियागति से लगभग 30 गुना अधिक है। टाटा इंस्टीट्यूट आफ फण्डामेन्टल रिसर्च (*TIFR*) के भारतीय वैज्ञानिक वी०वी० थोसर एवं उनके सहयोगियों ने अपने अथक परिश्रम एवं अभूतपूर्व दूरदर्शिता के द्वारा मुक्त आयतन सिद्धान्त (Free-volume theory) के आधार पर एक समीकरण प्राप्त किया है जो इस तथ्य की व्याख्या अत्यन्त सन्तोषप्रद रूप से करता है।

मन्द आर्थो-पॉज़िट्रोनियम परमाणु नाइट्रोएरोमैटिक्स, क्विनोन, कार्बोनियम आयन और कुछ अकार्बनिक आयनों के साथ विलेय अवस्था में तीव्रगति से क्रिया करता है।

पॉज़िट्रोनियम के उपयोग—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है पॉज़िट्रोनियम का उपयोग रासायनिक अभिक्रियाओं की क्रियाविधि जानने में संकेतक के रूप में किया जाता है।

सछिद्र (porous) माध्यम में आर्थो-पॉज़िट्रोनियम दो भिन्न जीवनकाल की अवस्थाओं में पाया जाता है। प्रथम अवस्था में इसका जीवनकाल 2.0×10^{-9} से० के लगभग तथा दूसरी अवस्था में इसका जीवनकाल 1.4×10^{-7} से० के आसपास पाया जाता है। माध्यम की छिद्रमयता बढ़ने से प्रथम अवस्था के पॉज़िट्रोनियम की तीव्रता (intensity) कम तथा दूसरी अवस्था के पॉज़िट्रोनियम की तीव्रता बढ़ती है। अतः पॉज़िट्रोनियम का उपयोग माध्यम की छिद्रमयता को निकालने में किया गया है। इसके अतिरिक्त पॉज़िट्रोनियम का उपयोग सतहों' अधिशोषण एवं विषमांगी उत्प्रेरण के अध्ययन में किया गया है। ●

प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा अभिनन्दित

18 अक्टूबर को 11 बजे प्रातःकाल विज्ञान परिषद् की ओर से प्रो० फूलदेव वर्मा को कानपुर में उनके निवास स्थान पर अभिनन्दन स्मारिका भेंट की गई। इस अवसर पर इलाहाबाद से परिषद् के उपसभापति डा० रामदास तिवारी, स्वामी सत्यप्रकाश, परिषद् के प्रधान मन्त्री डा० शिवगोपाल मिश्र, परिषद् के कोषाध्यक्ष डा० पूरण चन्द्र गुप्त और कार्यालय प्रभारी श्री गंगाधर तिवारी, तथा विज्ञान भारती के सम्पादक श्री शुकदेव प्रसाद के अतरिक्त दिल्ली से इसी कार्य को समपन्न करने के लिए आये डा० आत्माराम जी भी उपसथित थे। सर्वप्रथम डा० आत्माराम ने प्रो० वर्मा के मस्तक पर अक्षत-चन्दन लगाया, माला पहनाई और फिर अभिनन्दन पुस्तिका भेंट की। प्रो० वर्मा ने जो अस्वस्थता के कारण स्पष्ट बोल पाने में अक्षम थे, बड़े ही प्रयास से कुछ शब्दों में धन्यवाद दिया। फिर स्वामी सत्यप्रकाश जी ने प्रो० वर्मा द्वारा की गई हिन्दी सेवाओं का उल्लेख किया। डा० आत्माराम ने रोचक संस्मरण के रूप में प्रो० वर्मा के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। अन्त में परिषद् के प्रधान मन्त्री ने प्रो० वर्मा के परिवार के सदस्यों को धन्यवाद दिया जिन्होंने परिषद् को अवसर दिया कि वह अपने पूर्व संकल्प को पूरा कर सके।

डा० आत्माराम द्वारा परिषद् को दान

वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् के भूतपूर्व निदेशक डा० आत्माराम ने 17 अक्टूबर 1979 को इलाहाबाद में विज्ञान परिषद् की व्याख्यानशाला को सज्जित करने के लिए पाँच हजार रुपये दान की घोषणा की। डा० आत्माराम विज्ञान परिषद् के आजीवन सभ्य हैं। सन् 1935 से ही वे परिषद् की गतिविधियों में रुचि लेते रहे हैं। वे हिन्दी के माध्यम से विज्ञान के प्रचार एवं प्रसार के कट्टर समर्थक हैं। वे भारतीयता के प्रतीक हैं। परिषद् उन्हें गाँधीवादी वैज्ञानिक के रूप मानता है। उनका यह दान अन्य दानवीरों के लिये उदाहरणस्वरूप होगा।

नयी दुनिया की सृष्टि

● प्रेम चन्द्र श्रीवास्तव

'स्पैन' पत्रिका के जुलाई 1976 अंक में प्रोफेसर आइज़क आसिमोव का एक लेख 'क्रियेटिंग न्यू वर्ल्डस' नामक शीर्षक से छपा था। आसिमोव साहब अमरीका के बोस्टन विश्वविद्यालय में बायोकेमिस्ट्री के एसोशिएट प्रोफेसर रह चुके हैं। आपने 200 के लगभग पुस्तकों और कई सौ लेखों की रचना की है। विज्ञान में वास्तविक और काल्पनिक दोनों तरह के श्रेष्ठ साहित्य का सृजन किया है। आपकी लेखनी में जादू का असर है।

आपका लेख पढ़ने के बाद मैं भी चमत्कृत हो गया किन्तु लेख कुछ सोचने-समझने को भी मजबूर करता है। लेख पर विचार प्रगट करने के पूर्व मूल लेख की चर्चा पहले ही करना आवश्यक है।

आज इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विश्व के सामने जो पहली समस्या है वह 'जनसंख्या-विस्फोट' की समस्या है। इसी के साथ दो और बड़ी समस्यायें जुड़ी हुई हैं। एक तो प्राकृतिक संपदा का निरंतर क्षय और दूसरा वातावरण का प्रदूषण। इस समय विश्व की जनसंख्या 4,000 मिलियन (400 करोड़) से भी अधिक हो चुकी है। इसी दर (1.970) से यदि मनुष्यों की आबादी बढ़ती रही तो इस शताब्दी के अंत तक या अगली शताब्दी के प्रारंभ में हमारी संख्या इस धरती पर 7,000 मिलियन हो जायगी। फिर तो हमारी धरती हमारे लिए छोटी पड़ने लगेगी। और यदि हमें अपने अस्तित्व की रक्षा करनी है तो नयी दुनिया की सृष्टि करनी ही होगी।

कहां बसेगी यह नई दुनिया? और कैसा होगा इसका स्वरूप? हमारा ध्यान प्रारंभ में अपने आस-पास के ग्रहों पर ही जाता है और चन्द्रमा हमारा निकटतम ग्रह है किन्तु हम जानते हैं कि चन्द्रमा निर्जीव है और वहाँ किसी भी प्रकार के जीवन की संभावना नहीं है। वहाँ नयी दुनिया बसाने का काम इतना खर्चीला है कि वैज्ञानिकों ने चन्द्रमा को रहने योग्य बनाने का विचार ही त्याग दिया है। फिर कहाँ बसेगी यह नई दुनिया? उत्तर देते हैं प्रिन्सटन विश्व विद्यालय (अमरीका) के भौतिक विज्ञान विभाग के प्रोफेसर जेराड ओ'नील। ओनील साहब का कहना है कि अंतरिक्ष में दो ऐसे स्थान हैं जहाँ नई दुनिया बसाई जा सकती है। ये स्थान पृथ्वी से उतने ही दूर हैं जितना चद्रमा किन्तु ये स्थान चन्द्रमा नहीं हैं? प्रोफेसर जेरार्ड ओनील कहते हैं कि कल्पना कीजिए कि चन्द्रमा सिर के ठीक ऊपर है। चन्द्रमा से नीचे क्षितिज में पूर्व दिशा की ओर एक सीधी रेखा खींचिए। इस रेखा पर ऊपर की तरफ से दो तिहाई और नीचे की तरफ से ऊपर की तरफ एक तिहाई भाग पर एक बिन्दु रखिए यही बिन्दु वह स्थान है जहाँ नई दुनिया का निर्माण संभव है। इसी प्रकार चन्द्रमा से पश्चिम दिशा की ओर भी क्षितिज में एक सीधी रेखा खींचिये और ऊपर से दो तिहाई और नीचे से एक तिहाई दूरी पर एक बिन्दु रख दीजिये। यही बिन्दु वह दूसरा स्थान होगा जहाँ नई दुनिया बसाई जा सकती है। इन दोनों बिन्दुओं पर यदि कोई वस्तु (पिण्ड) रख दिया जाय तो वह पिण्ड वहाँ टिक जायेगा। यह पिण्ड पृथ्वी और चंद्रमा के साथ एक

समबाहु त्रिभुज बनाता है। अर्थात् इस स्थान की दूरी पृथ्वी और चन्द्रमा से समान होगी।

प्रोफेसर ओनील ने कोई नई बात नहीं बताई है। वर्षों पूर्व 1772 में जोसेफ लुई लैग्रैंज नामक ज्योतिषाचार्य यह बात पहले ही बता चुके हैं कि यदि इन दो स्थानों पर किसी वस्तु को रख दिया जाय तो वह स्थिर हो जायेगी। यह वस्तु चंद्रमा के साथ कदम से कदम मिलाकर चलेगी किन्तु पृथ्वी की उसी प्रकार परिक्रमा करेगी जैसे चन्द्रमा करता है। पिण्ड के स्थिर होने का रहस्य है चंद्रमा और पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण बल का परस्पर विरोधी और समान होना।

सच पूछिए तो प्रोफेसर ओनील इसी लैग्रैंज-नियम से लाभ उठाने की बात करते हैं और कहते हैं कि इन्हीं स्थानों पर अंतरिक्ष कॉलोनियां स्थापित की जा सकती हैं। ये कॉलोनियां पृथ्वी-चंद्रमा निकाय का अभिन्न अंग होंगीं।

प्रोफेसर जेरार्ड ओनील ने बड़े-बड़े लम्बे सिलिंडरों में प्राकृतिक वातावरण तैयार करके उनके ऊपर मनुष्यों के रहने की परिकल्पना की है। इन्हीं सिलिंडरों के भीतर कृषि, पशुपालन, कलकारखाने और मकानों सहित जीवन के लिए उपयोगी समस्त सुविधायें उपलब्ध होंगी। इस प्रकार प्रत्येक सिलिंडर एक स्वतन्त्र कॉलोनी या उपनिवेश होगा।

कैसी होगी यह नई दुनिया? प्रोफेसर की परिकल्पना के अनुसार ये सिलिंडर खोखले होंगे। सिलिंडरों को ऐलुमिनियम और कड़े प्लास्टिक से बनाया जायेगा। इसमें पारदर्शी और अपारदर्शी पट्टियां होंगी जो एक के बाद एक संजोई हुई होंगी। अपारदर्शी पट्टियों के अंदर की सतह पर मिट्टी फैलायी जायेगी। इसी पर मकान और कल-कारखाने बनाये जायेंगे। अंदर के क्षेत्र को आप अपनी रुचि के अनुसार जैसा चाहें बना लें। ये भू-दृश्य चाहे पंजाब के मैदानों जैसे हों या जर्मनी के राइन लैण्ड जैसे या फिर कैलीफोर्निया के समुद्र तटवर्ती स्थानों जैसे भी हो सकते हैं। अंदर की दुनिया हमारी जानी-पहचानी दुनिया होगी। अर्थात् भू-दृश्य की प्रतिकृतियां धरती की नकल। अंदर की मिट्टी (भूमि) पर ही खेती और पशुपालन की व्यवस्था होगी। धरती जैसी नदियां और पहाड़ भी होंगे। खाली स्थान में बादल और वायु भी होगी। सिलिंडरों के किनारे पर बड़े-बड़े आयताकार दर्पण लगे होंगे जो घूम सकेंगे। वे दर्पण सूरज की रोशनी को बाहर से अंदर पंहुचा देंगे। इस प्रकार अंधेरी गुफाओं जैसे सिलिंडर दिन के प्रकाश से जगमगाने लगेंगे। यही नहीं ये दर्पण दिन-रात और विभिन्न प्रकार के मौसमों को नियंत्रित करेंगे। ये सिलिंडर 32 किलोमीटर (32,000 मीटर) लम्बे और 6.4 किलोमीटर (6,400 मीटर) व्यास वाले होंगे।

ये सिलिंडर अपनी लम्बी धुरी पर 114 सेकेण्ड में एक बार घूम जायेंगे। इस प्रकार घूमने से सिलिंडरों में पृथ्वी की तरह अपकेन्द्री बल (सेन्ट्रीफ्यूगल फोर्स) उत्पन्न हो जायेगा।

इतनी बड़ी योजना को कार्यरुप में परिणत करने के लिए सामान कहाँ से, प्राप्त होगा? हमारा ध्यान अपनी पृथ्वी की तरफ ही जाता है। आसिमोव महोदय कहते हैं कि यह धरती मनुष्यों के भार से आर्तनाद कर रही है; धसकती जा रही है। ऐसी दशा में जब स्वयं धरती की प्राकृतिक सम्पदा का क्षय हो रहा है, अंतरिक्ष कॉलोनियां बनाने के लिए क्या कच्चा माल दे पायेगी? और यदि नहीं दे पायेगी तो हमें अपना ध्यान किसी दूसरे निकट के ग्रह की ओर मोड़ना होगा। स्वाभाविक रुप से हमारा ध्यान अपने समीप के ग्रह चंद्रमा की ओर जाता है। यह निर्विवाद सत्य है कि चंद्रमा पर जीवन की कोई संभावना नहीं है इसलिये सारा कच्चामाल हमें चन्द्रमा से प्राप्त हो जायेगा। चन्द्रमा आकार में पृथ्वी की अपेक्षा छोटा है (1/80) और 400,000 किलोमीटर दूर स्थित है। चंद्रमा पर मानव पंहुच चुका है और वहाँ से सामान लाने में कोई रोक-टोक नहीं होगी। साथ ही साथ किसी और ग्रह की अपेक्षा सुविधाजनक भी अधिक होगा। चंद्रमा से हमें ऐलुमिनियम, शीशा कंक्रीट

और अन्य बहुत सा उपयोगी सामान प्राप्त हो जायेगा। चंद्रमा की ही मिट्टी को सिलिंडरों के अंदर फैलायेंगे और उसी पर मनुष्यों के लिए मकान भी बनेंगे और कृषि-कर्म भी किया जायेगा। चंद्रमा पर ये सभी सामान प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। क्षीण गुरुत्वाकर्षण के कारण वहाँ से सामान उठाने में कम शक्ति लगानी पड़ेगी। धरती की अपेक्षा केवल $1/_{20}$। पहली अंतरिक्ष कॉलोनी के निर्माण में बहुत अधिक खर्च बैठेगा, चाहे कॉलोनी छोटी ही हो। इसके लिए हमें पृथ्वी से ही उन्नत किस्म के उपकरण, मशीनें, विभिन्न प्रकार के जन्तु और वनस्पतियाँ, भोजन पदार्थ, ऊर्जा आदि ले जाना पड़ेगा। यही नहीं लगभग 2% कच्चा माल भी पृथ्वी से ही ले जाना पड़ेगा। किन्तु बाद की कॉलोनियों में खर्च कम आयेगा। प्रत्येक पहले बनी कॉलोनी दूसरी के निर्माण में सहायता करेगी। इसके साथ ही कॉलोनियों के निर्माण की तकनीक में भी सुधार होता जायेगा। आसिमोव साहब काफी आशावान हैं। उनका कहना है कि अंत में बनी कॉलोनियां तो उसी आसानी से बना ली जायेंगी जैसे महानगर के ईद-गिर्द उपनगर बसा लिये जाते हैं। प्रोफेसर ओनील की परिकल्पना के अनुसार प्रारंभ में केवल दो छोटी जुड़वा कॉलोनियां बनाई जायेंगी। अर्थात् केवल दो घुमते हुए सिलिंडर। प्रत्येक की लम्बाई 1,000 मीटर और चौड़ाई 100 मीटर होगी। इसमें केवल 10,000 लोगों के रहने की व्यवस्था होगी।

अंतरिक्ष कॉलोनियां ऊर्जा सूर्य से प्राप्त करेंगी। इसके लिए सिलिंडरों के ऊपर की ओर शक्तिशाली बिजली घर होंगे जो सिलिंडरों के अंदर ऊर्जा देंगे। यह ऊर्जा सौर ऊर्जा होगी जो अत्यधिक कभी न खत्म होने वाली, आसानी से संचालित की जाने वाली और प्रदूषण रहित होगी। इस ऊर्जा का प्रयोग कच्ची धातुओं को गलाने, कारखानों को चलाने, खेती करने और कूड़े-कचरे से उपयोगी वस्तुओं के निर्माण में किया जायेगा। बड़ी कॉलोनी में 20 मिलियन मनुष्यों के रहने की व्यवस्था होगी। वैसे 5 मिलियन से 10 मिलियन मनुष्य आराम से इनमें रह सकेंगे। सिलिंडरों के चारो ओर गोलाई में ढेर सारी कृषि-अनुसंधान शालाओं का निर्माण किया जायेगा। ये अनुसंधान शालायें दूर से चाय के प्याले जैसी दिखेंगी। इस प्रकार प्रत्येक कॉलोनी अपने में पूर्ण होगी।

प्रोफेसर ओनील के अनुसार यदि अंतरिक्ष कॉलोनियों के निर्माण का कार्य सुचारु रूप से चलता रहा तो पहली अंतरिक्ष कॉलोनी 1989 तक तैयार होकर अंतरिक्ष में स्थापित हो जायेगी। यही नहीं इक्कीसवीं शताब्दी के मध्य तक ऐसी कई सौ कॉलोनियां बनकर तैयार हो जायेंगी। प्रोफेसर ओनील कहते हैं यह नई दुनिया धरती जैसी नहीं, सुखद होगी। इन्हें मनुष्य की आवश्यकता के अनुसार ढाला जायेगा। इसमें मौसम और ताप नियंत्रित होंगे, खर पतवार, हानिप्रद कीड़े-मकोड़े और रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणु नहीं होंगे। उन्हें पृथ्वी पर ही छोड़ दिया जायेगा।

अंतरिक्ष कॉलोनियों को स्थापित करने में क्या कठिनाइयां और खतरे नहीं होंगे? आसिमोव साहब इससे इन्कार नहीं करते। उनका कहना है कि कठिनाइयां, खतरे होंगे। इनमें सर्वप्रथम इन कॉलोनियों के उल्कापिण्ड से टकराने की संभावना तो है, किन्तु अधिक नही। कहीं लाखों वर्षों में एक बार ऐसा हो सकता है कि कोई इतना बड़ा उल्का पिण्ड कॉलोनी से टकरा जाय और उसे नष्ट कर दे।

दूसरा खतरा शक्तिशाली सूर्य-रश्मियों से है। सिलिंडरों के ऐलुमिनियम, प्लास्टिक और मिट्टी के रक्षा-कवच के कारण यह समस्या गंभीर नहीं है। बल्कि ब्रह्माण्ड किरणें (कास्मिक रेज़) बहुत ही खतरनाक साबित होंगी किन्तु आसिमोव साहब पूछते हैं कि ये खतरे कहां नहीं हैं? ब्रह्माण्ड किरणों से प्रोफेसर ओनील बचने का क्या सुझाव देते हैं यह मालूम होना अभी भी शेष है।

कॉलोनी के भीतर बड़े वाहनों की आवश्यकता नहीं होगी। भूमि पर सायकिलों से काम चल जायगा और मनोरंजन के लिए ग्लाइडरों का प्रयोग कर सकते हैं।

जैसे जैसे अंतरिक्ष कॉलोनियों की संख्या बढ़ती जायेगी वैसे वैसे अंतरिक्ष में बसने वाले मनुष्यों के स्थान का विस्तार होता जायेगा। 2075 तक एक बिलियन लोग अंतरिक्ष में

बस जायेंगे और बाइसवीं शताब्दी के मध्य तक (2150) पृथ्वी से अधिक मनुष्य अंतरिक्ष कॉलोनियों में रहने लगेंगे।

आसिमोव साहब का कहना है कि उस समय पृथ्वी पर रहने वालों की संख्या बहुत ही कम होगी। इस धरती पर सावधानी पूर्वक बनाये गये उपवन या बीहड़ सुरक्षित होंगे। अंतरिक्ष कॉलोनियों से आने वाले पर्यटक धरती को मनुष्य के जन्म और उससे पूर्व की परिस्थिति के स्मारक के रूप में देखेंगे। पर्यटन द्वारा ही पृथ्वी का रख-रखाव होगा।

ये अंतरिक्ष कॉलोनियां एक दूसरे से दूर भी होंगी। इसमें हजारों की संख्या में अलग अलग सभ्यतायें विकसित होंगी। प्रत्येक कॉलोनी का जीवन जीने का तरीका अलग होगा। परम्परा से अलग इन कॉलोनियों में कुछ अति नैतिकवादी, कुछ भोगवादी, कुछ स्वतन्त्रता के हिमायती तो कुछ सत्तावादी और कुछ विभिन्न धर्मों को मानने वाली होंगी। आप अपनी इच्छानुसार इनमें रहने का चुनाव कर सकेंगे। एक कॉलोनी में जन्मा मनुष्य बाद में किसी और कॉलोनी को निवास के लिए चुन सकेगा। वैसे रहें कहीं भी, एक से दूसरी कॉलोनी में सैर-सपाटा तो कर ही सकते हैं। इस प्रकार मनुष्य की हजारों तरह की सभ्यतायें होंगी। हर कॉलोनी का वस्त्राभूषण, कला साहित्य और संगीत अलग-अलग किस्म का होगा। रचनात्मकता, विशेष रूप से वैज्ञानिक प्रगति, की तो सीमा ही नहीं रहेगी, ऐसी आशा प्रोफेसर असिमोव को है।

यह सच है कि आज हम कठिन दौर से गुजर रहे हैं। विश्व की अर्थ-व्यवस्था लड़खड़ा रही है। चमकीले स्वप्न निराशा में परिवर्तित हो रहे हैं। किन्तु इसी निराशा में आशा का सूर्य उगेगा। प्रो० ओनील अपनी इसी आशावादिता के माध्यम से विश्व की अर्थ-व्यवस्था को संभालने का स्वप्न देख रहे हैं। उन्होने एक 'सैटेलाइट सोलर पावर स्टेशन' बनाने की भी योजना सामने रखी है। यह बिजली घर सूर्य के प्रकाश का शोषण करके उसे सूक्ष्म तरंग ऊर्जा (माइक्रोवेव एनर्जी) में बदल देगा जिसका उपयोग पृथ्वी पर सीधे विद्युत धारा की तरह कर सकते हैं। इस प्रकार पृथ्वी को प्रचुर मात्रा में साफ-सुथरी ऊर्जा मिलती रहेगी।

आसिमोव साहब कहते हैं कि आज ऊर्जा-संकट हमें यह सुअवसर प्रदान कर रहा है। सौर ऊर्जा हमें अंतरिक्ष के रास्ते रिश्वत में मिल रही है। और यदि इस अवसर का लाभ उठाया गया रिश्वत स्वीकार कर ली गयी तो एक के बाद एक कॉलोनियों की स्थापना होती जायेगी। संभवत: इसी में मानवता का उद्धार निहित है।

अब मैं इस लेख के माध्यम से आपके समक्ष कुछ सामाजिक और नैतिक प्रश्न उठाना चाहूँगा। मेरे विचार से प्रोफेसर ओनील और उनके विचारों की व्याख्या करने वाले प्रोफेसर आसिमोव दोनों अंधेरे में भटक रहे हैं। धरती की समस्याओं का निदान हमें धरती पर ही ढूढ़ना होगा। अंतरिक्ष में कॉलोनियों की स्थापना जहाँ एक ओर पलायन वादी विचारधारा का द्योतक है, वहीं अमरीका जैसे साधन सम्पन्न देश की विस्तार वादी नीति का परिचायक है। जब धरती पर विस्तार न कर सके तो अंतरिक्ष में बसने की बात करने लगे। वैज्ञानिकों और विज्ञान लेखकों का कुछ सामाजिक दायित्व होता है। कल्पित विज्ञान तो केवल मनोरंजन के लिए लिखा जाता है और उसमें हर तरह की बात चल जाती है। विज्ञान -साहित्य का सृजन गुरुतर दायित्व है और शायद यहीं प्रोफेसर आसिमोव चूक गये हैं। क्या अंतरिक्ष कॉलोनियों में बाद में वही समस्यायें नहीं उत्पन्न हो जायेंगी जो आज धरती पर हैं? यदि मनुष्य अपने अज्ञान से प्रकृति के सन्तुलन को बिगाड़ सकता है तो क्या वह अंतरिक्ष कॉलोनियों में संतुलन बनाये रखेगा? क्या केवल अंतरिक्ष कॉलोनियों में निवास करने से मनुष्य का स्वभाव बदल जायेगा?

विश्व की लड़खड़ाती अर्थ व्यवस्था क्या अंतरिक्ष कॉलोनियों के निर्माण पर व्यय होने वाले धन की व्यवस्था कर पायेगी? कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर गैरेट हार्डिन का कहना है कि केवल एक दिन की धरती की आबादी को अंतरिक्ष कॉलोनियों में बसाने में 369 बिलियन डालर की आवश्यकता होगी। बीसवीं शताब्दी के अंत तक हमें 3 बिलियन से भी अधिक मनुष्यों को अंतरिक्ष कॉलोनियों में ले जाने की व्यवस्था करनी होगी और इसके लिए

हमें कई सौ नहीं, कई हजार अंतरिक्ष कॉलोनियों का निर्माण करना होगा।

टाइम्स आफ इण्डिया, नामक पत्र के सहायक सम्पादक एम०बी० मैथ्यू ने गणना करके बताया है कि जिस कभी न समाप्त होने वाली सौर ऊर्जा की बात प्रोफेसर ओनील और प्रोफेसर आसिमोव कहते है वह उचित मात्रा में कॉलोनियों को प्राप्त नही हो सकती। मैथ्यू साहब कहते हैं कि इस पृथ्वी पर प्रति सेकेण्ड 600 बिलियन किलो कैलोरी सौर ऊर्जा पौधे इस्तेमाल करते हैं। इसकी आधी उर्जा ही प्रकाश-संश्लेषण की संक्रिया में भोजन में परिवर्तित होती है। यदि पूरी ऊर्जा को काम में लाया जा सके तो उससे 1,500 बिलियन मनुष्यों के लिए भोजन की व्यवस्था हो सकती है। (यदि दूसरे जीव इसमें सम्मिलित न किए जायें)। इस प्रकार 1,500 बिलियन मनुष्यो के भोजन की व्यवस्था के लिए 504 मिलियन स्क्वायर किलोमीटर संग्राही क्षेत्र (कलेक्टर एरिया) की आवश्यकता होगी। और प्रोफेसर ओनील के बड़े जुड़वे सिलिंडरों में रहने वाले 10 मिलियन लोगों के लिए 3,360 स्क्वायर किलोमीटर संग्राही क्षेत्र की आवश्यकता होगी जबकि वास्तविकता यह है कि इन सिलिंडरों में संग्राही क्षेत्र केवल 603 स्क्वायर किलोमीटर होगा। यह आवश्यक संग्राही क्षेत्र के पांचवे भाग से भी कम है।

आसिमोव साहब कहते हैं कि मनुष्यों के भार से यह पृथ्वी 'आर्तनाद कर रही है' धसकती जा रही है'। किन्तु ऐसा नहीं है। यदि एक मनुष्य का औसत भार 50 किलो ग्राम मान लें तो कुल भार 200 मिलियन टन हुआ। यदि इसके साथ सारे-ताम-झाम को भी जोड़ लें तो भार 200 बिलियन टन होता है। जबकि पृथ्वी का द्रव्यमान 5,977 बिलियन टन (5,977 000, 000, 000, 000, 000, 000 टन) है। यह ऐसा ही है जैसे श्री लंका पर एक मक्खी बैठी हो।

मनुष्य पृथ्वी पर लम्बे समय (लगभग 30 लाख वर्ष) से रहता आ रहा है और यहां रहने का अभ्यस्त हो गया है। अंतरिक्ष का वातावरण हमारे प्रतिकूल हैं, इस बात की पुष्टि आर्मस्ट्रांग सहित कुछ अन्य अंतरिक्ष यात्रियों ने की है। मनुष्य के शरीर पर अंतरिक्ष का वातावरण बुरा प्रभाव छोड़ता है।

शरीर के अतिरिक्त सामाजिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक समस्याओं को भी ध्यान में रखना होगा। इस बात को कौन तय करेगा कि कौन कौन से लोग अंतरिक्ष कॉलोनियों में जायेंगे ? कौन किस बैच या किस कॉलोनी में जायेगा ? वहां बसने वालों के लिए कैसी ट्रेनिंग की आवश्यकता होगी ? फिर क्या सब कुछ यहीं छोड़कर लोग जाने को तैयार हो जायेंगे ? पास्चर संस्थान के प्रोफेसर मोनोड सत्य के कितने निकट हैं जब वे कहते हैं कि धरती के मनुष्य को अंतरिक्ष में बसा देना आसान नहीं होगा। आदमी कोई आलू नहीं जिसे एक स्थान से खोदकर दूसरे स्थानों को पँहुचा दिया जाये।

साधन सम्पन्न देश विज्ञान के साथ खिलवाड़ करते ही रहते हैं। किन्तु ऐसा केवल अज्ञानता के कारण ही करते हैं। डाक्टर जार्ज बैंकोफ ने अपनी पुस्तक 'द स्टोरी आव पेनिसिलिन' में कहा है कि मनुष्य में अच्छी और बुरी दोनों तरह की प्रवृत्तियाँ होती हैं। वह डाक्टर जेकिल भी है और मिस्टर हाइड भी है। अच्छे काम अपने विवेक और ज्ञान से करता है और बुरे काम अविवेक और अज्ञान के कारण करता है। मनुष्य की उम्र ही क्या है ? यदि विश्व की उम्र एक वर्ष की मान ली जाये तो मनुष्य उस वर्ष 31 दिसम्बर को 7.30 बजे रात्रि पूर्व नहीं जन्मा। इस प्रकृति में मनुष्य की स्थिति अबोध बच्चे जैसी हैं। हमें अपना बचपना, अपना अज्ञान छोड़ना ही होगा। इसी में मानवता का उद्धार निहित है, न कि अंतरिक्ष में कॉलोनियां बसाने में। स्काई लैब का धरती पर गिरना हमें बार बार चेतावनी दे रहा है। वैसे मैं जानता हूँ कि अमरीका जैसे साधन सम्पन्न देश एक न एक दिन अंतरिक्ष में कॉलोनिया बसा कर ही दम लेंगें। यहीं मैं यह भी विश्वास करता हूँ कि वहां बसने के लिए नहीं बल्कि कनुष्य केवल सैर-सपाटे के लिए जाया करेगा। इस बीच मानवता के उद्धार के लिए

शेष पृष्ठ 8 पर

डी० डी० टी० एवम् पर्यावरण प्रदूषण

● हेम चन्द्र जोशी

नमक, शर्करा, स्पिरिट व पेनिसिलिन की तरह डी०डी० टी० भी एक ऐसा रसायन है जिसे छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, हर स्तर व हर समुदाय के लोग जानते हैं। पिछले 30 वर्षों में जन स्वास्थ्य व कृषि में डी० डी० टी० की अत्यधिक उपयोगिता ही इस प्रसिद्धि का मूल कारण है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि डी० डी० टी० मानव प्रगति में बहुत सहायक रही है। सन् 1940 में पाल मुलर द्वारा डी० डी० टी० की उपयोगिता सिद्ध करने के बाद इसका प्रयोग विशाल स्तर में बढ़ने लगा। डी० डी० टी० के अभूतपूर्व कीटनाशक गुणों के कारण करोड़ों लोगों को नया जीवनदान मिला। द्वितीय विश्वयुद्ध के दिनों सैनिक कैम्पों में फैले मलेरिया के प्रलयकारी प्रकोप से मुक्ति दिलाने में डी० डी० टी० का ही मुख्य योगदान रहा। भारत जैसे उष्ण जलवायु वाले क्षेत्रों में जहाँ मच्छर व मलेरिया अत्यधिक सक्रिय रहते हैं, विशाल जनहानि को रोकने का श्रेय डी० डी० टी० ही को जाता है। पिछले 20 वर्षों में (1970 तक) मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के अन्तर्गत डी० डी० टी० के विस्तृत प्रयोग से भारत में औसत आयु 32 से 52 वर्ष पहुँच गई। जन स्वास्थ्य के अतिरिक्त कृषि के क्षेत्र में भी पादप संरक्षण हेतु डी० डी० टी० के प्रयोग से विभिन्न फसलों, फलों, इत्यादि को अनेक प्रकार के कीटों से पहुँचने वाली हानि से बचाया गया, अतः यह विश्वास किया जाना सर्वथा उचित हैं कि डी० डी० टी० हमारा जीवन स्तर सुधारने में बहुत सहायक रही है।

जहाँ एक ओर अच्छे जीवन स्तर के लिए डी० डी० टी० का प्रयोग लगभग अनिवार्य सा हो गया है, वहीं इसके धीरे-धीरे पर्यावरण में एकत्रित हो जाने से प्रदूषण का भय भी उतना ही बढ़ गया है। पर्यावरण प्रदूषण पर अब तक हुये शोध का निष्कर्ष डी० डी० टी० के भावी प्रयोग पर प्रश्न चिन्ह लगाये हुये है। यदि वर्तमान गति से डी० डी० टी० का प्रयोग होता रहा तो कालान्तर में डी० डी० टी० से उत्पन्न पर्यावरण प्रदूषण की समस्या समाधान से परे निकल जायेगी। भारत में कुछ क्षेत्रों में खाद्यानों, सब्जियों, दूध व पशु-आहार में डी० डी० टी० के अवशेष इतनी अधिक मात्रा में मिले हैं कि वे जन स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक हैं। अमेरिका, कनाडा जैसे विकसित देशों में तो डी० डी० टी० के कुप्रभाव को ध्यान में रखते हुए इसका प्रयोग निषेध कर दिया गया है; भारत में इस सन्दर्भ में स्थिति अत्यधिक जटिल है। एक ओर तो डी० डी० टी० के अवशेषों से उत्पन्न समस्या की अवहेलना नहीं की जा सकती दूसरी ओर डी० डी० टी० के प्रयोग को रोका भी नहीं जा सकता क्योंकि हमारे यहाँ प्रायः मलेरिया, फाइलेरिया या इन्सेफ्लाइटिस जैसी गम्भीर बीमारियाँ किसी न किसी क्षेत्र में अपना प्रकोप बनाये रहती हैं और डी० डी० टी० जैसे सस्ते रसायन के विकल्प में अधिक खर्चीले रसायनों का भारी मात्रा में प्रयोग हमारी अर्थ व्यवस्था के अनुकूल नहीं बैठता। फिर भी कुछ न कुछ तो निदान होना ही चाहिये। इस विषय में आगे बढ़ने से पहले डी० डी० टी० के इतिहास, संरचना व पर्यावरण में इसकी प्रक्रियायों की भी कुछ चर्चा कर ली जाये।

डी० डी० टी० रसायन का अविष्कार सन् 1973 ई० में युवा जर्मन वैज्ञानिक जीडलर ने किया था लेकिन इसकी

उपयोगिता का ज्ञान न होने के कारण इतना महत्वपूर्ण रसायन वर्षों तक यूँ ही पड़ा रहा। सन् 1939 में पाल मुलर नामक वैज्ञानिक ने डाइ फिनाइल यौगिकों की कीट-नाशक क्षमता पर कार्य प्रारम्भ किया। इन्हीं प्रयोगों के मध्य डी० डी० टी० की अभूतपूर्व कीटनाशक क्षमता का आविष्कार हुआ। इस खोज पर उन्हें सन् 1948 में नोबुल पुरष्कार मिला। डी० डी० टी० डाइक्लोरो डाइफेनिल ट्राइक्लोरोएथेन नामक रसायन का संक्षिप्त व प्रचलित नाम है।

कम वाष्प दाब, परावैंगनी किरणों का नगण्य प्रभाव, पानी में कम घुलनशीलता, वसा में अत्यधिक घुलनशीलता तथा कुल मिलाकर डी० डी० टी० का चिरस्थायीपन कुछ ऐसे गुण हैं जिनके कारण इसकी उपयोगिता उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। डी० डी० टी० के अतिरिक्त इसके दो मुख्य अभिजनक (मेटा बोलाइट) डी० डी० ई० व डी० डी० डी० भी डी० डी० टी० की तरह ही प्रभावशाली व चिरस्थायी है। अतः एक बार प्रयोग होने के बाद डी० डी० टी० का कीटनाशक प्रभाव काफी दिनों तक बना रहता है लेकिन जहाँ एक ओर डी० डी० टी० के इन गुणों के कारण इसकी उपयोगिता बढ़ी है उन्हीं गुणों के करण डी० डी० टी० द्वारा पर्यावरण प्रदूषण एक बहुचर्चित विषय बन गया है। प्रारम्भ में डी० डी० टी० की उपयोगिता का आकस्मिक ज्ञान होने पर इसका प्रयोग असीमित मात्रा में हुआ परन्तु अपने चिरस्थायीपन के कारण डी० डी० टी० धीरे-धीरे पौधों, जीव-जन्तुओं व मृदा मे एकत्रित होती गई यहाँ तक कि मानव कोषिका में भी डी० डी० टी० या इसके अभिजनकों (डी० डी० ई० व डी० डी० डी०) की उपस्थिति के संकेत मिलने लगे। डी० डी० टी० केवल मृदा में ही जहाँ जैविक विघटन की अनेक प्रक्रियायें निरन्तर होती रहती हैं, अत्यधिक स्थायी रहती हैं। मिट्टी में एक बार प्रयोग के बाद 10 या उससे अधिक वर्षों तक डी० डी० टी० के अवशेष पाये गये हैं। मिट्टी में एक बार स्थान बना लेने के बाद डी० डी० टी० कहीं भी पहुँच सकती है। साधारण-तया वर्षा या सिंचाई के बाद डी० डी० टी० जलाशयों, नदियों यहाँ तक कि सागर तक रास्ता ढूँढ़ लेती है और एक बार पहुँचने के बाद जल जन्तुओं के माध्यम से पूरी जैविक शृंखला में प्रवेश पा लेती है। इस तरह से विभिन्न स्रोतों से डी० डी० टी० का प्रर्यावरण में प्रवेश व इसके एकत्रित होने की प्रक्रिया कभी भी खत्म नहीं होती। डी० डी० टी० के अवशेषों के एकत्रित होने से विभिन्न समस्यायें उत्पन्न हो सकती हैं—जैसे मछलियों व अन्य उपयोगी जल-जन्तुओं के प्रजनन व विकास पर कुप्रभाव, पक्षियों के अण्डों के कवचों का पतला होना तथा भ्रूण नाश होना व स्तन-धारियों में कैंसर का विकास होना। मनुष्यों में डी० डी० टी० के अवशेषों से उत्पन्न कैंसर की समस्या डी० डी० टी० के कुप्रभावों का गम्भीरतम रूप हैं।

पश्चिमी देशों में सन् 1950 व 1970 के बीच दो दशकों में डी० डी० टी० के कुप्रभाव पर विशाल स्तर पर शीघ्र कार्य किया गया। इनके परिणामस्वरूप डी०डी०टी० के भारी प्रयोग को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा। अमेरिकी सरकार ने तो इस कार्य हेतु एक विशेष समिति का गठन किया जिसके निष्कर्षों के आधार पर सन् 1973 के बाद वहाँ डी० डी० टी० के प्रयोग पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इसके बाद कई अन्य देशों ने भी इसका अनुसरण किया।

भारतीय परिपेक्ष्य में डी० डी० टी० एक ज्वलन्त समस्या है। भारत में डी० डी० टी० का प्रयोग मुख्यतया जनस्वास्थ्य के लिए होता है। कृषि के क्षेत्र में भी डी० डी० टी० का कम उपयोग नहीं है। कीटनाशक के रूप में डी० डी० टी० का उपयोग सर्वाधिक प्रचलित है। लेकिन भारत में उपयोग होने वाले कीटनाशकों की कुल मात्रा अन्य विकसित या विकासशील देशों की अपेक्षा काफी कम है। अकेले मिश्र में ही जो कि भारत से जनसंख्या की दृष्टि से छोटा है कीटनाशकों का प्रयोग भारत से कई गुना अधिक होता है। अतः पर्यावरण प्रदूषण की दृष्टि से भी भारत में कीटनाशकों, विशेषतया डी० डी० टी० का प्रयोग अन्य देशों की अपेक्षा कम होता है। लेकिन डी० डी० टी० के प्रयोग से उत्पन्न दुर्घटनाओं की आवृत्ति हमारे यहाँ

अधिक ही रहती है। इन दुर्घटनाओं के पीछे मूल कारण डी० डी० टी० का अनियोजित प्रयोग रहता है। इस प्रकार के विषैले रसायनों के प्रयोग की उचित जानकारी न होने के कारण व केवल इनके लाभों से लालायित हो, लोग इनका अन्धाधुन्ध प्रयोग करते हैं। यहाँ तक कि शहरों में भी लोग अन्न भण्डारण के लिए डी० डी० टी० का प्रयोग करते हैं। गाँवों में तो स्थिति और भी भयानक है। पिछले दिनों एक सर्वेक्षण में दिल्ली में आम वितरण के लिए बिकने वाले दूध के कुछ नमूनों में खतरनाक स्तर तक डी० डी० टी० के अवशेष पाये गये। खोज बीन के बाद मालूम हुआ कि पशुओं के चारे को चूहों से बचाने के लिए उसमें डी० डी० टी० मिलाई गई थी। कुछ वर्ष पहले नजफगड़ नाले वाले में डी० डी० टी० फैक्ट्री का अनुपचारित मलवा फेंके जाने से लाखों मछलियां काल कलवित हो गई थीं। अत: भारत में भी डी० डी० टी० के प्रयोग से उत्पन्न दुर्घटनाओं पर यदि गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया जाये तो यही निष्कर्ष निकलता है कि डी०डी०टी० का अन्धाधुन्ध प्रयोग ही इस तरह की घटनाओं के लिए उत्तरदायी है।

डी० डी० टी० के अवशेषों से उत्पन्न स्थिति का अभी सही-सही आंकलन नहीं हुआ है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् की एक रिपोर्ट के आधार पर विभिन्न खाद्य सामग्रियों में पायी जाने वाली डी० डी० टी० की मात्रा इस तरह है:

खाद्य वस्तुओं का नाम	प्रति वयस्क व्यक्ति दैनिक आहार (ग्राम में)	डी० डी० टी० की मात्रा (पी०वी०एम०)	प्रति व्यक्ति दैनिक आहार में डी०डी० टी०कुल मात्रा (माइक्रोग्राम में)
अनाज	465	0.4088	190
सब्जियां	75	0.4600	34.5
दूध मक्खन आदि	158	0.0026	4.0
मांस/मछली	10	0.5281	5.2
अण्डे	1.04	0.039	नगण्य
जल	2,000	0.000	0.000

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भी एक इसी तरह की रिपोर्ट प्रकाशित की है जिसके अनुसार भारत में औसतन प्रति व्यक्ति दैनिक आहार में डी० डी० टी० की मात्रा लगभग 120 माइक्रोग्राम रहती है; अन्य देशों की अपेक्ष, यह मात्रा काफी अधिक है। अमेरिका, इंग्लैण्ड व स्पेन मे यह मात्रा क्रमशः 55, 34 व 78 ग्राम है। लेकिन जहाँ तक एक ओर यह औसत मान व्यापक सर्वेक्षणों के आधार पर निश्चित किया गया, भारत में इसका आधार सीमित है यहाँ तक कि अधिकतर सर्वेक्षणों में डी०डी०टी० के अवशेषों का मूल्यांकन भी विदेशी एजेन्सियों द्वारा किया गया है अत: इन तथ्यों के आधार पर इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि भारत में डी० डी० टी० के पर्यावरण प्रदूषण सम्बन्धी पहलुओं पर अभी स्थिति स्पष्ट नहीं है।

डी० डी० टी० से उत्पन्न पर्यावरण प्रदूषण की समस्या के समाधान का जहाँ तक प्रश्न है, सर्वप्रथम इसके अन्धाधुन्ध प्रयोग को रोका जाना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए कुछ सुझाव इस प्रकार हैं।

1. केवल सार्वजनिक संस्थायें ही डी० डी० टी० के प्रयोग के लिए अधिकृत हों।
2. अनाधिकृत रूप से डी० डी० टी० का प्रयोग करने के लिए विशेष दण्ड का प्रावधान हो।
3. डी० डी० टी० के पर्यावरण सम्बन्धी कुप्रभावों का सरकारी व गैर सरकारी माध्यमों द्वारा विस्तृत रूप से प्रचार किया जाय।

इसके अतिरिक्त पर्यावरण में व्याप्त डी० डी० टी० के अवशेषों का व्यापक सर्वेक्षण किया जाय ताकि दूरगामी खतरे का समय रहते निदान ढूँढ़ लिया जाय।

पृष्ठ 5 का शेषांश

हमें इसी धरती को सुजलां, सुफलां शस्य श्यामलां बनाना होगा। इसी धरती पर एक नई दुनिया, नया स्वर्ग बसाना होगा।

(विज्ञान परिषद् व्याख्यान माला में दिये गये भाषण पर आधारित, सम्पादक)।

नयी दुनिया की सृष्टि

● प्रेम चन्द्र श्रीवास्तव

'स्पैन' पत्रिका के जुलाई 1976 अंक में प्रोफेसर आइज़क आसिमोव का एक लेख 'क्रियेटिंग न्यू वर्ल्डस' नामक शीर्षक से छपा था। आसिमोव साहब अमरीका के बोस्टन विश्वविद्यालय में बायोकेमिस्ट्री के एसोशिएट प्रोफेसर रह चुके हैं। आपने 200 के लगभग पुस्तकों और कई सौ लेखों की रचना की है। विज्ञान में वास्तविक और काल्पनिक दोनों तरह के श्रेष्ठ साहित्य का सृजन किया है। आपकी लेखनी में जादू का असर है।

आपका लेख पढ़ने के बाद मैं भी चमत्कृत हो गया किन्तु लेख कुछ सोचने-समझने को भी मजबूर करता है। लेख पर विचार प्रगट करने के पूर्व मूल लेख की चर्चा पहले ही करना आवश्यक है।

आज इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विश्व के सामने जो पहली समस्या है वह 'जनसंख्या-विस्फोट' की समस्या है। इसी के साथ दो और बड़ी समस्यायें जुड़ी हुई हैं। एक तो प्राकृतिक संपदा का निरंतर क्षय और दूसरा वातावरण का प्रदूषण। इस समय विश्व की जनसंख्या 4,000 मिलियन (400 करोड़) से भी अधिक हो चुकी है। इसी दर (1.970) से यदि मनुष्यों की आबादी बढ़ती रही तो इस शताब्दी के अंत तक या अगली शताब्दी के प्रारंभ में हमारी संख्या इस धरती पर 7,000 मिलियन हो जायगी। फिर तो हमारी धरती हमारे लिए छोटी पड़ने लगेगी। और यदि हमें अपने अस्तित्व की रक्षा करनी है तो नयी दुनिया की सृष्टि करनी ही होगी।

कहां बसेगी यह नई दुनिया ? और कैसा होगा इसका स्वरूप ? हमारा ध्यान प्रारंभ में अपने आस-पास के ग्रहों पर ही जाता है और चन्द्रमा हमारा निकटतम ग्रह है किन्तु हम जानते हैं कि चन्द्रमा निर्जीव है और वहाँ किसी भी प्रकार के जीवन की संभावना नहीं है। वहाँ नयी दुनिया बसाने का काम इतना खर्चीला है कि वैज्ञानिकों ने चन्द्रमा को रहने योग्य बनाने का विचार ही त्याग दिया है। फिर कहाँ बसेगी यह नई दुनिया ? उत्तर देते हैं प्रिन्सटन विश्व विद्यालय (अमरीका) के भौतिक विज्ञान विभाग के प्रोफेसर जेराड ओ'नील। ओनील साहब का कहना है कि अंतरिक्ष में दो ऐसे स्थान हैं जहाँ नई दुनिया बसाई जा सकती है। ये स्थान पृथ्वी से उतने ही दूर हैं जितना चद्रमा किन्तु ये स्थान चन्द्रमा नहीं हैं ? प्रोफेसर जेरार्ड ओनील कहते हैं कि कल्पना कीजिए कि चन्द्रमा सिर के ठीक ऊपर है। चन्द्रमा से नीचे क्षितिज में पूर्व दिशा की ओर एक सीधी रेखा खींचिए। इस रेखा पर ऊपर की तरफ से दो तिहाई और नीचे की तरफ से ऊपर की तरफ एक तिहाई भाग पर एक बिन्दु रखिए यही बिन्दु वह स्थान है जहाँ नई दुनिया का निर्माण संभव है। इसी प्रकार चन्द्रमा से पश्चिम दिशा की ओर भी क्षितिज में एक सीधी रेखा खींचिये और ऊपर से दो तिहाई और नीचे से एक तिहाई दूरी पर एक बिन्दु रख दीजिये। यही बिन्दु वह दूसरा स्थान होगा जहाँ नई दुनिया बसाई जा सकती है। इन दोनों बिन्दुओं पर यदि कोई वस्तु (पिण्ड) रख दिया जाय तो वह पिण्ड वहाँ टिक जायेगा। यह पिण्ड पृथ्वी और चंद्रमा के साथ एक

समबाहु त्रिभुज बनाता है। अर्थात् इस स्थान की दूरी पृथ्वी और चन्द्रमा से समान होगी।

प्रोफेसर ओनील ने कोई नई बात नहीं बताई है। वर्षों पूर्व 1772 में जोसेफ लुई लैग्रैंज नामक ज्योतिषाचार्य यह बात पहले ही बता चुके हैं कि यदि इन दो स्थानों पर किसी वस्तु को रख दिया जाय तो वह स्थिर हो जायेगी। यह वस्तु चंद्रमा के साथ कदम से कदम मिलाकर चलेगी किन्तु पृथ्वी की उसी प्रकार परिक्रमा करेगी जैसे चन्द्रमा करता है। पिण्ड के स्थिर होने का रहस्य है चंद्रमा और पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण बल का परस्पर विरोधी और समान होना।

सच पूछिए तो प्रोफेसर ओनील इसी लैग्रैंज-नियम से लाभ उठाने की बात करते हैं और कहते हैं कि इन्ही स्थानों पर अंतरिक्ष कॉलोनियां स्थापित की जा सकती हैं। ये कॉलोनियां पृथ्वी-चंद्रमा निकाय का अभिन्न अंग होंगीं।

प्रोफेसर जेरार्ड ओनील ने बड़े-बड़े लम्बे सिलिंडरों में प्राकृतिक वातावरण तैयार करके उनके ऊपर मनुष्यों के रहने की परिकल्पना की है। इन्हीं सिलिंडरों के भीतर कृषि, पशुपालन, कलकारखाने और मकानों सहित जीवन के लिए उपयोगी समस्त सुविधायें उपलब्ध होंगी। इस प्रकार प्रत्येक सिलिंडर एक स्वतन्त्र कॉलोनी या उपनिवेश होगा।

कैसी होगी यह नई दुनिया? प्रोफेसर की परिकल्पना के अनुसार ये सिलिंडर खोखले होंगे। सिलिंडरों को ऐलुमिनियम और कड़े प्लास्टिक से बनाया जायेगा। इसमें पारदर्शी और अपारदर्शी पट्टियां होंगी जो एक के बाद एक संजोई हुई होंगी। अपारदर्शी पट्टियों के अंदर की सतह पर मिट्टी फैलायी जायेगी। इसी पर मकान और कल-कारखाने बनाये जायेंगे। अंदर के क्षेत्र को आप अपनी रुचि के अनुसार जैसा चाहें बना लें। ये भू-दृश्य चाहे पंजाब के मैदानों जैसे हों या जर्मनी के राइन लैण्ड जैसे या फिर कैलीफोर्निया के समुद्र तटवर्ती स्थानों जैसे भी हो सकते हैं। अंदर की दुनिया हमारी जानी-पहचानी दुनिया होगी। अर्थात् भू-दृश्य की प्रतिकृतियां धरती की नकल। अंदर की मिट्टी (भूमि) पर ही खेती और पशुपालन की व्यवस्था होगी। धरती जैसी नदियां और पहाड़ भी होंगे। खाली स्थान में बादल और वायु भी होगी। सिलिंडरों के किनारे पर बड़े-बड़े आयताकार दपर्ण लगे होंगे जो घूम सकेंगे। वे दपर्ण सूरज की रोशनी को बाहर से अंदर पंहुचा देंगे। इस प्रकार अंधेरी गुफाओं जैसे सिलिंडर दिन के प्रकाश से जगमगाने लगेंगे। यही नहीं ये दर्पण दिन-रात और विभिन्न प्रकार के मौसमों को नियंत्रित करेंगे। ये सिलिंडर 32 किलोमीटर (32,000 मीटर) लम्बे और 6.4 किलोमीटर (6,400 मीटर) व्यास वाले होंगे।

ये सिलिंडर अपनी लम्बी धुरी पर 114 सेकेण्ड में एक बार घूम जायेंगे। इस प्रकार घूमने से सिलिंडरों में पृथ्वी की तरह अपकेन्द्री बल (सेन्ट्रीफ्यूगल फोर्स) उत्पन्न हो जायेगा।

इतनी बड़ी योजना को कार्यरुप में परिणत करने के लिए सामान कहाँ से प्राप्त होगा? हमारा ध्यान अपनी पृथ्वी की तरफ ही जाता है। आसिमोव महोदय कहते हैं कि यह धरती मनुष्यों के भार से आर्तनाद कर रही है; धसकती जा रही है। ऐसी दशा में जब स्वयं धरती की प्राकृतिक सम्पदा का क्षय हो रहा है, अंतरिक्ष कॉलोनियां बनाने के लिए क्या कच्चा माल दे पायेगी? और यदि नहीं दे पायेगी तो हमें अपना ध्यान किसी दूसरे निकट के ग्रह की ओर मोड़ना होगा। स्वाभाविक रुप से हमारा ध्यान अपने समीप के ग्रह चंद्रमा की ओर जाता है। यह निर्विवाद सत्य है कि चंद्रमा पर जीवन की कोई संभावना नहीं है इसलिये सारा कच्चामाल हमें चन्द्रमा से प्राप्त हो जायेगा। चन्द्रमा आकार में पृथ्वी की अपेक्षा छोटा है (1/80) और 400,000 किलोमीटर दूर स्थित है। चंद्रमा पर मानव पंहुच चुका है और वहाँ से सामान लाने में कोई रोक-टोक नहीं होगी। साथ ही साथ किसी और ग्रह की अपेक्षा सुविधाजनक भी अधिक होगा। चंद्रमा से हमें ऐलुमिनियम, शीशा कंक्रीट

और अन्य बहुत सा उपयोगी सामान प्राप्त हो जायेगा । चंद्रमा की ही मिट्टी को सिलिंडरों के अंदर फैलायेंगे और उसी पर मनुष्यों के लिए मकान भी बनेंगे और कृषि-कर्म भी किया जायेगा। चंद्रमा पर ये सभी सामान प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं । क्षीण गुरुत्वाकर्षण के कारण वहाँ से सामान उठाने में कम शक्ति लगानी पड़ेगी । धरती की अपेक्षा केवल $1/_{20}$ । पहली अंतरिक्ष कॉलोनी के निर्माण में बहुत अधिक खर्च बैठेगा, चाहे कॉलोनी छोटी ही हो। इसके लिए हमें पृथ्वी से ही उन्नत किस्म के उपकरण, मशीनें, विभिन्न प्रकार के जन्तु और वनस्पतियाँ, भोजन पदार्थ, ऊर्जा आदि ले जाना पड़ेगा । यही नहीं लगभग 2% कच्चा माल भी पृथ्वी से ही ले जाना पड़ेगा । किन्तु बाद की कॉलोनियों में खर्च कम आयेगा । प्रत्येक पहले बनी कॉलोनी दूसरी के निर्माण में सहायता करेगी । इसके साथ ही कॉलोनियों के निर्माण की तकनीक में भी सुधार होता जायेगा । आसिमोव साहब काफी आशावान हैं । उनका कहना है कि अंत में बनी कॉलोनियां तो उसी आसानी से बना ली जायेंगी जैसे महानगर के ईद-गिर्द उपनगर बसा लिये जाते हैं । प्रोफेसर ओनील की परिकल्पना के अनुसार प्रारंभ में केवल दो छोटी जुड़वा कॉलोनियां बनाई जायेंगी । अर्थात् केवल दो घुमते हुए सिलिंडर । प्रत्येक की लम्बाई 1,000 मीटर और चौड़ाई 100 मीटर होगी । इसमें केवल 10,000 लोगों के रहने को व्यवस्था होगी ।

अंतरिक्ष कॉलोनियां ऊर्जा सूर्य से प्राप्त करेंगी । इसके लिए सिलिंडरों के ऊपर की ओर शक्तिशाली बिजली घर होंगे जो सिलिंडरों के अंदर ऊर्जा देंगे। यह ऊर्जा सौर ऊर्जा होगी जो अत्यधिक कर्भी न खत्म होने वाली, आसानी से संचालित की जाने वाली और प्रदूषण रहित होगी । इस ऊर्जा का प्रयोग कच्ची धातुओं को गलाने, कारखानों को चलाने, खेती करने और कूड़े-कचरे से उपयोगी वस्तुओं के निर्माण में किया जायेगा । बड़ी कॉलोनी में 20 मिलियन मनुष्यों के रहने की व्यवस्था होगी । वैसे 5 मिलियन से 10 मिलियन मनुष्य आराम से इनमें रह सकेंगे । सिलिंडरों के चारो ओर गोलाई में ढेर सारी कृषि-अनुसंघान शालाओं का निर्माण किया जायेगा । ये अनुसंधान शालायें दूर से चाय के प्याले जैसी दिखेंगी । इस प्रकार प्रत्येक कॉलोनी अपने में पूर्ण होगी ।

प्रोफेसर ओनील के अनुसार यदि अंतरिक्ष कॉलोनियों के निर्माण का कार्य सुचारु रूप से चलता रहा तो पहली अंतरिक्ष कॉलोनी 1989 तक तैयार होकर अंतरिक्ष में स्थापित हो जायेगी । यही नहीं इक्कीसवीं शताब्दी के मध्य तक ऐसी कई सौ कॉलोनियां बनकर तैयार हो जायेंगी । प्रोफेसर ओनील कहते हैं यह नई दुनिया धरती जैसी नहीं, सुखद होगी । इन्हें मनुष्य की आवश्यकता के अनुसार ढाला जायेगा । इसमें मौसम और ताप नियंत्रित होंगे, .खर पतवार, हानिप्रद कीड़े-मकोड़े और रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणु नहीं होंगे । उन्हे पृथ्वी पर ही छोड़ दिया जायेगा ।

अंतरिक्ष कॉलोनियों को स्थापित करने में क्या कठिनाइयां और खतरे नहीं होंगे ? आसिमोव साहब इससे इन्कार नहीं करते । उनका कहना है कि कठिनाइयां, खतरे होंगे । इनमें सर्वप्रथम इन कॉलोनियों के उल्कापिण्ड से टकराने की संभावना तो है, किन्तु अधिक नही । कहीं लाखों वर्षों में एक बार ऐसा हो सकता है कि कोई इतना बड़ा उल्का पिण्ड कॉलोनी से टकरा जाय और उसे नष्ट कर दे ।

दूसरा खतरा शक्तिशाली सूर्य-रश्मियों से है । सिलिंडरों के ऐलुमिनियम, प्लास्टिक और मिट्टी के रक्षा-कवच के कारण यह समस्या गंभीर नहीं है । बल्कि ब्रह्माण्ड किरणें (कास्मिक रेज) बहुत ही खतरनाक साबित होंगी किन्तु आसिमोव साहब पूछते हैं कि ये खतरे कहां नहीं हैं ? ब्रह्माण्ड किरणों से प्रोफेसर ओनील बचने का क्या सुझाव देते हैं यह मालूम होना अभी भी शेष है ।

कॉलोनी के भीतर बड़े वाहनों की आवश्यकता नहीं होगी । भूमि पर सायकिलों से काम चल जायगा और मनोरंजन के लिए ग्लाइडरों का प्रयोग कर सकते हैं ।

जैसे जैसे अंतरिक्ष कॉलोनियों की संख्या बढ़ती जायेगी वैसे वैसे अंतरिक्ष में बसने वाले मनुष्यों के स्थान का विस्तार होता जायेगा । 2075 तक एक विलियन लोग अंतरिक्ष में

बस जायेंगे और बाइसवीं शताब्दी के मध्य तक (2150) पृथ्वी से अधिक मनुष्य अंतरिक्ष कॉलोनियों में रहने लगेंगे।

आसिमोव साहब का कहना है कि उस समय पृथ्वी पर रहने वालों की संख्या बहुत ही कम होगी । इस धरती पर सावधानी पूर्वक बनाये गये उपवन या बीहड़ सुरक्षित होंगे। अंतरिक्ष कॉलोनियों से आने वाले पर्यटक धरती को मनुष्य के जन्म और उससे पूर्व की परिस्थिति के स्मारक के रूप में देखेंगे। पर्यटन द्वारा ही पृथ्वी का रख-रखाव होगा।

ये अंतरिक्ष कॉलोनियां एक दूसरे से दूर भी होंगी। इसमें हजारों की संख्या में अलग अलग सभ्यतायें विकसित होंगी। प्रत्येक कॉलोनी का जीवन जीने का तरीका अलग होगा। परम्परा से अलग इन कॉलोनियों में कुछ अति नैतिकवादी, कुछ भोगवादी, कुछ स्वतन्त्रता के हिमायती तो कुछ सत्तावादी और कुछ विभिन्न धर्मों को मानने वाली होंगी। आप अपनी इच्छानुसार इनमें रहने का चुनाव कर सकेंगे। एक कॉलोनी में जन्मा मनुन्य बाद में किसी और कॉलोनी को निवास के लिए चुन सकेगा। वैसे रहें कहीं भी, एक से दूसरी कॉलोनी में सैर-सपाटा तो कर ही सकते हैं। इस प्रकार मनुष्य की हजारों तरह की सभ्यतायें होंगी। हर कॉलोनी का वस्त्राभूषण, कला साहित्य और संगीत अलग-अलग किस्म का होगा। रचनात्मकता, विशेष रूप से वैज्ञानिक प्रगति, की तो सीमा ही नहीं रहेगी, ऐसी आशा प्रोफेसर असिमोव को है।

यह सच है कि आज हम कठिन दौर से गुजर रहे हैं। विश्व की अर्थ-व्यवस्था लड़खड़ा रही है। चमकीले स्वप्न निराशा में परिवर्तित हो रहे हैं । किन्तु इसी निराशा में आशा का सूर्य उगेगा। प्रो० ओनील अपनी इसी आशावादिता के माध्यम से विश्व की अर्थ-व्यवस्था को संभालने का स्वप्न देख रहे हैं। उन्होने एक 'सैटेलाइट सोलर पावर स्टेशन' बनाने की भी योजना सामने रखी है। यह बिजली घर सूर्य के प्रकाश का शोषण करके उसे सूक्ष्म तरंग ऊर्जा (माइक्रोवेव एनर्जी) में बदल देगा जिसका उपयोग पृथ्वी पर सीधे विद्युत धारा की तरह कर सकते हैं। इस प्रकार पृथ्वी को प्रचुर मात्रा में साफ-सुथरी ऊर्जा मिलती रहेगी।

आसिमोव साहब कहते हैं कि आज ऊर्जा-संकट हमें यह सुअवसर प्रदान कर रहा है। सौर ऊर्जा हमें अंतरिक्ष के रास्ते रिश्वत में मिल रही है। और यदि इस अवसर का लाभ उठाया गया रिश्वत स्वीकार कर ली गयी तो एक के बाद एक कॉलोनियों की स्थापना होती जायेगी। संभवतः इसी में मानवता का उद्धार निहित है।

अब मैं इस लेख के माध्यम से आपके समक्ष कुछ सामाजिक और नैतिक प्रश्न उठाना चाहूँगा। मेरे विचार से प्रोफेसर ओनील और उनके विचारों की व्याख्या करने वाले प्रोफेसर आसिमोव दोनों अंधेरे में भटक रहे हैं। धरती की समस्याओं का निदान हमें धरती पर ही ढूढ़ना होगा। अंतरिक्ष में कॉलोनियों की स्थापना जहाँ एक ओर पलायन वादी विचारधारा का द्योतक है, वहीं अमरीका जैसे साधन सम्पन्न देश की विस्तार वादी नीति का परिचायक है। जब धरती पर विस्तार न कर सके तो अंतरिक्ष में बसने की बात करने लगे। वैज्ञानिकों और विज्ञान लेखकों का कुछ सामाजिक दायित्व होता है। कल्पित विज्ञान तो केवल मनोरंजन के लिए लिखा जाता है और उसमें हर तरह की बात चल जाती है। विज्ञान -साहित्य का सृजन गुरुतर दायित्व है और शायद यहीं प्रोफेसर आसिमोव चूक गये हैं। क्या अंतरिक्ष कॉलोनियों में बाद में वही समस्यायें नहीं उत्पन्न हो जायेंगी जो आज धरती पर हैं? यदि मनुष्य अपने अज्ञान से प्रकृति के सन्तुलन को बिगाड़ सकता है तो क्या वह अंतरिक्ष कॉलोनियों में संतुलन बनाये रखेगा ? क्या केवल अंतरिक्ष कॉलोनियों में निवास करने से मनुष्य का स्वभाव बदल जायेगा ?

विश्व की लड़खड़ाती अर्थ व्यवस्था क्या अंतरिक्ष कॉलोनियों के निर्माण पर व्यय होने वाले धन की व्यवस्था कर पायेगी? कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर गैरेट हार्डिन का कहना है कि केवल एक दिन की धरती की आबादी को अंतरिक्ष कॉलोनियों में बसाने में 369 बिलियन डालर की आवश्यकता होगी। बीसवीं शताब्दी के अंत तक हमें 3 बिलियन से भी अधिक मनुष्यों को अंतरिक्ष कॉलोनियों में ले जाने की व्यवस्था करनी होगी और इसके लिए

हमें कई सौ नहीं, कई हजार अंतरिक्ष कॉलोनियों का निर्माण करना होगा।

टाइम्स आफ इण्डिया, नामक पत्र के सहायक सम्पादक एम०बी० मैथ्यू ने गणना करके वताया है कि जिस कभी न समाप्त होने वाली सौर ऊर्जा की वात प्रोफेसर ओनील और प्रोफेसर आसिमोव कहते है वह उचित मात्रा में कॉलोनियों को प्राप्त नही हो सकती। मैथ्यू साहब कहते हैं कि इस पृथ्वी पर प्रति सेकेण्ड 600 विलियन किलो कैलोरी सौर ऊर्जा पौधे इस्तेमाल करते हैं। इसकी आधी उर्जा ही प्रकाश-संश्लेषण की संक्रिया में भोजन में परिवर्तित होती है। यदि पूरी ऊर्जा को काम में लाया जा सके तो उससे 1,500 विलियन मनुष्यों के लिए भोजन की व्यवस्था हो सकती है। (यदि दूसरे जीव इसमें सम्मिलित न किए जायँ)। इस प्रकार 1,500 विलियन मनुष्यो के भोजन की व्यवस्था के लिए 504 मिलियन स्क्वायर किलोमीटर संग्राही क्षेत्र (कलेक्टर एरिया) की आवश्यकता होगी। और प्रोफेसर ओनील के बड़े जुड़वे सिलिंडरों में रहने वाले 10 मिलियन लोगों के लिए 3,360 स्क्वायर किलोमीटर संग्राही क्षेत्र की आवश्यकता होगी जबकि वास्तविकता यह है कि इन सिलिंडरों में संग्राही क्षेत्र केवल 603 स्क्वायर किलोमीटर होगा। यह आवश्यक संग्राही क्षेत्र के पांचवे भाग से भी कम है।

आसिमोव साहब कहते हैं कि मनुष्यों के भार से यह पृथ्वी 'आर्तनाद कर रही है' धसकती जा रही है'। किन्तु ऐसा नहीं है। यदि एक मनुष्य का औसत भार 50 किलो ग्राम मान लें तो कुल भार 200 मिलियन टन हुआ। यदि इसके साथ सारे-ताम-झाम को भी जोड़ लें तो भार 200 विलियन टन होता है। जबकि पृथ्वी का द्रव्यमान 5,977 विलियन टन (5,977 000, 000, 000, 000, 000, 000 टन) है। यह ऐसा ही है जैसे श्री लंका पर एक मक्खी वैठी हो।

मनुष्य पृथ्वी पर लम्वे समय (लगभग 30 लाख वर्ष) से रहता आ रहा है और यहां रहने का अभ्यस्त हो गया है। अंतरिक्ष का वातावरण हमारे प्रतिकूल हैं, इस बात की पुष्टि आर्मस्ट्रांग सहित कुछ अन्य अंतरिक्ष यात्रियों ने की है। मनुष्य के शरीर पर अंतरिक्ष का वातावरण बुरा प्रभाव छोड़ता है।

शरीर के अतिरिक्त सामाजिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक समस्याओं को भी ध्यान में रखना होगा। इस बात को कौन तय करेगा कि कौन कौन से लोग अंतरिक्ष कॉलोनियों में जायेंगे? कौन किस बैच या किस कॉलोनी में जायेगा? वहां बसने वालों के लिए कैसी ट्रेनिंग की आवश्यकता होगी? फिर क्या सब कुछ यहीं छोड़कर लोग जाने को तैयार हो जायेंगे? पास्चर संस्थान के प्रोफेसर मोनोड सत्य के कितने निकट हैं जब वे कहते हैं कि धरती के मनुष्य को अंतरिक्ष में बसा देना आसान नहीं होगा। आदमी कोई आलू नहीं जिसे एक स्थान से खोदकर दूसरे स्थानों को पँहुचा दिया जाये।

साधन सम्पन्न देश विज्ञान के साथ खिलवाड़ करते ही रहते हैं। किन्तु ऐसा केवल अज्ञानता के कारण ही करते हैं। डाक्टर जार्ज बैंकोफ ने अपनी पुस्तक 'द स्टोरी आव पेनिसिलिन' में कहा है कि मनुष्य में अच्छी और बुरी दोनों तरह की प्रवृत्तियाँ होती हैं। वह डाक्टर जेकिल भी है और मिस्टर हाइड भी है। अच्छे काम अपने विवेक और ज्ञान से करता है और बुरे काम अविवेक और अज्ञान के कारण करता है। मनुष्य की उम्र ही क्या है? यदि विश्व की उम्र एक वर्ष की मान ली जाये तो मनुष्य उस वर्ष 31 दिसम्बर को 7.30 बजे रात्रि पूर्व नहीं जन्मा। इस प्रकृति में मनुष्य की स्थिति अबोध बच्चे जैसी हैं। हमें अपना बचपना, अपना अज्ञान छोड़ना ही होगा। इसी में मानवता का उद्धार निहित है, न कि अंतरिक्ष में कॉलोनियां बसाने में। स्काई लैब का धरती पर गिरना हमें बार बार चेतावनी दे रहा है। वैसे मैं जानता हुँ कि अमरीका जैसे साधन सम्पन्न देश एक न एक दिन अंतरिक्ष में कॉलोनिया बसा कर ही दम लेंगें। यहीं मैं यह भी विश्वास करता हूँ कि वहां वसने के लिए नहीं बल्कि कनुष्य केवल सैर-सपाटे के लिए जाया करेगा। इस वीच मानवता के उद्धार के लिए

शेष पृष्ठ 8 पर

डी० डी० टी० एवम् पर्यावरण प्रदूषण

● हेम चन्द्र जोशी

नमक, शर्करा, स्पिरिट व पेनिसिलिन की तरह डी०डी० टी० भी एक ऐसा रसायन है जिसे छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, हर स्तर व हर समुदाय के लोग जानते हैं। पिछले 30 वर्षों में जन स्वास्थ्य व कृषि में डी० डी० टी० की अत्यधिक उपयोगिता ही इस प्रसिद्धि का मूल कारण है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि डी० डी० टी० मानव प्रगति में बहुत सहायक रही है। सन् 1940 में पाल मुलर द्वारा डी० डी० टी० की उपयोगिता सिद्ध करने के बाद इसका प्रयोग विशाल स्तर में बढ़ने लगा। डी० डी० टी० के अभूतपूर्व कीटनाशक गुणों के कारण करोड़ों लोगों को नया जीवनदान मिला। द्वितीय विश्वयुद्ध के दिनों सैनिक कैम्पों में फैले मलेरिया के प्रलयकारी प्रकोप से मुक्ति दिलाने में डी० डी० टी० का ही मुख्य योगदान रहा। भारत जैसे उष्ण जलवायु वाले क्षेत्रों में जहाँ मच्छर व मलेरिया अत्यधिक सक्रिय रहते हैं, विशाल जनहानि को रोकने का श्रेय डी० डी० टी० ही को जाता है। पिछले 20 वर्षों में (1970 तक) मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के अन्तर्गत डी० डी० टी० के विस्तृत प्रयोग से भारत में औसत आयु 32 से 52 वर्ष पहुँच गई। जन स्वास्थ्य के अतिरिक्त कृषि के क्षेत्र में भी पादप संरक्षण हेतु डी० डी० टी० के प्रयोग से विभिन्न फसलों, फलों, इत्यादि को अनेक प्रकार के कीटों से पहुँचने वाली हानि से बचाया गया, अतः यह विश्वास किया जाना सर्वथा उचित हैं कि डी० डी० टी० हमारा जीवन स्तर सुधारने में बहुत सहायक रही है।

जहाँ एक ओर अच्छे जीवन स्तर के लिए डी० डी० टी० का प्रयोग लगभग अनिवार्य सा हो गया है, वहीं इसके धीरे-धीरे पर्यावरण में एकत्रित हो जाने से प्रदूषण का भय भी उतना ही बढ़ गया है। पर्यावरण प्रदूषण पर अब तक हुये शोध का निष्कर्ष डी० डी० टी० के भावी प्रयोग पर प्रश्न चिन्ह लगाये हुये है। यदि वर्तमान गति से डी० डी० टी० का प्रयोग होता रहा तो कालान्तर में डी० डी० टी० से उत्पन्न पर्यावरण प्रदूषण की समस्या समाधान से परे निकल जायेगी। भारत में कुछ क्षेत्रों में खाद्यानों, सब्जियों, दूध व पशु-आहार में डी० डी० टी० के अवशेष इतनी अधिक मात्रा में मिले हैं कि वे जन स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक हैं। अमेरिका, कनाडा जैसे विकसित देशों में तो डी० डी० टी० के कुप्रभाव को ध्यान में रखते हुए इसका प्रयोग निषेध कर दिया गया है; भारत में इस सन्दर्भ में स्थिति अत्यधिक जटिल है। एक ओर तो डी० डी० टी० के अवशेषों से उत्पन्न समस्या की अवहेलना नहीं की जा सकती दूसरी ओर डी० डी० टी० के प्रयोग को रोका भी नहीं जा सकता क्योंकि हमारे यहाँ प्रायः मलेरिया, फाइलेरिया या इन्सेफ्लाइटिस जैसी गम्भीर बीमारियाँ किसी न किसी क्षेत्र में अपना प्रकोप बनाये रहती हैं और डी० डी० टी० जैसे सस्ते रसायन के विकल्प में अधिक खर्चीले रसायनों का भारी मात्रा में प्रयोग हमारी अर्थ व्यवस्था के अनुकूल नहीं बैठता। फिर भी कुछ न कुछ तो निदान होना ही चाहिये। इस विषय में आगे बढ़ने से पहले डी० डी० टी० के इतिहास, संरचना व पर्यावरण में इसकी प्रक्रियायों की भी कुछ चर्चा कर ली जाये।

डी० डी० टी० रसायन का अविष्कार सन् 1973 ई० में युवा जर्मन वैज्ञानिक जीडलर ने किया था लेकिन इसकी

उपयोगिता का ज्ञान न होने के कारण इतना महत्वपूर्ण रसायन वर्षों तक यूँ ही पड़ा रहा। सन् 1939 में पाल मुलर नामक वैज्ञानिक ने डाइ फिनाइल यौगिकों की कीट-नाशक क्षमता पर कार्य प्रारम्भ किया। इन्हीं प्रयोगों के मध्य डी० डी० टी० की अभूतपूर्व कीटनाशक क्षमता का आविष्कार हुआ। इस खोज पर उन्हें सन् 1948 में नोबुल पुरष्कार मिला। डी० डी० टी० डाइक्लोरो डाइफेनिल ट्राइक्लोरोएथेन नामक रसायन का संक्षिप्त व प्रचलित नाम है।

कम वाष्प दाब, पराबैंगनी किरणों का नगण्य प्रभाव, पानी में कम घुलनशीलता, वसा में अत्यधिक घुलनशीलता तथा कुल मिलाकर डी० डी० टी० का चिरस्थायीपन कुछ ऐसे गुण हैं जिनके कारण इसकी उपयोगिता उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। डी० डी० टी० के अतिरिक्त इसके दो मुख्य अभिजनक (मेटा बोलाइट) डी० डी० ई० व डी० डी० डी० भी डी० डी० टी० की तरह ही प्रभावशाली व चिरस्थायी हैं। अतः एक बार प्रयोग होने के बाद डी० डी० टी० का कीटनाशक प्रभाव काफी दिनों तक बना रहता है लेकिन जहाँ एक ओर डी० डी० टी० के इन गुणों के कारण इसकी उपयोगिता बढ़ी है उन्हीं गुणों के करण डी० डी० टी० द्वारा पर्यावरण प्रदूषण एक बहुचर्चित विषय बन गया है। प्रारम्भ में डी० डी० टी० की उपयोगिता का आकस्मिक ज्ञान होने पर इसका प्रयोग असीमित मात्रा में हुआ परन्तु अपने चिरस्थायीपन के कारण डी० डी० टी० धीरे-धीरे पौधों, जीव-जन्तुओं व मृदा मे एकत्रित होती गई यहाँ तक कि मानव कोषिका में भी डी० डी० टी० या इसके अभिजनकों (डी० डी० ई० व डी० डी० डी०) की उपस्थिति के संकेत मिलने लगे। डी० डी० टी० केवल मृदा में ही जहाँ जैविक विघटन की अनेक प्रक्रियायें निरन्तर होती रहती हैं, अत्यधिक स्थायी रहती हैं। मिट्टी में एक बार प्रयोग के बाद 10 या उससे अधिक वर्षों तक डी० डी० टी० के अवशेष पाये गये हैं। मिट्टी में एक बार स्थान बना लेने के बाद डी० डी० टी० कहीं भी पहुँच सकती है। साधारण-तया वर्षा या सिंचाई के बाद डी० डी० टी० जलाशयों, नदियों यहाँ तक कि सागर तक रास्ता ढूँढ़ लेती है और एक बार पहुँचने के बाद जल जन्तुओं के माध्यम से पूरी जैविक श्रृंखला में प्रवेश पा लेती है। इस तरह से विभिन्न स्रोतों से डी० डी० टी० का पर्यावरण में प्रवेश व इसके एकत्रित होने की प्रक्रिया कभी भी खत्म नहीं होती। डी० डी० टी० के अवशेषों के एकत्रित होने से विभिन्न समस्यायें उत्पन्न हो सकती हैं—जैसे मछलियों व अन्य उपयोगी जल-जन्तुओं के प्रजनन व विकास पर कुप्रभाव, पक्षियों के अण्डों के कवचों का पतला होना तथा भ्रूण नाश होना व स्तन-धारियों में कैंसर का विकास होना। मनुष्यों में डी० डी० टी० के अवशेषों से उत्पन्न कैंसर की समस्या डी० डी० टी० के कुप्रभावों का गम्भीरतम रूप हैं।

पश्चिमी देशों में सन् 1950 व 1970 के बीच दो दशकों में डी० डी० टी० के कुप्रभाव पर विशाल स्तर पर शीघ्र कार्य किया गया। इनके परिणामस्वरूप डी०डी०टी० के भारी प्रयोग को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा। अमेरिकी सरकार ने तो इस कार्य हेतु एक विशेष समिति का गठन किया जिसके निष्कर्षों के आधार पर सन् 1973 के बाद वहाँ डी० डी० टी० के प्रयोग पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इसके बाद कई अन्य देशों ने भी इसका अनुसरण किया।

भारतीय परिपेक्ष्य में डी० डी० टी० एक ज्वलन्त समस्या है। भारत में डी० डी० टी० का प्रयोग मुख्यतया जनस्वास्थ्य के लिए होता है। कृषि के क्षेत्र में भी डी० डी० टी० का कम उपयोग नहीं है। कीटनाशक के रूप में डी० डी० टी० का उपयोग सर्वाधिक प्रचलित है। लेकिन भारत में उपयोग होने वाले कीटनाशकों की कुल मात्रा अन्य विकसित या विकासशील देशों की अपेक्षा काफी कम है। अकेले मिश्र में ही जो कि भारत से जनसंख्या की दृष्टि से छोटा है कीटनाशकों का प्रयोग भारत से कई गुना अधिक होता है। अतः पर्यावरण प्रदूषण की दृष्टि से भी भारत में कीटनाशकों, विशेषतया डी० डी० टी० का प्रयोग अन्य देशों की अपेक्षा कम होता है। लेकिन डी० डी० टी० के प्रयोग से उत्पन्न दुर्घटनाओं की आवृत्ति हमारे यहाँ

अधिक ही रहती है। इन दुर्घटनाओं के पीछे मूल कारण डी० डी० टी० का अनियोजित प्रयोग रहता है। इस प्रकार के विषैले रसायनों के प्रयोग की उचित जानकारी न होने के कारण व केवल इनके लाभों से लालायित हो, लोग इनका अन्धाधुन्ध प्रयोग करते हैं। यहाँ तक कि शहरों में भी लोग अन्न भण्डारण के लिए डी० डी० टी० का प्रयोग करते हैं। गाँवों में तो स्थिति और भी भयानक है। पिछले दिनों एक सर्वेक्षण में दिल्ली में आम वितरण के लिए बिकने वाले दूध के कुछ नमूनों में खतरनाक स्तर तक डी० डी० टी० के अवशेष पाये गये। खोज बीन के बाद मालूम हुआ कि पशुओं के चारे को चूहों से बचाने के लिए उसमें डी० डी० टी० मिलाई गई थी। कुछ वर्ष पहले नजफगड़ नाले वाले में डी० डी० टी० फैक्ट्री का अनुपचारित मलवा फेंके जाने से लाखों मछलियां काल कलवित हो गई थीं। अतः भारत में भी डी० डी० टी० के प्रयोग से उत्पन्न दुर्घटनाओं पर यदि गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया जाये तो यही निष्कर्ष निकलता है कि डी०डी०टी० का अन्धाधुन्ध प्रयोग ही इस तरह की घटनाओं के लिए उत्तरदायी है।

डी० डी० टी० के अवशेषों से उत्पन्न स्थिति का अभी सही-सही आंकलन नहीं हुआ है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् की एक रिपोर्ट के आधार पर विभिन्न खाद्य सामग्रियों में पायी जाने वाली डी० डी० टी० की मात्रा इस तरह है :

खाद्य वस्तुओं का नाम	प्रति वयस्क व्यक्ति दैनिक आहार (ग्राम में)	डी० डी० टी० की मात्रा (पी०वी०एम०)	प्रति व्यक्ति दैनिक आहार में डी०डी० टी०कुल मात्रा (माइक्रोग्राम में)
अनाज	465	0.4088	190
सब्जियां	75	0.4600	34.5
दूध मक्खन आदि	158	0.0026	4.0
मांस/मछली	10	0.5281	5.2
अण्डे	1.04	0.039	नगण्य
जल	2,000	0.000	0.000

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भी एक इसी तरह की रिपोर्ट प्रकाशित की है जिसके अनुसार भारत में औसतन प्रति व्यक्ति दैनिक आहार में डी० डी० टी० की मात्रा लगभग 120 माइक्रोग्राम रहती है; अन्य देशों की अपेक्ष, यह मात्रा काफी अधिक है। अमेरिका, इंग्लैण्ड व स्पेन मे यह मात्रा क्रमशः 55, 34 व 78 ग्राम है। लेकिन जहाँ तक एक ओर यह औसत मान व्यापक सर्वेक्षणों के आधार पर निश्चित किया गया, भारत में इसका आधार सीमित है यहाँ तक कि अधिकतर सर्वेक्षणों में डी०डी०टी० के अवशेषों का मूल्यांकन भी विदेशी एजेन्सियों द्वारा किया गया है अतः इन तथ्यों के आधार पर इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि भारत में डी० डी० टी० के पर्यावरण प्रदूषण सम्बन्धी पहलुओं पर अभी स्थिति स्पष्ट नहीं है।

डी० डी० टी० से उत्पन्न पर्यावरण प्रदूषण की समस्या के समाधान का जहाँ तक प्रश्न है, सर्वप्रथम इसके अन्धाधुन्ध प्रयोग को रोका जाना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए कुछ सुझाव इस प्रकार हैं।

1. केवल सार्वजनिक संस्थायें ही डी० डी० टी० के प्रयोग के लिए अधिकृत हों।
2. अनाधिकृत रूप से डी० डी० टी० का प्रयोग करने के लिए विशेष दण्ड का प्रावधान हो।
3. डी० डी० टी० के पर्यावरण सम्बन्धी कुप्रभावों का सरकारी व गैर सरकारी माध्यमों द्वारा विस्तृत रूप से प्रचार किया जाय।

इसके अतिरिक्त पर्यावरण में व्याप्त डी० डी० टी० के अवशेषों का व्यापक सर्वेक्षण किया जाय ताकि दूरगामी खतरे का समय रहते निदान ढूँढ़ लिया जाय।

पृष्ठ 5 का शेषांश

हमें इसी धरती को सुजलां, सुफलां शस्य श्यामलां बनाना होगा। इसी धरती पर एक नई दुनिया, नया स्वर्ग बसाना होगा।

(विज्ञान परिषद् व्याख्यान माला में दिये गये भाषण पर आधारित, सम्पादक)।

नयी दुनिया की सृष्टि

● प्रेम चन्द्र श्रीवास्तव

'स्पैन' पत्रिका के जुलाई 1976 अंक में प्रोफेसर आइज़क आसिमोव का एक लेख 'क्रियेटिंग न्यू वर्ल्डस' नामक शीर्षक से छपा था। आसिमोव साहब अमरीका के बोस्टन विश्वविद्यालय में बायोकेमिस्ट्री के एसोशिएट प्रोफेसर रह चुके हैं। आपने 200 के लगभग पुस्तकों और कई सौ लेखों की रचना की है। विज्ञान में वास्तविक और काल्पनिक दोनों तरह के श्रेष्ठ साहित्य का सृजन किया है। आपकी लेखनी में जादू का असर है।

आपका लेख पढ़ने के बाद मैं भी चमत्कृत हो गया किन्तु लेख कुछ सोचने-समझने को भी मजबूर करता है। लेख पर विचार प्रगट करने के पूर्व मूल लेख की चर्चा पहले ही करना आवश्यक है।

आज इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विश्व के सामने जो पहली समस्या है वह 'जनसंख्या-विस्फोट' की समस्या है। इसी के साथ दो और बड़ी समस्यायें जुड़ी हुई हैं। एक तो प्राकृतिक संपदा का निरंतर क्षय और दूसरा वातावरण का प्रदूषण। इस समय विश्व की जनसंख्या 4,000 मिलियन (400 करोड़) से भी अधिक हो चुकी है। इसी दर (1.970) से यदि मनुष्यों की आबादी बढ़ती रही तो इस शताब्दी के अंत तक या अगली शताब्दी के प्रारंभ में हमारी संख्या इस धरती पर 7,000 मिलियन हो जायगी। फिर तो हमारी धरती हमारे लिए छोटी पड़ने लगेगी। और यदि हमें अपने अस्तित्व की रक्षा करनी है तो नयी दुनिया की सृष्टि करनी ही होगी।

कहां बसेगी यह नई दुनिया ? और कैसा होगा इसका स्वरूप ? हमारा ध्यान प्रारंभ में अपने आस-पास के ग्रहों पर ही जाता है और चन्द्रमा हमारा निकटतम ग्रह है किन्तु हम जानते हैं कि चन्द्रमा निर्जीव है और वहाँ किसी भी प्रकार के जीवन की संभावना नहीं है। वहाँ नयी दुनिया बसाने का काम इतना खर्चीला है कि वैज्ञानिकों ने चन्द्रमा को रहने योग्य बनाने का विचार ही त्याग दिया है। फिर कहाँ बसेगी यह नई दुनिया ? उत्तर देते हैं प्रिन्सटन विश्व विद्यालय (अमरीका) के भौतिक विज्ञान विभाग के प्रोफेसर जेराड ओ'नील। ओनील साहब का कहना है कि अंतरिक्ष में दो ऐसे स्थान हैं जहाँ नई दुनिया बसाई जा सकती है। ये स्थान पृथ्वी से उतने ही दूर हैं जितना चद्रमा किन्तु ये स्थान चन्द्रमा नहीं हैं? प्रोफेसर जेरार्ड ओनील कहते हैं कि कल्पना कीजिए कि चन्द्रमा सिर के ठीक ऊपर है। चन्द्रमा से नीचे क्षितिज में पूर्व दिशा की ओर एक सीधी रेखा खींचिए। इस रेखा पर ऊपर की तरफ से दो तिहाई और नीचे की तरफ से ऊपर की तरफ एक तिहाई भाग पर एक बिन्दु रखिए यही बिन्दु वह स्थान है जहाँ नई दुनिया का निर्माण संभव है। इसी प्रकार चन्द्रमा से पश्चिम दिशा की ओर भी क्षितिज में एक सीधी रेखा खींचिये और ऊपर से दो तिहाई और नीचे से एक तिहाई दूरी पर एक बिन्दु रख दीजिये। यही बिन्दु वह दूसरा स्थान होगा जहाँ नई दुनिया बसाई जा सकती है। इन दोनों बिन्दुओं पर यदि कोई वस्तु (पिण्ड) रख दिया जाय तो वह पिण्ड वहाँ टिक जायेगा। यह पिण्ड पृथ्वी और चंद्रमा के साथ एक

समबाहु त्रिभुज बनाता है। अर्थात् इस स्थान की दूरी पृथ्वी और चन्द्रमा से समान होगी।

प्रोफेसर ओनील ने कोई नई बात नहीं बताई है। वर्षों पूर्व 1772 में जोसेफ लुई लैग्रेंज नामक ज्योतिषाचार्य यह बात पहले ही बता चुके हैं कि यदि इन दो स्थानों पर किसी वस्तु को रख दिया जाय तो वह स्थिर हो जायेगी। यह वस्तु चंद्रमा के साथ कदम से कदम मिलाकर चलेगी किन्तु पृथ्वी की उसी प्रकार परिक्रमा करेगी जैसे चन्द्रमा करता है। पिण्ड के स्थिर होने का रहस्य है चंद्रमा और पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण बल का परस्पर विरोधी और समान होना।

सच पूछिए तो प्रोफेसर ओनील इसी लैग्रेंज-नियम से लाभ उठाने की बात करते हैं और कहते हैं कि इन्ही स्थानों पर अंतरिक्ष कॉलोनियां स्थापित की जा सकती हैं। ये कॉलोनियां पृथ्वी-चंद्रमा निकाय का अभिन्न अंग होंगीं।

प्रोफेसर जेरार्ड ओनील ने बड़े-बड़े लम्बे सिलिंडरों में प्राकृतिक वातावरण तैयार करके उनके ऊपर मनुष्यों के रहने की परिकल्पना की है। इन्हीं सिलिंडरों के भीतर कृषि, पशुपालन, कलकारखाने और मकानों सहित जीवन के लिए उपयोगी समस्त सुविधायें उपलब्ध होंगी। इस प्रकार प्रत्येक सिलिंडर एक स्वतन्त्र कॉलोनी या उपनिवेश होगा।

कैसी होगी यह नई दुनिया? प्रोफेसर की परिकल्पना के अनुसार ये सिलिंडर खोखले होंगे। सिलिंडरों को ऐलुमिनियम और कड़े प्लास्टिक से बनाया जायेगा। इसमें पारदर्शी और अपारदर्शी पट्टियां होंगी जो एक के बाद एक संजोई हुई होंगी। अपारदर्शी पट्टियों के अंदर की सतह पर मिट्टी फैलायी जायेगी। इसी पर मकान और कल-कारखाने बनाये जायेंगे। अंदर के क्षेत्र को आप अपनी रुचि के अनुसार जैसा चाहें बना लें। ये भू-दृश्य चाहे पंजाब के मैदानों जैसे हों या जर्मनी के राइन लैण्ड जैसे या फिर कैलीफोर्निया के समुद्र तटवर्ती स्थानों जैसे भी हो सकते हैं। अंदर की दुनिया हमारी जानी-पहचानी दुनिया होगी। अर्थात् भू-दृश्य की प्रतिकृतियां धरती की नकल। अंदर की मिट्टी (भूमि) पर ही खेती और पशुपालन की व्यवस्था होगी। धरती जैसी नदियां और पहाड़ भी होंगे। खाली स्थान में बादल और वायु भी होगी। सिलिंडरों के किनारे पर बड़े-बड़े आयताकार दपर्ण लगे होंगे जो धूम सकेंगे। वे दपर्ण सूरज की रोशनी को बाहर से अंदर पंहुचा देंगे। इस प्रकार अंधेरी गुफाओं जैसे सिलिंडर दिन के प्रकाश से जगमगाने लगेंगे। यही नहीं ये दर्पण दिन-रात और विभिन्न प्रकार के मौसमों को नियंत्रित करेंगे। ये सिलिंडर 32 किलोमीटर (32,000 मीटर) लम्बे और 6.4 किलोमीटर (6,400 मीटर) व्यास वाले होंगे।

ये सिलिंडर अपनी लम्बी धुरी पर 114 सेकेण्ड में एक बार घूम जायेंगे। इस प्रकार घूमने से सिलिंडरों में पृथ्वी की तरह अपकेन्द्री बल (सेन्ट्रीफ्यूगल फोर्स) उत्पन्न हो जायेगा।

इतनी बड़ी योजना को कार्यरुप में परिणत करने के लिए सामान कहाँ से प्राप्त होगा? हमारा ध्यान अपनी पृथ्वी की तरफ ही जाता है। आसिमोव महोदय कहते हैं कि यह धरती मनुष्यों के भार से आर्तनाद कर रही है; धसकती जा रही है। ऐसी दशा में जब स्वयं धरती की प्राकृतिक सम्पदा का क्षय हो रहा है, अंतरिक्ष कॉलोनियां बनाने के लिए क्या कच्चा माल दे पायेगी? और यदि नहीं दे पायेगी तो हमें अपना ध्यान किसी दूसरे निकट के ग्रह की ओर मोड़ना होगा। स्वाभाविक रुप से हमारा ध्यान अपने समीप के ग्रह चंद्रमा की ओर जाता है। यह निर्विवाद सत्य है कि चंद्रमा पर जीवन की कोई संभावना नहीं है इसलिये सारा कच्चामाल हमें चन्द्रमा से प्राप्त हो जायेगा। चन्द्रमा आकार में पृथ्वी की अपेक्षा छोटा है (1/80) और 400,000 किलोमीटर दूर स्थित है। चंद्रमा पर मानव पंहुच चुका है और वहाँ से सामान लाने में कोई रोक-टोक नहीं होगी। साथ ही साथ किसी और ग्रह की अपेक्षा सुविधाजनक भी अधिक होगा। चंद्रमा से हमें ऐलुमिनियम, शीशा कंक्रीट

और अन्य बहुत सा उपयोगी सामान प्राप्त हो जायेगा। चंद्रमा की ही मिट्टी को सिलिंडरों के अंदर फैलायेंगे और उसी पर मनुष्यों के लिए मकान भी बनेंगे और कृषि-कर्म भी किया जायेगा। चंद्रमा पर ये सभी सामान प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। क्षीण गुरुत्वाकर्षण के कारण वहाँ से सामान उठाने में कम शक्ति लगानी पड़ेगी। धरती की अपेक्षा केवल $^1/_{20}$। पहली अंतरिक्ष कॉलोनी के निर्माण में बहुत अधिक खर्च बैठेगा, चाहे कॉलोनी छोटी ही हो। इसके लिए हमें पृथ्वी से ही उन्नत किस्म के उपकरण, मशीनें, विभिन्न प्रकार के जन्तु और वनस्पतियाँ, भोजन पदार्थ, ऊर्जा आदि ले जाना पड़ेगा। यही नहीं लगभग 2% कच्चा माल भी पृथ्वी से ही ले जाना पड़ेगा। किन्तु बाद की कॉलोनियों में खर्च कम आयेगा। प्रत्येक पहले बनी कॉलोनी दूसरी के निर्माण में सहायता करेगी। इसके साथ ही कॉलोनियों के निर्माण की तकनीक में भी सुधार होता जायेगा। आसिमोव साहब काफी आशावान हैं। उनका कहना है कि अंत में बनी कॉलोनियां तो उसी आसानी से बना ली जायेंगी जैसे महानगर के ईद-गिर्द उपनगर बसा लिये जाते हैं। प्रोफेसर ओनील की परिकल्पना के अनुसार प्रारंभ में केवल दो छोटी जुड़वा कॉलोनियां बनाई जायेंगी। अर्थात् केवल दो घुमते हुए सिलिंडर। प्रत्येक की लम्बाई 1,000 मीटर और चौड़ाई 100 मीटर होगी। इसमें केवल 10,000 लोगों के रहने को व्यवस्था होगी।

अंतरिक्ष कॉलोनियां ऊर्जा सूर्य से प्राप्त करेंगी। इसके लिए सिलिंडरों के ऊपर की ओर शक्तिशाली बिजली घर होंगे जो सिलिंडरों के अंदर ऊर्जा देंगे। यह ऊर्जा सौर ऊर्जा होगी जो अत्यधिक कभी न खत्म होने वाली, आसानी से संचालित की जाने वाली और प्रदूषण रहित होगी। इस ऊर्जा का प्रयोग कच्ची धातुओं को गलाने, कारखानों को चलाने, खेती करने और कूड़े-कचरे से उपयोगी वस्तुओं के निर्माण में किया जायेगा। बड़ी कॉलोनी में 20 मिलियन मनुष्यों के रहने की व्यवस्था होगी। वैसे 5 मिलियन से 10 मिलियन मनुष्य आराम से इनमें रह सकेंगे। सिलिंडरों के चारो ओर गोलाई में ढेर सारी कृषि-अनुसंधान शालाओं का निर्माण किया जायेगा। ये अनुसंधान शालायें दूर से चाय के प्याले जैसी दिखेंगी। इस प्रकार प्रत्येक कॉलोनी अपने में पूर्ण होगी।

प्रोफेसर ओनील के अनुसार यदि अंतरिक्ष कॉलोनियों के निर्माण का कार्य सुचारु रूप से चलता रहा तो पहली अंतरिक्ष कॉलोनी 1989 तक तैयार होकर अंतरिक्ष में स्थापित हो जायेगी। यही नहीं इक्कीसवीं शताब्दी के मध्य तक ऐसी कई सौ कॉलोनियां बनकर तैयार हो जायेंगी। प्रोफेसर ओनील कहते हैं यह नई दुनिया धरती जैसी नहीं, सुखद होगी। इन्हें मनुष्य की आवश्यकता के अनुसार ढाला जायेगा। इसमें मौसम और ताप नियंत्रित होंगे, खर पतवार, हानिप्रद कीड़े-मकोड़े और रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणु नहीं होंगे। उन्हे पृथ्वी पर ही छोड़ दिया जायेगा।

अंतरिक्ष कॉलोनियों को स्थापित करने में क्या कठिनाइयां और खतरे नहीं होंगे? आसिमोव साहब इससे इन्कार नहीं करते। उनका कहना है कि कठिनाइयां, खतरे होंगे। इनमें सर्वप्रथम इन कॉलोनियों के उल्कापिण्ड से टकराने की संभावना तो है, किन्तु अधिक नही। कहीं लाखों वर्षो में एक बार ऐसा हो सकता है कि कोई इतना बड़ा उल्का पिण्ड कॉलोनी से टकरा जाय और उसे नष्ट कर दे।

दूसरा खतरा शक्तिशाली सूर्य-रश्मियों से है। सिलिंडरों के ऐलुमिनियम, प्लास्टिक और मिट्टी के रक्षा-कवच के कारण यह समस्या गंभीर नहीं है। बल्कि ब्रह्माण्ड किरणें (कास्मिक रेज़) बहुत ही खतरनाक साबित होंगी किन्तु आसिमोव साहब पूछते हैं कि ये खतरे कहां नहीं हैं? ब्रह्माण्ड किरणों से प्रोफेसर ओनील बचने का क्या सुझाव देते हैं यह मालूम होना अभी भी शेष है।

कॉलोनी के भीतर बड़े वाहनों की आवश्यकता नहीं होगी। भूमि पर सायकिलों से काम चल जायगा और मनोरंजन के लिए ग्लाइडरों का प्रयोग कर सकते हैं।

जैसे जैसे अंतरिक्ष कॉलोनियों की संख्या बढ़ती जायेगी वैसे वैसे अंतरिक्ष में बसने वाले मनुष्यों के स्थान का विस्तार होता जायेगा। 2075 तक एक विलियन लोग अंतरिक्ष में

बस जायेंगे और बाइसवीं शताब्दी के मध्य तक (2150) पृथ्वी से अधिक मनुष्य अंतरिक्ष कॉलोनियों में रहने लगेंगे।

आसिमोव साहब का कहना है कि उस समय पृथ्वी पर रहने वालों की संख्या बहुत ही कम होगी। इस धरती पर सावधानी पूर्वक बनाये गये उपवन या बीहड़ सुरक्षित होंगे। अंतरिक्ष कॉलोनियों से आने वाले पर्यटक धरती को मनुष्य के जन्म और उससे पूर्व की परिस्थिति के स्मारक के रूप में देखेंगे। पर्यटन द्वारा ही पृथ्वी का रख-रखाव होगा।

ये अंतरिक्ष कॉलोनियां एक दूसरे से दूर भी होंगी। इसमें हजारों की संख्या में अलग अलग सभ्यतायें विकसित होंगी। प्रत्येक कॉलोनी का जीवन जीने का तरीका अलग होगा। परम्परा से अलग इन कॉलोनियों में कुछ अति नैतिकवादी, कुछ भोगवादी, कुछ स्वतन्त्रता के हिमायती तो कुछ सत्तावादी और कुछ विभिन्न धर्मों को मानने वाली होंगी। आप अपनी इच्छानुसार इनमें रहने का चुनाव कर सकेंगे। एक कॉलोनी में जन्मा मनुन्य बाद में किसी और कॉलोनी को निवास के लिए चुन सकेगा। वैसे रहें कहीं भी, एक से दूसरी कॉलोनी में सैर-सपाटा तो कर ही सकते हैं। इस प्रकार मनुष्य की हजारों तरह की सभ्यतायें होंगी। हर कॉलोनी का वस्त्राभूषण, कला साहित्य और संगीत अलग-अलग किस्म का होगा। रचनात्मकता, विशेष रूप से वैज्ञानिक प्रगति, की तो सीमा ही नहीं रहेगी, ऐसी आशा प्रोफेसर असिमोव को है।

यह सच है कि आज हम कठिन दौर से गुजर रहे हैं। विश्व की अर्थ-व्यवस्था लड़खड़ा रही है। चमकीले स्वप्न निराशा में परिवर्तित हो रहे हैं। किन्तु इसी निराशा में आशा का सूर्य उगेगा। प्रो० ओनील अपनी इसी आशावादिता के माध्यम से विश्व की अर्थ-व्यवस्था को संभालने का स्वन्प देख रहे हैं। उन्होने एक 'सैटेलाइट सोलर पावर स्टेशन' बनाने की भी योजना सामने रखी है। यह बिजली घर सूर्य के प्रकाश का शोषण करके उसे सूक्ष्म तरंग ऊर्जा (माइक्रोवेव एनर्जी) में बदल देगा जिसका उपयोग पृथ्वी पर सीधे विद्युत धारा की तरह कर सकते हैं। इस प्रकार पृथ्वी को प्रचुर मात्रा में साफ-सुथरी ऊर्जा मिलती रहेगी।

आसिमोव साहब कहते हैं कि आज ऊर्जा-संकट हमें यह सुअवसर प्रदान कर रहा है। सौर ऊर्जा हमें अंतरिक्ष के रास्ते रिश्वत में मिल रही है। और यदि इस अवसर का लाभ उठाया गया रिश्वत स्वीकार कर ली गयी तो एक के बाद एक कॉलोनियों की स्थापना होती जायेगी। संभवत: इसी में मानवता का उद्धार निहित है।

अब मैं इस लेख के माध्यम से आपके समक्ष कुछ सामाजिक और नैतिक प्रश्न उठाना चाहूँगा। मेरे विचार से प्रोफेसर ओनील और उनके विचारों की व्याख्या करने वाले प्रोफेसर आसिमोव दोनों अंधेरे में भटक रहे हैं। धरती की समस्याओं का निदान हमें धरती पर ही ढूढ़ना होगा। अंतरिक्ष में कॉलोनियों की स्थापना जहाँ एक ओर पलायन वादी विचारधारा का द्योतक है, वहीं अमरीका जैसे साधन सम्पन्न देश की विस्तार वादी नीति का परिचायक है। जब धरती पर विस्तार न कर सके तो अंतरिक्ष में बसने की बात करने लगे। वैज्ञानिकों और विज्ञान लेखकों का कुछ सामाजिक दायित्व होता है। कल्पित विज्ञान तो केवल मनोरंजन के लिए लिखा जाता है और उसमें हर तरह की बात चल जाती है। विज्ञान -साहित्य का सृजन गुरुतर दायित्व है और शायद यहीं प्रोफेसर आसिमोव चूक गये हैं। क्या अंतरिक्ष कॉलोनियों में बाद में वही समस्यायें नहीं उत्पन्न हो जायेंगी जो आज धरती पर हैं? यदि मनुष्य अपने अज्ञान से प्रकृति के सन्तुलन को बिगाड़ सकता है तो क्या वह अंतरिक्ष कॉलोनियों में संतुलन बनाये रखेगा? क्या केवल अंतरिक्ष कॉलोनियों में निवास करने से मनुष्य का स्वभाव बदल जायेगा?

विश्व की लड़खड़ाती अर्थ व्यवस्था क्या अंतरिक्ष कॉलोनियों के निर्माण पर व्यय होने वाले धन की व्यवस्था कर पायेगी? कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर गैरेट हार्डिन का कहना है कि केवल एक दिन की धरती की आवादी को अंतरिक्ष कॉलोनियों में बसाने में 369 बिलियन डालर की आवश्यकता होगी। बीसवीं शताब्दी के अंत तक हमें 3 बिलियन से भी अधिक मनुष्यों को अंतरिक्ष कॉलोनियों में ले जाने की व्यवस्था करनी होगी और इसके लिए

हमें कई सौ नहीं, कई हजार अंतरिक्ष कॉलोनियों का निर्माण करना होगा।

टाइम्स आफ इण्डिया, नामक पत्र के सहायक सम्पादक एम०बी० मैथ्यू ने गणना करके बताया है कि जिस कभी न समाप्त होने वाली सौर ऊर्जा की बात प्रोफेसर ओनील और प्रोफेसर आसिमोव कहते है वह उचित मात्रा में कॉलोनियों को प्राप्त नही हो सकती। मैथ्यू साहब कहते हैं कि इस पृथ्वी पर प्रति सेकेण्ड 600 विलियन किलो कैलोरी सौर ऊर्जा पौधे इस्तेमाल करते हैं। इसकी आधी उर्जा ही प्रकाश-संश्लेषण की संक्रिया में भोजन में परिवर्तित होती है। यदि पूरी ऊर्जा को काम में लाया जा सके तो उससे 1,500 विलियन मनुष्यों के लिए भोजन की व्यवस्था हो सकती है। (यदि दूसरे जीव इसमें सम्मिलित न किए जायँ)। इस प्रकार 1,500 विलियन मनुष्यो के भोजन की व्यवस्था के लिए 504 मिलियन स्क्वायर किलोमीटर संग्राही क्षेत्र (कलेक्टर एरिया) की आवश्यकता होगी। और प्रोफेसर ओनील के बड़े जुड़वे सिलिंडरों में रहने वाले 10 मिलियन लोगों के लिए 3,360 स्क्वायर किलोमीटर संग्राही क्षेत्र की आवश्यकता होगी जबकि वास्तविकता यह है कि इन सिलिंडरों में संग्राही क्षेत्र केवल 603 स्क्वायर किलोमीटर होगा। यह आवश्यक संग्राही क्षेत्र के पांचवे भाग से भी कम है।

आसिमोव साहब कहते हैं कि मनुष्यों के भार से यह पृथ्वी 'आर्तनाद कर रही है' धसकती जा रही है'। किन्तु ऐसा नहीं है। यदि एक मनुष्य का औसत भार 50 किलो ग्राम मान लें तो कुल भार 200 मिलियन टन हुआ। यदि इसके साथ सारे-ताम-झाम को भी जोड़ लें तो भार 200 विलियन टन होता है। जबकि पृथ्वी का द्रव्यमान 5,977 विलियन टन (5,977 000, 000, 000, 000, 000, 000 टन) है। यह ऐसा ही है जैसे श्री लंका पर एक मक्खी बैठी हो।

मनुष्य पृथ्वी पर लम्बे समय (लगभग 30 लाख वर्ष) से रहता आ रहा है और यहां रहने का अभ्यस्त हो गया है। अंतरिक्ष का वातावरण हमारे प्रतिकूल हैं, इस बात की पुष्टि आर्मस्ट्रांग सहित कुछ अन्य अंतरिक्ष यात्रियों ने की है। मनुष्य के शरीर पर अंतरिक्ष का वातावरण बुरा प्रभाव छोड़ता है।

शरीर के अतिरिक्त सामाजिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक समस्याओं को भी ध्यान में रखना होगा। इस बात को कौन तय करेगा कि कौन कौन से लोग अंतरिक्ष कॉलोनियों में जायेंगे ? कौन किस बैच या किस कॉलोनी में जायेगा ? वहां बसने वालों के लिए कैसी ट्रेनिंग की आवश्यकता होगी ? फिर क्या सब कुछ यहीं छोड़कर लोग जाने को तैयार हो जायेंगे ? पास्चर संस्थान के प्रोफेसर मोनोड सत्य के कितने निकट हैं जब वे कहते हैं कि धरती के मनुष्य को अंतरिक्ष में बसा देना आसान नहीं होगा। आदमी कोई आलू नहीं जिसे एक स्थान से खोदकर दूसरे स्थानों को पँहुचा दिया जाये।

साधन सम्पन्न देश विज्ञान के साथ खिलवाड़ करते ही रहते हैं। किन्तु ऐसा केवल अज्ञानता के कारण ही करते हैं। डाक्टर जार्जं बैंकोफ ने अपनी पुस्तक 'द स्टोरी आव पेनिसिलिन' में कहा है कि मनुष्य में अच्छी और बुरी दोनों तरह की प्रवृत्तियाँ होती हैं। वह डाक्टर जेकिल भी है और मिस्टर हाइड भी है। अच्छे काम अपने विवेक और ज्ञान से करता है और बुरे काम अविवेक और अज्ञान के कारण करता है। मनुष्य की उम्र ही क्या है ? यदि विश्व की उम्र एक वर्ष की मान ली जाये तो मनुष्य उस वर्ष 31 दिसम्बर को 7.30 बजे रात्रि पूर्व नहीं जन्मा। इस प्रकृति में मनुष्य की स्थिति अबोध बच्चे जैसी हैं। हमें अपना बचपना, अपना अज्ञान छोड़ना ही होगा। इसी में मानवता का उद्धार निहित है, न कि अंतरिक्ष में कॉलोनियां बसाने में। स्काई लैब का धरती पर गिरना हमें बार बार चेतावनी दे रहा है। वैसे मैं जानता हुँ कि अमरीका जैसे साधन सम्पन्न देश एक न एक दिन अंतरिक्ष में कॉलोनिया बसा कर ही दम लेंगें। यहीं मैं यह भी विश्वास करता हूँ कि वहां बसने के लिए नहीं बल्कि कनुष्य केवल सैर-सपाटे के लिए जाया करेगा। इस बीच मानवता के उद्धार के लिए

शेष पृष्ठ 8 पर

डी० डी० टी० एवम् पर्यावरण प्रदूषण

● हेम चन्द्र जोशी

नमक, शर्करा, स्पिरिट व पेनिसिलिन की तरह डी०डी० टी० भी एक ऐसा रसायन है जिसे छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, हर स्तर व हर समुदाय के लोग जानते हैं। पिछले 30 वर्षों में जन स्वास्थ्य व कृषि में डी० डी० टी० की अत्यधिक उपयोगिता ही इस प्रसिद्धि का मूल कारण है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि डी० डी० टी० मानव प्रगति में बहुत सहायक रही है। सन् 1940 में पाल मुलर द्वारा डी० डी० टी० की उपयोगिता सिद्ध करने के बाद इसका प्रयोग विशाल स्तर में बढ़ने लगा। डी० डी० टी० के अभूतपूर्व कीटनाशक गुणों के कारण करोड़ों लोगों को नया जीवनदान मिला। द्वितीय विश्वयुद्ध के दिनों सैनिक कैम्पों में फैले मलेरिया के प्रलयकारी प्रकोप से मुक्ति दिलाने में डी० डी० टी० का ही मुख्य योगदान रहा। भारत जैसे उष्ण जलवायु वाले क्षेत्रों में जहाँ मच्छर व मलेरिया अत्यधिक सक्रिय रहते हैं, विशाल जनहानि को रोकने का श्रेय डी० डी० टी० ही को जाता है। पिछले 20 वर्षों में (1970 तक) मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के अन्तर्गत डी० डी० टी० के विस्तृत प्रयोग से भारत में औसत आयु 32 से 52 वर्ष पहुँच गई। जन स्वास्थ्य के अतिरिक्त कृषि के क्षेत्र में भी पादप संरक्षण हेतु डी० डी० टी० के प्रयोग से विभिन्न फसलों, फलों, इत्यादि को अनेक प्रकार के कीटों से पहुँचने वाली हानि से बचाया गया, अत: यह विश्वास किया जाना सर्वथा उचित हैं कि डी० डी० टी० हमारा जीवन स्तर सुधारने में बहुत सहायक रही है।

जहाँ एक ओर अच्छे जीवन स्तर के लिए डी० डी० टी० का प्रयोग लगभग अनिवार्य सा हो गया है, वहीं इसके धीरे-धीरे पर्यावरण में एकत्रित हो जाने से प्रदूषण का भय भी उतना ही बढ़ गया है। पर्यावरण प्रदूषण पर अब तक हुये शोध का निष्कर्ष डी० डी० टी० के भावी प्रयोग पर प्रश्न चिन्ह लगाये हुये है। यदि वर्तमान गति से डी० डी० टी० का प्रयोग होता रहा तो कालान्तर में डी० डी० टी० से उत्पन्न पर्यावरण प्रदूषण की समस्या समाधान से परे निकल जायेगी। भारत में कुछ क्षेत्रों में खाद्यानों, सब्जियों, दूध व पशु-आहार में डी० डी० टी० के अवशेष इतनी अधिक मात्रा में मिले हैं कि वे जन स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक हैं। अमेरिका, कनाडा जैसे विकसित देशों में तो डी० डी० टी० के कुप्रभाव को ध्यान में रखते हुए इसका प्रयोग निषेध कर दिया गया है; भारत में इस सन्दर्भ में स्थिति अत्यधिक जटिल है। एक ओर तो डी० डी० टी० के अवशेषों से उत्पन्न समस्या की अवहेलना नहीं की जा सकती दूसरी ओर डी० डी० टी० के प्रयोग को रोका भी नहीं जा सकता क्योंकि हमारे यहाँ प्राय: मलेरिया, फाइलेरिया या इन्सेफलाइटिस जैसी गम्भीर बीमारियाँ किसी न किसी क्षेत्र में अपना प्रकोप बनाये रहती हैं और डी० डी० टी० जैसे सस्ते रसायन के विकल्प में अधिक खर्चीले रसायनों का भारी मात्रा में प्रयोग हमारी अर्थ व्यवस्था के अनुकूल नहीं बैठता। फिर भी कुछ न कुछ तो निदान होना ही चाहिये। इस विषय में आगे बढ़ने से पहले डी० डी० टी० के इतिहास, संरचना व पर्यावरण में इसकी प्रक्रियायों की भी कुछ चर्चा कर ली जाये।

डी० डी० टी० रसायन का अविष्कार सन् 1973 ई० में युवा जर्मन वैज्ञानिक जीडलर ने किया था लेकिन इसकी

उपयोगिता का ज्ञान न होने के कारण इतना महत्वपूर्ण रसायन वर्षो तक यूँ ही पड़ा रहा। सन् 1939 में पाल मुलर नामक वैज्ञानिक ने डाइ फिनाइल यौगिकों की कीट-नाशक क्षमता पर कार्य प्रारम्भ किया। इन्हीं प्रयोगों के मध्य डी० डी० टी० की अभूतपूर्व कीटनाशक क्षमता का आविष्कार हुआ। इस खोज पर उन्हें सन् 1948 में नोबुल पुरष्कार मिला। डी० डी० टी० डाइक्लोरो डाइफेनिल ट्राइक्लोरोएथेन नामक रसायन का संक्षिप्त व प्रचलित नाम है।

कम वाष्प दाब, पराबैंगनी किरणों का नगण्य प्रभाव, पानी में कम घुलनशीलता, वसा में अत्यधिक घुलनशीलता तथा कुल मिलाकर डी० डी० टी० का चिरस्थायीपन कुछ ऐसे गुण हैं जिनके कारण इसकी उपयोगिता उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। डी० डी० टी० के अतिरिक्त इसके दो मुख्य अभिजनक (मेटा बोलाइट) डी० डी० ई० व डी० डी० डी० भी डी० डी० टी० की तरह ही प्रभावशाली व चिरस्थायी हैं। अतः एक बार प्रयोग होने के बाद डी० डी० टी० का कीटनाशक प्रभाव काफी दिनों तक बना रहता है लेकिन जहाँ एक ओर डी० डी० टी० के इन गुणों के कारण इसकी उपयोगिता बढ़ी है उन्हीं गुणों के करण डी० डी० टी० द्वारा पर्यावरण प्रदूषण एक बहुचर्चित विषय बन गया है। प्रारम्भ में डी० डी० टी० की उपयोगिता का आकस्मिक ज्ञान होने पर इसका प्रयोग असीमित मात्रा में हुआ परन्तु अपने चिरस्थायीपन के कारण डी० डी० टी० धीरे-धीरे पौधों, जीव-जन्तुओं व मृदा मे एकत्रित होती गई यहाँ तक कि मानव कोषिका में भी डी० डी० टी० या इसके अभिजनकों (डी० डी० ई० व डी० डी० डी०) की उपस्थिति के संकेत मिलने लगे। डी० डी० टी० केवल मृदा में ही जहाँ जैविक विघटन की अनेक प्रक्रियायें निरन्तर होती रहती हैं, अत्यधिक स्थायी रहती हैं। मिट्टी में एक बार प्रयोग के बाद 10 या उससे अधिक वर्षो तक डी० डी० टी० के अवशेष पाये गये हैं। मिट्टी में एक बार स्थान बना लेने के बाद डी० डी० टी० कहीं भी पहुँच सकती है। साधारण-तया वर्षा या सिंचाई के बाद डी० डी० टी० जलाशयों, नदियों यहाँ तक कि सागर तक रास्ता ढूँढ़ लेती है और एक बार पहुँचने के बाद जल जन्तुओं के माध्यम से पूरी जैविक शृंखला में प्रवेश पा लेती है। इस तरह से विभिन्न स्रोतों से डी० डी० टी० का पर्यावरण में प्रवेश व इसके एकत्रित होने की प्रक्रिया कभी भी खत्म नहीं होती। डी० डी० टी० के अवशेषों के एकत्रित होने से विभिन्न समस्यायें उत्पन्न हो सकती हैं—जैसे मछलियों व अन्य उपयोगी जल-जन्तुओं के प्रजनन व विकास पर कुप्रभाव, पक्षियों के अण्डों के कवचों का पतला होना तथा भ्रूण नाश होना व स्तन-धारियों में कैंसर का विकास होना। मनुष्यों में डी० डी० टी० के अवशेषों से उत्पन्न कैंसर की समस्या डी० डी० टी० के कुप्रभावों का गम्भीरतम रूप है।

पश्चिमी देशों में सन् 1950 व 1970 के बीच दो दशकों में डी० डी० टी० के कुप्रभाव पर विशाल स्तर पर शीघ्र कार्य किया गया। इनके परिणामस्वरूप डी०डी०टी० के भारी प्रयोग को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा। अमेरिकी सरकार ने तो इस कार्य हेतु एक विशेष समिति का गठन किया जिसके निष्कर्षों के आधार पर सन् 1973 के बाद वहाँ डी० डी० टी० के प्रयोग पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इसके बाद कई अन्य देशों ने भी इसका अनुसरण किया।

भारतीय परिपेक्ष्य में डी० डी० टी० एक ज्वलन्त समस्या है। भारत में डी० डी० टी० का प्रयोग मुख्यतया जनस्वास्थ्य के लिए होता है। कृषि के क्षेत्र में भी डी० डी० टी० का कम उपयोग नहीं है। कीटनाशक के रूप में डी० डी० टी० का उपयोग सर्वाधिक प्रचलित है। लेकिन भारत में उपयोग होने वाले कीटनाशकों की कुल मात्रा अन्य विकसित या विकासशील देशों की अपेक्षा काफी कम है। अकेले मिश्र में ही जो कि भारत से जनसंख्या की दृष्टि से छोटा है कीटनाशकों का प्रयोग भारत से कई गुना अधिक होता है। अतः पर्यावरण प्रदूषण की दृष्टि से भी भारत में कीटनाशकों, विशेषतया डी० डी० टी० का प्रयोग अन्य देशों की अपेक्षा कम होता है। लेकिन डी० डी० टी० के प्रयोग से उत्पन्न दुर्घटनाओं की आवृत्ति हमारे यहाँ

अधिक ही रहती है। इन दुर्घटनाओं के पीछे मूल कारण डी० डी० टी० का अनियोजित प्रयोग रहता है। इस प्रकार के विषैले रसायनों के प्रयोग की उचित जानकारी न होने के कारण व केवल इनके लाभों से लालायित हो, लोग इनका अन्धाधुन्ध प्रयोग करते हैं। यहाँ तक कि शहरों में भी लोग अन्न भण्डारण के लिए डी० डी० टी० का प्रयोग करते हैं। गाँवों में तो स्थिति और भी भयानक है। पिछले दिनों एक सर्वेक्षण में दिल्ली में आम वितरण के लिए बिकने वाले दूध के कुछ नमूनों में खतरनाक स्तर तक डी० डी० टी० के अवशेष पाये गये। खोज बीन के बाद मालूम हुआ कि पशुओं के चारे को चूहों से बचाने के लिए उसमें डी० डी० टी० मिलाई गई थी। कुछ वर्ष पहले नजफगड़ नाले वाले में डी० डी० टी० फैक्ट्री का अनुपचारित मलवा फेंके जाने से लाखों मछलियां काल कलवित हो गई थीं। अत: भारत में भी डी० डी० टी० के प्रयोग से उत्पन्न दुर्घटनाओं पर यदि गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया जाये तो यही निष्कर्ष निकलता है कि डी०डी०टी० का अन्धाधुन्ध प्रयोग ही इस तरह की घटनाओं के लिए उत्तरदायी है।

डी० डी० टी० के अवशेषों से उत्पन्न स्थिति का अभी सही-सही आंकलन नहीं हुआ है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् की एक रिपोर्ट के आधार पर विभिन्न खाद्य सामग्रियों में पायी जाने वाली डी० डी० टी० की मात्रा इस तरह है :

खाद्य वस्तुओं का नाम	प्रति वयस्क व्यक्ति दैनिक आहार (ग्राम में)	डी० डी० टी० की मात्रा (पी०वी०एम०)	प्रति व्यक्ति दैनिक आहार में डी०डी० टी०कुल मात्रा (माइक्रोग्राम में)
अनाज	465	0.4088	190
सब्ज़ियां	75	0.4600	34.5
दूध मक्खन आदि	158	0.0026	4.0
मांस/मछली	10	0.5281	5.2
अण्डे	1.04	0.039	नगण्य
जल	2,000	0.000	0.000

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भी एक इसी तरह की रिपो[र्ट] प्रकाशित की है जिसके अनुसार भारत में औसतन प्र[ति] व्यक्ति दैनिक आहार में डी० डी० टी० की मात्रा लगभ[ग] 120 माइक्रोग्राम रहती है; अन्य देशों की अपेक्ष, य[ह] मात्रा काफी अधिक है। अमेरिका, इंग्लैण्ड व स्पेन मे य[ह] मात्रा क्रमशः 55, 34 व 78 ग्राम है। लेकिन जहाँ त[क] एक ओर यह औसत मान व्यापक सर्वेक्षणों के आधार प[र] निश्चित किया गया, भारत में इसका आधार सीमित [है,] यहाँ तक कि अधिकतर सर्वेक्षणों में डी०डी०टी० के अवशे[षों] का मूल्यांकन भी विदेशी एजेन्सियों द्वारा किया गया[।] अत: इन तथ्यों के आधार पर इतना तो अवश्य ही क[हा] जा सकता है कि भारत में डी० डी० टी० के पर्यावर[ण] प्रदूषण सम्बन्धी पहलुओं पर अभी स्थिति स्पष्ट नहीं है।

डी० डी० टी० से उत्पन्न पर्यावरण प्रदूषण की समस्[या] के समाधान का जहाँ तक प्रश्न है, सर्वप्रथम इसके अन्धा धुन्ध प्रयोग को रोका जाना अत्यन्त आवश्यक है। इस लिए कुछ सुझाव इस प्रकार हैं।

1. केवल सार्वजनिक संस्थायें ही डी० डी० टी० [के] प्रयोग के लिए अधिकृत हों।
2. अनाधिकृत रूप से डी० डी० टी० का प्रयोग कर[ने] के लिए विशेष दण्ड का प्रावधान हो।
3. डी० डी० टी० के पर्यावरण सम्बन्धी कुप्रभावों [का] सरकारी व गैर सरकारी माध्यमों द्वारा विस्[तृत] रूप से प्रचार किया जाय।

इसके अतिरिक्त पर्यावरण में व्याप्त डी० डी० टी० अवशेषों का व्यापक सर्वेक्षण किया जाय ताकि दूरगा[मी] खतरे का समय रहते निदान ढूँढ़ लिया जाय।

पृष्ठ 5 का शेषांश

हमें इसी धरती को सुजलां, सुफलां शस्य श्यामलां बना[ना] होगा। इसी धरती पर एक नई दुनिया, नया स्वर्ग बसा[ना] होगा।

(विज्ञान परिषद् व्याख्यान माला में दिये गये भाषण प[र] आधारित, सम्पादक)।